लक्ष्मीनारायण मिश्र रचनावली

सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने सबसे पहले 'अन्त[illegible] लिख कर अपने को एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। [illegible]न्धात्मक कृति 'कालजयी' लिख कर एक श्रेष्ठ प्रबन्धकार [illegible] अपनी पहचान बनाई। 'अन्तर्जगत्' में छायावादी व्यक्ति [illegible]खिता, भावुकता, अलौकिक प्रेम, वेदना और दार्शनिकता [illegible]लजयी' में कर्ण के चरित्र की पुनर्प्रतिष्ठा, महाभारत की घट[illegible] चरित्रों में नये धरातल पर जीवन मूल्यों की खोज, नाटकी[illegible]प्रस्तुतों का जीवन्त विधान, संवादों की सजीवता, पौरुष और विवेक की प्रतिष्ठा है। मिश्र जी का प्रबन्धात्मक शिल्प संस्कृत के महाकवियों के समानान्तर विकसित हुआ है।

मिश्र जी हिन्दी में समस्या नाटकों के जन्मदाता हैं। किन्तु न तो उनका बुद्धिवाद पाश्चात्य ढंग का है और न उनका शिल्प विधान। वे एक सनातन बुद्धिजीवी हैं। आधुनिक समस्याओं के बीच प्रेम, त्याग, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध आदि के प्रति उनका भारतीय दृष्टिकोण है। सामाजिक समस्याओं को उभारने के लिए उन्होंने समस्या नाटकों में यथार्थ चरित्रों की उद्भावना की है। उनका लक्ष्य किसी के पाप-पुण्य का विवेचन नहीं है। वे समस्या को सामने रखकर थोड़ा सा संकेत मात्र कर देते हैं।

मिश्र जी के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों का आधार संवेदना, परम्परा का आग्रह और सांस्कृतिक मूल्य है। विभिन्न भावों के अनुभव को ही वे जीव धर्म कहते हैं। उनके नाटकों में 'जातीय अहं' का उदात्त रूप है। मिश्र जी के नाटकों में आधुनिक जीवन और भारत के अतीत का महान गौरव है। इनके एकांकी घटना की त्वरा अथवा चरित्र की दीप्ति से अधिक संवेदना के तनाव, मूल्यों की कौंध और संवादों की सजीवता के कारण आकर्षक हैं। पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र छायावादोत्तर काल के गिने चुने कवियों तथा नाटककारों में हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य में बुद्धिवाद का सूत्रपात किया है।

—विश्वनाथ प्र[illegible]

लक्ष्मीनारायण मिश्र रचनावली

(समस्या नाटक)
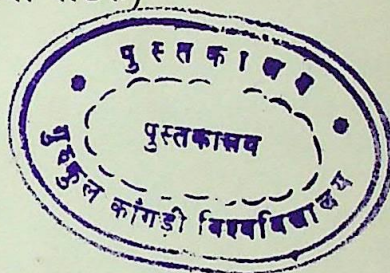
खण्ड : २

सम्पादक

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद
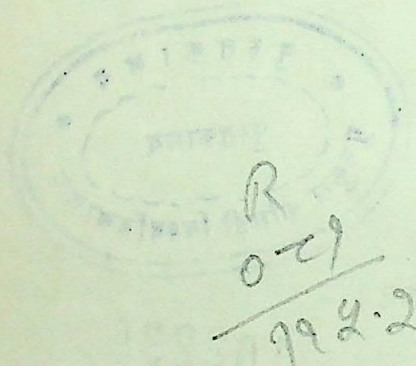
संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी

पावन स्मरण

साहित्य रचना हो या विज्ञान की खोज हो – यह सब कुछ सरस्वती की साधना है जो समूचे राष्ट्र और समाज के लिए होती है। जिस राष्ट्र के पास अपना साहित्य और अपना ज्ञान–भण्डार न हो, वह विश्व में अस्तित्व विहीन है या कि मृत है। साहित्य और ज्ञान व्यक्ति का नहीं, समष्टि का होता है। आज जब मेरे पूज्य पिता पुण्य श्लोक पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र की सम्पूर्ण रचनावली का प्रकाशन हिन्दी–जगत के सामने प्रस्तुत हो रहा है, तब उसके प्रसन्नता की अनुभूतियाँ हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रेमियों को होगी ही, इस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। हाँ, उस प्रसन्नता का एक कण पुत्र होने के नाते मुझे भी गर्व से आन्दोलित कर रहा है। मेरी यह प्रसन्नता भी हिन्दी–जगत को अर्पित है।

पिता जी ने हिन्दी नाटक और काव्य रचना के क्षेत्र में जो योगदान किया है, आलोचकों की दृष्टि में १९३० से अब तक के हिन्दी साहित्य के इतिहास में उस योगदान का अपना अलग अध्याय है। उनकी रचनाओं ने हिन्दी साहित्य को वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा श्रीहर्ष आदि की परम्परा से अनुस्यूत कर रखा है।

पिता जी की रचनावली के ये छः खण्ड हैं। इनमें उनकी समस्त रचनाओं तथा स्फुट लेखों एवं व्याख्यानों का भी संग्रह हो गया है। उनका महनीय प्रवन्ध काव्य 'कालजयी' (सेनापति कर्ण) समग्र रूप से पहली बार रचनावली के प्रथम खण्ड में प्रकाशित हुआ है। दुःख है कि उसके अन्तिम सर्ग की रचना पूर्ण न हो सकी।

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र और उनकी विशिष्ट नाट्य एवं काव्य रचनायें हिन्दी साहित्य का युगान्तर बन चुकी हैं जो प्रेरणा और प्रयास में परवर्ती रचनाकारों में समाहित है। कम से कम आज के हिन्दी नाटक का रूप और शिल्प सब प्रकार से मिश्र जी का गढ़ा हुआ है। हिन्दी भाषा और भारतीय साहित्य के प्रति जिनकी निष्ठा है; वर्तमान पीढ़ी के रचनाकार और आलोचक मिश्र जी की रचनावली को एकत्र अध्ययन के लिए सुलभ पाकर लाभान्वित होंगे। वे हिन्दी के विगत अर्द्धशती के इतिहास को पलटेंगे तो पता चलेगा कि किस प्रकार विदेशी साहित्य के मोह के झंझावात में भी अडिग रह कर मिश्र जी ने हिमालय और विन्ध्याचल, गंगा तथा कावेरी की भूमि का साहित्य लिखा है और इनके साहित्य में आदिकाल से लेकर गाँधी जी की हत्या ('नारद की वीणा' और 'मृत्युंजय') तक समाहित है। नाटक के जन्मदाता एवं महाकवि के अतिरिक्त मिश्र जी अप्रतिम स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। १९४३ में भारतीय रक्षा अधिनियम के अन्तर्गत राजबन्दी होकर इन्होंने कठोर जेल यातना भोगी। स्वतंत्रता पश्चात् शासन के आग्रह के बाद भी इन्होंने राजनीति पेंशन यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि 'माँ की सेवा के लिए पेंशन कैसी ?' स्वतंत्रता संग्राम में पूरे हिन्दी जगत से राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त एवं मिश्र जी ही राष्ट्रयज्ञ के होता बने, अन्य कोई लेखक कवि नहीं।

रचनावली के सम्पादक मूर्धन्य लेखक एवं कवि डॉ. विश्वनाथ प्रसाद जी के प्रति आभार व्यक्त कर मैं उनके ऋण से उऋण नहीं होना चाहता जिनके अथक परिश्रम, समर्पण एवं लगन से रचनावली हिन्दी प्रेमियों को उपलब्ध हो सकी है। साथ ही संजय बुक सेन्टर के स्वामी श्री विजय कुमार अग्रवाल तथा श्री संजय कुमार अग्रवाल को मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने बड़ी रुचि एवं निष्ठा से इसका प्रकाशन किया है। उन सज्जनों के प्रति मैं विनयावनत हूँ जिन लोगों ने बिना किसी विधिक अधिकार के इस शुभ संकल्प में विघ्न–बाधायें उपस्थित कीं।

रचनावली के ये खण्ड हिन्दी भाषा के प्रेमी पाठकों को अर्पित हैं जो देश से विदेश तक छाये हुये हैं।

– विश्वम्भरनाथ मिश्र

शारदापीठ
गुरुधाम, वाराणसी
भाद्र शुक्ल १३ श्रीसम्वत् २०५०

क्रम
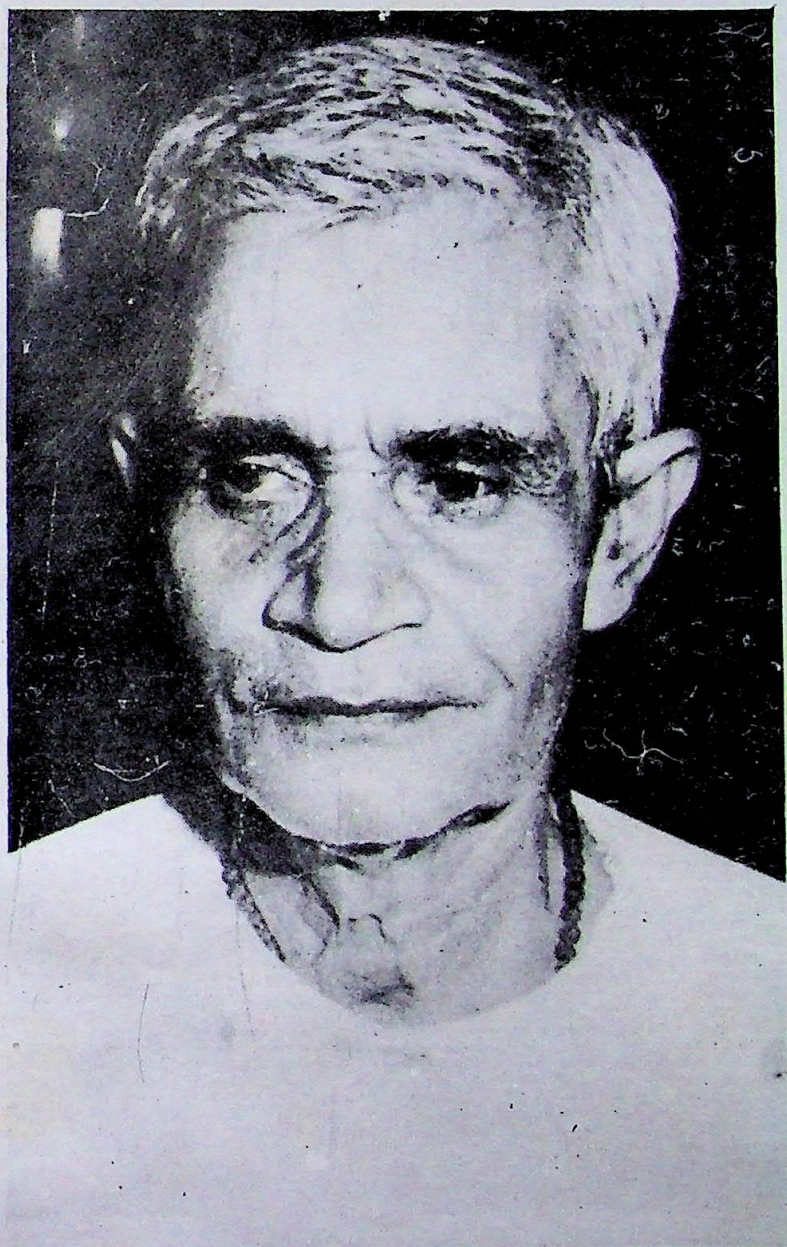
पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र : प्रौढ़ावस्था में

हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों के बीच पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र

(७ नवम्बर, १९७६)

बायें से दायें :

प्रथम पंक्ति – सर्वश्री गंगाशरण सिंह, सुरेश अग्निहोत्री, इलाचन्द्र जोशी, डॉ नगेन्द्र, सूर्य प्रसाद वाजपेयी, राजेन्द्र नारायण शर्मा, भगवती चरण वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महीयसी महादेवी वर्मा, डॉ. बाबूराम सक्सेना, श्रीनारायण चतुर्वेदी, कविवर सुमित्रानन्दन पन्त; पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र, ब्योहार राजेन्द्र सिंह, बलराम उपाध्याय, रणंजय सिंह, वियोगी हरि, डॉ. विनयमोहन शर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, उदयशंकर शास्त्री, डॉ. रामकुमार वर्मा।

द्वितीय पंक्ति – सर्वश्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, रामचन्द्र चतुर्वेदी, परमानन्द भाई, डॉ. प्रभुदयाल मीतल, युगलकिशोर चतुर्वेदी, डॉ. निशंक, सुपुत्री रा.प्र. ना. सिंह, गुलाब खण्डेलवाल, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, राजनाथ पाण्डेय, शिवदत्त चतुर्वेदी, रघुनाथ प्रसाद चतुर्वेदी, रामबहोरी शुक्ल, पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी, डॉ. हरिकृष्ण अवस्थी, डॉ. बच्चन सिंह, सिद्धेश्वर श्रीवास्तव, डॉ. मधुकर भट्ट, ब्रजभूषण शुक्ल, जगदीश चन्द्र मिश्र, सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी, बद्रीप्रसाद पालीवाल, डॉ. ओमप्रकाश सक्सेना।

तृतीय पंक्ति – सर्वश्री प्रेमनारायण शुक्ल, बी.एल. शोरी, डॉ. रमेशचन्द्र, डॉ. महेन्द्रप्रताप सिंह, नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, लीलाधर शर्मा, डॉ. बरसानेलाल चतुर्वेदी, रामबहादुर सेंगर, अज्ञात, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी, डॉ. आर.पी. भारद्वाज, जगदीश प्रसाद शुक्ल, ओंकार चतुर्वेदी, वाचस्पति पाठक, डॉ. किशोरी लाल, विजयश्री तिवारी।

चतुर्थ पंक्ति – सर्वश्री शालिग्राम चतुर्वेदी, अमृतलाल नागर, ज्ञानचन्द जैन, अमृतराय, उमाशंकर शुक्ल, पुरुषोत्तम लाल दूबे, डॉ., उपेन्द्र शुक्ल, किशोरीलाल गुप्त, लालजी मालवीय, डॉ. पूरण सिंह, नरेन्द्रनाथ दरबारी, नरसिंह सहाय, ईश्वरशरण श्रीवास्तव।
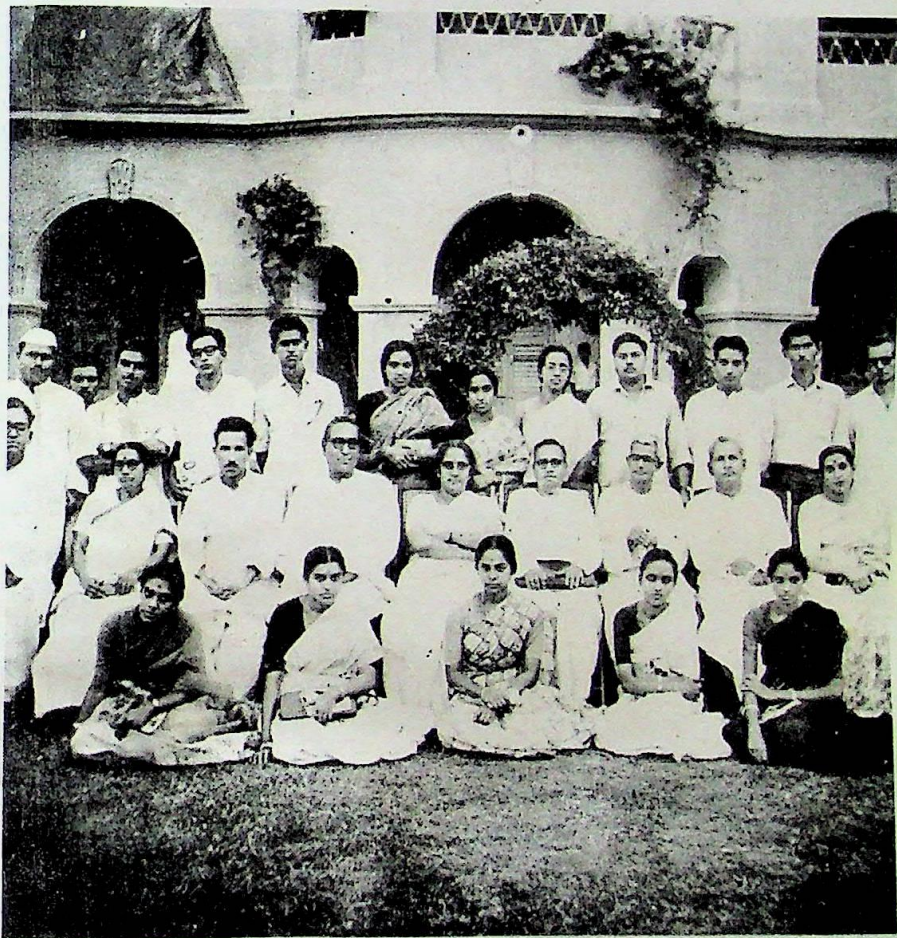
सन् १९६४ में सर्वश्री पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र (कुर्सी पर दाहिने से चौथे), बायें से श्रीकृष्णचन्द्र बेरी (हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी), सुधाकर पाण्डेय (तीसरे), रुद्र काशिकेय, श्रीमती चन्द्रहासन, श्री चन्द्रहासन, डॉ. शम्भुनाथ सिंह आदि।

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक

एक कवि के रूप में जीवन आरम्भ करके लक्ष्मीनारायण मिश्र नाटकों की ओर मुड़ गये। उनके पहले नाटक 'अशोक' का विशेष महत्तव नहीं है। सन् १९२७ में लिखे गये समस्या नाटक 'संन्यासी' ने उन्हें हिन्दी के प्रतिष्ठित नाटककारों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। इसके माध्यम से मिश्र जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य में पहली बार बौद्धिकता की स्थापना की। द्विवेदी युग के कवियों ने पौराणिक आख्यानों की वैज्ञानिक संगति ढूढ़ने की कोशिश की थी। उनका आधार वैज्ञानिक था। लेकिन जीवन के प्रति वे आस्था और भावना से प्रेरित थे। बौद्धिक दृष्टिकोण से उन्होंने जीवन को नहीं देखा था। छायावादी युग तो सौन्दर्य चेतना और भाव का युग था। 'चेतना का उज्वल वरदान' और 'समर्पण' का भाव उन्हें जीवन के प्रति अत्यधिक कल्पनाशील और भावुक बना देता था। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि सूक्ष्म और स्वच्छन्दतावादी थी। वैयक्तिकता और कल्पनातिशयता के साथ अपनी प्राचीन उपलब्धियों का गौरवगान करने में तल्लीन छायावादी रचनाकारों ने जीवन की यथार्थताओं से अपने को विरत कर लिया था। ऐसे में मिश्रजी ने 'व्यक्ति के जीवन पर देश और काल की समस्याओं' के प्रभाव का चित्रण किया। सामाजिक समस्याओं को उभारने के लिए उन्होंने यथार्थ चरित्रों की कल्पना की। इन चरित्रों की सृष्टि में मिश्र जी ने अपनी ओर से कुछ भी आरोपित नहीं किया है। किसी के पाप और पुण्य की विवेचना उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा-- 'मैंने अपने चरित्रों को जिन्दगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए, आगे बढ़ते गये हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ। (संन्यासी की भूमिका)

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने सन् १९२७ से सामाजिक समस्याओं को अपने नाटकों में उठाना आरम्भ किया। उस समय पश्चिमी शिक्षा के माध्यम से पश्चिमी आदर्श भी भारतीयों के जीवन में प्रवेश कर रहे थे। सह-शिक्षा का प्रचलन हुआ था। युवक और युवतियों के स्वच्छन्द संसर्ग से अनेक प्रकार की काम समस्यायें उठ खड़ी हुईं। अपने पहले नाटक 'संन्यासी' में मिश्र जी ने इसी समस्या को उठाया है। मिश्र जी का यह दृष्टिकोण है कि पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव से हमारा जीवन अशान्त बन रहा है और हम समझते हैं कि यह हमारा विकास हो रहा है। पश्चिमी शिक्षा से उत्पन्न सामाजिक समस्या 'संन्यासी' के केन्द्र में है। इसके साथ तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का भी सन्दर्भ इस नाटक में आ गया है। पत्रकारिता के माध्यम से देश-सेवा, अंग्रेज शासकों के अत्याचार, नौकरशाह हिन्दुस्तानियों के द्वारा उत्पीड़न, पंजाब के हत्याकांड, गांधी के असहयोग आन्दोलन आदि के भी सन्दर्भ नाटक में हैं। इनसे तत्कालीन भारतीय राजनीतिक आन्दोलन की झलक मिलती है। अब तक प्रेमचन्द के 'निर्मला' (१९२३ में लिखित और १९२७ में प्रकाशित) तथा 'रंग भूमि' (१९२४-२५ में लिखित) उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुण्डार' (१९२७ में लिखित) में भी मातृभूमि के प्रति प्रेम प्रतिबिम्बन हो चुका था। इन कथाकृतियों में भारतीय समाज और राजनीति की समस्यायें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उठाई गई हैं। किन्तु समस्याओं के पक्ष और विपक्ष पर बौद्धिक रूप से विचार पहली बार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक 'संन्यासी' में किया।

'संन्यासी' केन्द्र में सहशिक्षा से उत्पन्न होने वाले प्रेम की समस्या है। राजनीति तो सन्दर्भ मात्र है। इसके प्रति नाटककार का वही भावात्मक दृष्टिकोण है जो किसी भारतीय का हो सकता है। त्याग, प्रेम आदि के प्रति भी मिश्र जी का भारतीय दृष्टिकोण है। लेकिन नये परिवेश में प्रेम के

साथ उठने वाली समस्या का पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों है। लेखक समाधान नहीं करता है। समस्या नाटककार की यह विशेषता भी होती है कि वह समाधान नहीं ढूँढ़ता है। उनकी बौद्धिकता समस्या नाटक के शिल्प से प्रतिबद्ध है। वे समस्या के पक्ष और विपक्ष में दो नारी पात्रों की कल्पना करके उनसे तर्क कराते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को लगता है कि केवल तर्क की योजना करने से कोई बुद्धिवादी नहीं हो जाता है। समस्या का बौद्धिक निरूपण भी होना चाहिये। लेकिन यह आरोप सत्य नहीं है। मिश्र जी समस्याओं को उठाकर पूरी बौद्धिकता से तर्क देते हैं। लेकिन भारतीय जीवन- मूल्यों के प्रति आग्रह के कारण उनका तर्क सनातनी परम्पराओं की ओर थोड़ा झुक जाता है। इसीलिए मैं लक्ष्मीनारायण मिश्र को सनातनी परम्परा का बुद्धिजीवी मानता हूँ। लक्ष्मीनारायण मिश्र की बौद्धिकता को इस सीमा में बाँधने के बाद भी वे हिन्दी के प्रथम बुद्धिवादी साहित्यकार सिद्ध होते हैं। एक सधे हुए बुद्धिवादी की तरह उन्होंने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के द्वन्द्वों को उभारा है। उनके नाटकों में समसामायिक जीवन की शैक्षिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के स्थूल द्वन्द्व प्रगट होते हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति के मनोजगत् में विद्यमान विवेक और विभिन्न प्रवृत्तियों के संघर्ष, नैतिकता और अनैतिकता के समीकरणों तथा व्यक्ति के अन्दर छिपे देवत्व और दानवता के द्वन्द्व भी विश्लेषित होते है। जब छायावाद का बोलबाला था उस समय प्रेमचन्द के समानान्तर जीवन की दिशा को पहचानते हुए मिश्र जी ने 'सन्यासी' की भूमका में कहा था--'इस युग में साहित्य राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। राजनीति की जितनी जगह हमारे जीवन में मिली है, उतनी जगह उसे साहित्य में मिलेगी।' राजनीति और साहित्य के पारस्परिक समीकरण की यह बात मिश्र जी ने उस समय सोची थी जब प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना को अभी लगभग एक दशक शेष थे।

जयशंकर प्रसाद का प्रथम चर्चित नाटक 'राज्यश्री' १९१५ में लिखा गया और अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' १९३३ में लिखा गया। इस समय भारतवर्ष में रौलट एक्ट लागू किया गया। जलियाँवाला बाग का नरसंहार हुआ। एसेम्बली में बम काण्ड हुआ। क्रान्तिकारियों ने हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी की स्थापना की। पूरा देश महात्मा गाँधी के प्रभाव में आ गया था और अंग्रेजी शासकों का दमन भी बढ़ रहा था। जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर इन घटनाओं की छाया अप्रत्यक्ष रूप से है। उनके नाटकों में देश-भक्ति इसी की फलश्रुति है। किन्तु जीवन का स्वच्छन्दतावादी काल्पनिक स्वरूप हमें इन यथार्थताओं से बहुत दूर हटा ले जाता है। दूसरी ओर लक्ष्मीनारायण मिश्र इन राजनीतिक घटनाओं का प्रत्यक्षत: उल्लेख ही नहीं करते हैं, बल्कि राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों से उठी समस्यायें ही उनके समस्या मूलक नाटकों की कथावस्तु में निहित हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र छायावादी समीक्षक हैं। इसलिए इनका झुकाव आदर्शवाद की ओर है। इन लोगों ने स्वच्छन्दतावादी दृष्टि, आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक मूल्यों को अधिक महत्व प्रदान किया है। जयशंकर प्रसाद की नायिकायें प्रेम के एक कल्पना लोक में रहती हैं। अतिशय भावुकता के कारण वे उत्सर्ग की भावना से ओत-प्रोत होती हैं। लेकिन लक्ष्मीनारायण मिश्र भावुक सम्बन्धों के समानान्तर स्त्री- पुरुष के यथार्थ वैवाहिक सम्बन्धों को खड़ा करते हैं। 'संन्यासी' की मालती कहती है कि 'मैं वह प्रेम चाहती हूँ जो आजकल की दुनिया में समझदारी के साथ निबाहा जा सके।' वे आदर्शपरक रोमांटिक सम्बन्धों को अस्वीकार कर देते हैं। वे देश-भक्ति, खादी, सह-शिक्षा, गाँधी आश्रम, विधवा विवाह आदि को यथार्थ की दृष्टि से ही देखते हैं। अपनी यथार्थ दृष्टि के कारण ही उन्होंने गाँधीवादी आदर्शों के खोखलेपन तथा आश्रम के भीतर की विकृतियों को खोल कर रख दिया है। इसी कारण आदर्शवादी समीक्षकों ने लक्ष्मीनारायण मिश्र की यथार्थ दृष्टि और बौद्धिकता को स्वीकार नहीं किया। दूसरी ओर मिश्र ज़ी सामाजिक और मनोगत के द्वन्द्व को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। आर्थिक द्वन्द्व की ओर

उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। यही कारण है कि मार्क्सवादी समीक्षक भी उनके सामाजिक यथार्थ को नजरअन्दाज कर देते हैं। लेकिन मिश्र जी का महत्व उनके समस्या मूलक नाटकों में उभरे हुए सामाजिक यथार्थ और उनके प्रति लेखक के बुद्धिवादी दृष्टिकोण से अपने आप प्रतिपादित हो जाता है। समस्यामूलक नाटकों को लिखते समय वे इस सीमा तक बुद्धिवादी हैं कि जीवन-यात्रा में भूत को अस्वीकार करके केवल वर्तमान को ही महत्वपूर्ण मानते हैं-- 'अपने मन में मान लिया जाय कि हम लोगों का जन्म आज हो रहा है, हम पहले नहीं थे, जो कुछ था हमारा भूत था, इस धरती पर हम आज उतरे हैं और आज ही से हम लोगों को अपनी यात्रा आरम्भ करनी है।' (राजयोग)। यह दृष्टिकोण छायावाद के स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के एकदम विपरीत यथार्थवादी जीवन-दृष्टि है।

मिश्र जी के समस्या नाटकों के सम्बन्ध में भारतीयता की बात केवल काम समस्या के सम्बन्ध में करनी चाहिए। मिश्र जी काम समस्या को लोकधर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन वे अपनी ओर से संकेत मात्र करते हैं 'समाधान' नहीं प्रस्तुत करते हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष से तर्क कराते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी संवाद योजना बहुत सफल है। मिश्र जी से पूर्व प्रसाद जी ने लम्बे-लम्बे भाव पूर्ण और अलंकृत समाधानों की योजना की थी। आत्म-कथन भी उनके यहाँ बहुत आये हैं। लेकिन मिश्र जी के संवाद छोटे-छोटे, तर्क-वितर्क पूर्ण तथा बहुत ही सामान्य भाषा में हैं। बर्नार्ड शा और इब्सन के नाटकों में शुष्क तर्क है। वहाँ व्यंग्य प्रधान हो गया है। सरसता की ओर लेखक का ध्यान नहीं जाता है। उनके पात्र सिद्धान्तों की ऐसी छड़ी लगते हैं जिनमें कहीं लोच नहीं है। मिश्र जी के पात्र अधिक सरस हैं। उनके संवादों में भी जीवन का रस है। यह रस आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र का रस नहीं, न कालिदास आदि भारतीय कवियों के काव्य में अभिव्यक्त होने वाला रस है। यह रस जीवन की एक सहज उपलब्धि है जिसके कारण जीवन का शुष्क क्षेत्र भी सरस और ग्राह्य बन जाता है। वे अपने सिद्धान्तों को सरसता से उपस्थित करके पाठक के चित्त को धीरे-धीरे परिवर्तित करना चाहते हैं, उनके समस्या नाटकों में उनका भाववादी स्वरूप खोजना भूल है।

मिश्र जी ने अपने समस्या नाटकों का शिल्प स्वयं विकसित किया है। छोटे-छोटे और तर्कपूर्ण संवादों की योजना तो इब्सन और बर्नार्ड शा ने भी की है। लेकिन मिश्र जी इन नाटककारों की तरह व्यंग्य की ओर प्रवृत्त नहीं होते हैं। मिश्र जी के समस्या नाटकों के लेखन के ही समय प्रसाद अपने ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नाटकों के कार्य- व्यापार को जटिल रख रहे थे। दूसरी ओर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों की वस्तुयोजना सरल रखी है। बहुत स्पष्ट कथा। अधिकतर मुख्य कथा ही सम्पूर्ण नाटक में विन्यस्त होती है। नाटक के नायक और नायिका भी स्पष्ट होते हैं। प्रसाद के नाटकों के समान एक प्रमुख कथा के साथ अन्य कई गौण कथायें नहीं चलती हैं। मिश्र जी के पात्र और नाटकों के कार्य-व्यापार हमारे जीवन से जुड़े होते हैं। यथार्थता पर निरन्तर बल देने के कारण इन समस्या नाटकों में कहीं लोकोत्तरता नहीं है। छायावाद के चरमोत्कर्ष के समय लिखे गये इन समस्या नाटकों को स्वच्छन्तदावादी प्रवृत्ति से बचा पाना ही नहीं अपितु उनके विरोध में खड़ा करना मिश्र जी की उपलब्धि है। यह इसलिए भी सम्भव हो सका है कि मिश्रजी के व्यक्तित्व में अस्वीकार की एक प्रबल भावना थी। वे अपने प्रतिस्पर्धी को स्वीकार नहीं कर पाते थे। उसके विरोध में अपनी रचनाओं और तर्कों को खड़ा कर देते थे। छायावाद के कवियों और समीक्षकों ने 'अन्तर्जगत्' को स्वीकार नहीं किया तो उन्होंने अपने समस्या नाटकों का एक संसार छायावाद के विरोध में खड़ा कर दिया। इससे वे एक ओर प्रसाद के स्वच्छन्दतावादी नाटकों का विरोध कर सके तो दूसरी ओर छायावादी जीवन दृष्टि को भी अस्वीकार कर सके। मिश्र जी के समस्या नाटकों के शिल्प की एक अन्य विशेषता सुनियोजित वस्तु- योजना है। 'संन्यासी' छोड़कर उनके सभी समस्या नाटकों में तीन-तीन अंक हैं। 'संन्यासी' के पहले अंक में तीन दृश्य हैं, दूसरे तीसरे तथा

चौथे अकों में एक-एक दृश्य हैं। अन्य समस्या मूलक नाटकों में तीन-तीन अंक रखकर प्रत्येक अंक में तीन-तीन दृश्यों का विधान किया गया है। लम्बे-लम्बे इस प्रकार के रंगमचीय निर्देश नहीं हैं कि उनको प्रस्तुत करने में कठिनाई हो। छोटे-छोटे और सहज ही प्रस्तुत किये जाने वाले रंगमंचीय निर्देश मिश्र जी के नाटकों में हैं। बहुत कम ऐसे दृश्य हैं जिनकी अवतारणा में वैज्ञानिक तकनीक का सहारा लेना पड़े।

मिश्र जी के समस्या प्रधान नाटकों में अर्थ प्रकृति, कार्य अवस्था और सन्धि की बात करना भी हास्यास्पद है। इन नाटकों में भारतीयता का आग्रह केवल जीवन दृष्टि का है। नारी जिस पुरुष के रागात्मक सम्बन्धों में पहली बार आती हैं, जीवन भर उसी पुरुष के साथ उसका निर्वाह होना चाहिए। यह रागात्मक अथवा शारीरिक सम्बन्ध चाहे जिस परिस्थिति में हुआ हो, उसे छोड़ा नहीं जा सकता है। इसके विपरीत बर्नार्ड शा ने दाम्पत्य जीवन की विसंगतियों पर भी करारा व्यंग्य करके उत्पीड़ित नारी को मुक्ति के लिए प्रेरित किया है। इसी दृष्टिकोण के कारण शा और इब्सन कोरे बुद्धिवादी हैं। वे जीवन की यथार्थता के व्यावहारिक भूमि की तलाश करते हैं और मिश्र जी अपने द्वारा सोचे हुये दृष्टिकोण को जीवन के व्यावहारिक पक्ष में यथार्थ बनाना चाहते हैं। वैसे इन तीनों रचनाकारों की भूमि यथार्थ ही है। इब्सन और वर्नार्ड शा केवल वर्तमान से संगति बैठाते हैं और मिश्रजी तो वर्तमान को परम्परा से जोड़ना चाहते हैं। लेकिन शिल्प में मिश्रजी भारतीय नाट्य शास्त्र से भिन्न पाश्चात्य नाट्य शिल्प से जुड़े हुये हैं। मूल समस्या से सन्दर्भित स्थितियाँ पहले अंक में रहती हैं। कथावस्तु का यह विकास या उत्कर्ष है। दूसरे अंक में समस्या खुलकर सामने आ जाती है और उसका द्वन्द्व उभरता है। पक्ष और विपक्ष के तर्क पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। तीसरे अंक में नाटक की समाप्ति होती है। कहीं कोई जटिलता अथवा निरर्थक विस्तार नहीं। मिश्र जी का शिल्प बहुत सधा हुआ है।

संन्यासी

'संन्यासी' नाटक की रचना १९२९ में हुई। इसका परिवेश उस समय के भारत का है। स्वतंत्रता के लिए भारतवर्ष में आन्दोलन तीव्र हो रहा था। युवक और युवतियाँ भी स्वातंत्र्य आन्दोलन में भाग ले रहे थे। दूसरी ओर पाश्चात्य प्रणाली की शिक्षा विश्वविद्यालयों में लागू की गई थी। नयी शिक्षा के कारण व्यक्ति स्वातंत्र्य की चेतना भी युवकों और युवतियों में तीव्र हो रही थी। विश्वविद्यालयों में सह-शिक्षा आरम्भ की गई थी। युवक और युवतियाँ उन्मुक्त होकर मिल रहे थे। दूसरी ओर इनका अध्यापन करने वाले अध्यापक भी कक्षाओं में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने पर भी नैतिकता से विहीन थे। अपनी शिष्याओं पर भी इनकी कुदृष्टि हुआ करती थी। इस नयी परिस्थिति के कारण प्रेम और विवाह की समस्या नये सिरे से उठ खड़ी हुई थी। मिश्र जी मानते हैं कि प्रेम एक जीव-धर्म है। साहचर्य के कारण युवक और युवतियों के बीच में प्रेम का हो जाना स्वाभाविक है। लेकिन इस प्रेम की परिणति विवाह में होनी चाहिए अथवा नहीं , विवाह पूर्व के प्रेम की क्या स्थिति होती है आदि बातें काम समस्यायें हैं। इस समस्या के पक्ष और विपक्ष को प्रस्तुत करने के लिए मिश्रजी ने नाटक में दो कथायें रखी हैं-एक कथा विश्वकान्त, मालती और रमाशंकर की है। दूसरी कथा किरणमयी, दीनानाथ तथा मुरलीधर की है। इन दोनों कथाओं को परस्पर सम्बद्ध करने के लिए विश्वकान्त और मुरलीधर के पारस्परिक सम्बन्धों के एक क्षीण से तन्तु की कल्पना लेखक ने कर ली है। मुरलीधर सम्पादक है और विश्वकान्त कवि है। मुरलीधर का अनुगत विश्वकान्त बन जाता है। इस कथा का एक दूसरा समीकरण दोनों कथाओं की समता को प्रदर्शित करने वाला दीनानाथ और रमाशंकर का कालेज में प्रोफेसर होना है। लेकिन इससे नाटक की एक

कमजोरी यह प्रगट होती है कि सम्पूर्ण कथा विश्वविद्यालय की नयी शिक्षा से सम्बन्धित छात्र-छात्राओं तथा अध्यापकों के बीच में सिमट कर रह जाती है। विश्वविद्यालयीय सन्दर्भ से बाहर का मुरलीधर है किन्तु वह उसी ताने बाने में आ जाता है। विश्वकान्त के पिता माताप्रसाद भी उस वातावरण के चित्रण में सहायक हैं। मोती, अहमद, नसीर और मि. राय का नाटक की मूल समस्या से प्रत्यक्षत: कोई सम्बन्ध नहीं है। ये उस समय की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति को प्रगट करने में सहायक हैं। वैसे मुख्य कथा विश्वकान्त और मालती की ही है। समस्या के दूसरे पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए लेखक ने किरणमयी, दीनानाथ और मुरलीधर को ला दिया है।

इस नाटक की एक दुर्बलता यह है कि सम्पूर्ण कथा को केवल उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाली युवा पीढ़ी तक ही परिमित कर दिया गया है। उसी समय कथाकार के रूप में प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा अपने उपन्यासों का फलक बहुत विस्तृत रख रहे थे। वैसे नाटक की उपन्यास की अपेक्षा परिमिति कम होती है। फिर भी काम समस्या को केवल सह-शिक्षा से ही जोड़ कर उसके पक्ष-विपक्ष को दिखाना सीमित दृष्टिकोण है। लेखक ने काम विकृतियों को दिखाने के लिए मुरलीधर जैसे सम्पादक और देश-प्रेमी के चरित्र को भी यौन विकृति से युक्त अपराधी प्रकृति का काल्पित किया है। उसका देश-प्रेम और त्याग एक छद्म बनकर रह जाता है। यही स्थिति विश्वकान्त की भी है। मुरलीधर उसकी आँखों में अतृप्त वासना देखता है। मुरलीधर उसे मालती से अलग करना चाहता है। इसे कुछ लोगों ने मुरलीधर की विकृति या कुण्ठा कहा है। इन लोगों के अनुसार वह ईर्ष्यावश विश्वकान्त को मालती से अलग करता है। लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता है। विश्वकान्त के मन में मालती के लिए इतना तीव्र आकर्षण है कि वह एशियाई संघ की स्थापना करके भी मालती के प्रेम का स्मरण करके अपनी समूची प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा देता है। काम की इस विकृति से मुरलीधर विश्वकान्त को बचाना चाहता है। लेखक ने मालती के पिता उमानाथ की युवावस्था के पापाचार का उल्लेख करके किसी समस्या की ओर नहीं वरन् काम कुण्ठा की ओर संकेत किया है। मोती को जब यह मालूम होता है कि वह मालती का भाई है तो वह अपने पिता उमानाथ से घृणा करने लगता है। जायज पुत्री मालती का नाजायज पुत्र मोती ड्राइवरी करता है। इसी से कुछ समीक्षकों ने कहा है कि सम्पूर्ण नाटक में नारी समस्या नहीं, हीन मन की समस्या है। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। मुख्य समस्या प्रेम और विवाह की बीच के द्वन्द्व की है। काम समस्या मनुष्य की चिरन्तन समस्या है। इस नाटक की एक और दुर्बलता है कि लेखक किरणमयी का मुरलीधर से विवाह करने की स्थितियों को नहीं खोलता है। विश्वकान्त के प्रति मालती समर्पित है लेकिन जब एक बार उसके कमरे में मालती को विश्वकान्त के पिता माताप्रसाद देख लेते हैं तो वह मालती से पलायन करता है। दूसरी ओर विदेश में भी उसको भूल नहीं पाता है।

इस नाटक की शुरुआत कालेज के प्रोफेसर रमाशंकर की ईर्ष्या से होती है। वह विश्वकान्त की प्रतिभा को सह नहीं पाता है। मालती का विश्वकान्त से प्रेम पहले अंक के पहले दृश्य में ही खुल जाता है। पहले दृश्य की सार्थकता बस इतनी ही है, शेष तो लेखक जीवन- मूल्य और कवि- कर्म को प्रत्यक्ष शैली में कहता है। उसका समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे दृश्य में किरणमयी की आसक्ति मुरलीधर के प्रति खुलती है। तीसरे दृश्य में विश्वकान्त और मालती का प्रेम और गहराता है। मुरलीधर विश्वकान्त को विवाह करने की अनुमति नहीं देता है। वह रोकता भी है। यहीं मालती निराश होकर विश्वकान्त से कहती है कि मैं तुम्हें भूल जाऊँगी। इस तरह से पहला अंक शिथिल सा है। मूल समस्या यहाँ नहीं उठती है। दूसरे अंक के प्रारम्भ में ही लेखक ऐसे आदर्श

को अस्वीकार करता है जो जीवन के स्वाभाविक रास्ते में काँटा बने। समसामयिक राजनीति और समाज की स्थिति की भी सूचना लेखक पात्रों से दिलाता है। किरणमयी का भावुक प्रेम भी इसी अंक में अच्छी तरह से दिखाई पड़ता है। किरणमयी के चरित्र का अन्तर्विरोध यह है कि वह अपने और अपने पति दीनानाथ के सम्बन्धों को बनावटी मानती है। फिर भी कहती है कि यह सम्बन्ध विश्वास पर टिका हुआ है। वह अपने विवाह के सम्बन्ध को स्वाभाविक नहीं मानती है क्योंकि 'बेजोड़ चीजों का मिलना स्वाभाविक नहीं है।' उसके चरित्र में एक और अन्तर्विरोध है। वह कहती है कि दूसरों के लिए जीना अच्छा है, लेकिन स्वयं अपने पति का तिरष्कार करती रहती है। तीसरा अंक अफगानिस्तान में एशियाई संघ की स्थापना का है। यहाँ विश्वकान्त का त्याग और लोकसेवा के साथ उसकी काम-भावना भी प्रगट हुई है। वह स्त्री-पुरुष के प्रेम को स्वाभाविक मानता है। फिर भी उसने मालती से विवाह नहीं किया था। चौथे अंक की शुरुआत मिश्र जी फिर साहित्यकार के दायित्व से करते हैं। यह सन्दर्भ से हटकर कही हुई बात है। यहाँ मुरलीधर यक्ष्मा से जेल में मरता है। लेखक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जबरदस्ती पहले मालती को फिर दीनानाथ को जेल में उपस्थित कर दिया है। मजिस्ट्रेट के आने के बाद यही मालती भी आ जाती है। इसके बाद इस नाटक की समस्या का पक्ष और विपक्ष सामने आता है। समूचा नाटक इस प्रकार से नियोजित किया गया है कि उसकी केन्द्रीय समस्या एकदम अन्त में उभरती है। यह वस्तुयोजना का दोष है। पूरा नाटक शिथिल मालूम होने लगता है। इसकी अभिनेयता भी इसी से प्रभावित होती है। समस्या नाटकों में पक्ष और विपक्ष के संवादों की अधिकता होती है। इसलिए ऐसी वस्तुयोजना नहीं हो पाती जो पाठक को अपनी ओर अनायास आकृष्ट कर ले। इसके ऊपर से 'संन्यासी' का शिथिल तंत्र अभिनय को और प्रभावित कर देता है। आकर्षक संवाद इस कमी को पूरा नहीं कर पाते हैं।

अन्तिम अंक में मालती कहती है कि जिन्दगी में प्रेम के लिए जगह बहुत कम है। वह रोमान्टिक प्रेम नहीं चाहती है। 'मैं वह प्रेम चाहती हूँ जो आजकल की दुनिया में समझदारी से निबाहा जा सके।' उसके अनुसार बेचैनी और मस्ती वाला प्रेम ठहरता नहीं है। 'पहला फूल तोड़ देने पर फल अच्छे आते हैं'। वह जिन्दगी की ठोस बातें समझना चाहती है। वह प्रेम नहीं, विवाह करना चाहती है। वह प्रेम छोड़कर दुनिया में अपनी जगह बनाना चाहती है। दूसरी ओर किरणमयी है जो मानती है कि 'प्रेम एक जीवन का नहीं, अनन्त जीवन का है।' वह प्रेम को हृदय का सत्य मानती है। उसका प्रेमी उसके हृदय में है और वह विश्वास करती है कि जब जन्म लेगी, वह मिलेगा। प्रेम और विवाह के बीच का द्वन्द्व यहाँ उभरता है। एक जीवन में विवाह को ही महत्वपूर्ण मानती है, दूसरी प्रेम को अनन्त जीवन का सम्बन्ध मानती है। ये दोनों दृष्टिकोण अति की सीमायें हैं। प्रेम के अभाव में दाम्पत्य जीवन मरुस्थल बन सकता है और केवल रोमान्टिक प्रेम से जीवन व्यर्थ हो सकता है। इन दोनों समस्याओं में लेखक ने विवाह का पक्ष लिया है। लेकिन प्रेम तो विवाह के बाद भी होता है और विवाह के पहले के प्रेम में केवल आत्मिक सम्बन्ध हो सकते हैं। वस्तुतः मिश्र जी को छायावादी दृष्टिकोण का विरोध करना था और उस समय यह उल्टी धारा की ओर जाना था। मिश्र जी ने इस नाटक में मूल समस्या के अतिरिक्त पाश्चात्य शिक्षा, त्याग, साहित्यकार के दायित्व, विकार, वासना, समाज और व्यक्ति, आदर्श और यथार्थ, स्वार्थ और परोपकार, सम्पादकीय दायित्व तथा उस समय की राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में भी स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अपने विचारों को प्रगट किया है।

राक्षस का मन्दिर

'संन्यासी' की अपेक्षा इस नाटक की कथा अधिक समन्वित है। रामलाल, रघुनाथ, मुनीश्वर और अश्करी प्रमुख पात्र हैं। मिस्टर बैनर्जी और ललिता का महत्व इन पात्रों के पश्चात् है। मिस्टर बैनर्जी तथा ललिता की कथायें मुख्य कथा की पूरक हैं। 'संन्यासी' के समान इस नाटक की कथा विभक्त नहीं लगती है। रामलाल का पिता रघुनाथ है। रामलाल का मित्र मुनीश्वर है। अश्करी वेश्या है और रामलाल ने उसे अपनी रखैल बनाकर रखा है। ललिता रघुनाथ की प्रेमिका है। इस तरह से सभी उल्लेखनीय पात्र एक दूसरे से जुड़े हैं। थोड़ी सी शिथिलता इस दिशा में है कि लेखक ने कुछ अनावश्यक पात्रों की योजना कर ली है। नागरिक, सिपाही, मल्लाह , मुन्नी, सुखिया आदि के बिना भी काम चल सकता था। अधिक आवश्यक होने पर इनमें से कुछ को ही रखा जा सकता था। यही स्थिति अंकों के समायोजन में भी है। पहला अंक बहुत चुश्त है। दूसरा थोड़ा सा ढीला है और अन्तिम तो अधिक शिथिल हो गया है। केवल मुनीश्वर के चारित्रिक अन्तर्विरोध को खोलने के लिए अन्तिम अंक की योजना की गई है। इसके संवाद भी अधिक लम्बे और कहीं-कहीं व्याख्यान जैसे लगने लगते हैं। यह प्रवृत्ति लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाट्य शिल्प के विपरीत है। मिश्र जी ने अपने प्रथम समस्या मूलक नाटक 'संन्यासी' से ही सधे हुये, संक्षिप्त और स्वाभाविक संवादों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। 'राक्षस का मन्दिर' का जब प्रथम प्रकाशन हुआ था तो लेखक ने अंकों का विभाजन दृश्यों में किया था। पहले और तीसरे अंकों में दो-दो दृश्य थे और दूसरे अंक में तीन दृश्य थे। कुछ दिनों तक ऐसा ही चला। १९७८ में एक दूसरे प्रकाशक के यहाँ से इसे प्रकाशित करते समय मिश्र जी ने दृश्यों को हटा दिया। केवल रंगमंचीय निर्देशों को देखकर ही समझा जा सकता है कि यहाँ दृश्य परिवर्तित हुआ है । इसलिए यह नया दृश्य हो सकता है।

इस नाटक की दो प्रमुख विशेषतायें हैं--एक तो यह समस्या मूलक नाटक है। दूसरे सन् १९३२ में ही लक्ष्मीनारायण मिश्र ने गाँधीवादी आन्दोलन में उत्पन्न होने वाले अन्तर्विरोध को पहचान लिया था। उस समय गांधीवादी आन्दोलन पूरे प्रकर्ष पर था। मुनीश्वर जैसे हत्यारे, स्वार्थी और षड्यन्त्रकारी लोग स्वतंत्रता आन्दोलन और समाजसेवा में विरल थे। लेकिन मिश्रजी ने अपनी रचनाओं में निरन्तर विसंगतियों को खोजकर प्रकट किया है। 'संन्यासी' में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की विद्रूपताओं को उन्होंने केन्द्र में ले लाकर रखा तो 'राक्षस का मन्दिर' में तथाकथित देश-सेवकों और समाज-सेवकों के चारित्रिक दोष को नाटक के केन्द्र में मिश्र जी ने रखा है। वैसे दोनों नाटकों में समाज का उच्च वर्ग है। दोनों के प्रमुख पात्र कुलीन और शिक्षित हैं। मिश्र जी के आरम्भिक दोनों नाटकों की कुछ विशेषतायें एक समान हैं। दोनों में नारी की काम समस्या है। दोनों में पत्नीत्व पद की मर्यादा की बात उठाई गयी है। दोनों नाटकों में अपने समय के समाज का प्रतिबिम्बन है। नाटकों की मूल समस्या अपने संमय के समाज के परिप्रेक्ष्य में उठाई गयी है। दोनों में नयी शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के कारण आये जीवन में बदलाव की बात उठाकर भी लेखक पारम्परिक भारतीय जीवन की मान्यताओं को ही महत्व देता है। मिश्र जी 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर ' दोनों में व्यक्ति स्वतंत्रता का प्रश्न उठाते हैं। यह प्रश्न नयी शिक्षा से जुड़ा हुआ है। 'संन्यासी' में व्यक्ति और समाज की बातें मुरलीधर करता है। 'राक्षस का मन्दिर' में व्यक्ति स्वतंत्रता की बात रामलाल करता है। ये दोनों पात्र सम्बन्धित नाटकों के मुख्य पात्र नहीं हैं। इन दोनों का जीवन आदर्श नहीं है। इन दोनों नाटकों में काव्य का सन्दर्भ है। 'संन्यासी' में लक्ष्मीनारायण मिश्र साहित्य और साहित्यकार के सम्बन्ध में अपना विचार प्रगट करते हैं। 'राक्षस का मन्दिर' में अश्करी पहले अंक और दूसरे अंक में भी कविता की कुछ पंक्तियाँ

गाती है। दूसरे अंक में ललिता एक पुस्तक नाव में छोड़ कर आती है। सुखिया से उस पुस्तक को पुस्तक का लेखक ही छीन लेता है। यह घटना सुनकर ललिता पुस्तक के लेखक से मिलने के लिए बेचैन हो जाती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र बुद्धिवादी थे। उन्होंने छायावादी सौन्दर्य चेतना और वायवीय प्रेम का विरोध किया है। किन्तु कविता के माध्यम से प्रेम का प्रादुर्भाव अथवा अभिव्यक्ति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ही है।

'राक्षस का मन्दिर' का पहला अंक अधिक सधा हुआ है। रामलाल, अश्करी, रघुनाथ, बैनर्जी, मुनीश्वर और दुर्गावती पहले अंक में ही आ जाते हैं। उल्लेखनीय पात्रों में केवल ललिता यहाँ छूटती है। वह दूसरे अंक के आरम्भ में आती है। इस नाटक की समस्या का सम्बन्ध अश्करी और ललिता दोनों से है। नारी के काम की समस्या इस नाटक के केन्द्र में है। इसका एक बड़ा भाग अश्करी के जीवन से सम्बन्धित है। वह नाटक में पर्याप्त रूप से उभरता है। ललिता के जीवन में भी काम की समस्या है। किन्तु यह समस्या अश्करी की समस्या के समान प्रमुखता से नहीं उभरती। अश्करी के जीवन की समस्या प्रमुख है और ललिता के जीवन की समस्या उसका एक दूसरा पक्ष बन कर आई है। दोनों को मिला देने पर नारी-जीवन की काम-समस्या का पूरा स्वरूप युग के परिप्रेक्ष्य में प्रगट होता है। इन दोनों नारियों के साथ ही दुर्गा की समस्या को भी देखना उचित होगा। उसके साथ पत्नीत्व और मातृत्व की समस्या है। 'संन्यासी' में प्रेम और विवाह की समस्या थी। 'राक्षस का मन्दिर' में प्रमुख समस्या नारी की यौन तृप्ति की है। अशरीरी प्रेम एक यंत्रणा है। छायावादियों के काल्पनिक और अशरीरी प्रेम को मिश्र जी ने अश्करी और ललिता दोनों के माध्यम से अस्वीकार किया है। 'सन्यासी' में समस्या के समाधान की ओर मिश्र जी संकेत करते हैं किन्तु 'राक्षस का मन्दिर' में समस्या को उठाकर मिश्रजी उसके सम्बन्ध में अपने मन्तव्य की व्यंजना भी नहीं करते हैं। इस समस्या से जुड़े हुये पहले और दूसरे अंक लगते हैं, किन्तु तीसरा अंक इससे एकदम अलग-थलग पड़ जाता है। वहाँ मुनीश्वर के माध्यम से लेखक ने कुत्सित समाज सेवियों के वास्तविक स्वरूप को प्रगट किया है। पूरा तीसरा अंक युग के अन्तर्विरोध को ही अभिनीत करता है। युग की इस विसंगति को एक दूसरी समस्या नहीं कहा जा सकता है। 'संन्यासी' में अंग्रेजी शिक्षा समस्या नहीं है। मूल समस्या है इस शिक्षा में प्रेम और विवाह की। इसी तरह से 'राक्षस का मन्दिर' की समस्या गांधीवादी युग के अन्तर्विरोध की नहीं बल्कि उस युग में तीन छोरों पर खड़ी अश्करी, ललिता और दुर्गा की काम समस्यायें हैं। अश्करी रामलाल की वेश्या है। वह शारीरिक रूप से अतृप्त है। इसलिए दूसरे युवकोंऐ की ओर प्रति आकृष्ट है। अधिक उत्पीड़ित होने पर विरक्तों सा जीवन बिताने लगती है। उसकी समस्या का समाधान नहीं हो पाता है। ललिता सुशिक्षित युवती है। वह रामलाल को प्रेम करती है। रामलाल अपने को आर्थिक दृष्टि से अक्षम पाता है। उसे भय है कि आर्थिक विपन्नता में वह ललिता का निर्वाह नहीं कर सकता है। ललिता की काम समस्या भी अपनी जगह ज्यों की त्यों रह जाती है। दुर्गावती मुनीश्वर की पत्नी है। उसे एक पुत्र भी है। मुनीश्वर उससे कहता है कि 'अपने पत्नीत्व को भूल जाओ... मातृत्व पर विचार करो।... मैंने तुम्हें छोड़ दिया तो छोड़ दिया।' एक वंचक और हत्यारा अपनी पत्नी को यह उपदेश देता हुआ छोड़ देता है। इसकी समस्या के समाधान की ओर भी लेखक ने कहीं संकेत नहीं किया है। इस तरह से तीन नारियों के माध्यम से लेखक ने नारी की तीन प्रकार की काम समस्याओं को इस नाटक में उठाया है। समस्याओं की यह प्रस्तुति 'संन्यासी' की अपेक्षा अधिक कलात्मक ढंग से हुई है। किन्तु 'सन्यासी' के अन्तिम अंक में समस्या की अन्विति अच्छे ढंग से होती है। 'राक्षस का मन्दिर' के अन्तिम अंक में युग सन्दर्भ और नारी का आत्म-विश्वास तथा संघर्ष करने की शक्ति प्रधान हो जाती है।

स्वयं लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस नाटक की भूमिका 'मेरा दृष्टिकोण' में 'राक्षस का मन्दिर' की रचना के दो उद्देश्यों का उल्लेख किया है। पहला उद्देश्य तत्कालीन भारतीय समाज से सम्बन्धित है दूसरा उद्देश्य व्यक्ति के मनोविज्ञान से सम्बन्धित है। मिश्र जी प्रश्न उठाते हैं कि भारत की स्वतंत्रता का आधार क्या होगा अथवा राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन का संचालन किस प्रकार से होगा ? फिर स्वयं उत्तर देते हैं कि योरोप और अमेरिका के विचारक प्रजातंत्र के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं। प्रजातंत्र में सर्वसाधारण के हाथ में शक्ति आई, लेकिन सर्वसाधारण में विचारहीनता, संकीर्णता, नीची कोटि के स्वार्थ, आदर्शहीनता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति भी आई। इस कमी को दूर करने के लिए मनुष्य की सारी जिन्दगी को प्रकाशित करना पड़ेगा। 'राक्षस का मन्दिर' की रचना का दूसरा उद्देश्य शिक्षित समुदाय के भीतर विवेक और प्रवृत्ति का द्वन्द्व दिखाना है। उसका विवेक देवता है और प्रवृत्ति राक्षस का रूप है। मुनीश्वर इसी का प्रतिनिधि है। ऐसे ही लोग उपभोगवादी हैं। उनका स्वरूप सड़क पर दूसरे तरह का है और कमरे में दूसरे तरह का है। मिश्र जी यहाँ समस्या का नाम नहीं लेते हैं। प्रजातंत्र में उत्पन्न होने वाले सम्भावित दुर्गुणों और शिक्षित लोगों के अन्तर्विरोध को ही उन्होंने अपने इस नाटक का प्रतिपाद्य घोषित किया है। मिश्र जी प्रजातंत्र और नयी शिक्षा का विरोध नहीं करते हैं। इनके अन्दर जो कमियाँ हैं उसको लेखक खोलता है। मिश्र जी के द्वारा गिनाये गये इन दोनों उद्देश्यों में से एक को हम ऐसी सामाजिक समस्या कह सकते हैं जिसका राजनीति से जुड़ाव है और दूसरी को भी व्यक्ति समस्या कह सकते हैं जिसके कारण समाज दूषित होता है। इनमें से शिक्षित लोगों के अन्तर्विरोध वाली समस्या आरम्भ से लेकर अन्त तक चलती है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के लिए संघर्षरत गांधीवादी आन्दोलन का समर्थन करने वाले कुछ लोगों में आया हुआ चारित्रिक अपकर्ष भी व्यक्ति की ही समस्या है। गांधी ने इस प्रकार के लोगों को कमी प्रश्रय नहीं दिया था। पाश्चात्य विचारकों के आधार पर मिश्र जी ने भारतीय राजनीति की गिरावट की पूर्व कल्पना कर ली है।

'राक्षस का मन्दिर' में दो समस्याओं को ही मानना उपयुक्त है। एक समस्या नारी की काम समस्या है। यह अधिक प्रबल और आरम्भ से लेकर अन्त तक व्याप्त रहने वाली है। दूसरी समस्या पढ़े-लिखे लोगों के चारित्रिक अन्तर्विरोध की है। रामलाल पढ़े-लिखे सम्भ्रान्त व्यक्ति हैं। वे केवल शराब पिलाने के लिए एक वेश्या को अपने यहाँ रखते हैं। मुनीश्वर पढ़ा लिखा है। आन्दोलनकारियों से भी उसका सम्पर्क रहा है। लेकिन वह हर तरह से कुत्सित है। ऊपर से अपने को अच्छा दिखाना चाहता है किन्तु उसकी कुत्सा का चरम विन्दु तीसरे अंक में दिखाई पड़ता है। रामलाल में अन्तर्विरोध नहीं है। वे पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं और मुनीश्वर नयी पीढ़ी का है। अन्तर्विरोध नयी पीढ़ी में है, न कि पुरानी पीढ़ी में। यह समस्या दो अंकों में बहुत क्षीण है। लेकिन लगता है कि अन्तिम अंक इसी समस्या के लिए बनाया गया है। परिणाम यह होता है कि दोनों समस्याओं की अन्विति ठीक से नहीं हो पाती है।

इस नाटक के आरम्भ में अश्करी के माध्यम से नारी का शोषण दिखाया गया है। यह शोषण आर्थिक नहीं बल्कि दैहिक तथा मानसिक है। अश्करी पहले अपने शारीरिक और मानसिक भूख को तृप्त करने के लिए राक्षसी प्रवृत्ति वाले मुनीश्वर तथा पलायनवादी रघुनाथ दोनों की ओर आकृष्ट होती है। फिर वह संघर्ष करती है और अन्त में उसका उत्थान होता है। एक शोषित और दीन-हीन नारी के अन्दर से एक ऐसी शक्तिशालिनी नारी का उदय होता है जो मुनीश्वर जैसे राक्षस को विवश और पराभूत कर देती है। अश्करी का पतन कई बार होता है। वह जिसकी रखैल है, उसी के पुत्र से प्रेम प्रदर्शन करती है फिर प्रपंच करके उसी रघुनाथ के पिता के घर से निकलवा देती है। मुनीश्वर जैसे अपराधी को भी उलझा कर उसकी पत्नी दुर्गा और अबोध पुत्र से अलग कर देती है। आरम्भ में जो उसकी सहायता करता है उसी वकील रामलाल को विष दे देती है। वह दुर्बलताओं से भरी

है। उसे अपराधिनी कहना अधिक उपयुक्त है। फिर वही अश्करी विरक्त हो जाती है। मुसलमान होकर भी ठाकुर जी की पूजा करती है। साम्प्रदायिक विचारों से ऊपर उठी हुई अश्करी में इतना आत्मबल आ जाता है कि मुनीश्वर के षड्यंत्र को विफल करके मातृमन्दिर को अपने नियंत्रण में कर लेती है। प्रेमचन्द ने भी अपने कई उपन्यासों में वेश्या पात्रों का उत्थान या हृदय परिवर्तन दिखाया है। इस नाटक में अश्करी का चरित्र स्वाभाविक है। वेश्या के अनुरूप ही पहले उसमें दुर्बलतायें हैं और अन्त में वेश्या के अनुरूप ही उसमें चालाकी दिखाई पड़ती है। मैं इसे नारी स्वातंत्र्य का प्रतिरूप नहीं बल्कि वेश्या के चरित्र का सामाजिक रूपान्तरण मानता हूँ।

इस नाटक को प्रतीकात्मक नाटक कहना उचित नहीं है। इसमें आए हुए पात्र प्रतीक नहीं है। प्रतीक में पात्र अमूर्त और अचेतन होते हैं। ये अमूर्त और अचेतन पात्र किसी विचारधारा, किसी भावना या वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं। अश्करी नारी स्वातंत्र्य का प्रतीक नहीं है। वह नारी के सम्पूर्ण स्वरूप का प्रतीक बन भी नहीं सकती है। मुनीश्वर मनुष्य के विवेक और प्रवृत्ति, प्रकाश और अन्धकार के द्वन्द्व का प्रतिनिधित्व कर सकता है। लेकिन इससे अधिक उसको यथार्थवादी चरित्र कहना अधिक उपयुक्त है। वह अपराधी और अराजकतावादी है। अपनी अपराधी प्रवृत्तियों को वह क्रान्तिकारिता कहता है। वह हर सरकार, शिक्षा, कानून और सदाचार का विरोधी है। वह पाप से दुनिया का अस्तित्व मानता है। वह पाप को ही दुनिया में सबसे सुन्दर चीज समझता है। वह अपनी पत्नी और पुत्र को छोड़ देता है। अपनी पत्नी से कहता है कि पत्नीत्व को भूलकर मातृत्व पर विचार करो। वह धर्म और अधर्म किसी की परवाह नहीं करता है। वह अहं का विकृत स्वरूप भी है। अपने को ही ईश्वर और सब कुछ मानता है। वह राक्षस है और देवता के मन्दिर में बस जाना चाहता है। लेकिन अश्करी उसके षड्यंत्र को विफल कर देती है। अश्करी रामलाल के साथ रहते हुए यंत्रणा का अनुभव करती है। वह नरक से बढ़कर दुख का अनुभव करती है। लेकिन वह अपनी कुण्ठा और यंत्रणा को उदात्तीकृत करती है। अपनी सीमाओं को पार करके अपनी आत्म-शक्ति को जगाती है। वह नाम, यश, अधिकार और धन की लिप्सा से ऊपर उठ जाती है। रामलाल और उसका पुत्र रघुनाथ एकदम यथार्थ चरित्र हैं। ये देवता और मानव के प्रतीक नहीं हैं। इनमें रामलाल तो एक टाईप है। लेकिन उसका पुत्र रघुनाथ व्यक्ति वैचित्र्य वाला पात्र है। रामलाल ढलती हुई उम्र में किशोर वय की वेश्या को केवल शराब पिलाने के लिए रखता है। उसे एकान्त में अपने पुत्र के साथ देखकर पुत्र पर ही सन्देह करता है। अश्करी पर विश्वास करता है। अपने पुत्र को निकाल देता है। फिर कहता है कि मैं व्यक्ति की स्वतंत्रता का विश्वासी हूँ। मैंने अपने जेलखाने से रामलाल को मुक्त कर दिया। अश्करी उसके साथ रहकर अतृप्ति का अनुभव करती हुई नरक की यातना भोगती है। रामलाल विलासी किन्तु नपुंसक चरित्र है। अश्करी को अपना सब कुछ देकर, कुछ भी न लेना उसकी मजबूरी है। ऐसे व्यक्ति को देवता कहना उचित नहीं है। रघुनाथ पलायनवादी है। अश्करी उसे अपने प्रेम उलझाती है। रामलाल के संदेह करने पर रघुनाथ को ही दोषी बनाती है। रघुनाथ इस झूठ के विरुद्ध संघर्ष नहीं कर पाता है। मुनीश्वर उसके पिता को मार कर सारा धन हथिया लेता है। रघुनाथ दूसरे अंक में मुनीश्वर को पटक कर उसके सीने पर सवार हो जाता है। ललिता उसे रोकती है। रघुनाथ कहता है कि 'अन्याय सह लेने में मेरी मनुष्यता रो पड़ेगी'। वह अपने भीतर एक देवता को देखता है। वह साहित्यिक भी है। ललिता उसे प्रेम करती है। लेकिन अर्थ के अभाव में वह अपने को पारिवारिक दायित्व के निर्वाह में असमर्थ अनुभव करता है। ऐसी दशा में 'राक्षस का मन्दिर' के ये प्रमुख पात्र किसी प्रवृत्ति के प्रतीक नहीं हैं। ये सभी पात्र यथार्थवादी हैं।

इस नाटक के दूसरे अंक में बड़ी लड़की, तीसरे अंक में चार युवकों तथा नागरिक के प्रसंग को डाल कर लेखक ने अनावश्यक पात्रों की योजना की है। इन्हें हटाकर भी काम चलाया जा सकता

है। लेखक ने सुखिया से भोजपुरी बुलवाया है। ऐसा ही 'संन्यासी' में भी स्वाभाविकता के लिए किया है। सन् १९२८ में 'गढ़कुण्डार' में वृन्दावनलाल वर्मा ने बुन्देलखण्डी का प्रयोग अपने पात्र के द्वारा कराया है और १९२९ में 'संन्यासी' में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भोजपुरी का प्रयोग कराया, फिर १९३२ में 'राक्षस का मन्दिर' में। इस नाटक में भी कथोपकथन बड़े स्वाभाविक हैं। अधिकतर कथन छोटे, सुबोध, अवसरानुकूल और सांकेतिक हैं। संवादों के समय पात्रों की चेष्टाओं पर निरन्तर ध्यान दिया गया है। जहाँ संवाद कुछ बड़े हैं वहाँ लेखक किसी न किसी प्रयोजन की सिद्धि संवाद के माध्यम से करता है। रंगमंचीय निर्देशों के द्वारा वातावरण के बनाने का पूरा प्रयास हुआ है। पात्रों की वेश-भूषा और चेष्टाओं का बड़ी क्षमता से उल्लेख मिश्र जी ने किया है।

मुक्ति का रहस्य

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का यह तीसरा समस्या नाटक है। लेकिन पहले के दो नाटकों के समान इस नाटक के मूल में भी काम समस्या है। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' में दो पुरुषों के बीच एक नारी का मनोद्वन्द्व है। ठीक यही स्थिति 'मुक्ति का रहस्य' की भी है। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' में काम समस्या के साथ समाज और राजनीति की कुछ अन्य समस्यायें भी उभरती हैं। 'संन्यासी' में स्वातंत्र्य आन्दोलन और तत्कालीन शिक्षित युवापीढ़ी का स्वरूप एक सीमा तक प्रतिफलित होता है। 'मुक्ति का रहस्य' में भी बेनीमाधव वकील के माध्यम से चुनाव और चुनावी वातावरण में गिरगिट की तरह रंग बदलने वाले लोगों का स्वरूप उभरता है। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' का समाज सम्भ्रान्त वर्ग का है। ठीक यही दशा 'मुक्ति का रहस्य' की भी है। आशा देवी इस नाटक का प्रमुख पात्र है। वह शिक्षित है और नारी स्वतंत्रता का पक्ष बड़ी प्रबलता से ग्रहण करती है। पूर्व के दो नाटकों के केन्द्र में एक नारी है और इस नाटक के केन्द्र में भी आशा देवी है। इस तरह से पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के पूर्ववर्ती दो समस्या नाटकों से 'मुक्ति का रहस्य' भिन्न नहीं मालूम होता है। उसकी समस्या भी परिवर्तित नहीं हुई है। काम की समस्या का ही कोई दूसरा आयाम सामने नहीं आता है। फिर भी समस्या की प्रस्तुति और शिल्प के विधान में यह नाटक पूर्व के ही नहीं बाद के भी दो नाटकों 'राजयोग' और 'आधीरात' से अधिक सफल है।

'मुक्ति का रहस्य' में कुल तीन अंक हैं। तीनों अंकों में एक-एक दृश्य हैं। कथावस्तु की दृष्टि से तीनों अंकों की योजना अच्छे ढंग से की गई है। तीनों अंकों की घटनायें सड़क के किनारे बने उमाशंकर के दुमंजिले मकान में घटती हैं। पहला अंक शुरू होता है तो साँझ हो रही है। दूसरा अंक दोपहर की भीषण गर्मी में शुरू होता है। तीसरे अंक में रात हो गई है। इस तरह से चौबीस घण्टे से भी कम समय में घटनायें घटती हैं। स्थान, वस्तु और कार्य की एकता से यह नाटक बँधा है। पहले अंक की शुरुआत आशा देवी की अतृप्ति से होती है। उमाशंकर वकील हैं और आशा देवी उनके प्रति अनुरक्त है। लेकिन उमाशंकर न तो उसे मानसिक तृप्ति दे पाते हैं और न शारीरिक। पहले अंक की समाप्ति उमाशंकर की धन दौलत से विरक्ति और आशा देवी के चरम मानसिक उत्ताप के साथ होती है। वह उमाशंकर की मरी हुई पत्नी को चरम उत्ताप में देखती है। यह उसका भ्रम है किन्तु इससे आशा की मनोदशा प्रगट होती है। उसका यह उत्ताप दूसरे अंक में ऐसा बढ़ता है कि विष खा लेती है। पहले अंक में आशा देवी को उसके अपराध के रहस्योद्घाटन का भय दिखाकर डाक्टर उसे अपने अनुसार मोड़ना चाहता है किन्तु दूसरे अंक में डाक्टर की सच्ची सहानुभूति आशा के प्रति प्रगट होती है। इस अंक में मिश्र जी समाज के स्वार्थी लोगों का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित करते हैं। तीसरे अंक में राजनीति से लाभ उठाने वाले अवसरवादी और स्वार्थी लोगों के यथार्थ स्वरूप

को लेखक खोलता है। दूसरे अंक का यह क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। इस अंक में यह रहस्य खुलता है कि डाक्टर ने आशा के अपराध को खोलने का भय दिखा कर उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध किया है। आशा अब भी उमाशंकर को देवता ही कहती है और डाक्टर को बाध्य करती है कि उसके सामने सत्य को रख दिया जाय। आशा उमाशंकर से कहती भी है कि डाक्टर मेरे लिए पहला पुरुष है और मैं उससे प्रेम करने लगी हूँ इन तीन अंकों में पहले और तीसरे अंक की कथा नारी के उत्ताप और उसके मानसिक परिवर्तन का क्रमिक विकास बहुत अच्छी तरह से प्रस्तुत करती है। दूसरे अंक को इस क्रमिक विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी मानना चाहिए। केवल काशीनाथ की प्रासंगिक कथा आ जाने से वस्तु विन्यास ढीला दिखाई पड़ता है। किन्तु वकील उमाशंकर के जीवन का यह महत्वपूर्ण सन्दर्भ है। आशा की स्वतंत्रता और परम्परावादियों द्वारा किया जाने वाला उसका विरोध भी इस अवान्तर कथा से प्रगट होता है।

एकाध समीक्षक ने आरोप लगाया है कि 'मुक्ति का रहस्य' की कथा स्थान-स्थान पर टूटी हुई है। एक दूसरा आरोप यह लगाया गया है कि पात्रों को स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं होने दिया गया है। पात्रों के मनोभावों का सूक्ष्म चित्रण इस नाटक में नहीं हो पाता है। तीसरी आलोचना आशा देवी के स्वच्छन्द नारी स्वरूप और प्रेम के सम्बन्ध में कही गयी उनकी बातों की की गई है। 'मुक्ति का रहस्य' की कथा न तो अधिक विच्छिन्न है और न उसमें अन्तराल प्रतीत होते हैं। लेखक का प्रधान उद्देश्य नारी की काम मनोवृत्ति का उद्घाटन है। लक्ष्मीनारायण मिश्र की एक प्रवृत्ति है कि वे पहले निष्कर्ष स्थिर कर लेते हैं, उसके अनन्तर घटनाओं और पात्रों की योजना करते हैं। इस नाटक में उन्होंने पहले से स्थिर कर लिया है कि नारी की यौनतृप्ति मुख्य है। उसकी यह तृप्ति केवल आत्मिक लगाव से नहीं होती है। वे प्रेम को 'प्राणों का विदेह बन्धन नहीं मानते हैं। शारीरिक स्तर पर तृप्ति के पश्चात् ही नारी को यौन सुख प्राप्त होता है। नाटक के आरम्भ से ही आशा का प्रेम उमाशंकर से प्रगट होता है। आशा तृप्ति के लिए छटपटा रही है और उमाशंकर इस पक्ष से बेखबर है। वह उमाशंकर की पत्नी बनने के लिए डाक्टर से मिलकर उसकी पत्नी को विष देकर मार डालती है। उमाशंकर के लड़के मनोहर को मातृवत् स्नेह देना चाहती है। अपने इसी अपराध के चलते और कुछ अपनी यौन अतृप्ति के कारण भी वह डॉ० त्रिभुवननाथ से शारीरीक सम्बन्ध स्थापित करती है। आशा के लिए डाक्टर प्रथम पुरुष बनता है। आशा अन्त तक उमाशंकर को प्रेम करती हुई भी डाक्टर की पत्नी बन जाती है। अन्तर्विरोध यह है कि इस जन्म को छोड़कर उमाशंकर को दूसरे जन्म में पाना चाहती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के इस नारी मनोविज्ञान पर बहस की जा सकती है। आशा देवी एक ओर पाश्चात्य नारी के समान इतनी स्वच्छन्द है कि अपनी यौन अतृप्रि की बातें उमाशंकर से बेहिचक कहती है। उमाशंकर की पत्नी की हत्या का अपराध भी स्वीकार कर लेती है। दूसरी ओर भारतीय दृष्टि को ध्यान में रखकर डाक्टर से विवाह कर लेती है। पहले वह डाक्टर से घृणा करती है। कहती है कि देवता के शरीर पर लात मार कर मन्दिर में आतिशवाजी करना चाहते हैं। लेकिन उसी व्यक्ति से विवाह रचा लेती है। वह न तो भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व कर पाती है और न पाश्चात्य दृष्टि का। लक्ष्मीनारायण मिश्र भावुक प्रेम में विश्वास नहीं करते हैं। छायावादियों के स्वच्छन्तावादी प्रेम का विरोध करने के कारण वे शारीरिक स्तर पर घटित होने वाले प्रेम को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। मिश्र जी की इस दृष्टि पर बहस हो सकती है। लेकिन नाटक के तीनों अंक इस समस्या को नारी के मनोविज्ञान से जोड़कर नियोजित किये गये हैं। इस समस्या के कारण कथा कहीं नहीं टूटती है। मिश्र जी का एक दूसरा उद्देश्य समकालीन समाज और राजनीति का चित्रण करना भी होता है। सभी समस्या नाटकों में ऐसा हुआ है। 'मुक्ति का रहस्य' में काशीनाथ का प्रसंग समाज के अनर्विरोध को प्रगट करता है। उमाशंकर का चेयरमैन चुना जाना और कुछ लोगों का उमाशंकर की चापलूसी के लिए आना , राजनीतिक अन्तर्विरोध को प्रगट करता है। इन

दोनों में काशीनाथ का प्रसंग आशादेवी से भी जुड़ा है, इसलिए वह कथा को तोड़ता नहीं बल्कि जोड़ता है। चेयरमैन वाला प्रसंग मुख्य कथा को अवश्य शिथिल बना देता है। लेकिन यह शिथिलता बहुत नहीं खटकती है।

पात्रों का स्वतंत्र मनोवैज्ञानिक विकास 'मुक्ति का रहस्य' में नहीं हो पाया है। लेकिन यह केवल इसी नाटक की कमजोरी नहीं है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के सभी समस्या नाटकों में पात्रों का विकास एक योजना के अन्तर्गत है। 'संन्यासी' से लेकर 'आधीरात' तक की यही स्थिति है। यह कमजोरी केवल लक्ष्मीनारायण मिश्र की नहीं है। सभी समस्या नाटककार समस्या के पक्ष और विपक्ष का समर्थन करने वाले पात्रों की कल्पना कर लेते हैं। बर्नार्ड शा के पात्रों को उसके सिद्धान्तों की छड़ी कहा गया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र तो समस्या के पक्ष-विपक्ष से हटकर कभी-कभी थोड़ा सा पात्रों के अन्तर्मन में भी झाँक लेते हैं। आशा देवी में यौन अतृप्ति है। अपनी इसी अतृप्ति के कारण जिस डाक्टर को वह पहले घृणा करती है अन्त में उसी से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करके विवाह कर लेती है। किन्तु उमाशंकर के प्रति गहरा प्रेम अन्त तक उसके अन्दर विद्यमान रहता है। यह उसका मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व है। उसका स्वच्छन्द नारी स्वरूप भी उसकी व्यक्ति विचित्रता को बताता है। मिश्र जी ने अपनी नारी पात्रों में अतिवाद बराबर दिखाया है। 'संन्यासी' की किरणमयी, 'राक्षस का मन्दिर' की अश्करी, 'राजयोग' की चम्पा और 'आधीरात' की मायावती इसी प्रकार के नारी पात्र हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के ये सभी नारी पात्र शिक्षित और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हैं। इन सबमें उन्होंने असामान्य मनोविज्ञान को दिखाया है।

इस नाटक में आशा देवी प्रमुख पात्र है। उसकी काम अतृप्ति ही इस नाटक का आधार है। कुछ लोगों ने आशा के प्रेम को आध्यात्मिक और कुछ लोगों ने रोमांटिक बतलाया है, लेकिन यह प्रेम न आध्यात्मिक है और न रोमांटिक। प्रेम का ऐसा रूप छायावादी काव्य में पाया जाता है। मिश्र जी इस प्रकार के प्रेम के विरोधी थे। वे काम को देही का भोग मानते थे। जिस काम में शारीरिक तृप्ति नहीं और वह सन्तानोत्पत्ति में सहायक नहीं, वह व्यर्थ है। मिश्र जी बुद्धिवाद को अपना लक्ष्य मानते थे और यह बुद्धिवाद भ्रम तथा मिथ्या का विरोधी होता है। आशा देवी भ्रम और मिथ्या में जीवित नहीं रहना चाहती थी। मिश्र जी प्रेम को प्रजनन या सन्तानोत्पत्ति का साधन मानते थे। स्त्री और पुरुष के सम्मिलन में 'नूतन सृष्टि' होती है। आशा देवी और उमाशंकर के प्रेम में यह सम्भव नहीं था। इसलिए मिश्र जी आशा देवी के द्वारा डॉ० त्रिभुवननाथ के सामने आत्म-समर्पण करा देते हैं। ठीक ऐसी ही स्थिति यशपाल के उपन्यास 'दिव्या' में होती है, जब दिव्या मारीश के सामने आत्म-समर्पण करती है। लेकिन यह जरूर है कि मिश्र जी की प्रेम विषयक यह अवधारणा आशा देवी के चरित्र में बहुत सतही ढंग से उभरती है। छायावादी प्रेमानुभूति के समक्ष तो यह प्रेम एकदम वासनात्मक और आडम्बरपूर्ण सिद्ध होता है। आशा देवी उमाशंकर की पत्नी बनना चाहती है। इसके लिए वह उमाशंकर की पत्नी को विष देती है। उसके इस अपराध को डाक्टर जानता है और इसी का भय दिखा कर डॉ० त्रिभुवननाथ पहले आशादेवी के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करता है। आशा देवी अपने अपराधों के द्वन्द्व को सह नहीं पाती और उत्ताप में विष पीती है। वह नारी के चरित्र को उसके जीवन का सबसे बड़ा भरोसा मानती है और उसी को खो बैठती है। वैसे आशा देवी चरित्र की दोहाई देती है और एक के बाद दूसरा अपराध करती जाती है। लगता है कि वह अपनी कामतृप्ति के लिए सब कुछ कर सकती है। उसके विष पीने से डाक्टर अवश्य प्रभावित होता है। मिश्र जी ने आशा देवी से तीसरे अंक के अन्त में उसकी काम अतृप्ति का कथन कराकर विवादास्पद स्थिति उत्पन्न कर दी है। भारतीय संस्कारों की कोई भी नारी ऐसा नहीं कर सकती है। फिर भी इससे आशादेवी के चरित्र की स्वच्छता प्रगट होती है। वह उमाशंकर के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करते हुए डाक्टर को भी अपराध स्वीकृति के लिए प्रेरित करती है।

उसमें मातृत्व का भी भाव है। मनोहर को वह अपना स्नेह देना चाहती है, जिसे वह स्वीकार नहीं करता है।

उमाशंकर तथा डॉ० त्रिभुवननाथ दो अन्य प्रमुख पात्र हैं। उमाशंकर ने असहयोग आन्दोलन के प्रभाव के कारण डिप्टी कलक्टरी छोड़ दी है। ये आदर्शवादी हैं किन्तु इनका आदर्श व्यवहार से बहुत दूर है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने समस्या नाटकों में तत्कालीन राजनीति का परिवेश अवश्य उभारते हैं किन्तु उनके राजनीतिक पात्र या तो अन्तर्विरोधों से भरे होते हैं अथवा वे एकदम दुर्बल होते हैं। उमाशंकर भी आदर्शवादी हैं लेकिन जीवन में एकदम अव्यवहारिक हैं। अपनी पत्नी के निधन के बाद वे आशा देवी जैसी सुशिक्षित तथा आधुनिक महिला को अपने साथ रखते हैं। आशा देवी उनसे प्रेम करती है। वह शारीरिक सम्बन्ध के लिए व्यग्र है किन्तु उमाशंकर इन सबसे बेखबर है। आशा देवी उनके चरित्र की पवित्रता के कारण उन्हें देवता समझती है। उमाशंकर त्यागी पुरुष हैं। काफी समझदार हैं। वे नारी स्वतंत्रता के पक्षधर हैं, लेकिन यह भी मानते हैं कि कोई स्त्री रूढ़ियों को तोड़कर आगे बढ़ेगी तो लोग उसपर सन्देह करेंगे। वे साम्यवाद के सिद्धान्तों को मानते हैं। मनुष्य के समान अधिकारों की वे बातें करते हैं। रूढ़ियों की पुरानी इमारत को गिराकर वे मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप में देखते हैं। इतने पर भी उन्हें विश्वास है कि स्वराज्य अभी बहुत दूर है। वे ईमानदार भी हैं। राजनीतिक पद का उपयोग अपने हित में नहीं करते हैं। लेकिन इतना बुद्धिमान व्यक्ति भी आशादेवी के मनोभावों को समझ नहीं पाता है। डॉ० त्रिभुवननाथ छैल-छबीला है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने पहले अंक में डाक्टर की वेश-भूषा का वर्णन करने के बाद उसके चरित्र के विषय में प्रत्यक्षत: कहा है-- 'डाक्टर साहब इसी पीढ़ी के उन विकृत हृदय और विकृत मस्तिष्क युवकों में हैं, जिन्होंने साहब बनने के शौक में संस्कार, चरित्र बल या ऐसी सभी बातें जो मनुष्य को पशुत्व के ऊपर उठाये रहती हैं, छोड़ दिया है, ज़ो प्रवृत्तियों के गुलाम हैं। डाक्टर ने अपनी वासना का शिकार कुछ अन्य युवतियों को भी पहले बनाया था और बाद में आशादेवी की कमजोरी को पकड़ कर उसे भी अपनी वासना का शिकार बनाता है। आशा पहले डाक्टर को घृणा करती है फिर उससे प्रेम करने लगती है क्योंकि उसके लिए डाक्टर प्रथम पुरुष बन गया है। अपनी दुर्बलताओं के बावजूद डाक्टर में कुछ अच्छाई भी है। आशा से वह कहता है कि 'आपने विष खाकर मेरी आत्मा को पवित्र कर दिया है'। आशा कहती है कि वह उमाशंकर से अपना अपराध स्वीकार कर ले, किन्तु वह इतना लज्जित है कि आँख मिलाना नहीं चाहता है। आशा उसे समझाती है कि आप पाप को धोकर सदैव के लिए सिर ऊँचा करें अन्यथा इसी तरह नरक में पड़े रहेंगे। डाक्टर अपने इस अपराध को स्वीकार करके आशा देवी को पत्नी बनाने के लिए तैयार हो जाता है। इस तरह से मिश्र जी उसे जितना प्रत्यक्षत: खराब बताते हैं वह उतना नहीं है। मिश्र जी के ढाँचे से उसका व्यक्तित्व थोड़ा सा इधर-उधर हो गया है। उमाशंकर के चाचा काशीनाथ पुराने जमींदार के प्रतिनिधि हैं। अपने जायदाद को बचाने के लिए वे अधिकारियों के आगे पीछे घूमते हैं। आशा देवी का उमाशंकर के साथ रहना उन्हें पसन्द नहीं। आशा की स्वच्छन्दता के वे कट्टर विरोधी हैं। उनका यह रूप एक निर्धारित ढाँचे में ढला हुआ है। देवकीनन्दन, मुरारी सिंह, जगई और बेनी माधव महत्वहीन पात्र हैं। इनका चरित्र नाटक के लक्ष्य के निर्धारण में सहायक है। इस तरह से सभी घटनायें और पात्र मिश्र जी द्वारा पूर्व निर्धारित हैं।

इस नाटक के तीन अंकों के पूर्व रंग-मंच निर्देश है। पहले अंक का निर्देश बहुत लम्बा है। दूसरे और तीसरे अंक का छोटा है। पहले अंक के पूरे निर्देश की व्यवस्था में काफी समय लग सकता है। दूसरे और तीसरे अंक की व्यवस्था में समय बहुत कम लगेगा। बीच बीच में भी मिश्र जी ने पात्रों की वेष-भूषा और उनकी भावभंगिमा का विवरण दिया है। पात्रों की वेष-भूषा के माध्यम से मिश्र जी उन चरित्रों का व्यक्तित्व उभारते हैं। मिश्र जी को इससे भी सन्तोष नहीं होता तो प्रत्यक्ष रूप

से उन पात्रों के स्वभाव के सम्बन्ध में अपनी ओर से कह देते हैं। मिश्र जी की यह शैली कलात्मकता को हानि पहुँचाती है। उन्होंने पात्रों की चेष्टाओं और संवादों का स्वाभाविक रूप रखा है। संवादों के बीच-बीच में चेष्टा का उल्लेख कर देने से नाट्य शैली प्रभावशालिनी हो जाती है। वैसे मिश्र जी स्वाभाविकता को बहुत महत्व देते हैं। इसी से नाटकों में गीत और स्वागत संवाद को वे नहीं रखना चाहते हैं। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' में कविता की पंक्तियाँ आ गई है। यहाँ उन्होंने इसमें सावधानी वरती है। मिश्र जी नाट्य-शिल्प में बहुत सफल हैं। इसकी कथावस्तु की योजना, प्रासंगिक कथाओं के समाहार और शिल्प में जो कमी रह गई हैं, उसे मिश्र जी ने 'सिन्दूर की होली' में पूरा कर दिया है।

राजयोग

इस नाटक में भी काम की समस्या मूल में है। नारी अपने पति को भूल कर प्रेमी से अनुरक्त हो अथवा पति को समर्पिता होकर प्रेम को भूल जाय यह एक समस्या है। प्रेमी और पति में से एक को चुनना है। फिर इसी से लगी हुई एक दूसरी समस्या है। उच्च कुल से आई पत्नी को एक नीच व्यक्ति की जारज सन्तान सिद्ध हो जाने पर पति क्या करे--यह दूसरी समस्या है। इन दोनों समस्याओं का समाधान मिश्र जी भारतीय परम्परा के अनुसार करते हैं। नारी को चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्व को अपने पति के भीतर मिला दे--यह मिश्र जी का समाधान है। पत्नी की पृथक् सत्ता मिट जानी चाहिए। दूसरी समस्या का समाधान है कि व्यक्ति का आधार उसकी मनुष्यता है। चम्पा शत्रुसूदन से पूछती है कि यदि उसका रक्त अशुद्ध है तो इसमें उसका क्या अपराध है ?

समीक्षकों ने इसे वास्तविक काम समस्या नहीं माना है। उनके अनुसार यह काम की विकृति है। यह केवल राज परिवार या सम्भ्रान्त कहे जाने वाले लोगों की विकृति मात्र है। लेकिन मूलतः यह काम समस्या ही है। यह बात दूसरी है कि समस्या में कोई नयापन नहीं है। आधुनिक जीवन की परिस्थितियों में यह समस्या उत्पन्न नहीं हुई है। पति और प्रेमी के बीच का द्वन्द्व एक शाश्वत समस्या है। यह समस्या पहले थी और बाद में भी रहेगी। लेकिन मिश्र जी इसका दायित्व नयी शिक्षा के ऊपर मढ़ते हैं। विश्वविद्यालय के परिसर में युवक-युवतियों के मुक्त होकर मिलने और व्यक्ति स्वतंत्रता के कारण विवाह के पूर्व प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह समस्या मिश्र जी ने 'संन्यासी' और 'मुक्ति का रहस्य' दोनों में उठाई थी। जब नयी शिक्षा नहीं थी, तब भी पूर्वानुराग या विवाह के पूर्व के प्रेम को संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने अपनी रचनाओं में दिखाया है। मिश्र जी ने प्रसाद के नाटकों में आई नायिकाओं की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के विरोध में अपने नारी पात्रों को प्रेम में तनिक भी स्वतंत्रता नहीं दी। उनके नारी पात्रों के जीवन में आया प्रथम पुरुष ही उनका पति बनता है। विवाह के बाद नारी के लिए उसका पति ही सर्वस्व है। यह सिद्धान्त यहाँ भी लागू किया है। इसलिए पात्र और घटनायें मिश्र जी के फार्मूले के अनुसार विकसित होते हैं। वे नाटक में भी पात्रों की स्वतंत्र सत्ता के विरोधी हैं। मिश्र जी जैसे चाहते हैं, पात्र भी उसी तरह से उठते और बैठते हैं।

इस नाटक में अवैध सन्तान की समस्या भी कोई नयी बात नहीं है। मिश्र जी ने इसे चम्पा के प्रसंग में उठाया है। उसके तथाकथित पिता ठाकुर बिहारी सिंह बहुत बड़े जमींदार हैं। चम्पा का विवाह शत्रुसूदन से हुआ है जिसे अपने वंश की मर्यादा और रक्त की शुद्धता का अभिमान है। किन्तु नरेन्द्र के सम्मोहन में गजराज भेद खोलता है कि चम्पा उसकी पुत्री है। एक जमींदार की पुत्री कही जाने वाली चम्पा एक सामान्य से परिचारक की पुत्री सिद्ध होती है। शत्रुसूदन के मन में चम्पा के लिए घृणा उत्पन्न हो जाती है। दूसरी ओर चम्पा अपने को निर्दोष मानती है। इसमें उसका अपराध

नहीं। वह कहती है कि 'विवाह होने से पहले मेरा जीवन बिगड़ चुका है'। यह समस्या भी नयी नहीं है। मिश्र जी ने इसे उच्चकुल में दिखाया है और प्रसाद ने 'कंकाल' में मध्य वर्ग के अन्तर्गत ऐसे पात्रों की कल्पना की है। वैसे शत्रुसूदन और चम्पा के वैवाहिक जीवन में इस समस्या की जटिलता को और भी विकसित किया जा सकता था। किन्तु मिश्र जी ने इस समस्या के उद्घाटन और समाधान दोनों में दुर्बलता का प्रदर्शन किया है। उच्चकुल की चम्पा का वर्णसंकर होना अतियथार्थ है और उद्घाटन सम्मोहन से कराना तिलस्मी उपन्यासों की कथनानक रूढ़ि है। द्विवेदी युग के बाद के किसी उत्कृष्ट लेखक ने इस का उपयोग नहीं किया है। समस्या नाटक में लेखक समाधान नहीं प्रस्तुत करता है। स्वयं मिश्र जी की समाधान खोजने की प्रवृत्ति नहीं है। लेकिन मिश्र जी का विचार है कि 'स्त्री के लिए दो जगहें हैं, पिता का घर या पति का घर।...तीसरा घर न तो कहीं है, न बनाया जा सकता है।' अपने इस विचार को चम्पा पर लाद कर मिश्र जी उससे यह भी कहला देते हैं 'राजमहल में कई दासियाँ हैं'। वह शत्रुसूदन की पत्नी है लेकिन पति से तिरष्कृत होने पर उसकी दासी बनने को तैयार है। मिश्र जी का यह भी अतिवादी दृष्टिकोण है। स्त्री का चरम समर्पण है। मिश्र जी इसे भारतीयता कहें, लेकिन यह आधुनिक चिन्तन को ग्राह्य नहीं हो सकता है। इस तरह से समस्या के स्तर पर यह नाटक मिश्र जी के ही नाटकों में साधारण नाटक है।

'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने लेखक की ईमानदारी और विवेक की बात कही है। वे बुद्धिवाद को 'स्वत: अनन्त विश्वास' मानते हैं। बुद्धिवादी का जीवन विवेक और प्रकाश का होता है, अन्ध-विश्वास का नहीं। उसे अपने मार्ग का पता होता है। किन्तु 'राजयोग' की घटनायें और चरित्र दोनों इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। लेखक ने काम समस्या का उद्घाटन जिस विधि से किया है, वह विवेक सम्मत नहीं है। पूर्व निश्चय के अनुसार वह घटनाओं को प्रस्तुत करता है और चरित्रों का संचालन करता है। इन घटनाओं, चरित्रों और नाटक के बीच बीच में जीवन के सम्बन्ध में व्यक्त लेखक के विचार भी उसकी ईमानदारी और विवेक के परिचायक नहीं हैं। राजयोग और उसमें सम्मोहन की क्रिया लेखक के विवेक की सूचक नहीं है। पत्नी के रूप में नारी के सम्बन्ध में व्यक्त उसके विचार विवेक सम्मत नहीं है। जो शिक्षा विवेक का आधार है, लेखक उसका भी विरोध करता है। चम्पा नरेन्द्र को प्रेम करती है। लेकिन अपने पति शत्रुसूदन के एक प्रश्न के उत्तर में कहती है कि पति और प्रेमी में से किसी एक को विष देना हो तो प्रेमी नरेन्द्र को देगी क्योंकि शास्त्र की ऐसी ही व्यवस्था है। शास्त्र की यह व्यवस्था लेखक की ईमानदारी और विवेक के विपरीत है। प्रत्येक दशा में पति को ईश्वर मानने की बात आज विवेक सम्मत नहीं हो सकती है। इतना ही नहीं चम्पा अपने पति को अपना ईश्वर, शिव और ब्रह्मा कहती है। मिश्र जी मानते हैं कि 'इस जमाने में स्त्री पुरुष की प्रतिहिंसा में खड़ी हो रही है'। यह विचार भी विवेक सम्मत नहीं है। नारी की स्वतंत्रता का विरोध भी विवेक सम्मत बात नहीं है। माया, जगत्, सम्मोहन, राजयोग, शास्त्र आदि की बातें आधुनिकता के विपरीत हैं। समस्या नाटककार को जिन रूढ़ियों का विरोध करना चाहिए, मिश्र जी उन्हीं का समर्थन करते हैं।

परम्परा का अनुमोदन मिश्र जी की दुर्बलता बन जाती है। समस्या नाटककार के रूप में किसी समस्या को उठाकर वे उसका निदान आधुनिक दृष्टि से नहीं कर पाते हैं। छायावादी कवियों ने स्वच्छन्द प्रेम की प्रतिष्ठा की थी। वे नारी की मुक्ति के पक्षधर थे। मिश्र जी छायावाद का विरोध करने के कारण छायावादियों के नारी विषयक दृष्टिकोण का भी विरोध करने लगते हैं। इसी से उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाता है। नरेन्द्र कहता है कि स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध बिताना भौतिक है। लेकिन चम्पा अपने पति शत्रुसूदन को भौतिक धरातल से उठकर धार्मिक दृष्टि से देखने लगती है। अपनी इसी दुर्बलता में मिश्र जी नयी शिक्षा का विरोध करते हैं।

स्वातंत्र्य आंदोलन का खुलकर समर्थन नहीं कर पाते हैं। उच्च कुल और सम्भ्रान्त परिवार के इर्द गिर्द उनके समस्या नाटकों की कथा घूमती रह जाती है। 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'राजयोग' और 'सिन्दूर की होली'-इन सब के पात्र उच्च कुल के हैं। यहाँ मिश्र जी अपने समकालीन उपन्यासकारों से पीछे दिखाई पड़ते हैं। लेकिन मिश्र जी का यह लक्ष्य भी नहीं था।

इस नाटक का केन्द्र नरेन्द्र है। चम्पा से उसके प्रेम की कथा पूर्व दीप्ति (क्लेश बैंक) पद्धति से खुलती है, अन्यथा समूचे नाटक में लेखक ने उसकी विरक्ति का ही प्रदर्शन किया है। शत्रुसूदन जैसे उसके सम्मोहन में है। नरेन्द्र जैसा आदेश देता है, शत्रुसूदन वैसा ही करता है। नरेन्द्र के सामने शत्रुसूदन की वैयक्तिकता जैसे लुप्त हो जाती है। वह उच्च शिक्षा प्राप्त युवक है। उसका पिता रघुवंश रियासत का दीवान है। उसने चम्पा से अशरीरी प्रेम किया था और उससे विवाह न होने पर राजयोग में प्रवृत्त हो जाता है। राजयोग के कारण उसकी वेश-भूषा योगियों की न होकर राजाओं की है। वह गजराज पर सम्मोहन करके चम्पा के जन्म की कथा कहलाता है। फिर चम्पा में आत्म-विश्वास जगाता है। उसे आत्महत्या से बचाता है। अपने पति में पूर्ण समर्पण के लिए प्रेरित करता है। शत्रुसूदन के मन में चम्पा के प्रति उत्पन्न घृणा का भी शमन करता है। वंश और रक्त की शुद्धता से बड़ी मनुष्यता को बताता है। अपनी कुण्ठाओं से पीड़ित पात्रों को सब कुछ भूल कर नये जीवन की शुरुआत करने के लिए कहता है-- 'नवीन आरम्भ ! नरेन्द्र, चम्पा, गजराज, बूढ़े दीवान सब के साथ आरम्भ, नवीन आरम्भ'। अन्त में राजयोग की समाप्ति करके कर्मयोगी बन जाता है। नरेन्द्र का यह चरित्र यथार्थवादी नहीं है। बुद्धिवाद को अपना आधार मानने वाले समस्यामूलक नाटककार की कल्पना के अनुरूप नरेन्द्र का चरित्र नहीं है। उसका वैराग्य, उसका योग, उसका सम्मोहन और अपनी प्रेमिका चम्पा को उपदेश सब कुछ अस्वाभाविक लगता है। यह भी आश्चर्यजनक लगता है कि निरन्तर साथ रहने पर भी उसका मित्र शत्रुसूदन और उसका पिता उसे नहीं पहचान पाते। उसकी प्रेमिका चम्पा बहुत देर में पहचान पाती है। नरेन्द्र का चरित्र और इस नाटक में उसकी पूरी भूमिका मिश्र जी के पहले से बनाये गये ढाँचे में ढली हैं।

चम्पा और शत्रुसूदन इसके अन्य महत्वपूर्ण पात्र हैं। चम्पा विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त युवती है। उसने नरेन्द्र से प्रेम किया था किन्तु विवाह शत्रुसूदन से हो गया। विवाह के बाद भी नरेन्द्र से उसका अनुराग कम नहीं हुआ। वह शास्त्र की व्यवस्था को तोड़ना नहीं चाहती है। इसीलिए पति और प्रेमी में से किसी एक को विष देना हो तो प्रेमी को देना चाहती है। वह पति को ही अपना भगवान मानती है। दूसरी ओर यह भी कहती है कि स्त्री के अन्दर का ज्वालामुखी भड़क उठा है। वह प्रतिवाद करेगी और जरूरत पड़ने पर युद्ध करेगी उसका यह कथन उसके कार्यों को देखकर हास्यास्पद लगता है। शत्रुसूदन जब उसके जन्म की कथा जानकर घृणा करने लगता है तो उसके महल की दासी बनने को तैयार हो जाती है। नारी के अधिकार और पुरुष से उसकी समता की बात वह सोचती ही नहीं। उल्टे कहती है कि 'स्त्री सदैव पुरुष का नाश करती रहेगी और पुरुष स्त्री का'। चम्पा का यह अस्वाभाविक चरित्र भी मिश्र जी द्वारा पूर्व निर्मित साँचे के कारण है। नरेन्द्र और चम्पा की अपेक्षा शत्रुसूदन का चरित्र स्वाभाविक है। वह आधुनिक शिक्षा प्राप्त राजकुमार है। कर्मचारियों का शोषण नहीं करना चाहता है। समय से सब को छुट्टी देता है। वृद्ध दीवान को अवकाश दे देता है। दीवान के वंश परम्परागत अधिकार को नहीं मानता है। सिनेमा देखने में रुचि लेता है। उसे अपने वंश और रक्त का अभिमान है। इसीलिए यह मालूम होने पर कि चम्पा वर्णसंकर है, उससे घृणा करने लगता है। चम्पा उसके सम्बन्ध में गजराज से कहती है कि तुम्हारे सरकार प्राचीनता के विरोधी हैं। पुरानी सभी बातें उनके लिए बुरी हैं। प्राचीनता के इसी विरोध के कारण मिश्र जी चम्पा से शत्रुसूदन के सम्बन्ध में कहलाते हैं-- 'तुम्हारे सरकार हृदय और मस्तिष्क से बच्चे हैं।' मिश्र जी को प्राचीनता का विरोध सह्य नहीं है। शत्रुसूदन नयेपन में पुराने का विरोध करता

है तो मिश्र जी उसको एकदम दुर्बल, लुंजपुंज बना देते हैं। नरेन्द्र के वश में वह एक कठपुतली सा लगता है। वह एक पति के रूप में जितना असफल है, उतना ही राजा के रूप में भी असफल है। उसकी वंश मर्यादा का अभिमान भी ध्वस्त हो जाता है। गजराज एक सिपाही है। अविवाहित है। अपनी मालकिन से उसका अवैध सम्बन्ध था। चम्पा उसी की अवैध सन्तान है। इसका गहरा दुख उसके मन में है। शत्रुसूदन के अनुसार 'जितना बड़ा इसका हृदय था, उतना ही बड़ा इसका दुःख भी होगा।' गजराज के मन के दुःख को निकालने में ही अवैध सम्बन्ध और सन्तान की समस्या भी उभर कर सामने आती है। रघुवंश ऐसा वृद्ध दीवान है जिसको अपने वंश के बलिदान का अभिमान है। उसमें साहस है किन्तु वृद्ध होने के कारण अशक्त है। उसे अपने पुत्र के खो जाने का दुःख है। उसमें विद्रोह की भावना के साथ स्वामिभक्ति भी है। लेकिन आश्चर्य यह कि अपने पुत्र को राजयोगी के वेश में पहचान नहीं पाता है।

समस्या के प्रस्तुतीकरण और चरित्रों की कल्पना में यह नाटक जितना कमजोर है, शिल्प के धरातल पर उतना ही मजबूत है। पात्रों की संख्या सीमित है। हर पात्र लेखक की पूर्व कल्पना के अनुसार ही विकसित होता है। प्रत्येक पात्र की निर्धारित भूमिका है। केवल एक स्त्री पात्र को रखकर लेखक ने पत्नी के रूप में स्त्री और आधुनिक शिक्षा तथा स्त्री सामान्य नारी के सम्बन्ध में अपना पूरा विचार रख दिया है। वस्तु योजना भी बहुत अच्छी है। पूर्व के सभी नाटकों से अधिक इस नाटक का वस्तु विन्यास है। पहले अंक में सभी पात्र आ जाते हैं। मुख्य समस्या भी इसी में खुल जाती है। दूसरे अंक में चरित्रों का विस्तार होता है और मुख्य समस्या से लगी दूसरी समस्या भी सामने आ जाती है। तीसरे अंक में लेखक सांकेतिक समाधान कर देता है। पहले अंक की कथा दूसरे में विस्तार पाती है और तीसरे में एक लक्ष्य की ओर सिमट जाती है। लेखक के विचार भी तीसरे अंक में पात्रों के द्वारा अधिक व्यक्त हुए हैं। संवाद बहुत सधे हुए हैं। कही छोटे-छोटे ध्वन्यात्मक संवाद हैं, कहीं मूल्यपरक और दो-एक स्थल पर काव्यात्मक संवाद हैं। इस नाटक के संवाद अधिक कलात्मक हैं। रंगमंचीय निर्देश विस्तृत हैं। इनसे वातावरण, परिस्थिति और पात्रों का मनोविज्ञान प्रगट हुआ है। पात्रों के संवादों के साथ उनकी चेष्टाओं का भी निर्देश लेखक ने किया है। इस नाटक की भाषा अधिक मजी हुई है। कुल मिलाकर शिल्प की दृष्टि से यह नाटक 'सिन्दूर की होली' के बाद अपना स्थान रखता है, किन्तु समग्रतः विचार करने पर 'मुक्ति का रहस्य' इससे श्रेष्ठ है।

सिन्दूर की होली

मिश्र जी के समस्या नाटकों में सबसे अधिक सफल और लोकप्रिय 'सिन्दूर की होली' है। इसकी रचना सन् १९३४ में हुई थी। इसके पूर्व वे चार समस्या नाटक और एक ऐतिहासक-सांस्कृतिक नाटक की रचना कर चुके थे। इस समस्या नाटक की रचना इब्सन और बर्नर्ड शा के समस्या नाटकों के शिल्प के आधार पर हुई है। वैधव्य की समस्या इस नाटक के केन्द्र में है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने मनोरमा तथा चन्द्रकला नामक दो नारियों के माध्यम से विधवा-विवाह और विवाह की पद्धति से सम्बन्धित वैचारिक द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है। चन्द्रकला का रजनीकान्त के प्रति आकस्मिक आकर्षणजन्य प्रेम आवेग की इस सीमा तक पहुँच जाता है कि चन्द्रकला रजनीकान्त के आहत होने पर भी उससे एकनिष्ठ प्रेम करती रहती है। इसे भावुक्ताजन्य प्रेम कहा जायेगा। चन्द्रकला मनोजशंकर से समझौता नहीं कर पाती है। वह कहती है कि आग और पानी का समझौता कैसा ? जब चन्द्रकला मनोजशंकर से आन्तरिक समझौता नहीं कर पाती है, तो वे एक दूसरे से विवाह नहीं करते हैं। भारतीय दृष्टि से विवाह केवल सामाजिक समझौता नहीं बल्कि हृदय का भी मिलन है। चन्द्रकला हृदय के न मिलने पर केवल सामाजिक समझौता

करने के लिए तैयार नहीं है। दूसरी ओर चन्द्रकला किसी भारतीय नारी की शालीनता के विपरीत प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करती है। समस्या का पक्ष और विपक्ष इसी से उभरता है। चन्द्रकला नये विचारों वाले परिवार में जन्मी है। उसने नयी शिक्षा पाई है और नये युग की चेतना में उसका संस्कार हुआ है। भारतीय दृष्टि से भी वह छूट नहीं पाती है। इसलिए उसके प्रेम और विवाह से सम्बन्धित विचार अन्तर्विरोधात्मक हैं।

इस नाटक की दूसरा महत्वपूर्ण पात्र मनोरमा बाल विधवा है। वह मानती है कि हिन्दू विधवा एक कविता या दर्शन है। वह विधवाओं को समाज का कलंक नहीं, बल्कि एक आवश्यकता मानती है। स्त्री जीवन का साधना और तपस्या वाला पक्ष विधवाओं के माध्यम से समझ में आता है। वह विधवा-विवाह का विरोध करती है। उसका विचार है कि कोई विधवा यदि पुरुष के विषैले संसर्ग में नहीं आई है तो वह पवित्र होगी ही। मनोरमा का मानना है कि 'वैधव्य मिटेगा नहीं'। 'विधवा विवाह हो रहा है ...लेकिन वैधव्य मिटेगा नहीं'। मनोरमा को आशंका है कि स्वस्थ सामाजिक चेतना के अभाव में विधवा-विवाह असफल हो जायेंगे। यौवन के ढल जाने पर लोग तलाक का बहाना ढूढ़ेंगे। वह शारीरिक व्यभिचार से भी भयंकर मानसिक व्यभिचार को मानती है। लेकिन मनोरमा के चरित्र का यह अन्तर्विरोध है कि मनोजशंकर को अपना पति तो नहीं बनाना चाहती है, लेकिन उसे प्रेमी के रूप में स्वीकार करने को तैयार है। यह तो मानसिक व्यभिचार है जिसका वह स्वयं विरोध करती है।

मनोरमा और चन्द्रकला दोनों विधवा विवाह का विरोध करती हुईं वैधव्य जीवन की श्रेष्ठता का बखान करती हैं। लेकिन इन दोनों युवतियों के संस्कारों के अनुसार दोनों के विचारों में पर्याप्त अन्तर है। मनोरमा का कला से लगाव है। वह कला, शिक्षा और जीवन के सम्बन्ध में निजी विचार रखती है। चन्द्रकला नये विचारों में जन्मी, पली और संस्कारित हुई है। अपने संस्कारों और परिवेश के अन्तर के कारण दोनों अलग-अलग ढंग से वैधव्य का समर्थन करती हैं। चन्द्रकला के वैधव्य का मनोरमा विरोध करती है। चन्द्रकला के वैधव्य में सामाजिकता नहीं है। एक आकस्मिक आकर्षण से स्वीकार किया गया वैधव्य पुन: आकर्षण में बँध सकता है। मनोरमा कहती है 'मैं एक बार विधवा हुई, लेकिन तुम्हारे नाम तो अनेक बार विधवा होने की संभावना है। दूसरी ओर चन्द्रकला अपने वैधव्य का समर्थन करती है। उसके अनुसार मनोरमा का वैधव्य रुढ़ियों का विधवापन है। 'वेदमंत्रों का और ब्रह्म भोज का...जिस पुरुष को तुमने देखा नहीं, जिसकी कोई धारणा नहीं, जिसकी कोई स्मृति तुम्हारी आत्मा को हिला नहीं सकी...उसका वैधव्य कैसा?' चन्द्रकला अपने वैधव्य को अपनी आत्मा की प्रेरणा से उत्पन्न वैधव्य बताती है और मनोरमा के वैधव्य को सामाजिक रूढ़ियों से उत्पन्न वैधव्य बताती है। चन्द्रकला अपने वैधव्य को 'चिरन्तन नारीत्व' कहती है। मनोरमा भी अपने वैधव्य को नारीत्व का सत्य स्वरूप मानती है। मनोरमा का सामाजिक रुढ़ि से स्वीकृत वैधव्य है और चन्द्रकला का भावनात्मक प्रेम के कारण स्वीकृत वैधव्य है। ऊपर से देखने पर दोनों के विचार स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से प्रेरित हैं। चन्द्रकला की भावुकता भी रोमांटिक है और मनोरमा की रूढ़िगत मान्यता भी रोमांटिक प्रवृत्ति पर आधारित लगती है। बहुत से समीक्षकों ने 'सिन्दूर की होली' में उठाई गयी वैधव्य की समस्या को बौद्धिकता से दूर केवल स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से प्रेरित कहा है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने को बुद्धिवादी कहा है। अब विचार यह करना है कि क्या 'सिन्दूर की होली' में मिश्र जी बुद्धिवादी रह पाये हैं? क्या चन्द्रकला और मनोरमा की जीवन दृष्टि बुद्धि सम्मत है? उन दोनों का वैधव्य क्या भावुकता तथा रुढ़ि से आरोपित तो नहीं है? चन्द्रकला रजनीकान्त को देखकर इस सीमा तक प्रभावित होती है कि उसे मन ही मन पति मान बैठती है।

चन्द्रकला ने जीवन में पहली बार किसी को पुरुष भाव से देखा है और लक्ष्मीनारायण मिश्र का भारतीय दृष्टि से यह स्थिर सिद्धान्त है कि किसी नारी के जीवन में आने वाला प्रथम पुरुष ही अन्तिम पुरुष होता है। चन्द्रकला सीता, शकुन्तला, दमयन्ती और इन्दुमती के दृष्टान्त देती है। पहली दृष्टि में समर्पण करना पश्चिम की दृष्टि भी हो सकती है, किन्तु मिश्र जी मानते हैं कि 'स्त्री का हृदय सर्वत्र एक है, क्या पूर्व, क्या पश्चिम, क्या देश, क्या विदेश।' वैसे चन्द्रकला में वैधव्य का स्वीकार करते हुए जो आवेग दिखाई पड़ता है, वह भारतीय नारी का नहीं है। चन्द्रकला वैधव्य को स्वीकार करती है तो वह अपने को पिता के विरुद्ध उत्सर्ग भी कर रही है। वह कहती है 'मेरे सिर पर...यह सिन्दूर...उस पचास हजार का प्रायश्चित्त है'। चन्द्रकला का निर्णय बुद्धि से प्रेरित नहीं लगता है। वह अन्त में मरते हुए रजनीकान्त के हाथ से अपनी माँग में सिन्दूर भरवाती है। यह भी भावुकता की चरम सीमा ही है। फिर भी उसके चरित्र का गुंफन लेखक ने बौद्धिकता और भावुकता की टकराहट से किया है। ऊपर से वह भावुक है और भीतर से अपने विवेक के कारण विद्रोहिणी है। इतना होते हुए भी 'सिन्दूर की होली' के दोनों नारी पात्रों चन्द्रकला और मनोरमा तथा इस नाटक की घटनाओं का संयोजन भावुकता के आधार पर ही किया गया है। मिश्र जी ने यह कौशल अवश्य दिखाया है कि सर्वत्र भाव से बुद्धि की टकराहट होती रहती है। मनोरमा का उपयोग तो वैधव्य पर लेखक के विचारों को प्रगट करने के लिए किया गया है। इसके चरित्र और विचारों के द्वारा मिश्र जी की बौद्धिकता अच्छे ढंग से प्रगट हुई है। यह चरित्र उनके भारतीय सिद्धान्तों के अनुरूप है। इसके लिए वे उपयुक्त तर्क भी ढूँढ़ लेते हैं। किन्तु चन्द्रकला के चरित्र को पाश्चात्य पद्धति पर नियोजित करने के कारण मिश्र जी अपनी बौद्धिकता के अनुरूप उसे नहीं ढाल पाते हैं। मिश्र जी ने विधवा समस्या को उठाने के लिए दो नारियों का चयन करके, उन्हें दो परिस्थितियों में रखा है। किन्तु ये दोनों नारियाँ मिश्र जी के द्वारा उद्घोषित बौद्धिकता के अनुकल्प नहीं हैं। वैसे चन्द्रकला के साथ मिश्र जी ने यथार्थपरक दृष्टि को सम्मिलित कर दिया है। दूसरी ओर मनोरमा मिश्र जी के तर्कों को प्रस्तुत करने का साधन है। कला की उपासना तो निमित्त मात्र है। मिश्र जी की सफलता इसमें है कि वे विधवा समस्या के साथ समाज की अन्य समस्याओं को भी कौशल से जोड़ देते हैं। गाँव के जमींदार भगवन्त सम्पत्ति हड़पने के लिए भतीजे की हत्या कराते हैं तो शहर में अधिकारी घूस लेने के लिए अपराधियों को हत्या करने की छूट दे रहा है। मानसिक विकृति के शिकार गाँव के लोग हैं तो शहर का पढ़ा-लिखा अधिकारी मुरारीलाल भी मानसिक उद्भ्रान्ति का शिकार है। मुरारीलाल अपनी पुत्री के भविष्य के लिए चिन्तित है किन्तु उस निरपराध नवयुवक की हत्या के षड्यन्त्र में परोक्ष रूप से सम्मिलित हो जाते हैं जिसके पिता की हत्या दस वर्ष पूर्व मुरारीलाल के ही कारण हुई थी।

यह नाटक समस्यामूलक नाटकों के शिल्प पर आधारित है। ऐसे नाटकों में द्वन्द्व को ढूँढ़ना व्यर्थ है। कुछ लोग पाश्चात्य नाटकों के द्वन्द्व को ढूँढ़ते हुए रजनीकान्त की हत्या को नाटक का प्रमुख वृत्त मानते हैं। कुछ दूसरे लोग 'सिन्दूर की होली' के वस्तुविन्यास को भारतीय पद्धति का मान लेते हैं। ऐसे समीक्षक चन्द्रकला को नाटक का प्रमुख पात्र मानते हुए भारतीय नाट्यशास्त्र की सारी स्थितियों को घटित होते हुए देखते हैं। ये लोग यह भूल जाते हैं कि मिश्र जी का यह सर्वश्रेष्ठ समस्या मूलक नाटक है और मिश्र जी पाश्चात्य नाट्य शिल्प, विशेषत: समस्यामूलक नाटककों के पण्डित थे। विधवा विवाह की समस्या के अनुकूल और प्रतिकूल आरम्भ से अन्त तक ताना-बाना बुना गया है। हर पात्र के साथ अपनी समस्या है और इस समस्या के कारण वह मनोवैज्ञानिक उलझन में पड़ा हुआ है।

'सिन्दूर की होली' में तीन अंक और कुल दस पात्र हैं। लेकिन प्रमुख पात्र केवल चार हैं--चन्द्रकला, मनोरमा, मुरारीलाल तथा माहिर अली। इस नाटक की बहुत सी कथा पूर्वदीप्ति

पद्धति में कही गई है। मिश्र जी की यह प्रिय शैली है। कई अन्य नाटकों में भी मिश्र जी ने इसी शैली का उपयोग किया है। पहले अंक की योजना इस प्रकार की गयी है कि सारी समस्यायें उभर कर सामने आ जाती हैं। भगवन्त का लोभ, हत्या का षड्यंत्र, मुरारीलाल की अन्याय, घूसखोरी, माहिर अली की पीड़ा, मनोरमा का बाल वैधव्य और उसका कला प्रेम, चन्द्रकला का आवेग तथा मनोज शंकर का मनोवैज्ञानिक उद्वेलन पहले अंक में प्रकट होते हैं। दूसरे अंक में चन्द्रकला और मनोरमा का चरित्र विकसित होता है। मनोज का मानसिक उद्वेग, मनोज के सम्पर्क में चन्द्रकला के मनोभावों में आंशिक परिवर्तन तथा मुरारीलाल और माहिर अली की रजनीकान्त के सम्बन्ध में वार्ता दूसरे अंक का विषय है। तीसरे अंक का आरम्भ माहिर की असन्तुलित मानसिकता से होता है। वह पागलों की तरह बड़बड़ाता है। त्रासद वातावरण की सृष्टि, चन्द्रकला द्वारा मरणासन्न रजनीकान्त के हाथों अपनी माँग को भरवाना, मुरारीलाल के वीभत्स कर्मों की विवृति, मुरारीलाल से चन्द्रकला के मार्ग का अलगाव और मनोरमा से मनोजशंकर का पार्थक्य तीसरे अंक का प्रतिपाद्य है। सब अपने-अपने रास्ते पर हैं। यहाँ कुछ लोग प्रत्येक समस्या का समाधान ढूँढ़ते हैं किन्तु ऐसा करना समस्या नाटकों के शिल्प के प्रतिकूल है। वस्तुयोजना की दृष्टि से तीनों अंक बहुत ही कसे हुए हैं। समस्या को क्रमशः खोलते और उसकी जटिलता को प्रदर्शित करते हुए तीनों अंक नियोजित किये गये हैं। पात्रों के चरित्र भी क्रमिक रूप से खुलते जाते हैं।

इस नाटक के पात्रों का चरित्र बहुत नियोजित और सुगठित है। लेखक ने इन पात्रों को अपने उद्देश्य के अनुसार विकसित होने दिया है। इसके कारण सभी पात्र सोद्देश्य हैं। इनका चरित्र आवश्यकता भर खुलता है। इसीलिए जिन पात्रों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है वे गहराई से खुलते हैं। लेकिन यह भी एक दोष है कि इन पात्रों के चरित्र की दिशा पूर्वनिर्धारित है। लेखक ने जिधर चाहा है, पात्रों का चरित्र ठीक उसी दिशा में विकसित हुआ है। चन्द्रकला इस नाटक का केन्द्र बिन्दु है। वह डिप्टी कलक्टर की अकेली सन्तान है। वह रजनीकान्त को पहली बार देखकर ही प्रेम करने लगती है। अन्त में मरणासन्न रजनीकान्त से अपनी माँग भरवा कर वैधव्य स्वीकार करती है। उसका वैधव्य उसके द्वारा अपने ऊपर आरोपित वैधव्य है। उसके मन में अपने पिता की बेईमानी के प्रति आक्रोश है। फिर भी उसका व्यक्तित्व कहीं से दुर्बल नहीं है। वह अपने भीतर चिरन्तन नारीत्व का उदय देखती है। मनोरमा का वैधव्य समाज की रूढ़ियों की देन है। वह अपने वैधव्य को कला की सेवा में भुलाने का प्रयास करती है। उसने अपने पति को कभी देखा नहीं, किन्तु उसकी कल्पना निरन्तर करती है। वह मनोज से प्रभावित है, लेकिन अपने मार्ग से भटकती नहीं है। उसमें स्वाभिमान है। आदर्श है। इसलिए स्वयं विधवा रहते हुए मनोज को भी विधुर सा जीवन व्यतीत करने के लिए कहती है। वस्तुतः मनोरमा विधवा समस्या के प्रति लेखक के दृष्टिकोण का प्रतीक है। मुरारीलाल का चरित्र सबसे अधिक अन्तर्विरोधात्मक है। वह अपने अधिकार और कानून दोनों का दुरुपयोग करता हुआ हत्या के लिए घूस लेता है। हत्या में भी सौदा करता है। लेकिन अन्त में वह अपने को अकेला पाता है। माहिर अली मानवीय संवेदनाओं से भरा हुआ है। उसे सभी रहस्य मालूम है। पूर्व कथा के रहस्य उसी से खुलते हैं। वह हाजिरजवाब, ईमानदार और अपने विचारों का पक्का है। मुरारीलाल के अन्याय को देखकर वह भयभीत हो जाता है। शेष पात्र नाटक में आवश्यकतानुसार आ गये हैं। उनका विशेष महत्व नहीं है। 'सिन्दूर की होली' में मिश्र जी ने अपने अन्य समस्या नाटकों के विपरीत अधिक पात्रों की योजना की है, अन्यथा तीन-चार पात्रों तक ही उन्होंने नाटकों को सीमित कर दिया है।

इस नाटक के तीनों अंकों में मुरारीलाल का बँगला ही दिखाई पड़ता है। पहले अंक में बंगले का एक बड़ा कमरा है। दूसरे अंक में उस बँगले का बरामदा है। तीसरे अंक में भी वहीं बरामदा है।

बायीं ओर की कोठरी के दरवाजे के पास बरामदे में एक लालटेन है। बड़ा कमरा उसी तरह खुला हुआ है। यह स्थान की एकता है। पहले अंक की जब शुरुआत होती है तो सबेरा हो रहा है। दूसरे अंक में सन्ध्या हो रही है और तीसरे अंक में अँधेरी रात है। इस तरह प्रात: से लेकर रात्रि तक पूरी घटनायें घटित होती हैं। यह समय की एकता है। वैधव्य की समस्या ही सम्पूर्ण नाटक में है। यह कार्य की एकता है। इस तरह मिश्र जी ने संकलन त्रय का इस नाटक में पूरा पालन किया है। मिश्र जी ने अपने अन्य समस्या नाटकों में भी ऐसा ही किया है। मुरारीलाल प्रात:काल कुकर्मों को शुरू करते हैं और रात्रि तक उनकी पुत्री अपने को विधवा मान लेती है। इन अंकों में दृश्य विधान बहुत सरल है। एक ही दृश्य को थोड़ा सा परिवर्तित करके तीनों अंकों में उसका उपयोग किया जा सकता है। इस नाटक के संवाद मिश्र जी के अन्य नाटकों के संवादों से अधिक व्यंजक है। आरम्भिक नाटकों में संवाद जितने छोटे हैं, उसकी अपेक्षा 'सिन्दूर की होली' के संवाद कहीं-कहीं समस्या की विवृति, उसके प्रतिपक्ष के उद्‌घाटन या पात्रों के मनोविज्ञान को प्रगट करने के लिए बड़े हैं। ऐसे संवाद अधिक सार्थक हैं। समस्या के पक्ष और विपक्ष के उद्‌घाटन में भी नीरसता नहीं है। आदि से अन्त तक रोचकता विद्यमान है। 'सिन्दूर की होली' नाट्य शिल्प तथा समस्या के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से मिश्र जी के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। हिन्दी के नाटकों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

आधी रात

'आधी रात' लिखा गया १९३४ में और प्रकाशित हुआ १९३६-३७ में। खोजने पर इसके अन्दर दो समस्यायें दिखाई पड़ जाती हैं। एक समस्या नारी के स्वातंत्र्य की है और दूसरी समस्या भारतीय साहित्यकारों द्वारा पाश्चात्य साहित्य के अन्धानुकरण की है। नारी स्वतंत्रता के साथ आधुनिक शिक्षा तथा उस शिक्षा के कारण नारी की काम समस्या को भी उभारा गया है। मायावती अपने पिता के साथ इंग्लैण्ड में रह कर शिक्षा प्राप्त करती थी। वहाँ भारत से वैरिस्टरी पढ़ने गये दो युवक उसके प्रेमी बन जाते हैं। उनमें से एक प्रेमी राधाचरण भारत लौटने पर दूसरे प्रेमी की हत्या कर देता है। राधाचरण को कालापानी हो जाता है। मायावती उसी के घर में रहने लगती है। अब उसका प्रेम एक दूसरे युवक प्रकाशचंद्र से हो जाता है। राधाचरण को बीच में ही सजा से क्षमादान मिल जाता है। वह मायावती को प्रकाशचन्द्र के साथ रहता हुआ देख कर प्रतिक्रिया में नहीं आता। नदी किनारे बैठकर बाँसुरी बजाता है। मायावती का मृत पूर्व प्रेमी भी प्रेत के रूप में एक पात्र बन कर आता है। बीच-बीच में वह बिना प्रगट हुए ही बातें करता है। मायावती अपनी परिस्थितियों से ऊब कर नदी में डूब कर प्राण दे देती है। यह सूचना भी प्रेत बन गये मायावती के पूर्व प्रेमी के माध्यम से दी जाती है।

इस नाटक में तीन अंक हैं। पहला अंक दो घड़ी रात जाने पर शुरू होता है। दूसरे अंक में भी उसी रात का दृश्य है। तीसरे अंक में भी वही रात है। चाँद मकान के पीछे की ओर और चला गया है। इस तरह से दो घड़ी रात बीतने से लेकर रात समाप्त होने के पहले तक सम्पूर्ण नाटक समाप्त हो जाता है। मायावती, राघवशरण, राघवचरण और प्रकाशचन्द्र इसके पात्र हैं। इनमें राघवचरण का प्रवेश दूसरे अंक में होता है और शेष पात्र पहले अंक में ही आ जाते हैं। राघवचरण नारी स्वतंत्रता की बातें करता है और मायावती उसका विरोध करती है। मायावती स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों, आधुनिक शिक्षा, आत्मा के विस्तार, हिन्दू विश्वास आदि की बातें करती है। वह अंग्रेजी शिक्षा का विरोध करती है। पूर्व और पश्चिम की विवाह पद्धितियों का भी अन्तर बताती है। प्रकाशचन्द्र के माध्यम से मिश्र जी ने रचयिता के कर्म और उसके लक्ष्य का बोध कराया है। सुमित्रानंद पंत की पंक्तियों को लेखक ने उद्धृत कराया है। मिश्र जी जिस प्रकार के कवि-चरित्र की कल्पना करते हैं,

वह पलायनवादी है। छायावादी कवियों पर प्रहार करने के लिए संसार के कर्मों से पलायन करने वाले तथा केवल कला को महत्वपूर्ण मानने वाले रचनाकार की अवतारणा नाटककार ने इस नाटक में की है। मायावती उसे कवि- कर्म का उपदेश देती है। लेकिन इस नाटक में नारी स्वतंत्रता तथा आधुनिक शिक्षा की समस्या स्वाभाविक लगती है। साहित्यकार वाली समस्या एकदम आरोपित लगती है। मिश्र जी की यह दुर्बलता है कि वे समस्या नाटकों में कवि और कवि- कर्म का प्रश्न उठा देते हैं। इसके कारण नाटक का उद्देश्य फैलकर शिथिल हो जाता है। 'मुक्ति का रहस्य' और 'सिन्दूर की होली' इस समस्या से दूर हैं और ये दोनों नाटक मिश्र जी के समस्या नाटकों में श्रेष्ठ हैं।

मिश्र जी ने तीन अंकों में तीन- तीन दृश्यों की योजना करके केवल चार पात्रों को रखा है। घटनायें रात के आधा भाग में ही घटती हैं। इसकी कथावस्तु, स्थान तथा समय में संकलन त्रय की योजना है। इसकी घटनाओं का एक भाग पूर्वदीप्ति शैली में खुलता है। मायावती और उसके दोनों प्रेमियों की इंग्लैण्ड में शिक्षा, इसी कला से हम लोगों के सामने आती है। लेखक ने नाटक में त्रासद वातावरण की योजना करके अपने नाटकों में एक भिन्न प्रकार का वातावरण रखा है। किन्तु कथावस्तु की योजना का यह शिल्प इस कृति को श्रेष्ठ नाटक नहीं बना पाता है। इनके अन्य नाटकों की काम समस्या प्राय: एक ही प्रकार की है। नारी की शारीरिक स्तर पर अतृप्ति को लेखक केन्द्र में रखकर उसका समाधान उसी स्तर पर करता है। 'सिन्दूर की होली' का प्रतिपाद्य थोड़ा भिन्न है, इसलिए वह श्रेष्ठ हो गया है। इस नाटक में मायावती तीन-तीन पुरुषों से प्रेम करके नारी की स्वतंत्रता का उपदेश देती है। उसका सारा बुद्धिवाद पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करने, उन्हें भूल जाने और अन्त में अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होकर आत्महत्या कर लेने में समाप्त हो जाता है। मिश्र जी की भारतीयता को मायावती अपने चरित्र और अपनी आत्महत्या दोनों के द्वारा ले डूबती है। इसके ऊपर से प्रेत की अवतारणा तथा उसमें विश्वास की बात को उठाकर मिश्र जी ने कथ्य के स्तर पर इस नाटक को बहुत कमजोर बना दिया है। पूरे नाटक में मायावती की स्वच्छन्दता, उसके विचार और उसका कदाचार ही प्रधान बन गया है। प्रकाशचन्द्र छायावादी कवियों का प्रतिरूप बनकर मिश्र जी के व्यंग्य का आधार बनता है। राधाचरण और राघवचरण मायावती के चरित्र को खोलने में सहायक हैं। इस नाटक में मिश्र जी को कुछ नया कहना नहीं था। उन्होंने जो पहले के नाटकों में कहा था उसी को फिर दूसरे चरित्रों के माध्यम से रखना चाहा है। नयी बात प्रेत में विश्वास की है जो मिश्र जी के बुद्धिवाद का उपहास करती है। किसी भी अंधविश्वास का समर्थन करना और उसके लिए अनेक तर्कों को एकत्र करना बुद्धिवाद के विरुद्ध है।

मिश्र जी के समस्या नाटकों में उनके युग का यथार्थ है। सन् १९३५-३६ के आस- पास जो जन-जागृति आई थी, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव मिश्र जी के सभी समस्या नाटकों में है। एक ओर समाज में पुरानी मान्यतायें थीं, दूसरी ओर नयी मान्यतायें जन्म ले रही थीं। नारी जीवन, नयी सामाजिक चेतना, नयी शिक्षा प्रणाली, राजनैतिक आन्दोलनों आदि के कारण जीवन प्रभावित हो रहा था। छायावादी साहित्यकारों में केवल निराला इन समस्याओं के आमने- सामने थे। छायावादी घेरे से बाहर प्रेमचन्द जैसे सशक्त कथाकार थे। नाटककारों में अकेले लक्ष्मीनारायण मिश्र थे। उनके नाटकों में परदा प्रथा, सह-शिक्षा, उच्च शिक्षा, स्वदेशी आन्दोलन, स्त्री-पुरुष की समानता, विधवा-विवाह, तलाक, भूत-प्रेत में विश्वास आदि के साथ गाँधी के राष्ट्रीय आन्दोलन, क्रान्तिकारी आन्दोलन और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मिश्र जी की समस्यायें मूलत: काम समस्या से ही सम्बद्ध हैं किन्तु व्यापक रूप से वे अपने समय के समाज को भी स्पर्श करती हैं। मिश्र जी के समस्या नाटकों का महत्व शिल्प की दृष्टि से बहुत अधिक है। समस्या नाटकों की शिल्प-विधि पर ये नाटक खरे उतरते हैं। संकलन त्रय का सफल निर्वाह,

सधी हुई संवाद योजना, पात्रानुकूल भाषा और रंगमंचीय निर्देशों की सफलता के कारण ये नाटक हिन्दी में सर्वदा उल्लेखनीय रहेंगे।

-विश्वनाथ प्रसाद
दीपावली, १९९१
वाराणसी

*

संन्यासी

पुरुष पात्र

दीनानाथ **रमाशंकर**	...	कालेज के प्रोफेसर
विश्वकान्त **सुधाकर**	...	कालेज के विद्यार्थी
मुरलीधर	...	स्थानीय दैनिक के सम्पादक
उमानाथ	...	मालती के पिता
माताप्रसाद	...	विश्वकान्त के पिता
मोती	...	मालती का ड्राइवर
अहमद	...	विश्वकान्त का अफगान मित्र
नसीर	...	पन्द्रह वर्ष का अफगानी लड़का
मिस्टर राय	...	डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट

स्त्री पात्र

मालती	...	विश्वकान्त की श्रेणी में पढ़ने वाली लड़की
किरणमयी	...	प्रोफेसर दीनानाथ की स्त्री

पहला अंक

पहला दृश्य

{ कालेज का एक कमरा प्रोफेसर रमाशंकर मेज के समीप कुर्सी पर बैठे हैं। उनके ठीक पीछे जँगला है। उसके भीतर से पीछे की सड़क देख पड़ती है। कमरे में तीन ओर लड़के बैठे हैं। प्रोफेसर रमाशंकर अपने कोट की ओर देखते हुए उठते हैं, टाई की क्लिप ठीक कर पतलून में हाथ डालते हुए। }

रमाशंकर : अभी तक आप लोगों को लेख लिखने की कला नहीं मालूम हुई। किसी कापी में विचार मिला तो रूप नहीं, और कहीं यदि रूप मिला तो विचार नहीं। कोर्स में निबन्ध की पुस्तक जो रखी गई है, कदाचित् आप लोग उसे भी नहीं पढ़ते। मुझे तो आप लोगों की असावधानी का बड़ा खेद है। आप लोग साल भर बाहर रहते है; पढ़ते-लिखते कुछ नहीं।परीक्षा के दिनों में दस दिन के पढ़ने से क्या हो सकता है? { घूमकर जँगले के बाहर, सड़क की ओर देखते हैं। विश्वकान्त मालती के साथ एक ओर जाता देख पड़ता है। उन दोनों के निकल जाने पर भी कुछ देर जैसे शून्य की ओर देखते रहते हैं। फिर घूमकर-- } अभी इधर से... {हाथ हिला कर} अभी इधर से कौन गया है? विश्वकान्त तो नहीं--

सुधाकर : {अपनी जगह पर उठकर } हाँ, वही--इनका...लेख तो अच्छा रहा होगा।

रमाशंकर : इसकी कापी तो मुझे नहीं मिली। ऐसे लड़के क्या लिख सकेंगे?

सुधाकर : इनके लेख बराबर पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं।

रमाशंकर : नहीं जी...

सुधाकर : आप नहीं जानते क्या? बराबर प्रकाशित होते हैं। यहाँ से जो दैनिक पत्र निकलता है, उसे तो आप अवश्य पढ़ते होंगे, उसमें वे बराबर लिखते हैं--सम्पादकीय विभाग में कदाचित कुछ काम भी करते हैं। प्रधान सम्पादक से बड़ी घनिष्ठता है।

रमाशंकर : जिस पत्र के ऐसे लेखक हों उसे मैं नहीं पढ़ता।

सुधाकर : इस मास के 'पूर्वीय संसार' में उनका एक बड़ा लम्बा लेख निकला है।

रमाशंकर : किस विषय पर...?

सुधाकर : 'आर्य संस्कृति पर रोम्यॉंरोलॉं'। रोम्यॉंरोलॉं कौन हैं?

रमाशंकर : जर्मनी के...

{विश्वकान्त और मालती बातें करते दरवाजे तक आते हैं। विश्वकान्त पीछे की बेंच पर बैठता है मालती आगे बढ़कर प्रोफेसर साहब के समीप दाहिने ओर की बेंच पर बैठ जाती है। }

रमाशंकर { विश्वकान्त की ओर देखते हुए } आप अब तक कहाँ रहे महाशय? आप इसे क्लास समझते हैं या बाजार? जब नहीं तब, आये-गये। { विश्वकान्त खड़ा होकर नीचे की ओर देखने लगता है }.

रमाशंकर : आपने इस बार लेख लिखा था?

विश्वकान्त : नहीं।

रमाशंकर : क्यों...

विश्वकान्त : नहीं! अवसर...नहीं मिला।

रमाशंकर : हाँ, आप अखबारी दुनिया के लेखक--क्लास के लिए क्यों लिखें ? कृपा कर क्लास से निकल जाइये।

{ मालती चौंक कर उनकी ओर देखती है--प्रोफेसर साहब भी उसकी ओर दृष्टि फेरते हैं। फिर शीघ्रता से विश्वकान्त की ओर देखते हुए }

आप निकल जाइये। यह विद्यार्थियों की जगह है जो समय से आयें और अपना उत्तरदायित्व समझें, सम्पादकों की नहीं।

{ विश्वकान्त सिर नीचा किये खड़ा रहता है। अपनी जगह से हिलता भी नहीं }

{ मालती अपनी जगह से उठती है और बाहर चली जाती है। रमाशंकर उसकी ओर देखने लगते हैं। उसके चले जाने पर विश्वकान्त की ओर घूम कर }

रमाशंकर : { आवेश के साथ कड़े स्वर में } मैं आपसे कहता हूँ निकल जाइये। सात दिन तक मेरे क्लास में न आइयेगा।

{ विश्वकान्त अपनी जगह से उठता है और धीरे से बाहर निकल जाता है }

रमाशंकर : { उसकी ओर देखते हुए } न तो इनके हाथ में कोई किताब है, न कापी न पेन्सिल। ये कालेज क्या आते हैं, हवा खाने आते हैं। लिखते हैं रोम्याँ--ये अपने को बहुत कुछ समझते हैं। { सुधाकर को संकेत कर } देना तो मुझे वह पत्र, जिसमें इनका लेख निकला है। { हाथ उठाकर घड़ी देखते हैं } आज घण्टा व्यर्थ गया। आप लोग अब जा सकते हैं--घण्टा बीत चला। { सुधाकर उठकर रमाशंकर के पास जाता है और लड़के बाहर चले जाते हैं }

सुधाकर : { मेज पर हाथ रखकर } ले आऊँ 'पूर्वीय संसार' ? यहाँ कामन रूम में--

रमाशंकर : है कामन रूम में ?

सुधाकर : है तो, उस लेख के लिए कालेज में इनका बड़ा नाम हो गया है।

रमाशंकर : ले तो आओ, मैं देख लूँ और फिर जैसा कहूँगा, आलोचना कर देना। तुम्हारा नाम उससे कहीं अधिक...

{ सुधाकर मुस्कराता हुआ बाहर जाता है। विश्वकान्त का प्रवेश }

विश्वकान्त : {मेज के समीप जाकर } मेरी परसेन्टेज कम है, आशा है आप क्षमा...

रमाशंकर : आप मुझसे क्षमा माँगते हैं ? इतने बड़े लेखक ? मैंने तो न अभी तक किसी से क्षमा माँगी और न किसी को क्षमा किया। अब जाइये परसाल...

विश्वकान्त : मेरी हानि...

रमाशंकर : हानि की चिन्ता आपने पहले क्यों नहीं की ? सड़क पर साथ-साथ घूमने और...

विश्वकान्त : कैसा घूमना ?

रमाशंकर : जैसा अभी आप { खिड़की की ओर हाथ उठाकर } इधर घूम रहे थे। आपको यह जानना चाहिए कि किसके साथ यहाँ घूम सकते हैं और किसके साथ...

{ विश्वकान्त खड़ा रहता है। रमाशंकर उठकर बाहर जाते हैं। दूसरी ओर से मालती का प्रवेश }

मालती : आये थे क्षमा माँगने ?

विश्वकान्त : हाजिरी कम है...सात दिन क्लास में नहीं जा सकता।

मालती : { उसकी ओर विस्मय से देखकर } तुमको इसकी चिन्ता ? इस साल बी० ए० की परीक्षा न दे सकोगे। यही न ? इसीलिए क्षमा माँगते हो ?

विश्वकान्त : मैं दोषी भी तो था। { मालती के मुँह की ओर देखता है }
मालती : कैसा अपराध ?
विश्वकान्त : देर से आया... लेख नहीं लिखे था।
मालती : बहुत से लड़के देर कर आते हैं और लेख नहीं लिखते। किसी को भी तो वे इस तरह नहीं निकाल बाहर करते।
विश्वकान्त : उनकी इच्छा।
मालती : कुछ नहीं, उन्होंने तुम्हें मेरे साथ घूमते देख लिया। वे मुझे { सुधाकर का 'पूर्वीय संसार' खोलकर देखते हुए प्रवेश। वह उन दोनों को बातें करते देखता है और फिर लौट जाता है। }
विश्वकान्त : क्या कहा ?
मालती : नहीं समझे ? वे मुझे प्रेम...
विश्वकान्त : क्या कहती हो ?
मालती : जो कहती हूँ मानो। वे मुझे तुम्हारे साथ देख कर जल उठे।
विश्वकान्त : चलो जाने दो। { एक ओर से विश्वकान्त, दूसरी ओर से मालती का प्रस्थान }

{ सुधाकर और रमाशंकर का बातें करते हुए प्रवेश }

रमाशंकर : तुम ठीक कहते हो। उन दोनों में...
सुधाकर : मैं आपसे क्या कहूँ, संकोच मालूम पड़ता है।
रमाशंकर : जो बात सत्य है उसमें संकोच कैसा ?
सुधाकर : यह तो ठीक है, किन्तु...
रमाशंकर : { सुधाकर का हाथ पकड़कर } देखो, संकोच न करो, स्पष्ट कह दो। सत्य में संकोच कैसा ? मुझे मालूम हो जायगा तो कोई प्रयत्न...
सुधाकर : अभी यहीं बातें कर रहे थे। जब कालेज में यह हाल है। तब...
रमाशंकर : यह तो मैं भी देखता हूँ। क्या बातें कर रहे थे ? कुछ सुने...?
सुधाकर : सुना तो, लेकिन क्या कहूँ...
रमाशंकर : कहते क्यों नहीं; व्यर्थ में...
सुधाकर : वह कह रही थी कि तुम्हारा इतना बड़ा अपमान हुआ। तुम अब कालेज मत आओ। पढ़ना छोड़ दो। रुपये की कमी तुम्हें नहीं होगी। तुम इतने बड़े लेखक। किसी पत्र के सम्पादक हो सकते हो। पिताजी ने इतना रुपया कमाया है। अब वे कितने दिन जीवित रहेंगे ? मैं अपना सर्वस्व तुम्हें दे दूँगी।
रमाशंकर : इसी लिए उसका दिमाग आसमान पर चढ़ गया है। उसने क्या कहा ?
सुधाकर : वह क्या कहता ? उसने कहा कि तुम्हीं मेरी इस जीवन की आशा हो ...तुम्हारे लिये मैं सारा संसार छोड़ सकता हूँ ! यदि तुम मुझे स्वीकार करो...मेरा जीवन सफल { हँसकर } मैं आप से क्या कहूँ...मैं तो सुनकर हैरान हो गया। कालेज में यह बात !

{ चपरासी का प्रवेश। चपरासी एक खुला हुआ लिफाफा मेज पर रखकर चला जाता है। रमाशंकर लिफाफे में से पत्र निकाल कर पढ़ते हैं। सुधाकर खाँसता हुआ बाहर जाता है और फिर लौटकर-- }

सुधाकर : मैं तो आजकल खाँसी से बड़ा तंग हो गया हूँ।
रमाशंकर : { लिफाफे में पत्र रखते हुए } कोई दवा नहीं खाते ?

सुधाकर : खाता तो हूँ--

रमाशंकर : किसकी ?

सुधाकर : घर के पास ही एक वैद्य रहते हैं।

रमाशंकर : वैद्य की दवा करते हो ? अंग्रेजी पढ़कर ! तुम यह नहीं जानते कि वैद्य बड़े धूर्त होते हैं। इन्हें दवा क्या मालूम ? हम लोगों में यही तो बुराई है कि पुरानी बातों को नहीं छोड़ते। किसी डाक्टर की दवा करो, नहीं तो बीमारी बिगड़ जायेगी। हाँ, तो इतना ही सुना कि और भी कुछ ?

सुधाकर : जो सुना वही क्या कम है ?

रमाशंकर : कम तो नहीं है, किन्तु उससे भी तो अधिक हो सकता है ? तुमने यह नहीं देखा कि वे कहाँ थे पास-पास, या दूर ?

सुधाकर : दूर कैसा ? विश्वकान्त चुपचाप खड़ा था और मालती उसके कन्धे पर हाथ रख कर...

रमाशंकर : { कुछ अन्यमनस्क होकर } यहाँ तक ?

सुधाकर : तो क्या आप समझते थे कि दूर-दूर ? अब वे दूर-दूर क्यों रहें ?

रमाशंकर : हाँ, ठीक कहते हो। अब दूर क्यों ? { लिफाफे को उठाकर जेब में रखता है }

सुधाकर : कैसा पत्र है?

रमाशंकर : दीनानाथजी का निमन्त्रण--

सुधाकर : किस बात का ?

रमाशंकर : उनके विवाह के उत्सव का।

सुधाकर : कब विवाह होगा ?

रमाशंकर : तुम्हें अभी पता नहीं ? उनका विवाह हो गया। स्त्री आ गई। महीनों से कालेज नहीं आते थे...इसीलिये।

सुधाकर : कब यहाँ आये हैं ?

रमाशंकर : कल सबेरे।

सुधाकर : उत्सव कब होगा ?

रमाशंकर : आज रात को। चलोगे तुम भी ? आना...मेरे साथ...चलना।

सुधाकर : नहीं मैं...

रमाशंकर : कोई बात नहीं। उनकी स्त्री पर्दा नहीं करतीं। उन्हें भी देख सकोगे।

सुधाकर : आपने उन्हें देखा है ?

रमाशंकर : हाँ...मैं कल शाम को उनके यहाँ दो घण्टे बैठा रहा। उनकी स्त्री से भी बड़ी बातें हुईं।

सुधाकर : क्या अवस्था है उनकी स्त्री की...?

रमाशंकर : बस यही मालती की; इतनी ही बड़ी...यही रंग भी है।

सुधाकर : तब तो सुन्दर हैं...

रमाशंकर : {मुस्कराकर } हाँ, इसमें क्या सन्देह...

{ रमाशंकर सुधाकर का हाथ पकड़ कर बाहर जाते हैं। दरवाजे पर रुक कर }

रामशंकर : आओगे न ?अवश्य आना। इन दोनों के विषय में कुछ और भी बातें...समझे ? बराबर इनकी ओर अपनी आँख किये रहो।

{ दोनों का प्रस्थान }

{ रंगमंच थोड़ी देर के लिए अँधेरा हो उठता है। प्रकाश होने पर--विश्वकान्त के मकान का दृश्य सामने आता है। विश्वकान्त का प्रवेश। विश्वकान्त शीघ्रता से जूता निकाल कर चारपाई पर चढ़ता है और दीवाल पर से एक चित्र उतार कर उसे ध्यान से देखने लगता है। फिर चारपाई पर लेट कर उसी चित्र से अपना मुँह ढँक लेता है। नेपथ्य में मोटर की आवाज होती है। विश्वकान्त खिड़की से नीचे की ओर देखता है--फिर जल्दी से कोट निकाल कर खूँटी पर टाँग देता है और चादर तान कर दरवाजे के दूसरी ओर मुँह कर लेट रहता है। कोट सरक कर खूँटी से नीचे गिर पड़ता है।

मालती का प्रवेश -- वह इधर-उधर कमरे में चारों ओर देखती है--चारपाई के समीप जाकर कोट जमीन से उठा कर खूँटी पर टाँग देती है। विश्वकान्त करवट बदलता है--उसका एक हाथ चादर के बाहर--चारपाई की पाटी से नीचे की ओर लटक जाता है। मालती विश्वकान्त के उस हाथ को अपने हाथ में ले लेती है। विश्वकान्त चुपचाप पड़ा रहता है। वह कुछ देर उसके हाथ की ओर देखती रहती है। फिर उसे धीरे से चारपाई पर रखकर मेज के पास आकर खड़ी होती है }

मालती : { मेज पर हाथ रखकर } विश्व...कब तक सोते...।

{ विश्वकान्त चादर फेंक कर उठ बैठता है...। उसकी ओर देखता है...अधखुली आँखों से, जैसे बहुत देर का सोता रहा हो। }

विश्वकान्त : तुम...यहाँ...कब ?

मालती : घण्टों हो गया।

विश्वकान्त : { मेज पर रखी घड़ी की ओर देखकर } घण्टों तो मुझे आये नहीं हुआ।

मालती : तो तब तुम मेरे आने का समय जानते हो। तुम सोये नहीं थे।

विश्वकान्त : वाह! सोया नहीं था ?

मालती : हाँ...सोये नहीं थे। ऐसे समय लोग झूठ बोल जाते हैं।

विश्वकान्त : कैसे समय...

मालती : जो समय तुम्हारा इन दिनों है। अब तुम कालेज कभी न जाना।

विश्वकान्त : क्यों ?

मालती : क्या लाभ ? बी० ए० की दुम से कोई गौरव नहीं बढ़ेगा। संसार के महापुरुष डिग्री लेकर आगे नहीं बढ़ते।

विश्वकान्त : महापुरुष आगे नहीं बढ़ते...किन्तु साधारण पुरुष तो आगे बढ़ते हैं।

नेपथ्य में : 'विश्वकान्त, विश्वकान्त!'

विश्वकान्त : {चारपाई से सहसा उठकर } पिताजी आ गये! { खिड़की से बाहर देखकर } साथ में कोई आदमी और है। अब क्या होगा ? { मालती की ओर घबड़ा कर देखता है }

मालती : {दरवाजे की ओर बढ़ती हुई } मैं चली जाऊँगी... होगा क्या ?

विश्वकान्त : { उसका हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचता हुआ } यहीं चारपाई पर सो रहो। मैं चादर ऊपर से डाल दूँ। पिताजी बड़ी भयानक प्रकृति के मनुष्य हैं...तुम्हें देख लेंगे तो अनर्थ हो जायगा। मैं कहीं का नहीं रहूँगा। { हाथ जोड़कर } हाथ जोड़ता हूँ, मान जाओ। फिर उन लोगों को किसी बहाने से यहाँ से हटा दूँगा।

मालती : अच्छा, पर कहीं...{ मालती चारपाई पर लेटती है, विश्वकान्त चादर से उसे भली भाँति ढँक देता है। मेज़ खींच कर चारपाई के पास कर देता और एक

कुर्सी चारपाई की दूसरी ओर मुँह कर रख देता है जिससे चारपाई बहुत कुछ आड़ में पड़ जाती है। विश्वकान्त के पिता माताप्रसाद का एक दूसरे व्यक्ति के साथ प्रवेश। विश्वकान्त अपने पिता का चरण छूकर उनके साथ के दूसरे व्यक्ति की ओर देखकर हाथ जोड़ता है। सब कुर्सियों पर बैठतें हैं। विश्वकान्त उसी कुर्सी पर बैठता है जिसके पीछे की ओर समीप ही पलँग है। }

माताप्रसाद : { विश्वकान्त की ओर देखते हैं। विश्वकान्त सिर झुकाकर पृथ्वी की ओर देखने लगता है। } तबियत अच्छी है न ?

विश्वकान्त : इधर कई दिनों तक बराबर ज्वर रहा है। अब तो अच्छा हूँ...।

माताप्रसाद : शुक्लजी, आप तो नाड़ी देखते हैं ? { पास ही बैठे शुक्लजी के कन्धे पर हाथ रखते हैं। }

शुक्लजी : जानता तो हूँ...आओ तो बाबू इधर!

{ विश्वकान्त उनके पास जाकर अपना हाथ बढ़ाता है। वे बड़े ध्यान से उनकी नाड़ी देखने लगते हैं। उँगलियों को इधर-उधर उठाते हैं, रखते हैं। विश्वकान्त का हाथ काँपने लगता है, पैर भी काँपने लगते हैं। वह धरती पर बैठ जाता है }

माताप्रसाद : क्या हुआ जी ?

विश्वकान्त : खड़ा रहते नहीं बनता।

शुक्लजी : कोई रोग तो नहीं मालूम होता। कितने दिन हुए ज्वर छूटे ?

विश्वकान्त : तीन...चार {अपनी कुर्सी पर जाकर बैठ जाता है }

शुक्लजी : कोई चिन्ता नहीं। ठीक हो जायेगा...इस समय तो कुछ भी नहीं है।

माताप्रसाद : यही हाल है। कोई न कोई रोग बराबर रहता है। जितना पढ़ाई में लगता है, उसका दूना दवा में। यह आप समझिये कि दो सौ रुपये महीने का खर्च है। आप समझते हैं कि मैंने पाँच हजार ज्यादा माँगा है। जिसके लड़के के पढ़ने का खर्च दो सौ रुपये महीने होगा, वह इससे कम तो दहेज नहीं लेगा।

शुक्लजी : मैंने कब कहा कि आप इतना न लीजिये ?

{ सुधाकर का प्रवेश }

{ विश्वकान्त कुर्सी से उठ कर मेज पर बैठता है और सुधाकर को अपनी कुर्सी पर बैठने का संकेत करता है--सुधाकर कुर्सी के पास खड़े होकर कुछ देर तक पलंग की ओर देखता है फिर कुर्सी पर बैठता है }

सुधाकर : { विश्वकान्त की ओर देखकर } यह कौन...सो रहा है। { पलँग की ओर संकेत करता है। विश्वकान्त के पिता और शुक्लजी दोनों आदमी पलँग की ओर देखते हैं। }

विश्वकान्त : {सुधाकर की ओर देखकर } एक मित्र...आये हैं।

{ सुधाकर मुस्कुरा उठता है। विश्वकान्त नीचे की ओर देखता हुआ अपना पैर हिलाने लगता है }

माताप्रसाद : कौन मित्र ?...कहाँ से आये हैं ?

विश्वकान्त : हैं एक...कानपुर से...

{सुधाकर फिर मुस्कुराता है }

शुक्लजी : आप बार-बार मुस्करा क्यों रहे हैं {सुधाकर की ओर देखते हैं। }

सुधाकर : यों ही...यही तमाशा देखकर।

विश्वकान्त : क्या तमाशा आप देख रहे हैं ?

सुधाकर : यही आपका और आपके मित्र का।

विश्वकान्त : {आवेश के स्वर में }आप कृपा कर यहाँ से चले जाइये। यह मेरा मकान है, थियेटर या सिनेमा हॉल नहीं।

सुधाकर : चला जाऊँ ? { विश्वकान्त को क्रोध और उपेक्षा से देखता है। }

विश्वकान्त : कह तो दिया। जब आप में इतनी मनुष्यता भी नहीं...

सुधाकर : अच्छा जाता हूँ--लेकिन तुम्हारे मित्र को {कुर्सी पर से झुककर शीघ्रता से अपनी बाँह बढ़ाकर मालती के ऊपर से चादर खींचता है। विश्वकान्त झपट कर सुधाकर की बाँह पकड़ कर खींचता है। उसके धक्के से कुर्सी उलट जाती है। सुधाकर चादर पकड़े हुए कुर्सी के साथ नीचे आ जाता है। मालती का आधा शरीर खुल जाता है और वह झपट कर चारपाई के नीचे उतर कर खड़ी हो जाती है। {

माताप्रसाद : ऐं! हे ईश्वर! { माताप्रसाद और सुधाकर का प्रस्थान }

{मालती नीचे जमीन की ओर देखने लगती है। उसका पैर थर-थर काँपने लगता है। विश्वकान्त का प्रस्थान-- शुक्लजी मालती की ओर देखने लगते हैं। }

शुक्लजी : मालती {मेज पर एक हाथ रखे वह पृथ्वी की ओर देखती रहती है, कुछ उत्तर नहीं देती। शुक्लजी उठकर बाहर दरवाजे को देखते हैं। फिर भीतर आकर मालती के सिर पर हाथ रख देते हैं। }

सुनो, मैं तुम्हें इस अपराध के लिए क्षमा कर सकता हूँ। तुम मेरी लड़की हो--तुमने अभी संसार नहीं देखा, मुझे क्षमा करना पड़ेगा ही। किन्तु इसके लिए तुम्हें भी एक काम करना होगा। बोलो करोगी ?

{मालती सिसक-सिसक कर रोने लगती है }

शुक्लजी : अब यह व्यर्थ हो रहा है, रोने से लाभ ? जो बीत गया, बीत गया। भविष्य की चिन्ता, इसी का ध्यान रखना चाहिये। बोलो।

मालती : कहिये न क्या आज्ञा है ?

शुक्लजी : मेरी ओर देखो। संकोच छोड़ दो। मैंने आज जो कुछ देखा है...सब भूल जाऊँगा...नहीं...विश्वास करो, मैंने भुला दिया। मुझे तुम्हारे भविष्य की आशा है...तुम्हारे जीवन का उद्देश्य वही है।

मालती : {उनकी ओर देखती है } कहिये, मुझे करना क्या होगा ?

शुक्लजी : विश्वकान्त से फिर कभी न मिलना...बस यही हो सकेगा ?

{मालती पृथ्वी की ओर देखती हुई चुप रहती है }

शुक्लजी : त्याग में ही जीवन है--जो त्याग नहीं कर सकता, उसे जीने का अधिकार नहीं। {मालती नीचे देखती हुई पैर के अँगूठे से जमीन खोदने लगती है} मुझे जड़ नियम की उपासना अच्छी नहीं मालूम होती। उसका आधार, विचार या विश्वास होना चाहिये। यदि कभी संयोगवश भेंट हो जाय तो दो शब्द के अदल-बदल में कोई बुराई नहीं। हाँ, किसी आकांक्षा से नहीं! आकांक्षा को दबाना...मृत्यु को दबाना है।

मालती : मैं कभी उनकी ओर देखूँगी भी नहीं।

शुक्लजी : इस प्रकार न तो तुम अपने भीतर की आकांक्षा दबा सकोगी न उसके। इसकी प्रतिक्रिया भयानक होगी। विकार जब एक ही धड़के में निकलता है तो जीवन का अन्त होता है, किन्तु जब धीरे-धीरे निकलता है तो मनुष्य स्वस्थ हो जाता है। मोटर से नहीं आई थी ?

मालती : हाँ, आई थी।
शुक्लजी : मोती ने तुम्हारे यहाँ आने पर आपत्ति नहीं की थी ?
मालती : मोती देखता है, सभी पढ़ने वाली लड़कियाँ मिलती-जुलती रहती हैं।
शुक्लजी : ठीक है, शिक्षा मनुष्य को स्वतन्त्र कर पींजड़े के बाहर निकाल देती है। मोती कब तक आ जायेगा ?
मालती : {अपनी रिस्टवा में देखकर} अब आता ही होगा।
शुक्लजी : स्टेशन जाऊँगा और वहाँ से तुम्हारे यहाँ आऊँगा-जिसमें मालूम हो कि घर से आता हूँ। जब तक मोटर न आ जाय, जाना मत। आत्मसम्मान...

{मालती के पिता का प्रस्थान}

{मालती कमरे में इधर-उधर घूमकर कुर्सी पर बैठकर हाथों में मुँह छिपा लेती है। विश्वकान्त का प्रवेश।}

विश्वकान्त : देखो मैं डरता था न। मुझे तो जैसे आत्महत्या करनी पड़ेगी। पिताजी साँप की तरह फुँफकार छोड़ रहे हैं।

{उसका हाथ पकड़ता है।}

मालती : {हाथ छुड़ाकर} क्या सोचते हो ?
विश्वकान्त : {फिर हाथ पकड़कर} हम लोगों के चले जाने के बाद उन्होंने क्या कहा ?
मालती : कुछ कहा होगा!
विश्वकान्त : नहीं बतलाओगी ?
मालती : नहीं।
विश्वकान्त : क्यों ?
मालती : मेरी इच्छा।
विश्वकान्त : तुम्हें क्या हो गया ?
मालती : जो होना चाहिये। हाथ छोड़ो।
विश्वकान्त : {हाथ छोड़कर} अब तो तुम्हें सन्तोष हुआ।
मालती : हाँ, तुम मुझसे जितने दूर रहो...मुझे उतना ही संतोष...
विश्वकान्त : अच्छा मैं प्रयत्न करूँगा।
मालती : उन्होंने -- पिताजी ने...तुमसे मिलने के लिए मना किया {कुछ सोचकर} मैं तुम्हारे कितने पास आ गयी थी।
विश्वकान्त : तुम्हें ?-- {मालती सिर हिलाती है} वे तुम्हारे पिता थे ?
मालती : हाँ।
विश्वकान्त : मेरे पिताजी तो चले गये। मुझे सदैव के लिए छोड़कर। शपथ देकर- 'मेरी लाश न छूना।''
मालती : हूँ...तब क्या होगा ? {कुछ सोचने लगती है}
विश्वकान्त : जो हो...जीवन जिस ओर रास्ता पायेगा, चलेगा।

{नेपथ्य में मोटर की आवाज}

{मालती उठकर खिड़की से नीचे की ओर देखती है...फिर मेज पर हाथ रखकर खड़ी होती है}

मालती : मोती आ गया...जाती हूँ {दरवाजे तक जाती है, फिर लौटकर चारपाई पर से अपना चित्र उठाकर} मैं इसे ले जाती हूँ। क्षमा करना।

विश्वकान्त : वही...उतना रहने दो।

{मालती का प्रस्थान}

{विश्वकान्त ऊपर छत की ओर देखता है--फिर मेज पर से एक किताब उठाकर कुर्सी पर बैठ जाता है। कुछ देर तक किताब के पन्ने इधर-उधर करता रहता है। एक जगह रुककर पढ़ने लगता है--}

क्या कहते हो व्यर्थ लाभ क्या ?
गिन कर नभ के तारे।
अरे! अबोध अचल यह रजनी,
इनके मृदुल सहारे--
चलना होगा आज निकल कर,
कारागृह से अपने--
उस जगती को जहाँ जी उठेंगे,
चिर दिन के सपने।

{मुरलीधर का प्रवेश। विश्वकान्त कुर्सी से उठना चाहता है}

मुरलीधर : {उसके कन्धे पर हाथ रखकर}नहीं, उठो मत। मैंने केवल अन्तिम पंक्ति सुनी है। कभी-कभी कितनी दूर पहुँच जाते हो। मैं तो सोच नहीं सकता। एक बार फिर तो पढ़ो।

विश्वकान्त : {संकोच} नहीं इसमें क्या है ?

मुरलीधर : फिर कहो मैं दिखलाऊँगा-उस में क्या है?

विश्वकान्त : {ऊपर का छन्द फिर पढ़ता है। मुरलीधर सिर हिला-हिला कर बड़े ध्यान से सुनते हैं}

मुरलीधर : अपना कारागृह और चिर दिन के सपने--भौतिक और आध्यात्मिक द्वन्द्व {विश्वकान्त किताब में से वह कागज-जिस पर यह छन्द लिखा है--निकाल कर फाड़ देता है} फाड़ डाला ?

विश्वकान्त : मैं तो प्राय: फाड़कर फेंक देता हूँ।

मुरलीधर : क्यों ?

विश्वकान्त : अपने सन्तोष के लिए। अनुभव का आनन्द मुझे संयम में मिलता है उसको लेकर रोने और गाने में नहीं।

मुरलीधर : वेदान्त बन्द करो, चलो तुम्हारे कालेज चलें।

विश्वकान्त : मेरी इच्छा तो आज कहीं जाने की नहीं हो रही।

मुरलीधर : अजी चलो। जीवन के भय से जो दूर भागते हैं...वे कभी इसके घेरे के बाहर नहीं निकल सकते। इसका स्वाद लो...इसके सुख का, इसके दु:ख का और तब तुम मनुष्य बनो। देवता बनने की मिथ्या भावना तुम्हें...

विश्वकान्त : मैं देवता कहाँ बन रहा हूँ ?

मुरलीधर : यह और क्या है ? रचना तुम्हारा धर्म है और रचयिता का धर्म है...जीवन की लय में मिल जाना।
मुझे देख पड़ता केवल मेरा दु:ख जग के मन में--
बोझ अनन्त काल का होकर बढ़ता है छन-छन में।
सार्थक हो सकेगा, तभी तुम्हारा यह लिखना।

विश्वकान्त : आज एक ऐसी घटना हो गयी है जिससे...।

मुरलीधर : कोई भी ऐसी घटना नहीं हो सकती जो जीवन की गति बन्द कर दे।

विश्वकान्त : आप रक्त-मांस के बन्धन को कुछ नहीं मानते।

मुरलीधर : {विस्मय से} मैं उसी को सब कुछ मान रहा हूँ। तुम उसे अच्छी तरह समझ नहीं पाते। तुम धूएँ को आग समझ रहे हो, यह ठीक नहीं। नित्य की नयी-नयी आकांक्षाएँ और प्रवृत्तियाँ वास्तविक बन्धन नहीं हैं।

विश्वकान्त : मैं जो अनुभव नहीं करता...स्वीकार नहीं कर सकता।

मुरलीधर : किन्तु तुम कुछ अनुभव करते हो ? मुझे इसी में सन्देह है। अपनी कविता में भी...

विश्वकान्त : मेरी कविता के अनुभव में सन्देह कर...आप मुझ पर बड़ा अत्याचार...कवि के आँसू आप लोगों के मनोरञ्जन के साधन होते हैं...आप लोगों को अधिकार नहीं कि उस पर विचार करें। मैं वर्षों तक कुछ भी नहीं लिख पाता। मेरी कविता के विषय में कुछ न कहियेगा।

मुरलीधर : इतने उत्तेजित क्यों हो उठे।

विश्वकान्त : इसलिये कि मेरे भीतर जो सबसे कोमल है--आपने उसी पर लात मारा। {मुरलीधर उसकी ओर देखते हैं : विश्वकान्त उठकर खिड़की के बाहर देखता है। कुछ देर बाद मुरलीधर उठकर विश्वकान्त के पास जाते हैं}

मुरलीधर : {विश्वकान्त के कन्धों पर दोनों हाथ रखकर उसे हिला देते हैं}तुम्हारा हृदय बड़ा निर्बल हैं..।उसे सबल बनाओ। देश की आत्मा दासता की बेड़ी में...। विचारों को कर्तव्य में परिणत करो। तुम में शक्ति हैं...तुम में जीवन है...उसका अनुभव करो। साहित्य और कला दोनों ही का सम्बन्ध जीवन से है...उसे विजयी बनाने का उपक्रम करो। व्यक्ति के जीवन और समाज के जीवन में बहुत अन्तर नहीं है। जिस तरह कविता में सारे संसार के सुख-दुःख का अनुभव करते हो...उसी तरह कर्तव्य में करो।

विश्वकान्त : मुझ से क्या हो सकेगा...मैं तो अपने से ही ऊब रहा हूँ।

मुरलीधर : इसलिए कि तुम अपने ही को सब कुछ समझ रहे हो। अपने जीवन की परिधि विस्तृत करो...उसमें मुझे भी आने दो...दूसरों को आने दो...सारे समाज और सारे देश को आने दो।

विश्वकान्त : इतना बोझ ? आप मेरी शक्ति को नहीं...।

मुरलीधर : तुम्हारी शक्ति ? असीम है। उसका अनुभव करो। देखें--{विश्वकान्त पृथ्वी की ओर देखने लगता है। मुरलीधर उसके कन्धे पर हाथ रखते हैं।}

पर्दा गिरता है।

दूसरा दृश्य

{ प्रोफेसर दीनानाथ का कमरा। उनकी स्त्री किरणमयी सज-धज कर शीशे के सामने खड़ी है। उसका सिर खुला है, वेणी पीठ की ओर लटक रही है, उसमें एक रेशमी रूमाल बँधी है जिसमें हरे और पीले रंग के फूल बने हैं। हलके सुनहले रंग की साड़ी, नीला किनारा। किरणमयी बार-बार अपना दायाँ हाथ अपने सिर पर फेर रही है। उसकी दायें ओर मशहरी बिछी है। दूसरी ओर एक छोटी मेज और उसके अगल-बगल में चार आराम कुर्सियाँ रखी हैं।

प्रोफेसर दीनानाथ का प्रवेश

प्रोफेसर दीनानाथ के आधे से अधिक बाल पक चुके हैं। दाढ़ी मूँछ सब सफाई से बनी है। रेशमी कुर्त्ता, चौड़ी मोहरी का पायजामा, मखमली चट्टी। दीनानाथ उत्सुक नेत्रों से किरणमयी की ओर देखते हैं, वह भी घूमकर उनकी ओर देखती है। }

दीनानाथ : वाह ! आज तो {दीवाल पर बिजली की बटन पर हाथ रखते हैं--रोशनी बुझ जाती है। }

किरणमयी : हाँ...हाँ, यह क्या ?

दीनानाथ : एक साथ दो लपटें। सोचा, इस एक को बुझा दूँ।

किरणमयी : तुम्हें मेरी कसम। अभी नहीं...अच्छा तब मैं...

{बिजली का प्रकाश होता है, किरणमयी स्विच के पास खड़ी है। दीनानाथ उसकी ओर देखकर मुस्कराते हैं }

किरणमयी : {कुछ कड़े स्वर में } हँसो, जोर से हँसो। तुम्हें हँसी आ रही है और मुझे ? जब नहीं तब...तुम कितने...कोई भी समय हो...रात हो या दिन हो...। बराबर नशे में...। सबेरे उठती हूँ तो बड़ी देर तक पैर सीधे नहीं पड़ते ...तुम्हें देखती हूँ तो काँप जाती हूँ।

दीनानाथ : इसीलिये तो विवाह...

किरणमयी : इसीलिये विवाह ?--जाने दो...मैं तुमसे बहस नहीं करूँगी, लाभ ही क्या ? जब नहीं तब...वही बात...मेरा शरीर पत्थर नहीं है।

{ दीनानाथ का प्रस्थान }

{किरणमयी कुछ देर तक इधर-उधर कमरे में घूमती रहती है--फिर दरवाजे तक जाती है, बाहर की ओर देखती है और लौटकर मेज पर से हारमोनियम उठाकर मशहरी पर रखकर बजाने लगती है। क्षण भर के बाद गाना प्रारम्भ करती है। }

आँसुओं से मत खेल करो।
जीवन की अभिसार निशा में
बरस रहे यौवन के नव घन,
फिर प्यासे होंगे हम दोनों--
रीते घट न धरो।
आँसुओं से मत खेल करो।
सूना हृदय, सो रही रजनी,
नभ के व्याकुल तारे--
चलते हैं जिस ओर चलूँ मैं
प्रियतम पीर हरो।

आँसुओं से मत खेल करो।

{बार-बार पंक्तियों को दोहराती है। देर तक गाना चलता रहता है। वह तन्मय हो उठती है। मालती का प्रवेश। मालती उसके समीप जाकर खड़ी होती है। किरणमयी को पता नहीं चलता।}

किरणमयी : {घूमकर मालती की ओर देखती है} तुम रो रही हो? हाय रे स्त्री का हृदय...थोड़ी सी आँच, और पिघल उठा। क्या हुआ?

मालती : {अंचल से आँख पोंछकर} कुछ नहीं, आपका गाना सुनकर न मालूम क्यों?

किरणमयी : {मालती का हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचती है। मालती उसके पास ही मशहरी पर बैठ जाती है। किरणमयी मालती के गले में अपनी बाँह डालकर उसके मुँह की ओर ध्यान से देखने लगती है। मालती सिर झुकाकर नीचे की ओर देखती है।}

किरणमयी : {दायें हाथ से मालती की ठुड्डी पकड़कर उसका सिर ऊपर को उठा देती है। मालती का सिर उसकी छाती से लग जाता है} तुम्हारे आँसू अब तक नहीं रुके?. तुम्हारा हृदय...एक बात पूँछू बताओगी?

मालती : नहीं, कुछ न पूछिये।

किरणमयी : {मालती की ओर सितार फेरती हुई} बजाओ।

मालती : मैं नहीं जानती।

किरणमयी : बिलकुल नहीं? {मालती सिर हिलाती है} स्त्री जीवन इसके बिना अधूरा है। मुस्करा उठती है}

मालती : कालेज के कोर्स से और इसमें बड़ा अन्तर--

{किरण दूसरे दरवाजे से भीतर चली जाती है। रमाशंकर का प्रवेश।}

रमाशंकर : {मिर्निमेष नेत्रों से मालती की ओर दे खते हुए} आज तुम उदास...

{मालती सिर नीचे किये खड़ी रहती है। रमाशंकर आगे बढ़कर उसके कन्धे पर हाथ रख देते हैं। आज तो तुम्हारी बदनामी...सुधाकर...कह रहा था...}

मालती : {अपने कन्धे पर से उनका हाथ हटाते हुए} यह दूसरे का घर है। साधारण सभ्यता का ध्यान तो...

रमाशंकर : {जिधर से किरणमयी निकली थी, उस दरवाजे की ओर देखते हैं} यह समझ लेना, मैं बराबर तुम्हारी भलाई चाहता हूँ। यदि तुम्हें पता होता। किसी दिन समझोगी--{रमाशंकर का प्रस्थान}

{किरणमयी का प्रवेश}

किरणमयी : क्या उपदेश दे रहे थे तुम्हारे गुरुजी...?

मालती : मैं तो इन्हें घृणा करती हूँ।

किरणमयी : सावधान रहना और क्या! आज़कल के शिक्षक कितने...इन्हें इतना अवसर मिल जाय, इसीलिये मैं भीतर चली गयी।

मालती : मुझे आज्ञा...पिताजी आये हैं।

किरणमयी : थोड़ी देर और...

मालती : {नमस्कार} कल आऊँगी {प्रस्थान}

{किरणमयी दरवाजे के पास खड़ी होकर कुछ सुनती है--बाहर दीनानाथ, रमाशंकर और मुरलीधर का स्वर सुनायी देता है।}

मुरलीधर : { बाहर से } देर होगी... आप जानते हैं दैनिक पत्र।
दीनानाथ : जीवन मशीन नहीं है साहब !
मुरलीधर : क्या किया जायगा मजबूरी। {रमाशंकर का प्रवेश }
किरणमयी : कौन हैं ये...
रमाशंकर : वही सम्पादक--{किरणमयी किसी गहरी चिन्ता में पड़ जाती है, सिर हिला कर दूसरे कमरे में चली जाती है }

{ दीनानाथ, मुरलीधर और विश्वकान्त का प्रवेश }

दीनानाथ : बैठिये थोड़ी देर... परिचय नहीं दीजियेगा ?

{ सब कुर्सियों पर बैठते हैं }

मुरलीधर : मैं उसके लिए तैयार होकर नहीं आया हूँ...
रमाशंकर : तैयारी किस बात की करते ?
मुरलीधर : जिस बात की आपने की है। {मुस्कराते हैं }

{ किरणमयी का प्रवेश। मसहरी पर पैर लटका कर बैठती है और सितार उठाकर अपनी जाँघ पर रख लेती है }

{विश्वकान्त मुरलीधर के कान में कुछ कहता है। }

मुरलीधर : थोड़ी देर...
विश्वकान्त : नहीं... देर {विश्वकान्त का प्रस्थान }
किरणमयी : ये चले क्यों गये ?
मुरलीधर : चले गये... मेरा काम करने। {किरणमयी की ओर देखते हैं। वह सिर नीचा कर लेती है }
दीनानाथ : आपका काम ? यह लड़का कर लेता है ?
मुरलीधर : मैं जब कभी बाहर जाता हूँ--सारा सम्पादन वह करते हैं... पता नहीं चल सकता कि दूसरे की लेखनी है।
दीनानाथ : लड़का विचारवान मालूम पड़ता है।

{ किरणमयी, मिजराब लगाकर सितार उठाती है }

रमाशंकर : अच्छा, तो अब आप लोग चुप रहें।
किरणमयी : {रमाशंकर से } आप बड़े उत्सुक हैं... समझ सकेंगे ?
रमाशंकर : वाह मैं मनुष्य नहीं हूँ ?
मुरलीधर : सभी मनुष्य संगीत नहीं समझते।
रमाशंकर : आप समझते हैं कि नहीं ?
मुरलीधर : मैं तो नहीं समझता।
रमाशंकर : किन्तु मैं समझता हूँ--

{ दीनानाथ का प्रस्थान }

{ किरणमयी सितार बजाने लगती है। रमाशंकर अपना सिर हिलाने लगते हैं जैसे बहुत तल्लीन हो गये हों। मुरलीधर उनकी ओर देखकर मुस्करा पड़ते हैं }

रमाशंकर : वाह ! क्या कहना है, कला की सीमा इसे कहते हैं।
मुरलीधर : { रमाशंकर की ओर देखकर } कौन-सी रागिनी बज रही है ?

रमाशंकर : रागिनी ? रागिनी...क्या आप पूछते हैं ? प्रारम्भ में सा, रे, ग, म,

मुरलीधर : {हँसते हुए } हाँ, शायद सब कुछ एक ही साथ बज रहा है। आप लोग कला की सीमा बड़ी जल्दी निश्चित कर देते हैं।

रमाशंकर : आप मेरी दिल्लगी उड़ा रहे हैं ?

मुरलीधर : यही तो हम लोगों का काम है । इसे छोड़कर हम लोगों के पास दूसरा उपाय...।

किरणमयी : { सितार रखती हुई } आप लोग। क्या करने लगे ?

रमाशंकर : आज रहने दीजिये...कल सुन लूँगा।

मुरलीधर : किन्तु मैं तो कल नहीं आ सकूँगा।

रमाशंकर : आप मशीन का खटर-पटर सुनियेगा...यह गाना आपके भाग्य में नहीं...।

मुरलीधर : हूँ...तो आप मुझे अभागा समझते हैं ?

रमाशंकर : मैं क्या...दुनिया समझेगी।

मुरलीधर : दुनिया--{किरण की ओर देखकर } आप भी मुझे अभागा...

किरणमयी : {ओठ पर उँगली रखकर }, हाँ, हाँ, क्या कहा आपने ? मैं आपको...मैं आपको देवता समझती हूँ--

{ रमाशंकर का प्रस्थान। मुरलीधर उनकी ओर देखते रहते हैं। }

किरणमयी : रुष्ट होकर जा रहे हैं । लोग चाहते हैं कि दुनिया उन्हीं की ओर देखती रहे...किन्तु वे स्वयं किसी ओर नहीं देख सकते।

मुरलीधर : बुलाइये प्रोफेसर साहब को...मैं भी चलूँ।

किरणमयी : गाना नहीं सुनियेगा ?

मुरलीधर : मैं गाना सुनकर क्या करूँगा ?

{किरणमयी मुरलीधर की ओर देखकर नीचे देखने लगती है}

मुरलीधर : अच्छा गाइये भी सुनूँ ?

किरणमयी : नहीं, यदि आपको कष्ट हो...

मुरलीधर : मुझे इससे कष्ट तो नहीं होगा...किन्तु मैं आनन्द से बराबर भागता रहा हूँ...जिस रास्ते को बहुत दिन हुए छोड़ दिया...।

किरणमयी : आपको समझना बड़ा कठिन है।

मुरलीधर : गाइये, मैं कोई रहस्य नहीं हूँ।

{ किरणमयी सितार बजाकर गाने लगती है }

चलेंगे कब तक मेरे गान ?
किस अनजाने जग से आकर,
रुक, रुक, रह, रह, पैर बढ़ाकर;
हिल-डुल कर, मेरे वियोग में;
भर देते हैं मान।
चलेंगे कब तक मेरे गान ?

{मुरलीधर रूमाल से अपना मुँह पोंछते हैं और मेज पर रख देते हैं }

किरणमयी : { गाना बन्द कर } आपका मन नहीं लगा।

{मुरलीधर उसकी ओर देखकर नीचे धरती की ओर देखते हैं--क्षण भर के लिए उँगलियों से आँखें बन्द कर लेते हैं। किरणमयी उनकी ओर देखकर मुस्कराती है। उसकी भौंह तन जाती है }

मुरलीधर : {उठकर} बड़ी देर होगी {प्रस्थान}।

{मेज के पास जाकर रूमाल उठा लेती है और उसी से अपना मुँह पोंछती हुई... मसहरी के पास आ जाती है}

{किरणमयी रूमाल खोलकर बार-बार देखती है और बार-बार उससे अपना मुँह पोंछती है। चौकी पर लेट कर रूमाल से अपना मुँह ढँक लेती है। दीनानाथ का प्रवेश। दीनानाथ सामने का दरवाजा बन्द कर किरणमयी के पास आकर खड़े होते हैं।}

दीनानाथ : {किरणमयी के मुँह पर से रूमाल उठाकर} खद्दर की रूमाल ?

किरणमयी : {झपट कर रूमाल छीन लेती है} तो क्या हुआ ?

दीनानाथ : तुमने रमाशंकर को असन्तुष्ट कर दिया। मुरलीधर का पक्ष लेकर उनकी दिल्लगी उड़ाने लगीं।

किरणमयी : कौन कहता है ?

दीनानाथ : वे स्वयं।

किरणमयी : झूठ कहते हैं। उन्हें बात करने की तमीज तो है नहीं।

दीनानाथ : हुआ क्या ?

किरणमयी : कुछ नहीं... व्यर्थ उन पर बिगड़ पड़े। वे तो बेचारे सहनशील हैं, कोई दूसरा होता तो...।

दीनानाथ : उँह जाने दो यह सब {उसके कन्धे पर हाथ रखते हैं}

किरणमयी : {मुँह फेर कर} फिर वही। तुम दिन-रात में कोई दो घंटा इसके लिये नियत कर लो।

दीनानाथ : पता नहीं, तुम्हारी तलवार क्यों इस तरह म्यान से बाहर हो रही है ?

किरणमयी : जिस तलवार की धार टूट चुकी है, वह म्यान से बाहर होकर ही क्या करेगी ?

दीनानाथ : तुम मुझे अपना दास समझ रही हो। यदि मैं चाहूँ तो शादी फिर...

किरणमयी : बड़ी दया हो... कम से कम मुझे तो मुक्ति मिल जायेगी।

दीनानाथ : मेरे साथ रहने में तुम्हें कष्ट हो रहा है ? स्पष्ट कहो।

किरणमयी : नहीं... बिलकुल नहीं।

दीनानाथ : तब इस तरह क्यों ?

किरणमयी : मैं जब तुम्हें देखती हूँ--

दीनानाथ : तब क्या होता है ?

किरणमयी : मुझे अपने पिता की याद पड़ती है।

दीनानाथ : तुम्हारे पिता की याद से और मुझसे क्या सम्बन्ध ?

किरणमयी : वे भी तुम्हारी ही तरह के थे। उनके भी तीन चौथाई बाल सफेद हो चुके थे।

दीनानाथ : हाँ तब ? {व्यंग में}

किरणमयी : कोई समय नियत कर लो। मैं अपने शरीर को लेकर तुम्हारी सेवा में... जो इच्छा हो।

दीनानाथ : मैं कुछ नहीं करना चाहता। आज से तुम्हारे शरीर को स्पर्श भी नहीं करूँगा।

किरणमयी : तो फिर तुम मुझे अपने साथ रखना नहीं चाहते।

दीनानाथ : {कुर्सी पर बैठते हुए} किरणमयी ! तुम मेरे हृदय को नहीं देख रही हो।

{पर्दा गिरता है}

तीसरा दृश्य

मालती के मकान से सटा बगीचा

{मालती के पिता उमानाथ शुक्ल और मुरलीधर पत्थर के चबूतरे पर बैठकर बातें कर रहे हैं }

उमानाथ : मैंने कहा तो, किन्तु उन्होंने कुछ स्पष्ट नहीं...।

मुरलीधर : तो इस विषय में आप मुझ से क्या चाहते हैं ?

उमानाथ : मुझे विश्वास है यदि आप चाहेंगे तो...।

मुरलीधर : मैं इस विषय में आपकी इतनी सहायता कर सकता हूँ कि इस सम्बन्ध में कोई अड़चन न डालूँ । मेरे व्यक्तिगत विचार तो इससे बहुत भिन्न हैं ! मैं विश्वकान्त को देश के इस महायज्ञ के अनुकूल पुरोहित बनाना चाहता था। आप कदाचित न जानते हों, मैं आज तीस वर्ष का हो रहा हूँ...मैंने स्वयं विवाह नहीं किया । घर बार छोड़कर...जीवन की सभी आशाओं को छोड़कर...किन्तु मुझे सन्तोष है । देश के भविष्य के साथ जब मैं अपने भविष्य की कल्पना करता हूँ...उस समय यह सारा कष्ट...जेल का चार-चार बार का जीवन...

उमानाथ : विवाह कर लेने पर भी तो यह हो सकता है ?

मुरलीधर : सम्भवतः नहीं। आकांक्षा की तृप्ति जीवन के वेग को रोक लेती है।

उमानाथ : इसका अर्थ यह कि आप विश्वकान्त को आज्ञा न देंगे।

मुरलीधर : मैं आज्ञा किस अधिकार से दूँगा ? मैं अभी तक उसे नहीं समझ पाया। कभी-कभी तो वह अनुभवहीन बालक है, और कभी-कभी दूरदर्शी मनस्वी। जब कविता लिखता है तो जैसे प्रेम और विरह की उसकी अनुभूति जाग पड़ती है, किन्तु जब व्याख्यान देता है...मालूम होता है भूकम्प और उल्कापात होगा। इतना विलक्षण...

उमानाथ : इसीलिये तो मेरी इच्छा थी ! मैं अपने जीवन में सदैव अभागा रहा हूँ। मेरे चार लड़के मरे...स्त्री मरी...केवल यही एक लड़की है। मुझे विश्वास है...।

मुरलीधर : यह मिथ्या धारण आप को कहाँ हो गई।

उमानाथ : { मुस्कुराकर } मैं सब जानता हूँ। उन दोनों में प्रेम...

मुरलीधर : ऐं ?

उमानाथ : जी हाँ...।

मुरलीधर : {अपनी उँगलियों से आँखें बन्दकर } मुझे तो विश्वास नहीं होता।

उमानाथ : इसलिये कि आप मनुष्य का हृदय नहीं जानते।

मुरलीधर : यदि ऐसी बात है तो मैं प्रयत्न करूँगा। विश्वकान्त की ओर से मेरी सारी आशा मिथ्या थी। अब तो आता होगा। देखा जायगा।

उमानाथ : शायद मोती से भेंट न हो।

मुरलीधर : होगी जब तक मैं पहुँच नहीं जाता, वह प्रेस के बाहर नहीं निकलता।

उमानाथ : {मुरलीधर का हाथ पकड़कर } चलिये, तब भीतर चलें।

मुरलीधर : यहीं ठहरिये। अब बहुत देर नहीं है।

उमानाथ : लेकिन यहाँ बैठेंगे कैसे ?

मुरलीधर : क्यों ?
उमानाथ : कोई बैठने की जगह अच्छी नहीं...चलिये चलें।

{ दोनों का प्रस्थान।
मालती का प्रवेश }

{ दोनों हाथ उठाकर पेड़ की डाली पकड़ती है और नीचे की ओर देखने लगती है }

{मोती का प्रवेश }

मोती : { मालती के समीप जाकर }चिट्ठी है।
मालती : कैसी चिट्ठी ?
मोती : बाबूजी ने प्रेस में भेजा था !

{ मालती पेड़ की डाल छोड़कर हाथ बढ़ाती हैं--मोती चिट्ठी देता है }

{ मालती पत्र खोलती है }

मोती : बाबूजी को दे आओ। कहे थे, देर न हो !
मालती : {पत्र फाड़कर नीचे फेंकती हुई } दे आओ, अपने बाबूजी को।
मोती : अब क्या दे आऊँ !
मालती : चिट्ठी देते समय उन्होंने कुछ और भी कहा था ?
मोती : नहीं।
मालती : कुछ नहीं कहा ?
मोती : कुछ नहीं ! मैंने चिट्ठी ले जाकर दिया। उन्होंने कहा ठहरो, चलते हैं। लेकिन फिर न मालूम क्या हुआ--यही चिट्ठी लिखकर दे दिया और कहा ले जाओ।
मालती : ले जाओ, तब अपने बाबूजी को दे आओ।
मोती : अब क्या दे आऊँ। फाड़ क्यों दिया ?
मालती : मेरा मन..{मालती का प्रस्थान }

{ उमानाथ का प्रवेश }

उमानाथ : क्यों जी, क्या हुआ।
मोती : चिट्ठी दिया था।
उमानाथ : तो दो।
मोती : {नीचे की ओर संकेत करता है } फाड़ दिया।
उमानाथ : किसने ?
मोती : बच्ची...
उमानाथ : तुमने उसे क्यों दिया।
मोती : आप यहाँ नहीं थे।
उमानाथ : तुम भीतर नहीं जाते हो ?

{ झुककर कागज के टुकड़े उठाते हैं और जोड़कर पढ़ने का प्रयत्न करते हैं }

कुछ पता नहीं चलता। ऐसी...लड़की। उसे बुला तो लाओ।

{ मोती का प्रस्थान }

{ मुरलीधर का प्रवेश }

मुरलीधर : { एक ओर हाथ उठाकर } वह मोती जा रहा है।
उमानाथ : हाँ !
मुरलीधर : क्या हुआ ?

उमानाथ : नहीं आये...। मुझे सन्देह पहले ही था !
मुरलीधर : मेरे पत्र लिखने पर ?
उमानाथ : आप उन पर इतना अधिक विश्वास...।
मुरलीधर : बुलाइये ड्राइवर को। मैं जाऊँ। देखूँ क्या बात है। मेरे पत्र पर...।
उमानाथ : रहने दीजिये अब। इस विषय में आपको विशेष कष्ट...
मुरलीधर : जी नहीं, मैं उसके बारे में अँधेरे में रहना नहीं चाहता। आज समझ लूँ। मुझे भ्रम...
उमानाथ : चलिये बाहर, उसे अभी भेजें...

{ मुरलीधर का एक ओर से और उमानाथ का दूसरी ओर से प्रस्थान }

{ मोती और मालती का प्रवेश }

मालती : मुझे कोई चिन्ता नहीं। फाड़ दिया तो क्या ? वेद का मन्त्र नहीं था।
मोती : फाड़ने से लाभ क्या हुआ ?
मालती : तुम होश में हो कि नहीं ? नौकर को सम्हाल कर मुँह खोलना चाहिये।
मोती : मैं नौकर हूँ...
मालती : और नहीं तो क्या ?

{उमानाथ का प्रवेश }

उमानाथ : {मोती से } जाओ तो बाबू एक बार और प्रेस--बाहर सम्पादक खड़े हैं उनको लेकर...।
मोती : मैं नहीं जाऊँगा। मैं नौकर हूँ ?
उमानाथ : तुम्हें नौकर कौन कहता है ? मैं तो तुम्हें अपना लड़का...
मोती : नहीं, मैं यहाँ नहीं रह सकता। मुझे नौकर कहती है।
उमानाथ : जाने दो...यह पागल हो गई है। तुम्हें इस पर दया करनी चाहिये !
मोती : जा रहा हूँ...लेकिन अन्तिम बार...।

{मोती का प्रस्थान }

उमानाथ : जानता था पढ़-लिखकर समझदार होगी। मोती नौकर है ? मैं अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ। उसका पत्र फाड़ दिया ! {मालती पृथ्वी की ओर देखती रहती है } बोलने में हत्या लगी है।
मालती : क्या कहते हैं ?
उमानाथ : तुम अब मत पढ़ो, घर चलो।
मालती : जैसा कहिये।
उमानाथ : आज ही चलो मेरे साथ। मोती यदि नहीं रहेगा...तो दूसरा व्यक्ति कोई नहीं ...जिस पर तुम्हारा उत्तरदायित्व रहे।तुम आज चलो।मैं कुछ नहीं जानता।
मालती : चलिये...मेरी इच्छा भी अब यहाँ...।

{ उमानाथ का प्रस्थान }

{ पोस्टमैन का प्रवेश }

मालती : कुछ है।
पोस्टमैन : हाँ--{पत्र निकालकर देता है...मालती पत्र लेकर ध्यान से लिफाफे की ओर देखती है }

{पोस्टमैन का प्रस्थान }

{मालती पत्र खोलकर देखती है---बन्दकर लिफाफे को देखती है--फिर खोलकर पत्र देखने लगती है }

नेपथ्य में : मालती ! { मालती जल्दी से पत्र बन्द कर लिफाफे में रखती है }

{ मालती का प्रस्थान }

{ पर्दा बदलता है }

{ मालती का कमरा। दीवालों पर चित्र। मेज के चारों ओर कुर्सियाँ। एक ओर दीवाल से सट कर दो आलमारी पुस्तकें। }

{उमानाथ का प्रवेश। उमानाथ आलमारी के पास खड़े होकर पुस्तकें देखते हैं। }

{मालती का प्रवेश }

उमानाथ : { मालती की ओर देखकर } तो आज चलोगी तुम भी--

मालती : चलिये न...

उमानाथ : तुम्हारी परीक्षा में कितने दिन है ?

मालती : दो महीना।

उमानाथ : इस समय परीक्षा दे लो। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।

मालती : आप क्या करना चाहते हैं ?

उमानाथ : {मेज के पास जाकर कुर्सी पर बैठते हुए } तुम्हें मनुष्य बनाना !

मालती : मेरे मनुष्य होने में आपको सन्देह...

उमानाथ : हाँ...है...तुम्हें साधारण व्यवहार तक नहीं...किसके साथ कैसा व्यवहार ...मोती को क्षुब्ध कर दिया। मैं उसे अपने लड़के से कम नहीं समझता...

मालती : उन्हें घर लेते जाइये...मेरे लिए कोई दूसरा...

उमानाथ : तुम्हारे विषय में मैं किसी दूसरे का विश्वास नहीं कर सकता। यदि वह नहीं रहेगा तो कोई वश नहीं...तुम्हें भी चलना...।

{ मोती का प्रवेश }

उमानाथ : क्या हुआ ? नहीं आये ?

मोती : नीचे हैं--

उमानाथ : {मालती की ओर संकेत कर } इसे क्षमा कर दो तुम्हारी बहन है। नहीं मानोगे तो इसका पढ़ना छूटेगा और उत्तरदायित्व तुम पर...बोलो स्वीकार है। कम से कम दो महीना इसकी परीक्षा तक...

मोती : अच्छा...जो कहिये!

उमानाथ : उन्हें यहीं ले आओ...सात बजे की गाड़ी से जाऊँगा।

{मोती का प्रस्थान विश्वकान्त का प्रवेश }

{मालती भी चली जाती है }

{विश्वकान्त उमानाथ के ठीक सामने कुर्सी पर बैठता है }

उमानाथ : बुलाने पर भी नहीं आते ?

विश्वकान्त : मुरलीधरजी से सब बातें मालूम हुई। कल तक तो शायद...किन्तु आज सभी बातें बदल गईं। मैं जो कल था...आज नहीं हूँ। अब मुझे से नहीं ...विवश हूँ।

उमानाथ : कौन-सी ऐसी बात हुई ?

विश्वकान्त : {कोट की जेब से एक पत्र निकालकर } सुनिये--पिताजी ने लिखा है--'तुमने मेरी इज्जत मिट्टी में मिला दी। तुम्हारे लिए कितना रुपया फूँका।तुम्हें मेरी शपथ है कि मेरे जीते जी इस घर में पैर रखना...सुना आपने।

उमानाथ :

तुम्हारे पिताजी पूरा रुपया पायेंगे... सन्तुष्ट हो जायेंगे।

विश्वकान्त : किन्तु मैं अपने को बेचना नहीं चाहता ! माता... मरे... बहुत दिन हुए। याद नहीं पड़ता... पिताजी ने अपनी इच्छा से बन्धन काट दिया। अब कोई नया बन्धन नहीं चाहता ! जो बात पहले असम्भव मालूम पड़ती थी... आज सुगम हो गई।

उमानाथ : कौन-सी बात ?

विश्वकान्त : देश के लिए आत्म-बलिदान।

उमानाथ : मुझे यही एक लड़की है... मेरे यहाँ रहना।

विश्वकान्त : {सिर हिलाकर }नहीं... यह प्रलोभन न दीजिये ! आशीर्वाद दीजिये मेरा व्रत सफल हो।

उमानाथ : मनुष्य का हृदय दुर्बल होता है।

{उमानाथ का प्रस्थान }

{विश्वकान्त कमरे में चारो ओर देखता है। मेज के सहारे दोनों हाथों में अपना मुँह छिपा लेता है }

{ मोती का प्रवेश }

मोती : { विश्वकान्त के कन्धे पर हाथ रखकर } क्या सोच रहे हैं ?

विश्वकान्त : रहोगे मेरे साथ ?

मोती : हाँ, मैंने सोच लिया। दो महीना यहाँ और रहूँगा।

विश्वकान्त : दो महीना ?--यह समय कैसे नियत कर लिया ?

मोती : बाबूजी से कह दिया।

विश्वकान्त : मेरा नाम लेकर ?

मोती : नहीं, यों ही।

{ नेपथ्य में 'मोती' }

मोती : आया...

{मोती का प्रस्थान मालती का प्रवेश }

मालती : भला आप राह तो भूले ? यह आपका है ?
{पत्र दिखाती है }

विश्वकान्त : { मुस्कराकर } हाँ, मेरा ही...

मालती : इसमें क्या लिखा है ? याद है ?

विश्वकान्त : वह भी भूल सकता है ?

मालती : इसके लिए मैं अपने को धन्य समझूँगी।

विश्वकान्त : { हाथ बढ़ाकर } दो तो...

मालती : यह मेरी एकान्त सम्पत्ति है। बाबूजी आ रहे हैं...

{प्रस्थान }

{उमानाथ का प्रवेश }

उमानाथ : अभी दो घंटे... तब तक मैं पूजा... प्रेस से होते आओगे ?

विश्वकान्त : नहीं... यहीं बैठा रहूँगा।

{ उमानाथ का प्रस्थान }

{ विश्वकान्त उठकर आलमारी खोलता है। कुछ देर तक इधर-उधर पुस्तकों पर हाथ रखता है। फिर एक पुस्तक निकालकर खिड़की के पास खड़ा होकर उसे देखने लगता है। }

{मालती का प्रवेश}

{मालती धीरे-धीरे उसके पास जाकर पुस्तक छीन लेती है}

विश्वकान्त : यह क्या ? देखने दो। मेरी पुस्तक...
मालती : तुम्हारी कैसे है ?
विश्वकान्त : कौन लेखक है ?
मालती : यह तो मैं जानती हूँ कि तुम्हीं लेखक हो।
विश्वकान्त : तब...
मालती : मैंने दाम देकर खरीदा है, लेखक का क्या अधिकार ?
विश्वकान्त : मेरा अधिकार...? अपना रक्त जलाकर मैंने लिखा था !
मालती : तुमने चाहे जैसे लिखा हो...दाम दिया, खरीदा !
विश्वकान्त : तुम निर्दयता...मेरे आँसू का दाम तुम...
मालती : मैंने कही-कहीं इस पर रिमार्क दिया है। इसीलिये...
विश्वकान्त : देखूँ भी--{गंभीर होकर देखता है}
मालती : {सिर हिलाकर} नहीं...क्या मिलेगा ?
विश्वकान्त : दूसरे संस्करण में तुम्हें समर्पित कर दूँगा !
मालती : किस लिए ?
विश्वकान्त : {मालती के दोनों कन्धों पर हाथ रखकर} इधर...
मालती : {उसकी ओर देखती हुई} कहो।
विश्वकान्त : क्या...कहूँ ? कैसे ?
मालती : कह डालो। {सिर हिलाती है}
विश्वकान्त : कहना...पड़ेगा ?
मालती : तुम्हारे मन की बात मैं कैसे जानूँगी ?
विश्वकान्त : सचमुच ? मेरे हृदय की बात तुम नहीं...

{मालती विश्वकान्त की छाती पर हाथ रख देती है। विश्वकान्त उसका मुँह ऊपर उठाता है। मालती सिसक-सिसककर रोने लगती हैं। विश्वकान्त रूमाल से उसकी आँख पोंछकर अलग हट जाता है}

मालती : अब जा कहाँ रहे हो ?
विश्वकान्त : क्या करूँ ?
मालती : पिताजी जो कह रहे हैं...स्वीकार कर लो...मैं सब सुन रही थी।
विश्वकान्त : लेकिन मुरलीधर जी ?
मालती : वे रोकेंगे ?
विश्वकान्त : उन्होंने विवाह न करने के लिए मुझसे शपथ ली है।
मालती : किसकी शपथ ?
विश्वकान्त : तुम्हारी।
मालती : वे जानते हैं ?
विश्वकान्त : उन्होंने यहाँ से जाकर मुझसे पूछा...मैंने सब कह दिया। उन्होंने मुझे समझाया...उसी समय पिताजी का पत्र मिला। मैंने शपथ ले ली। देखो यह पत्र...।

{मालती पत्र लेकर पढ़ती है}

मालती : तब शपथ तोड़ोगे ? पुरुष होकर ? देवता...यह न करना।
विश्वकान्त : मेरा हृदय...

मालती : कुछ नहीं। उसे वश में करो। अब तक मैं तुम्हें प्रेम...अब तुम्हारी उपासना...।

विश्वकान्त : बड़ा कठिन है।

मालती : विश्व-विभव, अन्तर्विभूति,
उत्सर्ग-मिलन को मेरे!
कब तक चलते और रहेंगे,
जग के सपने घेरे?

यह तुम्हीं ने लिखा है न? अपनी इस अनुभूति को प्रत्यक्ष न कर सकोगे?

विश्वकान्त : मैंने जो कुछ लिखा है...कदाचित् सब मिथ्या है।

मालती : वही तो सच है। उसका सम्बन्ध तुम्हारी आत्मा से है। आत्मा के सुख के लिए शरीर का सुख छोड़ दो।

विश्वकान्त : मेरी यह अवस्था विरक्ति के लिये नहीं...

मालती : विरक्ति के लिए कोई अवस्था निश्चित नहीं है...मनुष्य को जब ईश्वरीय प्रेरणा हो...!

विश्वकान्त : सुनो। {उसका हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचता है}

मालती : {हाथ छुड़ाकर} अब मुझे उस भाव से स्पर्श करोगे तो पाप होगा। व्रतभंग का पाप...सोच लो, क्या कर रहे हो?

{विश्वकान्त खिड़की पर सिर टेक देता है। मालती का प्रस्थान। मुरलीधर का प्रवेश।}

{मुरलीधर आगे बढ़कर विश्वकान्त के सिर पर हाथ रखते हैं विश्वकान्त उनकी ओर देखता है।}

मुरलीधर : क्या बात है? तुम्हारी आँखें। तुमने मुझे विश्वास दिलाया...शपथ लिया! इतनी जल्दी...रोने लगे। अपने हृदय पर...वासना...की प्रवृत्ति पर यदि विजय न प्राप्त कर सको तो इस रास्ते पर न आकर...जिसे जीवन का मोह है...वह...

विश्वकान्त : क्या हुआ?

मुरलीधर : मुझे धोखा नहीं दे सकते। तुम्हारी आँखों में अतृप्त वासना है। मैंने उसे अभी यहाँ से जाते देखा है। तुम यहाँ रो रहे हो। इसका क्या अर्थ? अब मैं इस झमेले में पड़ना नहीं चाहता। स्पष्ट कह दो।

विश्वकान्त : देखिये मैं निर्बल मनुष्य हूँ। मुझसे बुराई हो सकती है...किन्तु मैं बराबर उसे सुधारने का प्रयत्न करता रहूँगा। इस पर विश्वास कर यदि आप मुझे अपने साथ रख सकें तो ठीक है और यदि नहीं तो, मुझे क्षमा कीजिये। मेरी बीमारी धीरे-धीरे अच्छी होगी। यदि कोई ऐसी दवा आप जानते हों...जिससे इसी क्षण हट जाय तो बतलाइये, उसके लिए तैयार हूँ।

मुरलीधर : दवा करोगे?

विश्वकान्त : हाँ

मुरलीधर : {रूखे स्वर में} कड़वी होगी।

विश्वकान्त : कोई बात नहीं।

{मुरलीधर कुछ सोचने लगते हैं।}

विश्वकान्त : कहिये। लोहा लाल है...इस समय जल्दी झुकेगा।

मुरलीधर : मालती से फिर कभी न मिलना। यदि कभी देख भी पड़े तो दृष्टि फेर लेना।

विश्वकान्त : इस 'रिगरस इम्प्रिजनमेन्ट' से मेरा सुधार हो सकेगा ? मैं तो चाहता हूँ कि मैं उससे मिलता, किन्तु मेरे भाव बदल जाते। आप मेरा विश्वास कीजिये... मैं अपराध नहीं करूँगा।

मुरलीधर : अच्छा मानता हूँ, यह भी देख लूँ। यह तार... 'सीरियस आउट-ब्रेक्स। देवधर अरेस्टेड। कम ऐटवन्स।'

विश्वकान्त : तब...

मुरलीधर : कोई उपाय नहीं...मुझे जाना पड़ेगा।

विश्वकान्त : आप क्या कर सकेंगे ?

मुरलीधर : जब तक हम लोगों के साथ जनता की कोई सुसंगठित शक्ति नहीं है, तब तक एक दूसरे की सहायता न करने से हम लोग कहीं के न होंगे नौकरशाही इस बात पर तुल गई है कि इस अभागे देश में स्वतन्त्र विचारों का जन्म न हो सके।

विश्वकान्त : देवधरजी से और बलवे से क्या सम्बन्ध ?

मुरलीधर : उनके किसी लेख या टिप्पणी से राजद्रोह की गन्ध आ रही होगी। दस बजे तक प्रेस में आ जाना। सम्पादन का पूरा भार लेना पड़ेगा। दो बजे की गाड़ी से जाऊँगा। जब तक मैं आ जाऊँ, कोई कड़ी बात न छपने पाये।

{ विश्वकान्त विस्मय से उनकी ओर देखता है }

मुरलीधर : विस्मय की आवश्यकता नहीं है, मैं नहीं चाहता, तैयारी के इन्हीं दिनों में नौकरशाही की आँख तुम पर पड़े। असहयोग आन्दोलन में कच्चे सिपाहियों को भी मैदान में उतरना पड़ा था। परिणाम अच्छा नहीं हुआ। समझे ? कालेज तुम्हें छोड़ना पड़ेगा। कोई चिन्ता नहीं, छोड़ना तो पड़ता ही।

{ मुरलीधर का प्रस्थान। मलती का प्रवेश। }

मालती : मुझसे आँख फेर सकोगे ? फेरो तो देखूँ ? इतना साहस ? मैं तो स्वयं तुम्हारे मार्ग से हट जाना चाहती हूँ। जिस दिन चाहूँगी तुम्हारे इस गुरु-मन्त्र को व्यर्थ कर दूँगी। तुम्हारे गुरु बनने की क्षमता...मुझे छोड़कर दूसरे किसी में नहीं...तुम्हें छोड़ने में मुझे कितना कष्ट होगा...मैं जानती हूँ, किन्तु मैं छोड़ दूँगी। { प्रस्थान }

{ विश्वकान्त कुर्सी पर बैठता है। मोती का प्रवेश }

मोती : चलिये चलें। बाबूजी तैयार हो गये।

विश्वकान्त : तुम भी चलोगे ?

मोती : ड्राइव कौन करेगा ?

विश्वकान्त : तुम रह जाओ। मैं कर लूँगा।

मोती : बाबूजी नहीं मानेंगे...आपसे।

विश्वकान्त : मानेंगे क्यों नहीं ? चलो मैं कह देता हूँ।

{ दोनों का प्रस्थान। मालती और उमानाथ का प्रवेश। }

उमानाथ : पत्र जल्दी लिखना। उदास होने की आवश्यकता नहीं है। जब तक मैं जी रहा हूँ...तुम्हें कोई हवा नहीं लग सकती !

{ मालती धरती की ओर देखने लगती है। उमानाथ का प्रस्थान--मालती विश्वकान्त का पत्र निकाल कर पढ़ने लगती है। }

{ मोती का प्रवेश }

मालती : तुम नहीं गये ?

मोती : नहीं।
मालती : चलायेगा कौन ?
मोती : विश्व बाबू...
मालती : जानते हैं ?
मोती : हाँ, दो महीने और तुम्हारी नौकरी करूँगा।
मालती : मेरी जीभ काट रहे हो ? जो बात एक बार हो गई, हो गई।
मोती : हो क्या गई ? यह तुम्हारा स्वभाव है। अब दो महीना किसी तरह।
मालती : उसके बाद क्या करोगे ?
मोती : विश्व बाबू के साथ रहकर देश-सेवा करूँगा। उनके साथ दूसरे देशों की सैर करूँगा। कब तक इस जेलखाने में पड़ा रहूँगा...। मिडिल पास हूँ...आठवें दर्जे तक अङ्गरेजी भी पढ़ी है...प्रेस में नौकरी कर लूँगा।
मालती : सब कुछ एक ही साथ करोगे ?
मोती : सम्पादक जी भी कह रहे थे...विश्व बाबू ने भी कहा !

{नेपथ्य में 'कोई है' }

मोती : आया। {मोती का प्रस्थान }

{ मालती पत्र बन्द कर लिफाफे में रखती है, लिफाफा मेज पर रखकर उठती है। प्रो० रमाशंकर का प्रवेश। मालती हाथ जोड़कर प्रणाम करती है। रमाशंकर कुर्सी पर बैठते हैं }

रमाशंकर : ओफ बड़ी गर्मी है...प्यास लग गई।
मालती : जल ले आऊँ ?
रमाशंकर : नहीं मेरी प्यास पान से...

{ मालती का प्रस्थान }

{रमाशंकर मेज पर से लिफाफा उठाकर देखते हैं। खोल कर पढ़ते हैं, फिर उसे जेब में रख लेते हैं। मेज से अखबार उठाकर देखने लगते हैं। }

{ मालती का प्रवेश। मालती रमाशंकर को पान देती है। }

रमाशंकर : { मुँह में पान रखकर } कई दिन हुए कालेज नहीं जा रही हो। तबियत अच्छी है न ?
मालती : जी हाँ...नहीं जा सकी थी।
रमाशंकर : मैं तो इधर कई दिनों से तुमसे मिलना चाहता था। कालेज में तुम शायद दो दिन गई भी थी, तो भी मेरे क्लास में नहीं आई।
मालती : कोई आवश्यक बात थी ? मेरे पिताजी आये थे।
रमाशंकर : अभी हैं ? {उठते हैं }
मालती : नहीं आज चले गये। {रमाशंकर बैठते हैं }
रमाशंकर : इस बार के लेख में सब से अधिक नम्बर तुम्हें मिले हैं। तुम जानती हो, मैं सर्वोत्तम लेख के लिए पारितोषिक देता हूँ। पहली बार सुधाकर को दिया था !
मालती : किन्तु मेरा लेख तो...।
रमाशंकर : शायद जल्दीं में लिखा गया हो...किन्तु है बड़ा सुन्दर। पंचानबे नम्बर मिले हैं...जो पुस्तकें तुम्हें पसन्द हों उनकी लिस्ट मुझे दे देना।

{मालती नीचे देखती हुई पैर का अँगूठा इधर-उधर करती है }

रमाशंकर : तुमसे उस दिन कहा था। तुमने कुछ ध्यान नहीं दिया। विवाद व्यक्तिगत स्वीकृति है। 'सोशल सैन्कशन' की बात उनके लिए उठती है, जिनके

व्यक्तित्व में, कुछ जोर नहीं। जो दूसरों के चलाये चलते हैं। जिनके पास कोई विचार नहीं, भावना नहीं।

{मालती चुप रहती है }

रमाशंकर : मेरी बात पर सहानुभूति के साथ विचार करो। {मालती का हाथ पकड़कर } इधर देखो।

मालती : {हाथ छुड़ाकर } उहँ, छोड़िये।

रमाशंकर : अब बहुत हुआ...कितने दिनों तक यह प्यास... {मालती को अपनी ओर खींचना चाहता है। मालती झिझक कर पीछे हटती है। उसका अंचल खिसक कर नीचे गिर पड़ता है।

विश्वकान्त का प्रवेश। वह वेग से आगे बढ़ता है। उसका जूता मालती के गिरे हुए अंचल पर पड़ जाता है। अंचल के दबने से मालती नीचे को झुक जाती है। विश्वकान्त पीछे हटकर, उसका अञ्चल उठा कर, दोनों हाथों से सम्हाल कर, उसके सिर पर डाल देता है }

विश्वकान्त : { मालती की आँखों पर रूमाल रखते हुए } रोती हो... { रमाशंकर की ओर देख कर } छी:...

पर्दा गिरता है!

दूसरा अंक

{दीनानाथ के बंगले के सामने का मैदान। चार लड़के आपस में बातें कर रहे हैं। }

पहला : आज सबेरे बड़ा जरूरी घंटा खराब गया।

दूसरा : खराब गया।

पहला : और नहीं तो क्या ? क्या लाभ ?

दूसरा : लाभ नहीं हुआ ? स्त्री-जाति के प्रति कर्तव्य...

पहला : यह सिखाने की बात नहीं है। प्रकृति ने स्त्री-पुरुष में जो नाता लगाया है, वह स्वयं कोई दूसरी व्यवस्था नहीं चाहता। तुम लोगों का मिथ्या आदर्श वास्तव में इस समस्या को सुलझा नहीं सकता, और भी जटिल बना देगा।

दूसरा : मुझे इसकी चिन्ता नहीं...आदर्श इस तरह हँसी उड़ाने की बात नहीं।

पहला : पर मुझे इसकी चिन्ता है। वह आदर्श जो जीवन के साथ विद्रोह करे, जो जीवन के स्वाभाविक रास्ते में काँटा बने, हँसी उड़ाने की बात नहीं तो और क्या है ?

दूसरा : पर विद्रोह करे तब तो ?

पहला : विद्रोह नहीं कर रहा ? वाइस चान्सलर साहब एक घंटे तक गला फाड़ते रहे। तुम्हें क्या मिला ?

दूसरा : क्या मिलना चाहिये ? कालेज के अस्सी फीसदी लड़के चरित्रभ्रष्ट हैं।

तीसरा : अब सुधर गये ?

पहला : {तीसरे के मुँह पर हाथ रखकर } चुप रहो तुम। हाँ, कहिये महाराज सुधार हुआ ?

दूसरा : क्यों नहीं, सब को मालूम हो गया।

पहला : क्या मालूम हो गया ? इस बार मिसेज गुप्ता के ऊपर गेंदें का फूल पड़ा...दूसरी बार कदम्ब का पड़ेगा। दर्जे में जिस ओर परियाँ बैठेंगीं, लड़के देखेंगे ही। मुझे तो स्वयं उन बेचारों पर दया आती है जो बिना किसी लाभ के प्यासी आँखों से उनकी ओर देखा करते हैं। मैं तो जब देखता हूँ, तुम मालती की ओर ही देखा करते हो।

दूसरा : अच्छा, तो देखने से क्या ?

पहला : किस लिए देखते हो ? तुम्हारे भीतर इच्छा पैदा नहीं होती ? सुनो, युवती की ओर जब युवक देखता है... वहाँ कोई फिलासफी नहीं होती...बस वही भगवान पंचवाण। मानो या न मानो। जब तुम मालती की ओर देखते हो तुम्हारी आँखों में तुम्हारा हृदय आ जाता है...तुम चाहते हो एक बार, केवल एक बार...उसके लिए शायद तुम...उस घड़ी अपना सब कुछ छोड़ सकते हो।

दूसरा : { क्रोध से }मेरे चरित्र पर सन्देह करते हो ?

पहला : {मुस्करा कर }नहीं, कभी नहीं। यही तो तुम्हारे लिए स्वाभाविक है। इससे चरित्र से क्या सम्बन्ध ? प्रकृति बदली नहीं जा सकती। जो तुम अपना मनोरथ...मैं तो तुम्हें बधाई दूँ।

दूसरा : चुप रहो, मैं उन बिगड़े चरित्रों में नहीं हूँ।

पहला : जरूर हो। चरित्र की परीक्षा शब्दों से नहीं होती। कर्तव्य से। चार दिन भूखा रख कर, रसगुल्ला की एक तश्तरी रख कर, तुम्हारे सामने से हट जायँ, और

तुम उसमें से एक भी न निकालो तो समझूँ...या उसके साथ तुम्हें किसी एकान्त कमरे में...और तुम...

दूसरा : {क्रोध में खड़ा होकर } बस, अब अगर एक बात भी निकाली तो जीभ खींच लूँगा {चौथा उठकर उसे पकड़ता है }

पहला : माधो ! छोड़ दो। लीजिये महाशय, खींच लीजिये, चटनी बनाइयेगा { जीभ निकालता है } । मैं आदर्श नहीं जानता...इस जीभ ने बड़ा स्वाद लिया है। इसकी चटनी से आपकी तिल्ली अच्छी हो जायेगी।

{दूसरा एक ओर जाता है }

तीसरा : आज तो तुमने इसे पानी पानी कर दिया।

पहला : नहीं जी...मुझे ढोंग से बड़ी घृणा है। आज ही मुझ से पूछ रहा था, मालती कालेज क्यों नहीं आती ? इसका क्या मतलब ? वह देखना चाहता है..देखने में उसे सुख मिलता है। यह मानसिक व्यभिचार शारीरिक व्यभिचार से भी अधिक भयंकर है। आदर्श इन लोगों की बातों में रहता है। समझते हैं सारा जगत...

चौथा : न पकड़ता तो मार बैठता...

पहला : कभी नहीं। इस तरह के लोग कायर होते हैं। दूर से बड़बड़ाता रहता...पास आने की हिम्मत नहीं पड़ती। { दीनानाथ के बंगले की ओर देखकर } देखो, मिसेज दीनानाथ खड़ी हैं, समझेंगी हम लोग उन्हें देख रहे हैं। {उठकर} चलो चलें, ठहरना ठीक नहीं, न मालूम क्या मतलब लगे।

चौथा : मतलब क्या लगेगा ? वे भी तो चटक मटक...

पहला : लेकिन वह तुम्हारे लिए निमंत्रण नहीं है ! या है ?

चौथा : नहीं जी, हम लोगों से क्या ?

पहला : {उसके कन्धे पर हाथ रखकर }बहुत ठीक, तुम्हारी डिसइन्टरेस्टेड फिलासफी सब से अच्छी। इनका कभी विचार न करो। तुम बचे रहोगे...जहाँ एक बार मस्तिष्क और मन में विचार आया फिर तो बचने की कोई दूसरी सूरत नहीं। रात दिन की जलन...बराबर वही सोच...।

.{सुधाकर का प्रवेश }

पहला : { सुधाकर से } क्यों जी, क्या हुआ ?

सुधाकर : {गंभीर होकर } दो वर्ष के लिए रेस्टिकेशन हुआ।

पहला : रेस्टिकेशन ? दुनिया में ऐसे ही लोग फाँसी पड़ते हैं। { सुधाकर का हाथ पकड़ कर } वह पत्र तुम्हारे प्रोफेसर साहब को कैसे मिल गया ?

सुधाकर : मेरे प्रोफेसर साहब क्यों कहते हो ?

पहला : अच्छा, तुम्हारे नहीं हमारे...सदैव सशंक रहते हो। इसीलिए और लड़के भी तुम पर शंका करते हैं। प्रोफेसर रमाशंकर का नाम आया नहीं कि तुम्हारे कान खड़े हो जाते हैं। जानते हो कैसे मिला ?

सुधाकर : मालती ने स्वयं दिया था...।

पहला : न मालूम क्यों, मुझे इस पर विश्वास नहीं होता है मालती शायद...।

सुधाकर : तुम मालती को अच्छा समझते हो ?

पहला : यहाँ अच्छे-बुरे की बात नहीं है। यह बात उसके स्त्री स्वभाव के अनुकूल है या नहीं ?

चौथा : तुम लोग...सारी बातों पर सीरियस क्यों हो जाते हो ? तुम लोगों से मतलब, वह अच्छी है या बुरी ? तुम्हारे घर तो वह आती नहीं।

सुधाकर : किसी के घर तो जायेगी ?

चौथा : तुम किसी के एजेन्ट नहीं न हो !

सुधाकर : यह समाज की बात है।

चौथा : समाज की इतनी चिन्ता तुम्हें ? यह सब कहने की बातें हैं। विश्वकान्त ने मालती को पत्र लिखा..।इसमें वास्तव में समाज की कोई हानि नहीं हुई। लेकिन समाज के ठेकेदार आज ऐसी बातों को लेकर नहीं चलेंगे तो समाज उनकी ओर दृष्टि कैसे डालेगा ?

{रमाशंकर का प्रवेश। सुधाकर को छोड़कर और सब जाते हैं। }

रमाशंकर : कहो, कैसा रहा ?

सुधाकर : क्या पूछना है ? निशाना तो खूब बैठा... उम्मीद तो ऐसी नहीं थी।

रमाशंकर : न पूछो। सिण्डिकेट का रुख बेढंगा था। लगे लोग पूछने, आपको पत्र किसने दिया ? कैसे मिला ? मैंने तो समझा बात बिगड़ गयी। लेकिन खैर {उत्साह से सुधाकर की ओर देखता है। }

सुधाकर : देखें, भगत अब कहाँ चलते हैं ?

रमाशंकर : सम्पादक बनें। इधर-उधर ठोंकर खाते रहें और क्या करेंगे ?

सुधाकर : देखिये इधर आ रहे हैं। [{दोनों दीनानाथ के बंगले की ओर देखते हैं। विश्वकान्त, मालती और मोती आते हुए देख पड़ते हैं }

रमाशंकर : चलो चलें, यहाँ रहना ठीक नहीं...

सुधाकर : आने दीजिये, क्या होगा ?

रमाशंकर : नहीं, चलो।

{ रमाशंकर का प्रस्थान--सुधाकर मुस्कुराता हुआ उनके पीछे चलता है। }

{विश्वकान्त, मालती और मोती का प्रवेश }

मालती : मोती, देखो जाने न पावें, किसी तरह उन्हें यहाँ तक लिवा लाओ। अब संकोच... {मोती का प्रस्थान }

विश्वकान्त : तुम ठहरो, मैं जा रहा हूँ।

मालती : {विश्वकान्त का हाथ पकड़ कर }कहाँ जा रहे हो ? मैंने तुम्हारा सर्वनाश किया, पर कोई चिन्ता नहीं, तुम्हारी नैतिक विजय होनी चाहिये।

विश्वकान्त : नहीं, जो हो गया वह लौट नहीं सकता, अब व्यर्थ में उसके लिए...।

मालती : जो कहती हूँ, मानो, इससे तुम्हें मानसिक शान्ति मिलेगी।

विश्वकान्त : नहीं, मुझे शान्ति नहीं चाहिये। जो मिला वही बहुत है।

{विश्वकान्त जाना चाहता है। मालती उसका हाथ पकड़ती है। }

मालती : कहाँ चले। कायर ! तुम मुझे चाहते हो, मैं तुम्हें चाहती हूँ।

विश्वकान्त : नहीं, मैं तुम्हें नहीं चाहता।

मालती : कल से मत चाहना। आज तो तुम्हें चाहना ही पड़ेगा। रेस्टिकेशन हम लोगों को अलग नहीं कर सकता ! यह बात यहाँ के ढोंगी अधिकारी जान लें। कल से हमारे तुम्हारे रास्ते अलग होंगे...आज नहीं।

{नेपथ्य में यही उचित है }

{किरणमयी का प्रवेश। विश्वकान्त उसे देखकर जाना चाहता है }

किरणमयी : {विश्वकान्त की ओर हाथ उठाकर } थोड़ी देर...केवल दो मिनट।

{विश्वकान्त ठहरता है}

किरणमयी : {मालती के कन्धे पर हाथ रखकर} इधर देखो...

मालती : छोड़िये, इस समय...

किरणमयी : यह समय छोड़ने का नहीं है। इस समय चिरंतन नारीत्व ने पुरुष की अहमन्यता पर विजय प्राप्त की है। तुम्हारी विजय हमारी विजय है। सारी स्त्री जाति की...

विश्वकान्त : आपको मुझसे कुछ कहना है ?

किरणमयी : हाँ,

विश्वकान्त : क्या ?

किरणमयी : {मालती की ओर हाथ उठाकर} इन्हें... पत्र...क्यों लिखा ? {मुस्कराती है}

विश्वकान्त : इसका उत्तर देना मैं नहीं चाहता।

{विश्वकान्त का प्रस्थान}

किरणमयी : {मालती से} तो फिर वह पत्र उन्हें मिल कैसे गया ? मुझे तो विश्वास नहीं होता कि तुम ऐसी गलती करोगी। बेचारे का जीवन।

मालती : वे मेरे यहाँ गये थे...टेबुल पर पत्र था, उठा लिया।

किरणमयी : तुम्हारी मेज पर से ? कैसा आदमी है ? वहाँ गये क्यों...?

मालती : क्या कहूँ...?

किरणमयी : कोई हर्ज है ?

मालती : हर्ज भी है और अब नहीं भी है...कोर्टशिप करने...

किरणमयी : तुम्हारे साथ ?

मालती : {एक ओर देखती हुई} आप थोड़ी देर यहाँ से हट जाइये...मैं उनसे कुछ बातें...

{किरण की ओर देखती है}

किरणमयी : किससे ? रमाशंकर से ?

मालती : हाँ, {किरणमयी का प्रस्थान}

{विश्वकान्त का प्रवेश}

मालती : सुनो।

विश्वकान्त : क्या है ?

मालती : वे आ रहे हैं, तुम भी यहाँ ठहरो...कुछ बातें हो जायँ।

विश्वकान्त : लाभ ? {सिर हिलाता है}

मालती : बहुत है। वह समझ जायेगा...

विश्वकान्त : नहीं, मैं स्वयं समझ लूँ, यही बहुत है...दूसरों को कहाँ तक समझाता...

मालती : दूसरे तुम्हारे लिए चिता तैयार कर रहे हैं।

विश्वकान्त : करने दो।

मालती : तुमसे मुर्दा अच्छा, तुममें तनिक भी स्वाभिमान...

विश्वकान्त : {क्रोध के स्वर में} मालती ! मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मैं समझता था...तुम उदार और कोमल हृदय की...तुममें इतनी प्रतिहिंसा...जहाँ तुम्हें संकोच और लज्जा से मर जाना चाहिये वहीं तुम निर्लज्ज...

मालती : लज्जा किस बात के लिए ? मैंने कौन-सा पाप किया है। पत्र तुमने लिखा था। लज्जा से तुम्हें मरना चाहिये या मुझे ?

विश्वकान्त : मुझे भी और तुम्हें भी।

मालती : मुझे नहीं, केवल तुम्हें। तुम मरो, तुमने पत्र लिखा था। { व्यंग से } आप मुझे प्रेम करते हैं... जीवन की सर्दी... गर्मी में नहीं; पत्र में... मेरे साथ यहाँ खड़े होकर उससे बातें कर लेने में लज्जा लग रही है। इतना साहस भी नहीं। तुम पुरुष हो... किस बुरी घड़ी में मेरी आँख तुम पर पड़ी थी ? हाय रे !

विश्वकान्त : मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ... उनसे न मिलो ? नहीं तो...

मालती : तुम आज्ञा देने वाले हो कौन ?

विश्वकान्त : मैं कोई नहीं हूँ ?

मालती : कोई नहीं। [{दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं। विश्वकान्त का प्रस्थान। }

{रमाशंकर और मोती का प्रवेश। रमाशंकर मालती की ओर आते हैं, मोती दूसरी ओर निकल जाता है। }

रमाशंकर : किस लिए बुलाया ?

मालती : मैंने आप को वह पत्र दिया था ?

रमाशंकर : तुमने दिया यां किसी ने दिया। मैंने अपना कर्तव्य... तुमको गिरने से बचा लिया।

मालती : बचा लिया गया और गिरा दिया ? अब लोग मुझे क्या समझेंगे ?

{साँस रोककर एकटक देखती है }

रमाशंकर : तुम्हीं सोचो ?

मालती : {रमाशंकर की ओर घृणा की दृष्टि से देखती हुई } उस बेचारे का क्या दोष था ? उसका जीवन... प्रतिहिंसा में आपने...

रमाशंकर : मैंने जो उचित समझा...

मालती : तो क्या आप चाहते हैं कि मैं भी अब लोगों से कह दूँ कि आप मेरे साथ कोर्टशिप कर रहे थे... उसी क्रोध में आपने...

रमाशंकर : प्रणाम... ?

मालती : आपके दो पत्र... याद नहीं है ? इतनी जल्दी भूल गये। सुनिये सिण्डिकेट से कुछ न कह कर... आपके दोनों पत्र स्थानीय दैनिक में प्रकाशित कराऊँगी।

रमाशंकर : मैंने पवित्र भावना से लिखा होगा।

मालती : वह पत्र भी तो पवित्र भावना से लिखा गया था। उसमें प्रेम की सभी बातें चार पंक्तियों में थीं। आपके एक पत्र में भी चालीस से कम पंक्तियाँ उसी मतलब की नहीं होंगी। मैं यहाँ देर करना नहीं चाहती। आप क्या कहते हैं ?

रमाशंकर : जो कहो ?

मालती : मैं क्या कहूँगी... आप स्वयं सोच लें।

{रमाशंकर पृथ्वी की ओर देखने लगते हैं }

{मालती उनकी ओर देखकर दाँत से ओठ दबाती है }

रमाशंकर : मुझे वास्तव में खेद हो रहा है।

मालती : {मुस्कराकर } सचमुच ? इसी को श्मशान ज्ञान कहते हैं।

रमाशंकर : अब तो जो हो गया लौट नहीं सकता।

मालती : पर, अभी तक जो नहीं हुआ है, वह तो हो सकता है।

रमाशंकर : कुछ भी हो, मैं तुम्हारा शिक्षक हूँ...तुम्हें उसका ध्यान...।
मालती : बिलकुल नहीं, उसका ध्यान असंभव है।
ह्वेन लाइफ इज एट स्टेक मेंटाफिजिक्स इज आउट आफ कोर्ट।
रमाशंकर : तो अब मैं कर ही क्या सकता हूँ...तुम्हारी जो इच्छा...।
मालती : वह तो होगी ही। किन्तु यदि...अब आप जायँ।

{एक ओर से मालती दूसरी ओर से रमाशंकर का प्रस्थान}

{मोती और विश्वकान्त का प्रवेश}

विश्वकान्त : नहीं जी, मुझे इसका कुछ भी खेद नहीं है ! समस्या है आगे की। जीवन के साथ समझौता करना पड़ता है। कोई भी इससे बच नहीं सकता। मैं कैसे बच सकूँगा।
मोती : ईश्वर जो कराये। मनुष्य अपनी इच्छा से कुछ नहीं करता।
विश्वकान्त : मैं सारा भार तो ईश्वर पर दे नहीं सकता, बहुत कुछ मैंने किया है।
मोती : मुरलीधरजी सुनेंगे तो क्या कहेंगे ?
विश्वकान्त : कहेंगे क्या ?
मोती : शायद रंज हो ?
विश्वकान्त : अजी, कौन अच्छा है और कौन बुरा, परिस्थिति में पड़कर..।

{उसके कान में कुछ कहता है}

मोती : सचमुच ?
विश्वकान्त : यह सब ठीक है, पर वह बात ऐसी है कि मनुष्य का मन बस में नहीं रहता। तुम्हीं बताओ प्रोफेसर दीनानाथ के यहाँ वे बराबर क्यों आया करते हैं। कहाँ तो वे सरकार के विरोधी हैं और कहाँ ये सरकार के खुशामदी। उनकी स्त्री भी एक बार खद्दर पहन कर मेरे आफिस में गयी थीं। यह सब किस...
मोती : हो सकता है, कोई साधू नहीं है, सारी दुनिया एक ही नशे में...मैं नहीं समझता लोगों को क्या मिलता है।
विश्वकान्त : तुम्हारी आयु मोती ? {मुस्कराकर}
मोती : अट्ठाइस वर्ष। आप तो जैसे...हाँ-हाँ...
विश्वकान्त : तुम्हारा विवाह तब तो...
मोती : मैं विवाह नहीं करूँगा। यह नहीं, वह नहीं, यह करते हो, वह करते हो। इस बला में कौन पड़े ?
विश्वकान्त : तुमने किसी को प्रेम नहीं किया ?
मोती : यह आप लोगों का काम है जो चुपचाप सोते जागते इसी का सपना देखते हैं, जिनके लिए और कोई काम नहीं।

{दीनानाथ का कमरा। बीच में टेबुल, चारो ओर कुर्सियाँ। दीवालों के पास आलमारियों में पुस्तकें। आलमारियों के ऊपर दीवालों पर चित्र। दरवाजे के सामने दीवाल पर शीशा। शीशे के पास खूँटी पर सितार। फर्श पर दरी, बीच में कालीन। दीनानाथ और किरणमयी का प्रवेश। दीनानाथ टेबुल के पास दोनों ओर एक-एक कुर्सी छोड़कर बीच में बैठते हैं। किरणमयी उनके पीछे खड़ी होकर शीशे में अपना मुख देखती है। बाल पर बार-बार हाथ फेरती है।}

दीनानाथ : हाँ, तो विश्वकान्त ने पत्र लिखकर कोई बुराई नहीं की ?
किरणमयी : {मुस्कराती हुई} मेरी समझ में तो नहीं की प्रेम ...सोचने-समझने नहीं देता। बेचारा प्रेम करता था।

दीनानाथ : हूँ...ऐसा प्रेम करना चाहिये ?
किरणमयी : उस समय तो नहीं सूझता कि क्या करना चाहिये ! मुझे तो नहीं सूझता !
दीनानाथ : ओ हो, कब से ? {घूमकर किरणमयी का हाथ पकड़ कर खींचते हैं } भला तुम्हें प्रेम का पता तो चला । विश्वकान्त को धन्यवाद देना चाहिये ! उसने तुम्हें प्रेम करने का ढंग... {उसे उसी कुर्सी पर अपने आगे बैठा कर बायाँ हाथ उसके गले में डाल दायें हाथ से उसकी ठुड्ढी पकड़ कर ऊपर उठाते हैं । किवाड़ पर धक्का । दीनानाथ चौंक कर किरण के गले से बाँह निकालते हैं । सुधाकर का प्रवेश । किरणमयी उठकर खड़ी होती है । सुधाकर झिझक कर पीछे हटता है । }
दीनानाथ : क्या है ?
सुधाकर : मेरे पिताजी...
दीनानाथ : लिवा लाओ । {सुधाकर का प्रस्थान--किरणमयी की ओर देखकर मुस्कराते हुए } कोई बात नहीं, यह सब जीवन है । भीतर जाओ ।
किरणमयी : भीतर क्यों ? मैं शर्म नहीं करती ।
दीनानाथ : देहाती आदमी है, घबड़ायेगा । {किरणमयी का प्रस्थान-- गौरीदत्त का प्रवेश }
दीनानाथ : कहिये, गौरीदत्त जी कैसे रहे ?
गौरीदत्त : बड़ी अच्छी तरह...आपकी कृपा ।
दीनानाथ : खेती-बारी कैसी है ?
गौरीदत्त : आजकल तो मन्दी है ! गाँधीजी के मारे किसी की रोजी चल सकेगी ? गाँव के चमार सब सभा कर रहे हैं । हम लोगों का काम हर्ज हो रहा है । थानेदार साहब से कहा था, तब उन्होंने कहा कि गाँधीजी से कहो । तुम लोगों के बादशाह वही न हैं ।
दीनानाथ : आपने क्या कहा ?
गौरीदत्त : मैं क्या कहता ?
दीनानाथ : उसे दावत नहीं दी ? सरकार अफसर दावत पाकर खुश होते हैं ।
गौरीदत्त : कितनी दावतें दी जायें, चपरासी से लेकर कलक्टर साहब तक, सब तो यही चाहते हैं ।
दीनानाथ : वाइसराय साहब तक नहीं ? यह सरकार दावत की सरकार है ।
गौरीदत्त : स्वराज्य में तो और भी बुरा होगा । मजदूर नहीं मिलेगा, डाका पड़ेगा ।
दीनानाथ : यह कुछ नहीं होगा । आप घबड़ाइये मत । मुल्क का रुपया बाहर नहीं जायेगा । कल-कारखाने खुलेंगे । जब हम लोग इस लायक हो जायेंगे कि अँग्रेजों को निकाल बाहर करें तो इस लायक भी हो जायेंगे कि अपने मुल्क की व्यवस्था भी अच्छी कर सकें ।
गौरीदत्त : मैं एक काम से आया...।
दीनानाथ : कहिये...।

{टेलीफोन की घंटी बजने लगती है । दीनानाथ का मेज पर से रिसीवर उठाना । गौरीदत्त घबड़ा कर उठते हैं । डर जाने की आकृति बनाते हैं । दरवाजे की ओर बढ़ना चाहते हैं । कुर्सी में पैर फँस जाना, दीनानाथ का जोरों से हँसना । }

दीनानाथ : डरिये मत, बैठ जाइये । आपको तमाशा दिखाऊँ ।

{रिसीवर पर मुँह कर} थोड़ी देर कृपाकर ठहरिये।

गौरीदत्त : नहीं साहब, मैं डर गया।
दीनानाथ : कुछ नही, सुनिये बड़ा मजा आयेगा।
गौरीदत्त : नहीं, मेरी हिम्मत... यहीं खड़ा हूँ...
दीनानाथ : आइये भी।
गौरीदत्त : अच्छा आप नहीं मानते। {कुर्सी ठीक कर सिकुड़ कर बैठते हैं}
दीनानाथ : हाँ-हाँ, धन्यवाद... मैं स्वयं दीनानाथ हूँ... कहाँ से? लखनऊ? आपका नाम... हाँ, समझ गया। धन्यवाद... मैं आज बहुत व्यस्त हूँ... असुविधा? नहीं कुछ भी नहीं। कल... दस बजे दिन में। हाँ, मैं प्रबन्ध कर दे सकता हूँ। मैं भोर में आठ बजे वहाँ पहुँचूँगा {हँसते हुए} आप क्यों तकलीफ करेंगे? आप आधी रात को बुला सकते हैं, यदि आप चाहें तो मैं बहुत प्रसन्न हूँ... हाँ... धन्यवाद...।

{रिसीवर मेज पर रखते हुए} सुने? {गौरीदत्त की बाँह पकड़ते हैं}

गौरीदत्त : क्या गटर-पटर, किसी का तार था क्या?
दीनानाथ : तार नहीं, यह टेलीफोन है, लखनऊ से एक आदमी से बात हो रही थी।
गौरीदत्त : लखनऊ से? यह जादू है।
दीनानाथ : जादू नहीं कल है!
गौरीदत्त : कल मेरे यहाँ जलसा है... आप चलते हैं...
दीनानाथ : नहीं, कल तो हमें लखनऊ जाना है... अभी बात हुई है, उसी की। {उठते हुए} अच्छा तो अब...
गौरीदत्त : हाँ... अब जाता हूँ। {प्रस्थान}

{किरणमयी का प्रवेश}

किरणमयी : सचमुच टेलीफोन आया था?
दीनानाथ : तुम क्या समझती हो?
किरणमयी : शायद बेचारे को तमाशा दिखा रहे थे!
दीनानाथ : नहीं, भला मैं... दो बजे रात की गाड़ी से लखनऊ जाना है।
किरणमयी : किस लिए?
दीनानाथ : शेक्सपियर पर लेक्चर देना है।
किरणमयी : शेक्सपियर के पीछे पागल हो गये हो। जहाँ देखो वहीं शेक्सपियर। पटना भी, इलाहाबाद भी, लखनऊ भी, एक ही बात... तुम्हारी तबीयत नहीं घबड़ाती। कैसे बार-बार एक ही चीज।
दीनानाथ : फिर वही सनक? तुम को क्या मालूम कि शेक्सपियर क्या चीज है?
किरणमथी : मुझे तो रात-दिन सितार बजाना पड़े तो ऊब जाऊँ। इसी लिए कभी सितार... कभी हारमोनियम... और कभी बाँसुरी बजाती हूँ।
दीनानाथ : शेक्सपियर में दुनिया की सभी बातें..
किरणमयी : किसी एक आदमी में दुनिया की सभी बातें... कैसे हो सकती हैं? मैं तो नहीं मानूँगी।
दीनानाथ : तुम पागल हो।
किरणमयी : मैं नहीं तुम या हम दोनों। {उसके गले में हाथ डालती है}
दीनानाथ : तुम तो जैसे आजकल... क्यों क्या है? {उसके सिर पर बार-बार हाथ रखते और उठाते हैं}

किरणमयी : और मैं कब दूसरी थी ?
दीनानाथ : नहीं, कभी नहीं...तुम बराबर ऐसी ही हो...एक रस-सुन्दर-मादक...
किरणमयी : ओह...कोष खाली कर दिया।
दीनानाथ : नहीं, खाली नहीं अभी तो भरा है। {उसके गाल पर धीरे से हाथ रख देते हैं} चलूँ, जरा शहर। रात को जाना ही है।

{दीनानाथ का प्रस्थान}

{किरण का शोशे के पास जाकर खड़ा होना दो उँगलियों से बार-बार नाक दबाना और छोड़ना। सामने की आलमारी खोलना। मुँह पर स्नो और पाउडर लगाना। ओठ पेन्ट करना। दूसरी ओर कमरे में एक खिड़की से बाँसुरी उठाना...बजाने लगना। इधर-उधर कमरे में घूम-घूमकर}

{दासी का प्रवेश}

किरणमयी : क्या है ?
दासी : कोई आयल हैं ? कहलीं साहब नाहीं हवें, कहे जो कोई होय।

{विजिटिंग कार्ड बढ़ाती है}

किरणमयी : {हाथ बढ़ाते हुए} कहा नहीं किसे दे आयें ? कह दो कोई नहीं है। कैसा बेहूदा आदमी है। {दासी दरवाजे की ओर बढ़ती है--किरण कार्ड देखती है} सुनो, सुनो, सुनती जाओ।
किरणमयी : यहाँ लिवाकर बैठाओ मैं अभी आती हूँ।

{किरण का प्रस्थान। दासी का उसकी ओर से देखती हुई बाहर जाना। मुरलीधर के साथ दासी का प्रवेश} मुरलीधर कुर्सी पर बैठते हैं।

मुरलीधर : साहब कहाँ गये हैं...जानती हैं ?
दासी : मों का जानूँ बाबू ?
मुरलीधर : तुझे नहीं बताये ? आश्चर्य
दासी : काहे को ? साहब कहें पगली हो। मों नाहीं पूछती बाबू कहीला काहे के...टोपी वाले बाबू लोग खीझ उठते हैं। कहीं मार बैठें तो को गोहार लागी। {दोनों हाथों से सर खुजलाती है}
नेपथ्य में : {किरणमयी का स्वर} 'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो'
दासी : बाबू कहाँ से आवत हव...
नेपथ्य में : प्रीति करि...
मुरलीधर : चुप रहो।
नेपथ्य में : काहू सुख न लह्यो...
दासी : काहे बिगड़त हव बाबू ?
नेपथ्य में : प्रीति करि...
मुरलीधर : चुप रहती है कि नहीं...
दासी : देख बाबू, ई तोहार घर नाहीं हौ, बिगड़त काहे हव।

{खद्दर की साड़ी पहने किरणमयी का प्रवेश}

किरणमयी : क्या बोल रही है ? जा यहाँ से। {दासी जाना चाहती है}
मुरलीधर : वाह ! वाह ! आप खद्दर पहनती हैं ? इतना मोटा ?
दासी : नहीं बाबू, खद्दर-फद्दर काहे पहने...का कमी हौ...भगवान सब भरल-पूरल कइलें...हम जब सरकार के लिवा गइली त रेसम के सारी चमकत रहे...अबहिं के जाके खद्दर पहिन अइलिन हों।

{किरणमयी क्रोध से उसकी ओर देखती है। }

{दासी का प्रस्थान }

मुरलीधर : आप मेरे सन्तोष के लिए खद्दर पहन आयी हैं ? मैं यह जानता था।

किरणमयी : आ गये आप न उस पगली की बात में ? कब आये ?

मुरलीधर : अभी चला आ रहा हूँ। प्रेस नहीं गया... कि वहाँ फँस जाना पड़ेगा।

किरणमयी : बड़ी कृपा की आपने... क्यों न हो ? जिनके हृदय में दया... मैं तो इसके लिए अपने को धन्य समझती हूँ।

मुरलीधर : वाह ! वाह ! आप तो मेरी दिल्लगी उड़ा रही हैं।

किरणमयी : क्या कह रहे हैं ? आप लोग हम लोगों के दिल की बात नहीं जान पाते ? हम लोगों का खून जलता है, आप लोग समझते हैं रोशनी हो रही है। सचमुच पुरुष स्त्री के मन की बात जान नहीं सकते। बराबर धोखे में पड़े रहते हैं। हम लोग कह भी नहीं सकतीं।

मुरलीधर : कह डालिये, क्या हर्ज है। मैं उसे ध्यान से सुनूँगा।

किरणमयी : मैं तो जब डूबती रहूँगी तब भी आपको निकलने को नहीं कहूँगी... आप निकालना तो दूर रहा, पत्थर फेंका कर जल्दी डुबा देंगे। आप ही नहीं, कोई भी पुरुष नहीं निकालेगा... डुबा देगा।

मुरलीधर : आपको मेरा पता नहीं...

किरणमयी : मैं खूब जानती हूँ। आप उन लोगों में हैं जो कूएँ के मुँह तक निकाल कर फिर छोड़ देते हैं। आप ऐसे लोग... ओह ! कल्पना कर हृदय काँप उठता है।

मुरलीधर : मैंने आपको व्यर्थ कष्ट दिया।

किरणमयी : कष्ट दिया ? कष्ट किया। आप प्यासे मालूम हो रहे हैं, {मुरलीधर का हाथ पकड़ कर खींचते हुए }चलिये !

{मुरलीधर उठते हैं। किरणमयी अपने हाथ में उनका हाथ लेकर चलती है। दोनों का दूसरे कमरे में जाना। दासी का प्रवेश। उसका आश्चर्य की मुद्रा में इधर-उधर देखना। मेज से मुरलीधर की गाँधी टोपी उठा कर मेज के नीचे झुक कर वेस्ट-पेपर बास्केट में डालना। मेज से अखबार उठा कर उस पर रखदेना। शीशे के पास जाना। खूँटी से सितार उतारना। उसे पर्दे के बाहर निकालना। धीरे-धीरे तार छूना। कोई आहट पा चौंक कर सितार पर्दे में रखकर खूँटी पर टाँगना। उसका दूसरे कमरे के दरवाजे की ओर धीरे-धीरे जाना और उसमें झाँकना। बार-बार सिर पीछे की ओर खींचना और बार-बार आगे बढ़ाकर दूसरे कमरे में झाँकना। }

{दीनानाथ का प्रवेश }

दीनानाथ : क्या झाँक रही है रे , कुछ है ?

दासी : मो ना कहब बाबू।

दीनानाथ : {डाँटकर } कहती क्यों नहीं ?

दासी : ना बाबू... मो काहे कहों... मोसे का...

दीनानाथ : कहती क्यों नहीं, बेवकूफ, सूअर।

दासी : गाँधी बाबा का चेला आयल...

दीनानाथ : कहाँ ?

{दासी का दूसरे कमरे की ओर हाथ उठाना। दीनानाथ का उसकी ओर क्रोध से देखते हुए दूसरे कमरे में जाना। दासी का फिर इधर-उधर झाँक कर देखना। बार-बार सिर पीछे खींचना और बार-बार आगे बढ़ाकर देखना। }

{दीनानाथ का स्वर}

नेपथ्य में : 'आपको यहाँ नहीं आना चाहिये इस तरह जब मैं यहाँ न रहूँ।'

नेपथ्य में : {मुरलीधर का स्वर} अच्छी बात, नहीं आऊँगा।

नेपथ्य में : {दीनानाथ का स्वर} क्या कहा...जरूरत नहीं, फिर आये क्यों?

{दासी का भागकर कमरे के बाहर जाना} दीनानाथ, मुरलीधर और किरणमयी का प्रवेश।

दीनानाथ : {किरणमयी की ओर हाथ उठाकर} आपने इस पर जादू किया है। अभी दो घड़ी पहले रेशमी पहने थी, अब खद्दर पहने है। मैं नौकरी पेशा का आदमी हूँ। आपकी तरह मुझे पब्लिक मैन नहीं बनना है!

मुरलीधर : मैंने खद्दर पहनने को नहीं कहा।

दीनानाथ : {किरणमयी से} क्यों जी, सच कहती हो...इन्होंने तुम्हें खद्दर पहनने का उपदेश नहीं दिया?

किरणमयी : {क्रोध में} आज नहीं कहा। {मुरलीधर विस्मय से उसकी ओर देखते है}

दीनानाथ : कभी कहा था?

किरणमयी : हाँ! {मुरलीधर जाना चाहते हैं।}

दीनानाथ : ठहरिये साहब, सब पता लगा लूँ...कब कहा जी?

किरणमयी : {मुरलीधर से} आप पाँच मिनट बैठ जाइये। मैंने आपके साथ...इन्हें सन्देह हो रहा है...इनका सन्देह मिट जाय। हाँ, तो क्या पूछ रहे हैं आप? {मुरलीधर कुर्सी पर बैठते हैं}

दीनानाथ : होश ठिकाने कर सुनो और जवाब दो।

किरणमयी : कहो भी...

दीनानाथ : इन्होंने कब तुमसे खद्दर पहनने को कहा?

किरणमयी : बहुत दिन हुए। जिस दिन आपकी शादी का जलसा था और ये यहाँ निमंत्रित किए गये थे।

दीनानाथ : {सिर पर हाथ रखकर, कुर्सी पर बैठते हुए} तो मैंने जान बूझकर अपना नाश किया। (मुरलीधर से) आपके असिस्टेन्ट साहब का कालेज से रिस्टिकेशन हो गया। उन्होंने एक लड़की को प्रेम-पत्र लिखा था। आपके साथ रहने का नतीजा है। ले चलिये...सम्पादक बनाइये ...जेल जाने की तैयारी...

मुरलीधर : यह आपके साथ का फल है। गुरु की वासना ही शिष्य के भीतर वासना पैदा करती है। उसने यह सब देखा होगा। उसका मन भी...पर कोई बात नहीं। वह संसार में अपना स्थान बना लेगा। क्षमा कीजियेगा। आप जानते हैं, मैं एक नैतिक आदमी हूँ। {मुरलीधर का प्रस्थान}

दीनानाथ : तुम्हारा इधर सारा प्रेम बनावटी था। ओफ! तुमने खद्दर पहन लिया। उस बदमाश की तसल्ली के लिए!

किरणमयी : मैं बराबर खद्दर पहनूँगी।

दीनानाथ : अब तुम क्या खद्दर पहनने पाओगी?

किरणमयी : तुम्हें संतुष्ट नहीं कर सकी तो दुनिया में कोई भी संतुष्ट हो।

दीनानाथ : सारी दुनिया में तुम्हें यही मिला?

किरणमयी : सारी दुनिया में जैसे तुम मिले, वैसे ही...

दीनानाथ : मैं नहीं मिलता तो गयी होती किसी मजदूर के पास...तब सब यह शान...

किरणमयी : जो मजदूर बुड्ढा नहीं होता तो बिना किसी शान के सुखी रहती। जहाँ कुछ नहीं वहाँ शान भी तो रहे... जीने के लिए कुछ कारण होना चाहिये। मैं तो इसी शान के लिए जी रही हूँ। नहीं तो कब की मर गई होती।

दीनानाथ : मर जाओ। मुझे कोई परवाह नहीं।

किरणमयी : क्यों होगी...फिर शादी कर लेना...एक...दो...तीन...चार।

दीनानाथ : मालूम होता है मुझे तुम्हारे दिमाग की दवा करनी होगी।

किरणमयी : हाँ, अब बाकी क्या है ? मेरे लिए तुमने किसी बड़े आदमी को बदनाम किया।

दीनानाथ : वह बड़ा आदमी है जिसके पास खाने तक का ठिकाना नहीं।

किरणमयी : इसी लिए तो बड़ा आदमी है। चोरी और डाका डालकर मौज करने वाले को तो बड़ा आदमी नहीं कहा जाता। इतना समझ रखना तुमने झूठ-मूठ उन पर सन्देह कर रखा है।

दीनानाथ : इसमें सन्देह की कौन-सी बात है ? तुम्हारी तबीयत मेरे साथ नहीं लगती तो तुम कहीं भी किसी के साथ रह सकती हो।

किरणमयी : मेरी तबीयत तुम्हारे साथ कैसे लग सकेगी...तुम्हीं सोचो। मैं तुम्हें देखती हूँ तो पिताजी याद पड़ते हैं। अब एक बात है, मेरी तबीयत कहीं भी किसी जगह भी नहीं लग सकती। मैं तो बहुत जल्दी ऊब जाती हूँ। लेकिन कहीं कहना तो पड़ेगा इस लिए तुम्हारे साथ ही रहना ठीक है। समाज उँगली भी नहीं उठा सकेगा। हमारी और तुम्हारी इसी में भलाई है।

दीनानाथ : तुम इतना सोचती हो ? हूँ, मैं तो ऐसा नहीं समझता।

किरणमयी : मैं सोचती तो हूँ...लेकिन मैं जेलखाने में नहीं रह सकती। मैं तुम्हारा विश्वास करती हूँ...तुम मेरा विश्वास करो। तुम इधर-उधर मिस और मेमों से मिला करते हो। मुझे भी अपने मित्रों से मिलने दो। हम लोगों का नाता विश्वास के बल पर जितना टिक सकता है, उतना सन्देह और ईर्ष्या से नहीं। हम लोगों का नाता स्वाभाविक नहीं...बनावटी है। इसे बनावटी रूप में ही निभाना होगा।

दीनानाथ : विवाह का नाता स्वाभाविक नहीं है ?

किरणमयी : सब का स्वाभाविक नहीं होता। बेजोड़ चीजों का मिलना स्वाभाविक नहीं होता। मैं भी विधवा होती और मेरी अवस्था भी चालीस की होती, तो हम लोगों का विवाह स्वाभाविक होता।

दीनानाथ : यहाँ तक ? तुम अपना स्वाभाविक सम्बन्ध कहीं पैदा कर लो, मैं बड़ा प्रसन्न हूँगा।

किरणमयी : वह तो सामाजिक अपराध होगा।

दीनानाथ : तब।

किरणमयी : कुछ नहीं ! अब इसी में किसी तरह निभाना चाहिये। तुम भी समझदार बनो और मैं भी समझदार बनूँ। तुम मेरा विश्वास करो...मैं तुम्हारा विश्वास करूँ। हम दोनों मिलकर रहें। दोनों एक दूसरे के लिए त्याग करें ! दोनों एक दूसरे का ध्यान रखें। जहाँ तक सम्भव हो सके !

दीनानाथ : मैं तुम्हारा उपदेश न मानूँ ?

किरणमयी : तो मेरी भी बुराई है और तुम्हारी भी।

दीनानाथ : मेरी क्या बुराई है ?

किरणमयी : क्यों नहीं...लोग कहेंगे...प्रोफेसर साहब की स्त्री...

दीनानाथ : मैं कह दूँगा...मेरी स्त्री नहीं थी...

किरणमयी : हाँ, अगर आप समाज में इतने मूर्ख बनें। तब तो लोगों को और भी मसाला मिलेगा!

दीनानाथ : मैं तुम्हारी बकबक सुनना नहीं चाहता!

{दीनानाथ का प्रस्थान}

{दासी का प्रवेश}

किरणमयी : वे आये यहाँ तो तुमसे कुछ पूछने लगे ?

दासी : ना मो का जानो।

किरणमयी : {मुँह बनाकर} मो न जानो...नहीं तुमसे कुछ पूछते थे।

दासी : मो से का पूछें...मो तो कुछ नाहीं कह लों।

किरणमयी : देख बाहर हैं ?

दासी : होइहें न त जइहें कहाँ...

किरणमयी : तेरे घर। कहती हूँ जाकर देख आ। बात बना रही है।

{दासी का प्रस्थान। दीनानाथ का प्रवेश}

दीनानाथ : मैं कहीं गया नहीं हूँ...जाऊँगा कहाँ ? घर नहीं छोड़ सकता। तुम्हारे बिना मेरे जीवन का रास्ता नहीं रुक सकता। मनुष्य का हृदय निर्बल होता है...नहीं तो मैं तो तुम्हारी ओर देखता भी नहीं।

किरणमयी : पर मेरे जीवन का रास्ता तुम्हारे बिना बन्द हो सकता है। लखनऊ कब जाओगे ?

दीनानाथ : नहीं जाऊँगा। लाभ क्या ?

किरणमयी : मैं तुमसे फिर भी कह रही हूँ। तुम्हारा सन्देह व्यर्थ है। पछताओगे!

दीनानाथ : हूँ...जो व्यर्थ होता। तुमने उसी दिन उसकी खद्दर की रूमाल ले ली। मुझे सन्देह हुआ, लेकिन करता क्या ? विवश था।

किरणमयी : क्या बच्चों की तरह...

दीनानाथ : जो सचमुच बच्चा हो पाता। पर तुम तो मुझे बच्चा ही समझती हो।

किरणमयी : इसी लिए कि उसमें आशा है। मन बहलाती हूँ, क्या करूँ ?

दीनानाथ : साड़ी बदल आओ। मैं इस खादी-धर्म से घृणा करता हूँ।

किरणमयी : इस युग में कोई भी भला मनुष्य चाहे वह स्त्री हो या पुरुष खादी-धर्म से घृणा नहीं कर सकता। संसार इसकी उपयोगिता समझ रहा है। करोड़ों गरीबों की भूख इससे मिट सकती है। तुम्हारा देश स्वाधीन हो सकता है।

दीनानाथ : मुझे गरीबी की भूख और देश की स्वाधीनता की चिन्ता नहीं। जिन्हें और कुछ नहीं करना है, वे खादी-खादी करें। मेरे लिए बहुत काम हैं।

किरणमयी : इस युग में इससे बढ़कर दूसरा काम हो नहीं सकता!

दीनानाथ : उसने तुम्हारा दिमाग फेर दिया है, नहीं तो...

किरणमयी : मनुष्य को अपना ही स्वार्थ नहीं देखना चाहिये। उसमें सच्चा सुख भी नहीं मिलता। दूसरों की ओर भी देखो।

दीनानाथ : मैं किसी की ओर देखना नहीं चाहता। अपना जीवन पहाड़ हो रहा है!

किरणमयी : इसी लिए कि वह केवल अपना है। अपना जीवन का सुख दूसरों के जीवन में नहीं ले सकते। जो अपने लिए जीना पड़े तो वह जीना अच्छा नहीं। वह तो बोझ उठाना है। इसीलिए तुम इसे पहाड़ समझ रहे हो। शायद महात्मा गाँधी

जिन पर इतना दायित्व है, जिन पर इतने झंझट और बंधन हैं--अपने जीवन को पहाड़ नहीं समझते।

दीनानाथ : {बिगड़ कर } तुम अपना लेक्चर नहीं बन्द करोगी ?

किरणमयी : मुझे जिस चीज में विश्वास है...

दीनानाथ : चुप रहो...तुम्हें किसी चीज में विश्वास नहीं... न पुण्य में न पाप में, न धर्म न अधर्म में। कहीं नहीं, किसी चीज में नहीं।

{किरणमयी का क्षोभ से दीनानाथ की ओर देखना और दूसरे कमरे में जाना }

दीनानाथ : किरण ! किरण ! नहीं सुनाई पड़ता। मैं कहता हूँ, सुनो--

किरणमयी : {नेपथ्य में } मेरी तबीयत ठीक नहीं।

दीनानाथ : आना पड़ेगा। {किरणमयी का प्रवेश }

दीनानाथ : मैं तुम्हें खूब सझमता हूँ। आज नहीं, बहुत दिनों से। लेकिन मैं समझ रहा था जिस चीज की दवा नहीं, उसके लिए...तुम्हें एक काम करना होगा। तुम यहीं रहो...मेरे साथ, लेकिन मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं...सब कुछ भूल जाओ ! मैं भी भूल जाऊँगा। समझना किसी वेटिंगरूम में या होटल में दो आदमी ठहरे हैं...कभी-कभी मन बहलाने के लिए यों ही बातें कर लिया करते हैं...बस यही...इससे अधिक नहीं। अब मैं इस बात को बढ़ाना नहीं चाहता। रोज की चिब, रोज की परेशानी...मेरी तबीयत भी घबड़ा उठी है। तुमने ठीक कहा है। आओ हम तुम मित्र बनकर रहें...स्त्री पुरुष नहीं। मुझे बहुत पसंद है।

{किरण आश्चर्य से उसकी ओर देखती है } इस तरह सन्नाटे में आने की जरूरत नहीं है। तुम भी स्वतंत्र और मैं भी। हम दोनों एक दूसरे की बेड़ी काट दें।

{किरणमयी का पृथ्वी की ओर देखने लगना। दीनानाथ का उठ कर अपने दोनों हाथों से उसका मुँह ऊपर की ओर उठाना। दीनानाथ का ऊपर की ओर हाथ उठाना } ईश्वर जानता है, मुझे कोई खेल इस बात का नहीं है। तुम जिस बात में सुखी रहो...उसमें मैं भी सुखी हूँ। साहित्य को सदैव प्रेम करने वाली प्रेमिकाओं का जिसने आनन्द लिया है, कल्पना में उनका अनुभव...उसके लिए तुम कोई बड़ी बात नहीं। तुम्हें भी नइ कल्पना की प्रेमिका...उसके दिन कट जायेंगे। उसका स्पना बराबर सच्चा होगा।

{दीनानाथ का प्रस्थान }

{विश्वकान्त का प्रवेश। किरणमयी और विश्वकान्त का एक दूसरे की ओर देखना। विश्वकान्त का आँखें नीचे कर लेना किरणमयी का विश्वकान्त के समीप जाना। उसके कन्धे पर हाथ रखना। विश्वकान्त का फिर किरणमयी की ओर देखना, पर संकोच से नीचे की ओर देखने लगना। }

किरणमयी : {विश्वकान्त के कन्धे को धीरे से दबाकर } इधर देखो {विश्वकान्त उसकी ओर देखता है } मुरलीधर जी कुछ कहते थे ?

विश्वकान्त : कौन सज्जन...

किरणमयी : मुरलीधर जी। यहाँ से जाकर कुछ कहते थे। अभी यहाँ आये थे।

विश्वकान्त : आये हैं ?

किरणमयी : आप से भेंट नहीं हुई ?

{किरणमयी का प्रस्थान। विश्वकान्त का सन्देह और विस्मय की दृष्टि से उसकी ओर देखना। विश्वकान्त का कुर्सी पर बैठना। उसके पैर के धक्के से वेस्ट-पेपर से अखबार का हट जाना।

विश्वकान्त का झुक कर देखना। बासकेट से मुरलीधर की गाँधी टोपी उठाना। उसे उठाकर ध्यान से देखना। अपने कुरते की जेब में उसे रख लेना। थोड़ी देर अन्यमनस्क बैठकर विश्वकान्त का प्रस्थान।}

{किरणमयी का प्रवेश। किरण का शीशे के पास जाकर खड़ा होना। कई बार अपने मुँह पर हाथ फेरना। आलमारी खोल कर सेन्ट की शीशी निकालना। रूमाल पर सेन्ट डालना। आलमारी बन्द कर, दो बार नाक के पास ले जाकर रूमाल सर में बाँधना। खूँटी से सितार उतारना। फर्श पर बैठ कर पर्दे के भीतर से सितार निकालना। खूँटियाँ मरोड़ना। मिजराब लगाकर दो-तीन बार सितार पर हाथ फेरना। फिर सितार बजाना और गाना प्रारंभ करना। }

गीत

चेतो मेरे मन...चेतो रे।
जग यह झूठा रे मरू थल में,
मृगजल, जल न समुझि भटकत कत
माया मोह परे...।

{दासी का प्रवेश }

किरणमयी : कहाँ चली ?
दासी : गीत सुने।
किरणमयी : जा यहाँ से, गीत सुनने चली है।
दासी : हमार जीव नाही हौ ? सुने का मन न करे ?
किरणमयी : हाथ जोड़ती हूँ, इस समय चली जा।
दासी : अच्छा जात हई...मों आदमी नां हो...भला दुनिया में के केकर...आपन आपन...गीत न सुने।

{प्रस्थान }

चेतो मेरे मन चेतो रे...
जग यह झूठा...रे...

{सितार छाती पर रखकर लेटती है। पर्दा गिरता है }

{मुरलीधर का कमरा। दरवाजे के ठीक सामने महात्मा गाँधी का चित्र। लोकमान्य तिलक, देशबन्धुदास, लाला लाजपतराय, श्री मोतीलाल और अन्य कई नेताओं के चित्र। दो चौकियों पर खद्दर की सफेद चादर। इधर-उधर अखबार और पत्र। एक ओर दीवाल के किनारे एक आलमारी। }

{मुरलीधर और विश्वकान्त का प्रवेश }

मुरलीधर : इतनी हैरानी व्यर्थ हुई {दोनों आमने सामने चौकियों पर बैठते हैं }
विश्वकान्त : मैंने पहले ही कहा था।
मुरलीधर : लेकिन वहाँ जाने बिना भी तो नहीं बनता। नौकरशाही का न्याय और कानून...सब उसकी नीति की बात है। {चौकी पर लेटते हुए }तुम शायद समझ न पाओ नौकरशाही तजवीज लिखती है पहले, सबूत लेती है पीछे।
विश्वकान्त : अपील...तो हो सकती है।
मुरलीधर : नहीं जी, सरकार के खिलाफ...अपील करने से लाभ ? मेरी तो इच्छा थी कि एक बार यह अभिनय भी देख लिया जाय। पर देवधर को यह बात पसन्द नहीं पड़ी। वे कहते रहे नौकरशाही हम लोगों के साथ न्याय नहीं कर सकती। दो वर्ष के बाद फिर कालेज ज्वाइन करोगे ?

विश्वकान्त : अब क्या ?
मुरलीधर : क्यों कुछ करना तो होगा ?
विश्वकान्त : जो मन में आयेगा करूँगा, कोई जल्दी है ? {सिर हिलाता है }
मुरलीधर : पर तुमसे मुझे यह आशा न थी... तुम्हारा मन इतना...
विश्वकान्त : मन सबका यही होता है।
मुरलीधर : पत्र लिखते समय तुमने यह नहीं सोचा कि क्या कर रहे हो ?
विश्वकान्त : रीजन बराबर काम नहीं करता। और फिर पत्र लिखना... कोई बुरा शायद नहीं हुआ।
मुरलीधर : 'उसके पिता तुमसे शादी करने को कह रहे थे, तब तो तुमने स्वीकार नहीं किया। देश की धुन...
विश्वकान्त : अब भी वही धुन है। पत्र लिख देने से वह...
मुरलीधर : निर्बल मनवाले इस राह पर चल नहीं सकते।
विश्वकान्त : पर मेरा मन निर्बल नहीं है... मैंने उसे

{कोट की जेब से मुरलीधर की गाँधीटोपी निकाल कर चौकी पर रखते हुए } आप मेरे मन को अभी तक समझ नहीं पाये।

मुरलीधर : यह टोपी...
विश्वकान्त : आप ही की है। दीनानाथ जी के यहाँ पड़ी थी।
मुरलीधर : {सहमकर } कोई कुछ कहता था ?
विश्वकान्त : उनकी स्त्री पूछ रही थी, सम्पादक जी कुछ कहते थे ?
मुरलीधर : तुमने क्या कहा ?
विश्वकान्त : मेरी आप से भेंट नहीं हुई थी... आप पहले वहीं चले गये थे।

{मोती का प्रवेश। विश्वकान्त को एक पत्र देता है। विश्वकान्त का पत्र खोलकर पढ़ना। }

मुरलीधर : कहो जी, कैसे रहे ?
मोती : भले रहा बाबूजी।
मुरलीधर : तुम तो हम लोगों को भूल गये हो।
मोती : मैं नोकर हूँ... {कुछ सोचने लगता है }
विश्वकान्त : अब तुम्हें यह बात अखरने लगी। {कलम उठाकर पत्र का उत्तर लिखता है }
मोती : हाँ बाबू...।
विश्वकान्त : यह लो। {पत्र देता है }
मोती : चलेंगे नहीं ?
विश्वकान्त : सब जान कर क्या करोगे ? जाओ ? {मोती का प्रस्थान }
मुरलीधर : गये क्यों नहीं ?
विश्वकान्त : नहीं गया।
मुरलीधर : कहीं जाने में हर्ज नहीं... बस मन को वश में...

{विश्वकान्त का उठना। एक किताब उठाना और बाहर जाना }

मुरलीधर : कब तक आओगे ?
विश्वकान्त : {नेपथ्य में } शाम तक।

{मुरलीधर का उठना। आलमारी खोल कर एक किताब निकालना। चौकी पर लेटना और गाने के स्वर में पढ़ना }

सो चुका बहुत रे मूढ़, जाग; वीरों की कंठध्वनि आकर--
है जगा रही, सज वीर-वेश, उस महा भीम रण में जाकर,
आवाहन कर प्रलयंकर का, भीमा के आँगन में अंजलि,
भर भर शोणित से अर्घ्यदान दे विहँस अमरता-पथ पाकर।
जीवन क्या ? अरे कहाँ सुख दुख ? सर्वस्व गँवाकर क्यों अपना--
ममता की माया म भूला क्यों सत्य समझता हे सपना ?
बेड़ी सोने की ? तोड़ अरे ! जीवन का रत्न न जाने दे--
उठ विश्व हिला; उस महाराग को 'मैं हूँ अमर' सुनाने दे।
संचित निधियों की बलि देकर, कर्तव्य-मेरु पर चढ़ता जा--
अब कहा मान संध्या आयी रे ! अलख पुरी में बढ़ता जा।
फिर अर्द्धनिशा के अन्धकार में आज फूँक, उर की ज्वाला,
साधक चल पड़ें, प्रकाशित हो जग, हँसे रुद्र की नर-माला।

{किरणमयी का प्रवेश}

किरणमयी : जैसे आज ताण्डव की तैयारी हो रही है।

मुरलीधर : {उठकर बैठते हुए} शहर आई थीं ?

किरणमयी : नहीं, वहीं से आ रही हूँ।

मुरलीधर : प्रोफेसर साहब...

किरणमयी : बाहर गये हैं। आपके चले जाने पर मुझे बड़ा दुःख हुआ।

मुरलीधर : जीवन की ऐसी छोटी-छोटी बातों का विचार किया जाय तो...

किरणमयी : मुझे सचमुच बड़ा रंज मालूम हुआ। मेरे लिए...

मुरलीधर : नहीं तो। रंज होने की कोई बात नहीं। भूल जाइये।

किरणमयी : मेरे लिए भूल जाना उतना आसान नहीं है।

मुरलीधर : जिस आदमी को अट्ठारह घंटा काम करना पड़ता है...

किरणमयी : विश्वकान्त भी तो है।

मुरलीधर : अभी तो वह बच्चा है। चाँद की ओर देखने लगता है तो घंटों बीत जाते हैं...

किरणमयी : कालेज भी छूटा...और यहाँ भी किसी काम के नहीं।

मुरलीधर : नहीं, ऐसी बात नहीं। वह जिस दिन चाहेगा...कुछ कर बैठेगा। उसके भीतर शक्ति है। इधर मेरे न रहने पर उसने कई टिप्पणियाँ लिखी हैं। कहीं उसी के लिए मुझे जेल न जाना पड़े।

किरणमयी : तब तो बड़ा गड़बड़...

मुरलीधर : हम लोग जब सम्पादक की मेज पर बैठकर ईमानदारी से कलम उठाते हैं तभी यह फल सोच लेते हैं।

किरणमयी : मैं क्षमा माँगने आई थी...मेरे कारण...

मुरलीधर : फिर वही बात। कहाँ मुझे गोली लगी...आप क्षमा माँगने आयी हैं।

किरणमयी : अब मैं आप से मिल न सकूँगी।

मुरलीधर : कोई बात नहीं...काम ही क्या है ?

किरणमयी : आप मेरी बिलकुल परवाह नहीं करते।

मुरलीधर : मुझसे जो कुछ हो कहिये। भरसक मैं...

{किरणमयी नीचे धरती की ओर देखने लगती है। मुरलीधर उसकी ओर देखकर मुस्कराते हैं।}

मुरलीधर : मुझे आपका मतलब कुछ भी समझ में नहीं आता।
किरणमयी : एक ओर मारना हो और दूसरी ओर आप से न मिलना...
मुरलीधर : यही तो मेरी समझ में नहीं आता...

{किरणमयी मुरलीधर की ओर देखती है-उसकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं। मुरलीधर हथेली पर ठुड्ढी रखकर उसकी ओर देखते हैं। }

मुरलीधर : मेरी तपस्या भंग करोगी ?

{किरणमयी दोनों हाथों में मुँह छिपा लेती है }

{मुरलीधर का उठना। उसके सिर पर हाथ रखकर उसे हिला देना }

मुरलीधर : मेरी रक्षा करो। प्रेम स्वर्ग है। उसमें वासना नहीं होती।
किरणमयी : मैंने तो स्वर्ग नहीं पाया।
मुरलीधर : स्वर्ग बनाया जाता है...किसी को मिलता नहीं।
किरणमयी : मैं स्वर्ग नहीं चाहती।
मुरलीधर : तब क्या चाहती हो ? सोचो...समझो। जीवन की बड़ाई जीत लेने में है...हार जाने में नहीं।
किरणमयी : लेकिन हम लोग तो हार रहे हैं...समाज की सूखी रूढ़ियों से।
मुरलीधर : हम लोग जीत रहें हैं वासना, मोह, वह सब जो हमारे जीवन को बुराई की ओर ले चलता है। समाज की सूखी रूढ़ियाँ समाज के हजारों वर्षों के अनुभव पर बनी हैं...
किरणमयी : तुमने मेरा नाश...तुम इसे खूब जानते हो। याद है, हम लोगों की पहली भेंट...?
मुरलीधर : जिस दिन प्रोफेसर साहब के यहाँ जल्सा था, तुम लोगों के विवाह के उपलक्ष्य में ?
किरणमयी : इधर तो देखो {दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं } सच कह रहे हो ? ओह ! अब भी धोखा। फिर सुनो...यह सब झूठ है। मैं सब जानती हूँ। मैं तुम्हें फाँसी...आज से चार वर्ष पहले तुमने खून किया था, याद है ? तुम वहाँ से भागे। वेश बदले, नाम भी बदल डाले और अब तुमने घर-बार, माँ-बाप सब कुछ बदल दिया। तुम्हारी दो चिट्ठियाँ चोरी कर मैंने इधर की सब बातें मालूम कीं। तुम समझते हो मैं तुम्हें भूल गई ? हम लोगों का पहला प्रम.. तुम क्या जानो क्या चीज है।

{मुरलीधर नीचे की ओर मुँह कर पेट के बल चौकी पर लेटे रहते हैं। किरणमयी का उठना। दरवाजा बन्द करना। मुरली के सिरहाने बैठकर उनका सिर उठाकर अपनी गोद में रखना। मुरलीधर का जल्दी से उठ कर खड़ा होना। }

मुरलीधर : तुम समझती हो...मैं डर कर आत्म-समर्पण कर दूँगा ?
किरणमयी : आत्म-समर्पण तो तुमने आज से पाँच वर्ष पहले किया था यहाँ आने से तुम समझते होगे कैसी मूर्ख स्त्री है। मैं समझती थी यहाँ आने का मेरा अधिकार...कोई रोक नहीं सकता, चाहे वह धर्म हो या सदाचार। तुम्हें देखकर मेरी हालत जो तब...वही अब भी...

{मुरलीधर का चौकी पर बैठना किरणमयी का उनकी गोद में अपना सिर डालना। मुरलीधर का उसके बालों पर धीरे-धीरे हाथ फेरा }

{दरवाजे पर धक्का }

नेपथ्य में : खोलिये।

{मुरलीधर का दरवाजा खोलना। विश्वकान्त का प्रवेश। किरणमयी का उठकर खड़ा होना। विश्वकान्त का संकोच और लौट पड़ना}

मुरलीधर : विश्वकान्त...
विश्वकान्त : जी हाँ।
मुरलीधर : सुनो...
विश्वकान्त : अभी आता हूँ।
मुरलीधर : देखो, बच्चा है या नहीं? लज्जित हो गया। तुम्हारा यहाँ रहना।
किरणमयी : मैं तो...चलूँ...निराश...
मुरलीधर : आशा आत्मा का धन है। धरती का नहीं... उसे अपने भीतर ...रखो...अपनी आत्मा में रखो।
किरणमयी : आज पाँच वर्ष हो गये...इस तरह मेरी अवहेलना...
मुरलीधर : तुम्हारी अवहेलना?
किरणमयी : नहीं तो और क्या?
मुरलीधर : इस हृदय से पूछो। {छाती पर हाथ रखकर} तुम समझती नहीं हो। तुम जीवन को तमाशा...वास्तव में यह रास्ता बीहड़ है। जीवन तपस्या की वस्तु है।

{किरणमयी का उठना, मुरलीधर का हाथ पकड़ना।}

मुरलीधर : रंज हो गयी।
किरणमयी : नहीं तो क्या लाभ?
मुरलीधर : लाभ कहीं भी नहीं है। इस आँधी को रोको...उसमें उड़ न जाओ!

{विश्वकान्त का प्रवेश}

विश्वकान्त : कोई आया है।
मुरलीधर : कौन?
विश्वकान्त : कहता है, उसे आप से मिलना है...आपका मित्र है।
मुरलीधर : बुलाओ यहीं।

{विश्वकान्त का प्रस्थान}

मुरलीधर : यहीं रहोगी...उस कमरे में चली जाओ। पता नहीं कौन...

{किरण का प्रस्थान}

{विश्वकान्त के साथ किसी दूसरे आदमी का प्रवेश। उस आदमी का वेश--अंग्रेजी कोट, पतलून, टाई, नाइट कैप, अधेड़, गोरा, क्लीनशेव्ड। देखने से मालूम होता है ऊपरी ठाट-बाट, संस्कार की कमी}

मुरलीधर : आइये, किसे चाहते हैं?
आगन्तुक : मिस्टर मुरलीधर...कब तक आयेंगे?
मुरलीधर : आप उनसे परिचित हैं।
आगन्तुक : हाँ, वे मेरे मित्र हैं, हम लोग लड़कपन से...

{सब बैठते}

मुरलीधर : आप आ कहाँ से रहे हैं?
आगन्तुक : इस समय मैं कलकत्ते से आ रहा हूँ।

{मुरलीधर विश्वकान्त के कान में कुछ कहते हैं। विश्वकान्त का प्रस्थान }

{विश्वकान्त और मोती का प्रवेश। मुरलीधर का प्रस्थान }

{मोती आगे बढ़कर उस अपरचिति आदमी के कन्धे पर हाथ रख कर जोर से हँसने लगता है }

मोती : कहो, कहाँ भूल पड़े ?

आगन्तुक : {बिगड़ कर } कौन हो जी तुम ? तुम्हें बात करने और...

मोती : वाह, वाह! तुम मेरे दोस्त हो। बहुत पुराने लड़कपन के जब तुम घोड़ा बनते थे और मैं तुम्हारी पीठ कर चढ़कर कोड़ा लगाता था।

आगन्तुक : सम्हाल कर नहीं बोलते ?

मोती : वाह! झूठ कहता हूँ। दोस्त! याद नहीं है ? {अपनी जाँघ खोल कर }देखो तुम्हारे ऊपर चढ़ने का निशान अब भी है।

आगन्तुक : {घूँसा तान कर } जानते नहीं मैं कौन हूँ ?

मोती : जानता हूँ... मेरे दोस्त... यहाँ के मैजिस्ट्रेट...

आगन्तुक : मैजिस्ट्रेट का बाप हूँ, सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर हूँ। आया होश ठिकाने ?

मोती : बाप रे बाप! बम पुलिस का दारोगा ? कितनी तनख्वाह है यार ? तब तो तुम्हारे यहाँ चलकर मौज उड़ाना चाहिये। क्या करोगे सब रुपया। दोस्तों का हक {वह आदमी क्रोध से दाँत पीसता है। मुरलीधर का प्रवेश }.

मुरलीधर : {आगे बढ़कर मोती को हटाते हुए }रंज न होइये, आजकल ये बड़े दिल्लगीबाज हो गये हैं। दोस्त लोग तो इनसे हैरान रहते हैं।

{क्रोध से देखते हुए सी० आई० डी० इन्सपेक्टर का प्रस्थान। मोती और विश्वकान्तका प्रस्थान। किरणमयी का प्रवेश }

मुरलीधर : अभी एक खुफिया पुलीस आया था। मैं आज या कल पकड़ा जाऊँगा।

किरणमयी : तब ?

मुरलीधर : तब यही कि मेरी सभी बातें तुम जानती हो। तबियत चाहे तो खोल देना। मुझे जीवन से छुट्टी मिल जायगी।

किरणमयी : मैं तुम्हारा प्राण लूँगी ? जिसे आज पाँच वर्ष से अपने हृदय में... तुम यहाँ आये क्यों और आये तो मुझे देखने ही क्यों गये ?

मुरलीधर : मैं रोक नहीं सका। मन से विवश था।

{किरणमयी मुरलीधर के समीप जाकर उनकी ओर देखने लगती है। मुरलीधर उसके कन्धे को हिलाकर हँस पड़ते हैं }

मुरलीधर : हाँ, हाँ, रोने लगी। {विश्वकान्त का तेजी से प्रवेश } किरणमयी एक ओर हट कर खड़ी होती है।

विश्वकान्त : पुलिस आ गयी {मोती का प्रवेश }

{नेपथ्य में मोटरों की ध्वनि होती है। मकान में कई आदमियों के चलने की आहट, पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट, सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर और छः सिपाही हथियार बन्द। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आगे बढ़ता है--सी० आई० डी० मोती की ओर उँगली उठाता है }

पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट : {वारण्ट का कागज मोती के हाथ में बढ़ाते हुए } आपके खिलाफ गिरफ्तारी का वारण्ट...

मोती : किस लिए हुजूर ?

पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट : आपने ८ ता० का एडीटोरियल 'नौकरशाही और भावी क्रान्ति' लिखकर सम्राट के विरुद्ध षडयंत्र करने की अपील की है।

मुरलीधर : मुझे पकड़िये सम्पादक मैं हूँ।

सी० आई० डी० : क्यों झूठ बोलते हैं आप?

विश्वकान्त : वह एडीटोरियल मेरा लिखा है। मुझे गिरफ्तार होना चाहिये।

पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट : मुझे मिस्टर मुरलीधर की जरूरत है।

मोती : हम तीनों को गिरफ्तार कीजिये...जेल में निपटारा होगा।

पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट : आप लोगों ने तमाशा बना रखा है।

मुरलीधर : कोई बात नहीं। आप जिसे मुरलीधर समझें गिरफ्तार करें।

{मोती का आगे बढ़कर हाथ बढ़ाना}

मुरलीधर : क्या करते हो मोती? आखिर मुझे गिरफ्तार होना पड़ेगा तो तुम कुछ देर हिरासत में क्यों रहोगे?

पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट : {सी० आई० डी० को डाँटकर} क्यों जनाब किसे गिरफ्तार करूँ। आप मुलजिम को पहचानेते भी नहीं।

{सी० आई० डी० इधर-उधर भौंचका होकर ताकता है}

{किरणमयी का आगे बढ़ना। मुरलीधर का हाथ पकड़ कर उसके कान में कुछ कहना। सब का उन दोनों की ओर देखना। विस्मय का वातावरण}

पर्दा गिरता है।

तीसरा अंक

{होटल का एक कमरा। दुमंजिले पर, सड़क की ओर। दोपहर। तेज धूप। कमरे के बाहर वरामदे में पौधों का गमला। पास ही मौलसिरी का पेड़। उस पर रह-रहकर कोयल का बोल उठना।}

{पसीने से भीगे विश्वकान्त और अहमद का प्रवेश}

{कोयल का बोलना, लगातार कू कू कू। विश्वकान्त का बरामदे की रेलिंग पकड़ कर मौलसिरी के पेड़ की ओर देखने लगना। बहुत तन्मय होकर आँखों को बन्द कर लेना। अहमद का उसके समीप जाकर उसकी खुली पीठ कर हाथ रखना। विश्वकान्त का उसकी ओर घूम कर देखना। कोयल का बोलना और ऊँचा हो उठता है।}

विश्वकान्त : देखो कोयल बोल रही है। कितना...

अहमद : खाने चलोगे या यहीं कमरे में भिजवा दूँ।

विश्वकान्त : तुम भीतर चलो...थोड़ी देर में...मालूम होता है जैसे हृदय...

अहमद : कविता करने लगे {विश्वकान्त का हाथ से आँखें दबा कर रेलिंग के सहारे झुक कर खड़ा होना। कोयल का उसी तरह बराबर बोलते ही जाना} अभी धूप से आ रहे हो--जरा ठंढा हो लो {विश्वकान्त के सिर पर हाथ रखना}

विश्वकान्त : {उसी स्थिति में} थोड़ी देर...बड़ा अच्छा मालूम हो रहा है।

अहमद : अभी बड़ा काम करना है।

विश्वकान्त : यह भी एक काम हैं। तुम जाओ यहाँ से, मैं तो कविता।

अहमद : तब किसी जंगल में चले जाओ। एशियाई संघ में और कोयल की बोली सुनने में बड़ा फर्क है। भावुकता और राजनीति साथ-साथ नहीं चल सकती। {विश्वकान्त का हाथ पकड़ कर} चलो भीतर।

विश्वकान्त : {चलता हुआ} तुम तंग करते हो। एक ही काम हर समय नहीं होता। हृदय और आत्मा को भी भोजन मिलना चाहिये।

{एक नौजवान अफगानी का प्रवेश}

{विश्वकान्त को झुक कर सलाम करता है...फिर दोनों हाथ मिलाते हैं}

अफगानी : आप शाम को हम लोगों की जमायत में बोल सकेंगे? {सड़क की ओर हाथ उठा कर} देखिये, इतने आदमी आप से कहने के लिए आये हैं।

विश्वकान्त : कल आप लोग नहीं थे? जो कुछ कहना था कल...

अफगानी : हम लोगों ने समझा था, और सभी बोलने वालों की तरह आप भी कुछ कह देंगे। पता नहीं था...आप उस बात पर बोलेंगे जिसके साथ सारे एशिया का नसीब है। आपने दो सौ मेम्बरों की अपील की है। एक हजार मेम्बर आज बात की बात में हो जायेंगे। पाँच सौ मेम्बरों की लिस्ट यह है। {हाथ में लिस्ट देता है-- विश्वकान्त लिस्ट के पन्ने उलटने लगता है}आपने दो मेम्बर ऐसे माँगे थे जो अपनी सारी जिन्दगी एशियाई संघ में लगा दें। हम लोग पाँच तैयार हैं। अहमद तो पहले से ही था...पाँच और।

विश्वकान्त : यह सब आप लोगों की मेहरबानी...

अफगानी : क्या यह बात हम लोगों को नहीं सूझती थी कि गोरी कौमें...उनमें भी अंग्रेज, इन्होंने किसके साथ इन्साफ किया? अफगानिस्तान के साथ या टर्की के साथ? फारस के साथ या चीन के साथ? इसी खुशनुमा काबुल में इन

कसाइयों ने तीन-तीन बार खून की नदियाँ बहायीं...हम पर हुकूमत करने के लिए...हमारी आजादी छीनने के लिए, ओफ...इनके साथ...

विश्वकान्त : आप इतने जल्द गर्म हो जाते हैं। दूसरों ने जो बुराई की है जिसके लिए आप उन्हें जालिम कहते हैं...वही बुराई आप को नहीं करनी चाहिये। एशियाई संघ गोरों से बदला नहीं लेगा अपना बचाव करेगा। अपनी सभ्यता बनाएगा, जो इस गोरी सभ्यता की खुदगर्जी और बेइमानी पर नहीं दुनिया की भलाई पर टिकी रहेगी। गोरी जातियों ने बाहरी ठाट-बाट पैदा की है, लेकिन उनकी रूह अब भी जंगली है। भलाई उन्हें नहीं आती। यूरप को जो कुछ करना था कर चुका; अब एशिया की बारी है। यूरप ने इन्सानियत की छाती में जितने घाव किये हैं उन सब के लिए एशिया को मरहम बनाना पड़ेगा। एशिया मजहबों की माँ है...सभ्यता की माँ है। दुनिया को इसी ने शाइस्ता बनाया था। अगर यह अपने बीते दिन को याद करे तो यह एक बार फिर दुनिया को शाइस्ता बना सकती है।

{चार और अफगानियों का प्रवेश, साधारण शिष्टाचार, तसलीम, बंदगी। }

एक नौजवान : क्या बात है जी, मंजूर हुआ या...

पहला अफगानी : हाँ, होगा क्यों नहीं...जिसने घर-बार, कौम और मुल्क सब छोड़ कर यह रास्ता लिया है वह दिलेर है, उसकी जिन्दगी...

सब : जरूर है, नहीं तो...

एक : फिर कब ?

पहला : अभी ठीक नहीं हुआ {विश्वकान्तकी ओर देखता है }

विश्वकान्त : आप लोग जब मुनासिब समझें।

पहला : आप की तबीयत तो ठीक है न ?

सब : यह भी जान लेना चाहिये, शायद कल की परेशानी...

{उन सब का विश्वकान्त की ओर देखना }

विश्वकान्त : तबीयत खराब होने का सवाल नहीं उठ सकता। मैं आखिरी दम इसकी कोशिश...

सब अफगानी : हम लोगों को भी यही उम्मीद है।

{अहमद का प्रवेश }

पहला : हम लोग कितनी देर से आपकी राह देख रहे हैं और आप...

एक नौजवान : नहीं जानते ? यह आशिकों को कैद कर हज्ज करने जाया करते हैं।

अहमद : हूँ, तो आप मेरे आशिक हैं...रंग लगाकर शहीद बनने...

वही नौजवान : इधर आओ, तुम्हें कलेजे का खून दिखलाऊँ।

सब : {हँस पड़ते हैं } हाँ, जरूर, माशूकों को जल्दी एतबार नहीं होता।

अहमद : आप लोग यह भी नहीं सझमते दोपहर है...भले आदमी के खाने, पीने, आराम करने का वक्त है। अपने किसी गैर मुल्क के मेहमान को...

दो नौजवान : क्यों साहब, आपको असलियत में तकलीफ हुई ?

विश्वकान्त : मैं इसे अपनी खुशनसीबी समझता हूँ।

एक अफगानी : हम लोग तो आप को गैर मुल्क का नहीं समझते। इसलिए कि हम सब एक ही कश्ती में हैं...इसलिए एक हैं...एक मुल्क के हैं...सारा एशिया किसी दिन एक होगा, क्यों साहब ?

विश्वकान्त : मुझे इसका पूरा यकीन है और इसीलिए...यहाँ...

एक अफगानो : यह तो ठीक ही है। आप इसीलिए यहाँ आये हैं। अहमद, इनके लिए जितना ख्याल रखते हो उससे कम हम लोग...

विश्वकान्त : आप क्या कह रहे हैं। मुझे आप लोगों की मेहरबानी का पूरा...

{अहमद एक नौजवान अफगानी की बॉह पकड़ कर इशारा करता है। दोनों कई कदम आगे बढ़ते हैं--अहमद उसके कान में कुछ कहता है}

वह नौजवान : हम लोगों को चलना चाहिये। आप तब तक आराम...

{अहमद और विश्वकान्त को छोड़कर औरों का प्रस्थान}

विश्वकान्त : तुम्हारे यहाँ के लोग बड़े सीधे हैं। सभ्यता की बुराइयाँ...बनावटी बातें, बनावटी जिन्दगी, बनावटी व्यवहार...नहीं। बेचारे जो समझते हैं...जो चाहते हैं कह देते हैं।

अहमद : मौके बे मौके दोपहर को और आधी रात को...जब नहीं तब।

विश्वकान्त : दिल साफ होना चाहिये...कब क्या करना चाहिये इसकी जानकारी होती रहेगी। डाक नहीं आयी।

अहमद : अभी तक नहीं आयी थी...चपरासी ले आयेगा।

{विश्वकान्त और अहमद का प्रस्थान}

{सड़क पर बातें करते कई अफगानियों का प्रवेश}

पहला : इसमें संदेह नहीं...जर्मनी की लड़ाई नहीं होती तो, हम लोगों का बड़ा नुकसान होता। एशिया भी अफ्रीका की तरह गोरी जातियों में बँट गया होता। हम लोगों की खुशनसीबी थी। ईसा के कुत्ते आपस में लड़ गये।

दूसरा : कल के जमावड़े में विश्वकान्त ने यह कहा था।

पहला : मैं इसे अपनी चीज नहीं कहता।

दूसरा : विश्वकान्त ने कल कहा था, एशिया के नौजवानो... जागो, उठ खड़े हो...दुश्मन तुम्हारे घर में आ गये हैं। उन्हें निकाल बाहर करो। सचमुच हम लोग चुपचाप सब देख रहे हैं, अगर हम चाहें... {अहमद का प्रवेश}

अहमद : चाहते क्यों नहीं ? अब कब चाहोगे ? तुम्हारा सोने का अफगानिस्तान, तुम्हारा सोने का एशिया। ईसा के भेड़िया हमको आदमी नहीं समझते हैं हम काले हैं, रंगीन हैं, हम शाइस्ता नहीं हैं। दुनिया के लिए हम कोई अच्छी चीज दे नहीं सकते। हम जंगली हैं, लुटेरे हैं। इनके सिनेमा और नाटकों में यह गन्दी और झूठी तसवीर निकाली जाती है। इनके भाई-बन्द हम पर हँसते हैं, हमारी दिल्लगी उड़ाते हैं, हम से नफरत करते हैं। हम लोग चुपचाप देखते रहेंगे ?

{एक ओर ध्यान से देखकर} जैसे कोई हिन्दुस्तानी मालूम होता है।

{एक ओर हाथ उठाता है}

कई अफगानी : मालूम तो हो रहा है।

अहमद : देखूँ कौन ? {प्रस्थान}

{बातें करते हुए सब अफगानी दूसरी ओर निकल जाते हैं}

{विश्वकान्त कमरे में जाकर कुर्सी पर बैठता है और एशियाई संघ के सदस्यों की सूची देखने लगता है। चपरासी आकर मेज पर अखबार और चिट्ठियों का पुलिन्दा रखता है}

विश्वकान्त : इतनी देर...

चपरासी : हुजूर देर से...

विश्वकान्त : अच्छा जाओ। {चपरासी का प्रस्थान}

{विश्वकान्त का जल्दी-जल्दी पत्र देखने लगना। एक लिफाफा उठाना--खोलना--पढ़ना--घबड़ा कर उठना--कमरे में इधर-उधर विक्षिप्त हो टहलना--बार-बार पत्र देखना। कुर्सी पर बैठना। मेज पर सिर रख दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लेना। }

{नसीर का प्रवेश। नसीर का कमरे में झाँक कर देखना। विश्वकान्त को उस हालत में देख होंठ पर उँगली रखना, आश्चर्य्य और सन्देह की दृष्टि से। विश्वकान्त का सिर उठाना। पत्र उठाते नसीर पर नजर पड़ना}

विश्वकान्त : क्या है ?

नसीर : आप से मिलना...

विश्वकान्त : मुझे इस वक्त छुट्टी नहीं।

नसीर : मैं आपके साथ रहकर आपके काम में हाथ बटाना चाहता हूँ।

विश्वकान्त : मुझे साथी की जरूरत नहीं आप तकलीफ न करें।

{नसीर का कातर दृष्टि से उसकी ओर देखने लगना। }

विश्वकान्त : इस वक्त मुझे छुट्टी नहीं, आप मेहरबानी कर यहाँ से--

{नसीर का प्रस्थान}

{विश्वकान्त का उठना। चारपाई पर जाकर लेटना। तकिया उठाकर सिर पर रखना। तकिये के नीचे उसके सिर का छिप जाना। अहमद का प्रवेश। अहमद का ध्यान से विश्वकान्त की ओर देखना। मेज के नजदीक जाकर खड़ा होना--खुला हुआ पत्र उठाना। उसे देखना--थोड़ी देर तक...बड़ी शीघ्रता से...। अहमद की मुद्रा बदलना। विस्मय और चिन्ता। विश्वकान्त का करवट बदलना। अहमद का जल्दी से पत्र मेज पर रख देना। विश्वकान्त की बेचैनी। अहमद की ओर देखना}

अहमद : क्या कह दिया उस लड़के को--रोता है।

विश्वकान्त : कौन लड़का ?

अहमद : यहाँ तुमसे मिलने या कुछ कहने एक लड़का नहीं आया था ?

विश्वकान्त : आया तो था...कहने लगा आपकी सहायता करूँगा। मेरी सहायता जैसे आसान हो रही है। पंद्रह वर्ष का लड़का--

अहमद : पंद्रह वर्ष का लड़का! क्या कर सकता है, कहा नहीं जा सकता। पन्द्रह वर्ष के लड़के अकबर की तरह...बेचारा तभी से रो रहा है।

विश्वकान्त : रो क्यों रहा है ?

अहमद : तुमने कह दिया मुझे आपकी जरूरत नहीं। मेहरबानी कर आप यहाँ से...दूसरे।

विश्वकान्त : इस वक्त मेरी तबीयत भी अच्छी नहीं है। मैं भी...

अहमद : तुम भी क्या...तुम भी रो रहे हो! {विश्वकान्त की ओर देखकर} बेचैन तो देख पड़ते हो। कोई खत आया है ?

विश्वकान्त : देखो उस पर एक खत है--

अहमद : किसका खत है ? कोई नई बात ? मुझसे कहने लायक है या नहीं ?

विश्वकान्त : मैं कुछ छिपाना नहीं चाहता, यह तो शायद पाप है। पढ़ो उस खत में क्या लिखा है ?

अहमद : {पत्र को मेज पर रख कर} मैं नहीं पढ़ सकता। यह कोई उसूल।

विश्वकान्त : बात-बात में तुम्हारा उसूल चल नहीं सकता। हर बात में उसूल। जिन्दगी में कोई उसूल नहीं। तुम्हें मुहब्बत करनी होगी तो सिर्फ मेरे उसूल या मेरी कारवाइयों से नहीं...मेरी जिन्दगी से...उसमें जो अच्छा या बुरा है सब से। पढ़ो वह खत...तुम्हें पढ़ना पड़ेगा। इसलिये कि उससे तुम्हें बहुत कुछ मेरी सचाई मालूम होगी।

{अहमद का कुछ देर चुपचाप जमीन की ओर देखते रहना--फिर विश्वकान्त की ओर देखना।}

विश्वकान्त : क्या सोच रहे हो? सचाई जो कुछ है, वह जिन्दगी के साथ लगी हुई है। उसे देखना चाहिये, समझना चाहिये। उसकी ओर से आँखें बन्द करना जिन्दगी की ओर से आँखें बन्द करना है।

{अहमद का पत्र उठाना और उसे देखने लगना}

विश्वकान्त : जोर से पढ़ो, मैं भी सुनूँ।

{नसीर का प्रवेश}

अहमद : तुम अभी घर नहीं गये। जाओ शाम को मिलना।

{नसीर जाना चाहता है}

विश्वकान्त : नसीर इधर सुनो।

{नसीर का उसकी चारपाई के पास आना। विश्वकान्त का उसका हाथ पकड़ कर उसी चारपाई पर बैठना}।

विश्वकान्त : तुम रोने लगे थे? मेरे साथ जिसे रहना होगा उसे अपनी आँखों का आँसू सुखा देना होगा?

{नसीर का प्रस्थान}

अहमद : {पत्र पढ़ना}

प्रिय विश्व! अपना पता देकर तुमने बड़ी कृपा की। बड़े संकट में पड़ गयी हूँ। फाल्गुन सुदी पंचमी मेरे विवाह की तिथि है। मैं विवाह करूँगी? नहीं। तो कैसे? कोई रास्ता दिखा सकोगे?

तुम्हारी मालती।

विश्वकान्त : हूँ, पंचमी (दीवाल पर लगे कलेन्डर की ओर देखकर) छब्बीस दिन।

अहमद : मालती कौन?

विश्वकान्त : {मुस्करा कर} मेरे साथ कालेज में पढ़ती थी... और कोई रिश्ता नहीं।

अहमद : {गंभीर होकर} यही रिश्ता क्या कम है?

विश्वकान्त : {धीरे से} कम कैसे कहूँ अहमद। यह लड़की मुझसे प्रेम करती है। ईश्वर ने बचाते...अब तक तो बचा लिया। इसकी शादी हो जायगी। मेरे दिल का बोझ हलका हो जायेगा।

{स्वर भारी हो उठता है}

अहमद : अब समझा...तो तुम पर मुहब्बत की चोट भी पहुँची है। इसीलिये इस जवानी के आलम में तुम शहीद बने हो।

विश्वकान्त : {छत की ओर देखते हुए} अहमद!

अहमद : कहो।

{विश्वकान्त चुपचाप छत की ओर देखता रहता है }

अहमद : { सहानुभूति से देखकर } क्या कहते हो ?

विश्वकान्त : तुम...से...

अहमद : हाँ मुझी...अगर

विश्वकान्त : इस खत का जवाब तो लिख दो।

अहमद : जवाब लिख दूँ ? मैं ? क्यों ?

विश्वकान्त : मैं बोले देता हूँ।

अहमद : {मुस्करा कर } नहीं, तुम खुद लिखो...यह सौदा महँगा है।

विश्वकान्त : {बेचैनी से } जो बोलता हूँ लिख दो...मैं फिर सही कर दूँगा। लिखने बैठने पर पता नहीं क्या लिख जाऊँ।

{अहमद का कुर्सी पर बैठना। मेज पर अपने सामने कागज और कलम रखना }

अहमद : {विश्वकान्त की ओर घूम कर } बोलो।

विश्वकान्त : लिखो

प्रिय मालती,

तुम्हारे विवाह के समाचार से प्रसन्नता हुई। 'नहीं' और 'हाँ' से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। समाज की रूढ़ि तुम्हें माननी पड़ेगी। इसी में तुम्हारी भलाई है। विवाह के समय प्रसन्न रहना। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे। मैं बाहर जा रहा हूँ। इस पते से पत्र न लिखना। पहुँचने पर नई जगह का पता लिख भेजूँगा।

तुम्हारा विश्व

अहमद : आग पर पानी न डाल कर घी डार रहे हो। इस खत से उसकी क्या हालत होगी ? कहीं इन्कार न कर बैठे ?

विश्वकान्त : इसका डर नहीं। वह हिन्दू लड़की है...अपने समाज, माँ-बाप की तबीयत के खिलाफ खड़ी नहीं हो सकती। हम लोग समाज की भलाई के सामने व्यक्ति की कुछ परवाह नहीं करते...हम लोग पूरे सोशलिस्ट हैं।

अहमद : दस्तखत करो...चपरासी भेज दूँ...आज की डाक से जायगा ?

{अहमद का प्रस्थान }

{विश्वकान्त का चारपाई से उठना। कुर्सी पर आकर बैठना। अहमद का लिखा पत्र उठाकर कुछ लिखना। मेज की दराज से लिफाफा निकालना। उसमें खत रखकर पता लिखना। उसकी आखों से आँसू गिरने लगना। चपरासी के साथ अहमद का प्रवेश }

अहमद : {विश्वकान्त की ओर देखकर } क्या कर रहे हो ?

{लिफाफा उठा कर चपरासी को देना। चपरासी का प्रस्थान } रो रहे हो ? {सिर हिलाकर } तब हिन्दुस्तान लौट जाओ। इतनी कमजोर तबीयत के आदमी...क्या कर सकोगे ?

विश्वकान्त : {आँखें पोछ कर } अहमद मनुष्य का हृदय बड़ा कमजोर होता है। पिघलते देर नहीं लगती। क्या करूँ आदमी की जिन्दगी और है क्या ?

{हथेली पर सिर रखकर मेज पर केहुनी टेक देता है }

अहमद : {उसके कन्धे पर हाथ रखकर } अफसोस करते हो।

विश्वकान्त : क्या करूँ। मैं आदमी भी न रहा।

अहमद : आदमी को कमजोर न समझो... दुनियाँ में ऐसे ऐसे आदमी पैदा हो चुके हैं...

विश्वकान्त : लेकिन मैं क्या करूँ ? मेरा दिल तो शायद...इस समय यहाँ से जाओ। मुझे थोड़ी देर अकेले...

अहमद : फिर वही, कमजोरी, रंज किसलिए ? जो बात चली गयी, जाने दो। आज खुशी का दिन है। तुम्हारी बेड़ी कट गयी।

विश्वकान्त : ठीक है, बे...ड़ी...कट गयी। लेकिन मेरा दिल...

{उत्साह से उठकर} तुम ठीक कहते हो...मैं आज स्वतंत्र हूँ इतने दिनों के बाद।

{नसीर के साथ मोती का प्रवेश}

{विश्वकान्त मोती को देखकर अकस्मात् प्रसन्न हो उठता है। मोती को छाती से लगाता है। नसीर का अहमद की ओर देखना अहमद का उसे फिर हिलाकर संकेत करना नसीर का प्रस्थान}

विश्वकान्त : कब आये ?...कैसे ?

मोती : आ गया। आपने मुझे साथ रखने को कहा था। वहाँ से ऐसे निकले कि किसी को पता ही नहीं चला।

विश्वकान्त : ऐसी ही बात आ पड़ी।

मोती : {अहमद से} मेरे आने की बात आपने इनसे नहीं कहा था।

विश्वकान्त : ये जानते थे ?

मोती : हाँ, मुझे अपने घर ठहरा आये यह कह कर कि लौट कर लिवा जाऊँगा।

विश्वकान्त : तुमने मुझ से नहीं कहा अहमद !

अहमद : कैसे कहता ? यहाँ आकर देखा तो आप...

विश्वकान्त : ओफ इनका आना न कह कर...तुम क्या... मुझे इन्हें देखकर कितनी खुशी...

अहमद : मैं वह सब जानता हूँ। मैं नहीं चाहता था कि सब समझे खुशी एक ही साथ...

{विश्वकान्त उसकी ओर देख मुस्कराता है। अहमद का प्रस्थान}

विश्वकान्त : मुझे देश छोड़े साल भर से अधिक हुआ। इस बीच में कहाँ क्या हो रहा है पता नहीं चला। अंग्रेज सरकार यहाँ मेरे पास पत्र या अखबार नहीं आने देती। साल भर के बाद आज एक पत्र मिला। वह भी बड़ी मुश्किल से। मैंने उसे इंगलैण्ड में अपने एक मित्र के पते से मँगाया था। वहाँ से फ्रान्स तब यहाँ किसी तरह आ सका है। तुम से क्या पूछूँ और क्या नहीं पूछूँ, जो कुछ हुआ सो कह दो।

मोती : मुरलीधर जी के मुकदमें की बात तो...

विश्वकान्त : एक-एक बात मत पूछो। सब कह जाओ। मुरलीधर जी के बारे में या अपने बारे में या जो कुछ मेरे जानने लायक हो।

मोती : मुरलीधर जी को दो वर्ष कैद और दो हजार का जुर्माना हुआ है। जुर्माना नहीं दिया इसलिए एक साल और सजा बढ़ गयी।

{विश्वकान्त का हथेली पर सर रखकर नीचे की ओर देखना}

विश्वकान्त : कहते चलो।

मोती : और सब ठीक है, कोई नई बात नहीं है ?

विश्वकान्त : शुक्ल जी कैसे हैं, उनके यहाँ कोई नई बात ?

मोती : सब ठीक है...उनकी तबीयत कुछ खराब रहती है।

विश्वकान्त : वे पढ़ रहे हैं ?

मोती : नहीं; जब यहाँ आये थे, तभी उन्होंने छोड़ दिया था।

विश्वकान्त : हूँ, और कुछ कहने लायक नहीं है ? तुम साफ नहीं कह रहे हो।

मोती : हाँ, एक बात {एक पत्र निकाल कर देता है। विश्वकान्त का लिफाफा फाड़ कर पत्र निकालना}

विश्वकान्त : {आनन्द के आवेश में} मुरलीधर जी का पत्र। मोती तुम्हारा मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा। तुम वहाँ गये कैसे ?

मोती : चला गया बड़ी मुश्किल से। आपका पता उन्होंने ही बतलाया--{विश्वकान्त का पत्र पढ़ना...मोती का उसकी ओर देखते रहना।}

विश्वकान्त : {पत्र खोले हुए} क्यों जी उन्हें खाँसी आ रही है ?

मोती : हाँ, आ तो रही थी।

विश्वकान्त : इसमें उन्होंने लिखा है कि यक्ष्मा हो गया है--कफ के साथ खून आ रहा है।

मोती : तबियत उनकी खराब थी, बहुत दुबले हो गये थे।

विश्वकान्त : हे ईश्वर! अब शायद उनसे भेंट न हो सके मोती!...

मोती : कौन जाने ? इसी बीच ऐसी बात हो गयी कि मुझे भी छोड़ना पड़ा।

विश्वकान्त : ये कैसी बात ?

मोती : आप नहीं जानते। मैं कौन हूँ...अब तक मैं भी नहीं जानता था लेकिन...अब। मुझे भी सन्देह होता था कि मालती के पिता मेरा इतना ध्यान क्यों रखते हैं ? मैं सोचता था...कभी-कभी सारी रात उधेड़ बुन में कट जाती थी। मेरे पिता भी वही हैं। अन्त में...

विश्वकान्त : तुम्हारे पिता ?

मोती : {आवेश में} मैं उनके पाप का फल हूँ। उन्होंने एक दिन सब बातें मुझ से कह दीं। आप जानते हैं मेरा... {विश्वकान्त का विस्मय और सन्देह से उसकी ओर देखना} किस तरह अपनी जवानी में उन्होंने एक मूर्ख लड़की को...किस तरह उसका धर्म बिगाड़ा किस तरह और कहाँ मेरा जन्म हुआ...किस तरह मेरा लालन-पालन हुआ...किस तरह जब मैं पाँच वर्ष का था अभागिनी प्लेग से मरी...किस तरह मुझे यहाँ लाये और किस तरह अब तक रखा। मनुष्य देखने में इतना सज्जन और इतना उदार मालूम होता है, वह इतना शैतान हो सकता है। मैं मालती की मोटर हाँकता था...उसके बाप का लड़का होकर ?

विश्वकान्त : दो बातें हैं। तुम्हारी जिन्दगी क्या होगी यह मालूम...किसी को नहीं। कौन जाने तुम दुनिया के बड़े आदमियों में से होकर मरो। तुम क्या थे इसकी चिन्ता न करो...तुम चिन्ता इस बात की करो कि तुम क्या होगे ? दूसरी बात यह है कि मनुष्य को ध्यान केवल अपराधों की ओर नहीं रखना चाहिये। माना कि तुम उनके पाप के फल हो...लेकिन तुम्हारे प्रति उनका जो कर्तव्य था उन्होंने पूरा किया या नहीं ? किसी ने अगर जिन्दगी में बुराई कर दी तो उसके लिए उसकी जिन्दगी की भलाइयाँ नहीं मिटायी जा सकतीं।

मोती : मुझसे कहा क्यों ?...मैं दुनिया में जहाँ कहीं रहता इस कलंक से तो...

विश्वकान्त : यह कोई कलंक नहीं। संसार में जिस नियम के अनुसार मेरा जन्म उसके अनुसार तुम्हारा भी। स्त्री और पुरुष का स्वाभाविक प्रेम...इसके लिए समाज की मुहर नहीं लगी थी...प्रकृति को दोषी नहीं दे सकते।

मोती : पिता धर्म तो उन्होंने मेरे साथ निबाहा उससे अधिक कोई अपने लड़के को प्रेम नहीं कर सकता था।...जिस दिन मैं सवेरे वहाँ से भाग आया...उसी रात को...आधी रात थी...मैं सो रहा था...नींद खुल गई...देखा कि वे मेरी चारपाई के पास झुक कर खड़े थे...मेरी ओर प्रेम से देख रहे थे। मैं उन्हें देखकर डर गया। उन्होंने कहा, 'तुम मेरे लड़के हो...मेरे पास जो कुछ है उसमें तुम्हारा भी अधिकार है। आधा तुम्हें दूँगा और आधा मालती को। मैंने कहा मुझे कुछ नहीं चाहिये...अकेला शरीर कहीं किसी तरह बीत जायेगा। वे उदास हो उठे। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा...नहीं, पश्चाताप से मैं मर रहा हूँ। तुम मेरे खून से बने हो, मैं चुप हो गया। वे बहुत कुछ कहते रहे। मुझे विश्वास हो गया जो कुछ मालती का है उसी में हिस्सेदार होना पड़ेगा। मैं वहाँ से भाग आया। जन्म भर कैदखाने में कौन रहता ? मालती क्या समझती...लोग क्या समझते ?

विश्वकान्त : तुम जाओगे कब ?

मोती : कभी नहीं। जब तक वे जीते रहेंगे तब तक नहीं। मैं उन्हें दिखाना चाहता हूँ पुत्र क्या चीज है। मैं अपने लिए मालती को-- {चुप होकर नीचे की ओर देखने लगता है}

विश्वकान्त : तुमको जाना होगा। मुरलीधर जी को मेरा एक पत्र...अन्तिम प्रणाम शायद अब भेंट न हो।

मोती : लेकिन मैं अब नहीं जा सकूँगा। आपके साथ भी नहीं रहूँगा। {मोती का प्रस्थान--विश्वकान्त का उसकी ओर देखना अहमद और नसीर का प्रवेश। अहमद का कुर्सी पर बैठना। नसीर का खड़ा रहना}

विश्वकान्त : मेरा एक काम करोगे नसीर ?

नसीर : मेरी खुशकिस्मती...जो कहें यही तो मैं चाहता हूँ।

विश्वकान्त : हिन्दुस्तान जाओगे-मेरी एक चिट्ठी लेकर। मेरे एक दोस्त सरकार के खिलाफ लिखने के लिए जेल में मर रहे हैं। उन्हें मेरा एक खत...

अहमद : खत लिखने से फायदा...उससे वे अच्छे तो हो नहीं जायेंगे ?

विश्वकान्त : आदमी बहुत कुछ अपनी तसल्ली के लिए करता है।

नसीर : मैं जाऊँगा।

विश्वकान्त : खूब समझ लेना।

नसीर : आप मुझे इन्सान नहीं समझते। दुनिया में कौन-सा काम इन्सान नहीं कर सकता।

{विश्वकान्त और नसीर दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं}

पर्दा गिरता है।

चौथा अंक

{जेल में एक कमरा। यह कमरा जेल के और कमरों से साफ है। कई खिड़कियाँ। खिड़कियों से बाहर के हरे-भरे पौधे देख पड़ते हैं। मुरलीधर चारपाई पर पड़े हैं। चारपाई के पास ही एक छोटी-सी मेज है। उस पर अखबार और दो तीन पुस्तकें। कुछ हटकर दो कुर्सियाँ। मुरलीधर का रह-रहकर खाँसना। कफ के साथ खून। बार-बार चारपाई की पाटी से सर नीचा कर पीकदान में थूकना। }

{डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मि० राय का प्रवेश। एक दूसरे को हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं। मुरलीधर खाँसने लगते हैं। मि० राय झपट कर पीकदान उठा लेते हैं। }

मुरलीधर : अह! आप क्या कर रहे हैं? जमीन पर रख दीजिये।

मि० राय : {झुक कर उनके सर के पीछे हथेली रखते हुए }आप मेरा हृदय नहीं जानते।

मुरलीधर : {पीकदान में थूकना } मैं आपका हृदय पहचानता हूँ। इधर तीन दिन से आप मेरा जितना सम्मान कर रहे हैं...

मि० राय : जिस कमरे में आप रखे गये थे; उसमें आपके आने के पहले एक रोगी यक्ष्मा से मरा था। मुझे इसका पता नहीं था। मैंनेआपको सजा दी थी मजबूर होकर।

मुरलीधर : यह कानून टिका भी है आप ही लोगों के बल पर। यदि आप सभी लोग जितने...सभी हिन्दुस्तानी नौकरियों में हैं, केवल एक दिन के लिए सरकार से नाता तोड़ लें तो फिर...

मि० राय : तब यह सरकार नहीं रहेगी! लेकिन सभी लोग...हम में नैतिक बल नहीं है। {मुरलीधर का देर तक खाँसते रहना। कई बार कफ के साथ खून आना। मैजिस्ट्रेट का उनकी ओर सहानुभूति से देखना। मेज पर की किताबें इधर-उधर कर उस पर से एक किताब उठा लेना--खोलना देखना } यही विश्वकान्त है जो आजकल एशियाई संघ...

मुरलीधर : जी हाँ।

मि० राय : लेकिन इस श्रेणी का कवि... {एक कविता पढ़ना }

विश्वविभव, अन्तर्विभूति, उत्सर्ग-मिलन को मेरे--
कब तक चलते और रहेगें, जग के सपनें घेरे?
उतर न आओ तुम किरणों से होकर जग के स्वामी!
मैं चल पड़ूँ सुला जीवन की, ममता अन्तर्यामी।।

जो जीवन से इतना ऊपर उठ सकता है वह राजनीति में कूद पड़ा?

मुरलीधर : साहित्यकार भी अपने युग का जीवन बिताता है। युग की समस्याओं की ओर जो नजर नहीं फेरता वह साहित्यकार नहीं। विश्वकान्त एक साल तक मेरे साथ थे मैंने उनके भीतर जो कवि था उसकी बार-बार अवहेलना की। देश और दुनियाँ की समस्याओं की ओर देखने को बाध्य किया। इस कारण उनके भीतर का कवि जो केवल सपना देखता था...कुछ करतानहीं था...मरगया। अब उनके भीतर रचयिता की सच्ची आत्मा का प्रवेश हुआ है। उनकी रचना कागज पर न होकर सर्वसाधारण की दुनिया में हो रही है। मुझे तो ठीक पता भी नहीं कि उन्होंने अभी कहाँ तक क्या किया है?

मि० राय : {मेज पर अखबार के ऊपर हाथ रखते हुए } आपने यह पेपर नहीं पढ़ा? मैंने इसीलिये कि आप जान सकें आपके पास भेज दिया था। इस समय पेपरों में

सब जगह यही बात निकल रही हैं। अफगानिस्तान, फारस, तुर्की में उनके दौरे हो चुके हैं। जहाँ-जहाँ उन्होंने आन्दोलन किया, सफलता मिली। इस समय चीन में घूम-घूमकर आन्दोलन कर रहे हैं।

मुरलीधर : जिस दिन मेरी उनसे पहली भेट हुई थी...मैं इसी विषय की बात की थी। मैं स्वयं बहुत दिनों से इस आन्दोलन का सपना देखता आ रहा हूँ। यह मेरा विश्वास रहा है कि एशिया को आत्म-रक्षा के लिए एक न एक दिन अपना संघ जरूर बनाना पड़ेगा। लीग ऑफ नेशन्स असल में गोरी जातियों का संघ है। जिस लेख के लिए मुझे सजा मिली थी--उन्हीं का लिखा था।

मि० राय : लेकिन आपने यह प्लीड नहीं किया?

मुरलीधर : क्यों प्लीड करता? विश्वकान्त को अगर यहाँ यह बीमारी हुई होती तो दुनिया की कितनी भारी हानि होती?

{खाँसने लगना--चारपाई की पाटी के नीचे उनका सिर लटकना--मि० राय का उन्हें सहायता देना}

मि० राय : मैंने आप से कल कहा था।

मुरलीधर : मैं जेल से निकाल दिया जाऊँ इसके लिए सरकार से माफी नहीं माँग सकता। {देर तक सिर हिलाते रहते हैं}। गोरों की प्रभुता हमारे जीवन की जड़ में टाँगी चला रही है। आप भी देख रहे हैं...मैं भी देख रहा हूँ...आप बोल नहीं सकते...मैं बोल सकता हूँ। आयरलैण्ड की तरह वह दिन दूर नहीं जब आपको भी बोलना पड़ेगा।

{मिस्टर राय की गहरी मुद्रा, गंभीर चिन्ता। मुरलीधर का उनकी ओर देखते रहना}

मिस्टर राय : मैं तो स्तीफा दे दूँगा। आप तो आठ महीनों से मैं तो दस वर्षों से जेल में हूँ।

{किरणमयी का प्रवेश। मिस्टर राय का कुर्सी से उठना। किरणमयी को उसी कुर्सी पर बैठने का संकेत करना। किरणमयी का मुरलीधर के सिर पर हाथ रखना। मिस्टर राय का प्रस्थान। फिर अपने दोनों हाथ उनके कन्धे पर रखकर झुककर उनके मुँह की ओर देखना}

मुरलीधर : हाथ हटा लो...बड़ी दर्द...{खाँसी-किरणमयी का घबड़ा कर अपना दोनों हाथ हटाना--उसके शरीर का जोर से नीचे की ओर झुकना और सिर के बल मुरलीधर की छाती पर गिरना--छाती पर जोर का धक्का--मुरलीधर का सारा शरीर काँपने लगना उनके मुँह से बड़ी तेज खून की धार--दो तीन हिचकी--किरणमयी का सम्हल कर उठना। आँचल से मुरलीधर का खून पोंछने लगना। उनकी ओर ध्यान से देखना--सन्न, भय, चिन्ता और विषाद--उनकी छाती, सिर, पैर पर बार बार हाथ रखना}।

किरणमयी : {ऊपर देखकर} हाय राम! {वहीं धरती पर गिर पड़ती है}

{जेलर का प्रवेश}

जेलर : रमजान। डाक्टर जल्दी भेजो देर न हो {रमजान का प्रवेश}

जेलर : उल्लू, सूअर देखता नहीं है डाक्टर [{रमजान का तेजी से प्रस्थान}

{जेलर का किरणमयी के नजदीक जाना। उसे उठाना। डाक्टर का प्रवेश}

जेलर : गजब हो गया {डाक्टर का किरणमयी की नाड़ी पकड़ना}

डाक्टर : कोई हर्ज नहीं--ठीक है {मुलरीधर की नाड़ी पकड़ कर} ये तो चले गये।

जेलर : ऐं!

डाक्टर : बेचारा...मैंने कहा था उस कमरे में न रखिये जहाँ इस मर्ज से एक आदमी मरा था।

जेलर : आप यहीं रहिये। मैं सिविल सर्जन और साहब को फोन करूँ {जेलर का प्रस्थान}

{डाक्टर का किरणमयी को उठाकर दीवाल के सहारे बैठना। दीनानाथ और रमाशंकर का प्रवेश}

दीनानाथ : {चौंककर}यह क्या? यह स्त्री यहाँ कब आई?

डाक्टर : मुझे नहीं मालूम।

दीनानाथ : {रमाशंकर से} देखते हैं इस बेहया का यहाँ इस जेल में भी इसके लिए चली आयी...कहिये अब मेरी इज्जत...

रमाशंकर : इसमें आप की इज्जत नहीं जायगी। उन्हें हुआ क्या?

डाक्टर : {सन्देह से उन लोगों की ओर देखना} बेहोश हो गयी हैं {किरणमयी की ओर देखकर} मैं यहाँ आया तो बेहोश मिलीं...यही चारपाई के पास और वे मरे।

रमाशंकर : आज सबेरे उनकी तबीयत कैसी थी।

डाक्टर : यों तो कफ के साथ खून आता ही था पर आज मर जाने की कोई उम्मीद...

रमाशंकर : {दीनानाथ से}यह अवसर क्रोध करने का नहीं है। देश के एक सिपाही की इस तरह मृत्यु...

दीनानाथ : {किरणमयी की ओर देखकर} इसे किसी तरह हटाओ यहाँ से {मुरलीधर की छाती पर हाथ रखकर} मालूम होता है फेफड़ा एक दम नाकाम हो चुका था। {डाक्टर का प्रस्थान}

डाक्टर : दरवाजे पर 'अभी मैंने होश में उन्हें देखा था।'

दीनानाथ : आदमी अच्छा था {किरणमयी की ओर देखकर} अभागिनी स्त्री! मुझे कोई खेद नहीं है, रमाशंकर जी मुझे इसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये था। यह पहले ही से इन्हें प्रेम करती थी {कोट की जेब से एक कागज निकाल कर} यहाँ आने के पहले यह लिख कर मुझे देने के लिए नौकरानी को दे गयी थी। इससे सारी बात साफ हो जाती है। {रमाशंकर की ओर बढ़ाता है}

रमाशंकर : रहने दीजिये...मुझे तो मालूम होता है जैसे सारी दुनिया बदल गयी। इस आदमी से मेरी कभी नहीं पटी। बराबर मेरे हृदय में इसके विरुद्ध जिस दिन इसका बयान पढ़ा था...यह साहस और त्याग--'जिस कानून में विश्वास नहीं करता उसके सहारे अपनी रक्षा के लिए वकील नहीं करूँगा' कितनी वीरता, कितना साहस...इस तरह के लोग दुनिया में बहुत कम होंगे।

दीनानाथ : इसमें कोई सन्देह नहीं। किरणमयी इसे बराबर प्रेम करती रही, किन्तु इसने...अपनी ओर से कभी बढ़ावा नहीं दिया। बराबर भागता रहा। इस कागज में उसने लिखा है कि वह लड़कपन से उन्हें प्रेम करती रही है...चार वर्ष बीत जाने के बाद जहाँ जल्से में फिर इन दोनों की भेंट हुई। राख के भीतर जो आग थी हवा लगने पर फिर जाग उठी।

रमाशंकर : चार वर्ष कहाँ रहे...

दीनानाथ : इस बारे में कुछ नहीं लिखा है।

{डाक्टर का प्रवेश--किरणमयी को शीशी सुँघाना--किरण का धीरे-धीरे होश में आना। आँख खोलना--सब लोगों को देख संकोच से उठना}

दीनानाथ : बैठ जाओ, कुर्सी पर बैठ जाओ।

{डाक्टर, रमाशंकर का प्रस्थान }

{किरणमयी का दीवाल पर सिर टेक कर अपना मुँह दोनों हाथों से छिपा लेना। दीनानाथ का उसके समीप जाकर प्रेम से उसके कन्धे पर हाथ रखना }अफसोस करने से क्या होगा ? जिन्दगी में सुख है कहाँ ? तुम्हीं सोचो, मुझे दुःख नहीं है कि तुम मेरी स्त्री होकर {किरण का जमीन पर बैठकर दीनानाथ के चरणों पर सिर रख देना--दीनानाथ का उसे उठाकर कुर्सी पर बैठाना। किरण का सिसक-सिसक कर रोने लगना उसके सिर पर हाथ रख कर } चुप रहो, जो जाता है फिर नहीं लौटता। यही संसार की गति है। मुरलीधर हम सब के लिए--दुनिया के लिये मर गये लेकिन तुम्हारे लिए अमर हैं। उनकी आत्मा जो अनुभव करो तो तुम्हारी आत्मा में मिल गयी है।

{मैजिस्ट्रेट मिस्टर राय का प्रवेश }

मि० राय : अन्त में वही हुआ। दो तीन दिनों में मुझे उन्हें छोड़ देने के लिये आज्ञा मिल जाती। सारी मिहनत...इतनी लिखा-पढ़ी...{मुरलीधर के सारे शरीर पर इधर-उधर हाथ रखना } अभी एक घंटे पहले मुझसे बातें कर रहे थे, ऐसा नहीं मालूम होता था आज ही {दीनानाथ से } आप मुझे अपने कालेज में...साहित्य विभाग में कोई काम दिला सकेंगे। मैं यह नौकरी छोड़ना चाहता हूँ। यह जेल...मुझे तनख्वाह नहीं चाहिये--कोई काम जिसमें मैं...मैं बिना काम का रह नहीं सकता, मेरी तबीयत घबड़ा जाती है {किरण की ओर देख कर } सुना था आप बेहोश हो गयी थीं।

दीनानाथ : जी हाँ, मुझसे गलती हुई, मैंने बुढ़ापे में विवाह किया। इन दोनों का करीब-करीब लड़कपन से प्रेम...{मुरलीधर की ओर संकेत कर } इनके तरह के लोग जहाँ तक मेरा मानव चरित्र का अध्ययन है प्रेम के सामने जल्दी आत्म-समर्पण नहीं करते। इसीलिये ये प्रेम पर शासन करते हैं और जो इनका शिकार होता है वह बहुत दिनों तक इनके चंगुल से बाहर नहीं निकलता यह हालं इस (किरणमयी की ओर संकेत करना) का हुआ है। ये जितने दूर होते गये हैं, पतंग की डोरी और भी कड़ी होती गयी है...इनकी लाश क्या होगी ?

मि० राय : अभी सिविल सर्जन नहीं आये, वे जो कहें।

दीनानाथ : वे क्या कहेंगे ?

मिस्टर राय : वे अँग्रेज हैं...पता नहीं क्या कहें...कहीं पोस्ट...मार्टम की बात न उठावें।

दीनानाथ : यह तो आप के हाथ की बात है।

मिस्टर राय : हाँ थी तो, पर मैं हिन्दुस्तानी हूँ...अंगरेजी राज्य में हम लोगों की बात का क्या मूल्य ?

दीनानाथ : किरणमयी ! {किरणयी मुर्दे की तरह कुर्सी पर बैठी है } इधर देखो...देखो इधर [{किरणमयी बड़े दुःख से उनकी ओर देखती है } चली जाओ। बाहर मोटर है। दुःख अपने भीतर रखना चाहिये। दस आदमी में रोना चिल्लना...लोगों का मनोरंजन। मनुष्य के भीतर...दुःख और सुख...चुपचाप शान्त...दूसरोंको दिखलाना तो उनके लिए...जो सह नहीं सकते।

{मालती का प्रवेश। मालती का दीनानाथ को हाथ जोड़ना }

मालती : आई थी दर्शन करने...{मुरलीधर की ओर देखना }।

दीनानाथ : वे तो चल बसे...तुम्हारे पिता जी...

मालती : वे भी चल बसे।

किरणमयी : कब ?

मालती : (शान्त चित्त से) एक महीना...

{दीनानाथ मालती की ओर ध्यान से देखते हैं }

दीनानाथ : तुम्हारे परिवार में अब कौन...?

मालती : कोई नहीं, मैं अकेले हूँ।

दीनानाथ : तुम्हीं क्या संसार में सभी अकेले हैं। संसार का सम्बन्ध सब झूठा है...आज है कल नहीं।

किरणमयी : किसी सम्बन्ध का अन्त होता नहीं, जो वह सच्चा हो।

मालती : जो सच्चा हो...कहा नहीं जा सकता।

{मालती का प्रस्थान। किरणमयी और दीनानाथ का उसकी ओर देखना। }

दीनानाथ : देखती हो पिता मर गया...परिवार में कोई नहीं है...लेकिन इस लड़की को कोई चिन्ता नहीं। इसकी जिन्दगी में बार-बार दु:ख...लेकिन यह सह सकती है सब कुछ। इसने जिन्दगी का मतलब समझा है। उठो जाओ {नेपथ्य में कोलाहल } मालूम होता है इधर लोग आ रहे हैं। {किरणमयी का उठना--मुरलीधर की ओर देखना, प्रस्थान। }

{रमाशंकर और नसीर का प्रवेश }

रमाशंकर : {नसीर से } देखो {मुरलीधर की ओर संकेत करना--नसीर का आगे बढ़ना--चारपाई के निकट जाकर विश्वकान्त का पत्र मुरलीधर के पैरों के पास रख देना। }

दीनानाथ : कहाँ से तुम आ रहे हो ?

नसीर : {दीनानाथ की ओर देखने लगता है }।

दीनानाथ : बोलो।

नसीर : इस समय मैं बोल नहीं सकता। काबुल से यह खत--यहाँ पहुँचा मरने पर...सब फजूल--कैसे जाऊँगा! क्या कहूँगा ?

दीनानाथ : किससे।

नसीर : जिसने यहाँ भेजा था।

{दीनानाथ का मुरलीधर के पैर के पास से पत्र का उठाना }

दीनानाथ : ऐं? यह तो विश्वकान्त का लिखा है, तुम उन्हें जानते हो ?

नसीर : {बढ़कर उनके हाथ से पत्र ले लेता है। } मैं कुछ नहीं जानता।

{नसीर का प्रस्थान--मिस्टर राय का प्रवेश }

मि० राय : लाश पोस्टमार्टम के लिए जायगी। सिविल सर्जन साहेब अँग्रेजी कानूनी के लिए {कैमेरा ठीक करना } मैं एक तस्वीर ले लूँ।

दीनानाथ : अफगानिस्तान से एक लड़का खत लेकर आया था विश्वकान्त का।

मि० राय : विश्वकान्त का ? कहाँ गया वह लड़का ?

दीनानाथ : चला गया {उस दृश्य का ओझल होना। जेल के सामने दूर पर मैदान। मालती और रमाशंकर }

रमाशंकर : तुम्हारे पिता जी मर गये ?

मालती : हाँ।

रमाशंकर : तुम्हारा विवाह ठीक हुआ था ?

मालती : हुआ था, वे बीमार पड़ गये...मर गये...रुक गया।

रमाशंकर : अब ?

मालती : अब तो मैं स्वतंत्र हूँ; ठीक नहीं क्या करूँगी।

रमाशंकर : तुम्हारा हृदय मेरी ओर से साफ नहीं हुआ ?

मालती : {रमाशंकर की ओर देखती हुई} अब मैं वह नहीं रही।

रमाशंकर : लेकिन मैं तो वही हूँ। मेरे हृदय में वही...

मालती : जो आप चाहें तो...मुझे अब कोई विरोध नहीं। अब कितने दिनों तक ? मैं रोमान्टिक प्रेम नहीं चाहती--विश्वकान्त के साथ मेरा यही था। मैं वह प्रेम चाहती हूँ जो आजकल की दुनिया में समझदारी के साथ निबाहा जा सके। जिन्दगी में प्रेम की जगह बहुत कम है; और सब तो दुनिया की बातें...सुख से रहना अगर हो सके...मन बहलाव के सामान। एक वर्ष पहले सोते, जागते, उठते, बैठते मेरे सिर पर प्रेम का भूत चढ़ा रहता था। अब उतर गया। अब मैं दुनिया...अपनी आँखों से देख रही हूँ--वह मेरे लायक हो गई है। {रमाशंकर की ओर आश्चर्य्य से देखना} आप जैसे घबड़ा रहे हैं। मैं समझ कर कह रही हूँ...लेकिन जो मैं कह रही हूँ खूब सोच कर...

रमाशंकर : यों तो ईश्वर की इच्छा नहीं जानता लेकिन तुम्हारा सम्बन्ध विश्वकान्त से ही अच्छा होता...तुम उसे प्रेम...

मालती : {मुस्करा कर} विश्वकान्त को मैं प्रेम करती थी और आप मुझे। मैं चाहती हूँ आपके प्रेम की जीत...और फिर विश्वकान्त प्रेम करने की चीज है...विवाह करने की नहीं। प्रेम किसी दिन की...किसी महीने की...किसी साल की घड़ी भर के लिए, जो चाहे जितना दु:ख...सुख दे...उसमें जितनी बेचैनी हो...जितनी मस्ती हो...लेकिन वह ठहरता नहीं। पहले फूल में फल अच्छा नहीं लगता। पहला फूल तोड़ देने पर फल अच्छे आते हैं।

रमाशंकर : खैर मुझे...जो चाहो...मैं तो...क्या कहूँ, तुम समझतीं तब...

मालती : जो गया, गया...उसकी चिन्ता मैं नहीं करती...पिताजी गये, विश्व बाबू गये...जो जाने लायक रहा चला गया...अब मेरे पास कोई ऐसी चीज नहीं ...जो जा सके। {रमाशंकर का अपनी उँगली की अँगूठी निकालना : मालती का हाथ पकड़ कर उसकी उँगली में पहनाने की कोशिश करना}।

मालती : यह क्या ? यह तो रोमान्टिक प्रेम है। नहीं नहीं {हाथ खींच कर} आप भी तो जैसे...यह काम उनका है जिनकी दुनियाँ केवल प्रेम की है...वे बराबर सपने देखते हैं...अपने प्रेमिका की...जो समय के पहले ही प्रेम में बिगड़ जाते हैं। समझदार यह सब नहीं करते। जिन्दगी की ठोस बातों को समझना चाहिये--लड़कपन में...

{रमाशंकर का उदास होकर खड़ा होना। मालती का मुस्करा कर उनके कन्धे पर हाथ रखकर हिला देना}।

रमाशंकर : छोड़ो, यह रोमान्टिक नहीं है ?

मालती : नहीं, जिसे प्रेम करे उसके सामने झुक जाना-बिलकुल मर जाना--उसकी एक-एक बात पर अपने को न्योछावर कर देना, रोमान्टिक प्रेम होता है। हम लोग प्रेम नहीं करेंगे--विवाह करेंगे--समझदारी के साथ एक दूसरे का ख्याल करेंगे। जिन्दगी में रोमान्स बड़ी बुरी चीज है--जब तक देह में नया खून रहता है, दुनिया भर की खुराफात, व्यर्थ की बातें पागलपन...फिर तो वही परेशानी, यह नहीं, वह नहीं, उमर ढलने लगती है दुनिया जैसे अपनी नहीं रहती। इसके लिए पहले से ही बचाव करना चाहिये।

रमाशंकर : मैं यह सब नहीं जानता।

मालती : मैं बताऊँगी।

रमाशंकर : तैयार हूँ जानने के लिए {रमाशंकर का मुस्कराते हुए प्रस्थान। मालती का थोड़ी देर तक आकाश की ओर देखते रहना--एक लिफाफा निकाल कर खोलना। किरणमयी का प्रवेश। }

किरणमयी : तुम्हारे पास आत्मा नहीं है ?...प्रेम बार-बार होता है ?

मालती : नहीं एक बार...मेरी आत्मा के बारे में क्या ?

किरणमयी : तुम रमाशंकर से व्याह करने जा रही हो ?

मालती : विवाह करने जा रही हूँ, प्रेम करने नहीं।

किरणमयी : विवाह और प्रेम में अन्तर...

मालती : बहुत बड़ा। मैं स्वयं जानती हूँ। आप सदैव प्रेम करती रहीं सम्पादक जी को और विवाह किया आपने प्रोफेसर साहेब से। प्रेम ? कैसी सनक ? जान-बूझकर अपने शरीर और आत्मा को भट्ठी में डालना। आपके प्रेम ने आपको संसार से निकाल बाहर किया...अब आपकी दुनिया में क्या जरूरत है ? मैंने प्रेम छोड़कर दुनिया में अपनी जगह बनायी है। {हाथ का पत्र पढ़ती है } 'तुम्हारे विवाह का समाचार सुनकर प्रसन्नता हुई' ।यह उनका पत्र है। जो अब भी इतना निष्ठुर...स्त्री प्रतिहिंसा जानती है। आप समझें-मैं गिर गयी...लेकिन मैं समझती हूँ मैं ऊपर उठ रही हूँ--मुझे जरूरत है किसी पुरुष की मेरे साथ रहने के लिए...अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए। इसलिये मैंने रमाशंकर को पसन्द किया है। याद है आपने एक बार कहा था, 'इस समय चिरन्तन नारीत्व ने पुरुष की अहमन्यता पर विजय पायी है, तुम्हारी विजय हमारी विजय है--सारी स्त्री जाति की'--उस समय मेरा हृदय तो उनके पैरों के नीचे लोट रहा था, लेकिन आज ? आज नारीत्व ने पुरुष की अहमन्यता पर विजय पायी है {किरणमयी की आँखों में आँसू } आप घबड़ा उठीं ?

किरणमयी : मालती ! प्रेम एक जीवन का नहीं अनन्त जीवन का है। तुम उसकी अवहेलना कर रही हो, पर याद रहे शायद तुम भी कभी अपनी भूल पर पछताओगी। स्त्री हृदय का सत्य प्रेम नहीं, तो और क्या है ? पर मैंने यह कह दिया। क्षमा करना। तुम सझमती हो मैं दुनिया के लायक नहीं हूँ, लेकिन मैं अपने लायक तो जरूर हूँ। तुम विश्वास नहीं करोगी लेकिन मुझे मालूम हो रहा है जैसे मेरा प्रेमी मेरे हृदय में आ बैठा है। उसे मैं निकाल नहीं सकती। वह मेरे भीतर है बराबर रहेगा, इस जिन्दगी में, दूसरी जिन्दगी में, जब कभी जन्म लूँगी वह मिलेगा। {किरणमयी का प्रस्थान }

{बहुत बड़ा फर्क। जहाँ तक नजर पहुँचे पेड़, पौधे, फूल। उसके बीच में आलीशान इमारत। पार्क के हर एक कोने से इमारत तक साफ चिकनी सड़कें। सड़कों के किनारे छोटे किन्तु छायादार पेड़ . . .कोई हरे और कोई फूलों से लाल, सफेद और पीले। सब कुछ हरा-भरा सुहावना। सामने से इमारत पर नजर डालने पर सुन्दर मेहराब। उस पर सुनहले अक्षरों में 'एशियाई संघ का भवन' }

{अहमद और विश्वकान्त का बातें करते हुए प्रवेश }

अहमद : तब।

विश्वकान्त : अब मैं यहाँ नहीं रह सकता। मैंने अपने दिल को बहुत समझाया {ऊपर आसमान की ओर देखकर} ओफ अहमद! तुम समझ नहीं सकते मेरी तकलीफ को। सोचता था मुरलीधर जी यहाँ आयेंगे और देखेंगे कि मैंने उनका सपना सच्चा कर दिया। जब वे ही... और मेरा काम भी पूरा हो गया। मेरे संसार का सब से सुन्दर अंश उनके साथ चला गया। मैं भी अब दुनिया से मुक्ति चाहता हूँ।

अहमद : तुम संघ के प्रधान मंत्री हो।

विश्वकान्त : और अगर आज मर जाऊँ? संघ के लाखों प्रतिनिधियों में एक हूँ। मेरे न रहने पर भी अनेक रहेंगे। संघ अमर है। संघ की हानि मंत्रियों का अभाव नहीं कर सकता। मुझसे कहीं अच्छा काम तुम स्वयं कर लोगे।

अहमद : मैं?

विश्वकान्त : हाँ, तुम--आश्चर्य्य क्या है? तुम्हारे हृदय में संघ की बात छोड़कर और कुछ नहीं है। मेरा हृदय अतीत की वेदना और स्मृति से भरा है। संघ के लिए मैंने दूसरा हृदय बनाया था {छाती पर हाथ रखना} और वह यहाँ नहीं {सिर पर हाथ रखना} यहाँ था। मैं जानता था मेरे नये हृदय ने पुराने हृदय को जीत लिया है। लेकिन यह भूल थी। वह पुराना हृदय सारी स्मृति और वेदना के साथ जाग उठा है। मैं यहाँ रह नहीं सकता। मुरलीधर जी का मरना...

अहमद : विश्वकान्त! तुम मुझे धोखा दे रहे हो। इसका मुझे रंज नहीं। लेकिन अपने को धोखा दे रहे हो यह...

विश्वकान्त : कैसे धोखा?

अहमद : तुम मुरलीधर जी के मरने से इतने दिनों की कमाई फूँक रहे हो? एशियाई संघ के मंत्री और इतनी बड़ी इज्जत तुम क्यों छोड़ रहे हो? मुरलीधर जी के मरने से? यह सब झूठ है। मैंने नसीर, जो खत लाया था पढ़ लिया था... तुम्हारी प्रेमिका का पढ़ लिया था... तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी से शादी करने जा रही है। उसने तुम्हें चुनौती दी है।

विश्वकान्त : तुमने पत्र पढ़ लिया था?

अहमद : हाँ, क्योंकि तुम कोई चीज मुझ से छिपाते नहीं।

{विश्वकान्त का अहमद की ओर उद्वेग से देखना}

अहमद : क्या बात है?

विश्वकान्त : तुम।

अहमद : तुम्हारा सारा त्याग... बनावटी... ढोंग था।

विश्वकान्त : अहमद... तुम मेरी कमजोरियों से घृणा करते हो।

अहमद : जरूर...

विश्वकान्त : लेकिन मेरे लिए तो अब कोई रास्ता नहीं। मुझ से जो हो सका मैंने किया। मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम मुझे त्यागी या बड़ा आदमी समझो। मैं जो हूँ... वही रहना चाहता हूँ।

अहमद : तो ऐसे ही चले जाओगे?

विश्वकान्त : हो सका तो कल।

अहमद : अपनी जिम्मेदारी भी समझते हो? दुनिया कहेगी। {विश्वकान्त निराश होकर नीचे जमीन की ओर देखने लगता है} इसका मतलब कि नहीं मनोगे।

उतावली में अपने इतने दिनों की मिहनत पर कालिख न पोत कर समिति के सामने त्याग पत्र भेजो, मैं कोशिश करूँगा कि बिना कुछ पूछे ही...तुम्हारा त्याग पत्र स्वीकार किया जाय।

विश्वकान्त : अगर न मंजूर हो ?

अहमद : तो तुम चोर की तरह नहीं भाग सकते। मैं तुम्हें बाँध कर रखूँगा। तुम्हारी इतने दिनों की नेकनामी भी न मिटने दूँगा।

विश्वकान्त : मैं नेकनामी नहीं चाहता।

अहमद : नेकनामी नहीं चाहते तो बदनामी भी न चाहो ? भाई ! आँखें खोलो और देखो...तुम्हारी आत्मा के ऊपर तुम्हारे रक्त मांस की विजय हो रही है। तुम लोभ में पड़कर अपनी तपस्या छोड़ रहे हो। परिणाम अच्छा नहीं होगा। कुछ दिनों के लिए छुट्टी लेकर तबीयत ठीक कर लो फिर लौट आना।

विश्वकान्त : मैं लौट सकूँगा या नहीं सन्देह है !

अहमद : सन्देह है ? ओफ ! मनुष्य का चरित्र कितना विस्मय है। आग और पानी, रात और दिन एक ही साथ। जा रहे हो ? जाओ। अब कोई चिन्ता नहीं।

विश्वकान्त : अहमद...

अहमद : क्या है ?

विश्वकान्त : इच्छा होती है आत्महत्या कर लूँ।

अहमद : कर लो, बड़ा अच्छा होगा। लेकिन इस रूप में नहीं। वीर की तरह छाती खोल कर, पिस्तौल से गोली मार लो। एक ओर बन्धन है दूसरी ओर मुक्ति। आत्महत्या करोगे, किसके लिए ?

विश्वकान्त : अहमद ! बन्धन जीवन की लय में बज रहा है, मुक्ति कहीं, किसी मरुस्थल में छटपटा रही है।

अहमद : समझा, जिन्दगी के मोह ने तुम्हें चारों ओर से जकड़ लिया है। कोई उपाय नहीं। इस्तीफा लिखकर समिति के पास भेज दो। मंजूर होगा बड़ी बात, न मंजूर होगा चले जाना। तुम्हारी नेकनामी वह तो चली जायगी। कोई जाने या न जाने। एक बात। मैंने जो कुछ किया उसका कोई रंज नहीं। तुमने मुझ पर जादू किया था। मैंने घर छोड़ा, माँ छोड़ी, औरत छोड़ी, मैं भी आदमी हूँ...लेकिन कोई रंज नहीं अच्छा है। जो हुआ अच्छा हुआ। मैंने सब कुछ छोड़कर इतनी बड़ी दुनिया पायी, मैं खुश हूँ।

{विश्वकान्त का प्रस्थान}

अहमद : ठहरो एक बात और है। {विश्वकान्त के पीछे अहमद का प्रस्थान। मालती और मोती का प्रवेश}

मालती : तुम मेरे भाई हो। मेरा अधिकार है कि तुम्हें घर चलने के लिए कहूँ।

मोती : तुम्हारा भाई मैं हूँ या नहीं, यह तो दूसरी बात है। मैं भी तुम्हारे पिता का लड़का हूँ। मेरे चले आने के बाद तुम से यह बात उन्होंने कहा था।

मालती : हाँ कहा था कि तुम उनके लड़के हो, मेरे भाई।

मोती : मेरे पास भी उन्होंने उस रात को जिस रात को मैं भाग आया यह पत्र लिखा था {मालती को पत्र देना। मालती का पत्र खोलकर पढ़ना}

मालती : अब भी नहीं चलोगे ? देखूँ तो कैसे नहीं चलते हो ? अपनी बहन को कैसे छोड़ देते हो ?

मोती : तुमने जब विश्वकान्त को छोड़ दिया...जिसके नाम पर मरना तुम्हारे लिए गौरव की बात होती...तो तुम मुझे नहीं छोड़ दोगी ?

मालती : उनके साथ मेरा सम्बन्ध ? तुम तो मेरे भाई...

मोती : उनके साथ तुम्हारा सम्बन्ध ? मुझे बतलना पड़ेगा ? हृदय और आत्मा का सम्बन्ध। संसार में जो सब से बड़ा सम्बन्ध है।

मालती : मैं यह सब नहीं जानती। दूसरे के लिए अपना जीवन बिगाड़ना--मैं वह बात नहीं मानूँगी। जिसने मुझे बार-बार ठुकराया उसे...

मोती : तो तुमने बदला लिया...प्रतिहिंसा में तुमने ? फिर तुम यहाँ इतनी दूर...

मालती : उन्होंने मुरलीधर जी के पास जो पत्र लिखा था उसमें तुम्हारे बारे में लिखा था कि तुम उनके साथ हो...यह भी लिखा था कि तुम मेरे पिता के लड़के हो। तुमने उनसे यह बात जो छिपानी चाहिये थी कह दी।

मोती : मुझे छिपाना क्यों चाहिये था ? जो बात सत्य है। दुनिया में कोई तो ऐसा होना चाहिये, जिससे अपने हृदय की सारी बातें कहकर अपना हृदय हल्का किया जाय।

मालती : मैं तुम्हें लिवाने आयी हूँ।

मोती : रमाशंकर जी भी तो आये हैं ?

मालती : अकेले कैसे आती ?

मोती : विश्वकान्त से भेंट हुई या नहीं।

मालती : नहीं।

मोती : तब चली जाओ। अभी तक कुशल है। क ों बेचारे को ?

मालती : मैं उनसे एक बार भेंट कर लेना चाहती हूँ। फिर भेंट हो सके या नहीं। इतनी दूर...

मोती : क्या लाभ ?

मालती : मेरे परिचित हैं। एशियाई संघ के मंत्री हैं। दुनिया में उनका कितना नाम है ? बड़े आदमियों से मिलना चाहिये।

मोती : मैं कहता हूँ न मिलो, उन्हें कष्ट होगा।

मालती : यही चाहती हूँ...कि उन्हें कष्ट न हो। पहले तो उन्हें इसकी परवाह नहीं होगी...मैं कहाँ और किसके यहाँ जा रही हूँ। यदि होगी भी तो समझा देना चाहती हूँ कि जिन्दगी में ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं। और फिर वे महात्मा हैं। उन पर इन सब बातों का असर ? दुनिया के साधारण जीव क्या कर रहे हैं ? इसकी चिन्ता वे नहीं करेंगे। {मोती आश्चर्य से उसकी ओर देखता है }

मालती : तुम्हें आश्चर्य्य होता है ? तुम नहीं समझ सकते, मैं इधर कितने दु:ख और पीड़ा में रही हूँ। {मोती का हाथ पकड़ कर } अच्छी बात है उनसे नहीं मिलूँगी। लेकिन तुम चलोगे न ? दुनिया में...मेरा कौन है ? {स्वर भारी हो उठता है }

मोती : ठहरो अभी आता हूँ {मोती का प्रस्थान। विश्वकान्त का प्रवेश। }

विश्वकान्त : तुमने यह क्या ? तुम्हारे सिर का सिन्दूर, मेरे हृदय का लाल रक्त...

मालती : छि: इतनी संकीर्णता भगवान ? तनिक दुनिया की ओर देखो। जब प्यास के मारे प्राण निकलने लगता है...यह नहीं सूझता कि पानी में हैजे के कीटाणु तो नहीं हैं ? पीना ही पड़ता है...प्राण जायेगा या रहेगा इसका विचार तब नहीं होता और फिर...मैंने स्वतंत्र कर दिया तुम्हें। हम दोनों को दु:ख होता।

दोनों ही चिन्तित और व्यथित रहते। अब मैं तुम्हें घृणा करूँगी और तुम मुझे। मैंने ऐसे आदमी से विवाह किया है जिससे तुम जीवन भर घृणा करते रहे हो इसलिये घृणा करोगे न ?

विश्वकान्त : और तुम मुझसे किस लिए घृणा करोगी ?

मालती : इसलिये कि मेरे नारकीय प्रेम के कारण तुम अपने कर्तव्य से गिर रहे हो। जब पिताजी ने कहा था तभी तुमने मुझ से विवाह क्यों नहीं किया। हम दोनों के जीवन का जो सब से सुन्दर समय था...जब हम दोनों एक दूसरे के हृदय से लगे रहना चाहते थे...जब मेरी आराधना तुम करते थे और तुम्हारी मैं...जाने दो, यह तो मानी हुई बात है कि तुमने मुझे प्रेम किया था...इसलिये कि मैं सुन्दर थी...मुझे याद है जब तुम मेरी ओर देखते थे तुम्हारा सारा शरीर केले के पत्ते की तरह थरथरा उठता था। हाँ, तो मैं सुन्दर थी, शिक्षित थी, अच्छे घर की थी, मेरे पास वे सभी साधन थे जिनकी आड़ में बैठकर हम दोनों संसार की यातना और अशान्ति को भूल जाते। तुमने मुझे प्रेम किया था और मैंने भी तुम्हें प्रेम किया था। तुम्हारा वह कोमल शरीर, नशीली आँखें, तुम्हारे हृदय की बिजली, तुम्हारा वह सब जो मुझे पागल बना देता था। मुझे रात भर नींद नहीं आती थी...मैं सोचा करती थी...मैं मरने लगती और तुम अन्त समय आकर मुझे अपनी गोद में उठा लेते, वह मरना कितना सुखमय होता। पर हम लोगों के प्रेम का आधार वासना, जवानी के उपभोग की इच्छा...ईश्वर ने हम दोनों को बचा लिया।

{विश्वकान्त का उसकी ओर निराशा की दृष्टि से देखने लगना। मालती का मुँह फेर धरती की ओर नीचे देखना}

विश्वकान्त : मालती तुम चेत में नहीं हो।

मालती : ऐसा नहीं है। मैं आज कई वर्षों पर चेत में आयी हूँ। तुम्हीं बतलाओ हम लोग प्रेम करते थे किस लिये ? कभी भी हम लोगों ने सोचा था ? सुन्दर भोजन या वस्त्र पर जिस तरह गँवारों की तबीयत चल जाती है, उसी तरह हम दोनों की तबीयत...हम लोगों पर नहीं चल पड़ी थी ? हम लोग उन लेखकों की पुस्तकें पढ़ते थे, जिन्होंने रक्त मांस की बुराई को--वासना या मोह को सुन्दर बनाकर हम लोगों का स्वर्ग बना दिया था। मैं तो उन लेखकों और उन चरित्रों से घृणा करती हूँ। कहीं कोई प्रेमी हाथ जोड़कर अपनी प्रेमिका से प्रेम की भीख माँग रहा है तो कहीं प्रेमिका घुटने टेक कर प्रेमी के सामने आँचल की फाँसी लगा रही है--यह सब घृणित है--जीवन को बुराई की राह पर ले जाना है--पाप को सुन्दर बनाना है। जिस तरह भोजन या पानी बिना काम नहीं चल सकता...उसी तरह स्त्री या पुरुष बिना काम नहीं चल सकता। यह प्रकृति की बात है। इसे इसी रूप में छोड़ देना चाहिये। जब जरूरत पड़े तब...पर रात दिन उसी की चिन्ता में पड़े रहना...और इसे प्रेम का नाम देना--यह पाप है। और कुछ पाप है या नहीं पर यह तो जरूर पाप है। यह एक रोग है किसी को अधिक खाने का रोग होता है तो किसी को अधिक पानी पीने का और किसी को जवानी की इस बुराई का जिसे लोग प्रेम कहते हैं।

विश्वकान्त : तो क्या तुम यह अनुभव कर रही हो ?

मालती : सच्चे दिल से। दुनिया पहले बहुत अच्छी थी। जो प्रकृति कहती थी लोग करते थे, लेकिन जब से प्रेम, सदाचार, आदर्श, सभ्यता इस तरह की और सैकड़ों चीजें आती गयीं दुनिया बिगड़ती गयी।

विश्वकान्त : तो तुम अब दुनिया बनाने चली हो ?

मालती : हाँ, मैंने अपने को बनाया है, तुम्हें बनाऊँगी और हमारे तुम्हारे ऐसे लाखों बनेंगे। मेरे लिये दुनिया न छोड़ो--यह कोई ऊँचा आदर्श नहीं होगा। अपनी रक्षा करो। तुम्हारी यह यात्रा दूसरों को प्रोत्साहित करे आगे बढ़ने के लिए। संसार में जन्म लेना, खाना, पीना, मर जाना, यही जीवन है ? जीवन तो वह चीज है जिसकी गति आँधी, तूफान, प्रेम, शोक, सुख, दुःख, मरण किसी के रोके न रुके। {अहमद का प्रवेश }

अहमद : {विश्वकान्त की ओर संकेत कर } तुम अपने प्रेम में भी भाग्यवान थे।

विश्वकान्त : यह तो मेरा हृदय जानता है।

अहमद : फिर वही हृदय की बात...

मालती : {अहमद की ओर संकेत कर } कौन हैं महाशय आप ? आपको साधारण शिष्टाचार भी नहीं...जब दो प्रेमी हृदय...

अहमद : देवी ! शिष्टाचार उनके लिए हैं जिन्हें स्वाभाविक जीवन बिताना नहीं आता। पर जो उसका मतलब समझते हैं, शिष्टाचार या किसी भी ऐसी चीज में नहीं पड़ते। {विश्वकान्त की ओर हाथ उठाकर } शायद आपकी बातों से इनका दिल टूटा हो...लेकिन मेरे हृदय का घाव तो इसी से भर गया। सचमुच जिन्दगी की चाल आँधी-तूफान से नहीं रुक सकती; चाहे वह किसी चीज का हो।

{मालती और विश्वकान्त दोनों अहमद की ओर देखते है-अहमद का चेहरा तमतमा उठता है। मालती विश्वकान्त की ओर देखकर मुस्कराती है }

विश्वकान्त : मैं तैयार हूँ। क्या कहते हो ? मुझे तुम लोगों के साथ, अपने संसार के साथ समझौता करना होगा। चाहे इसमें मुझे अपने अतीत का अन्त करना पड़े।

अहमद : यह तो रोज हो रहा है। हर एक आने वाला दिन बीते हुए दिन का अन्त करता है। {अहमद का प्रस्थान }

विश्वकान्त : मालती ! तुमने मेरी आँखें खोल दीं। पर एक बात है। मुझे अब इस जीवन का अन्त कर दूसरा जीवन धारण करना चाहिये। {विश्वकान्त का प्रस्थान। मालती का वहीं बैठकर घुटनों पर सिर रख देना। रमाशंकर और मोती का प्रवेश। रमाशंकर का मालती के सिर पर हाथ रखना। मालती का चौंककर ऊपर देखना। }

मालती : तुम...तुम जाओ यहाँ से।

रमाशंकर : क्यों ?

मालती : मेरी इच्छा...थोड़ी देर के लिए...जाओ यहाँ से मेरे पैरों के नीचे की पृथ्वी खिसक रही है, मुझ पर और बोझ न डालो...जाओ।

{रमाशंकर का प्रस्थान }

मालती : मोती !

मोती : कहो ?

मालती : मेरा उनका निपटारा हो गया। न मैं अब उनके रास्ते में हूँ और न वे मेरे रास्ते में हैं। यही जीवन की आज्ञा है। तुम चलो ?

मोती : मेरा जीवन इसके लिए आज्ञा नहीं देता। तुम्हारे पिताजी होते तो चलता...उनसे बदला लेने के लिए। उन्होंने मेरी माता का सतीत्व...

मालती : ऐं ?

मोती : कुछ नहीं, जीवन...सब ओर चारों ओर जीवन...

{मोती का प्रस्थान। अहमद का प्रवेश }

मालती : कहाँ हैं ?

अहमद : आ रहे हैं। थोड़ी देर ठहरिये। वे संघ में काम करेंगे, लेकिन संन्यासी बनकर। कोई बात नहीं जैसे उनकी आत्मा को शान्ति मिले।

{अहमद का प्रस्थान }

{संन्यासी वेश में गेरुआ वस्त्र पहने विश्वकान्त का प्रवेश }

मालती : हाँ अब तुम मेरे देवता बन सकते हो...इस रूप में। मेरे शरीर की मुक्ति तो तुम से मिल गई, लेकिन मेरी आत्मा ? कौन जाने...

{झुककर विश्वकान्त के पैर की धूल लेकर सिर पर लगाती है। }

पर्दा गिरता है।

समाप्त

राक्षस का मन्दिर

पुरुष-पात्र

रामलाल	...	वकील
रघुनाथ	...	रामलाल का लड़का
मुनीश्वर	....	रामलाल का मित्र
मिस्टर बैनर्जी	...	मुनीश्वर का बाप
दौलतराम	...	रोजगारी महाजन
भवानीदयाल	...	दौलतराम का लड़का
महेश जगदीश घनश्याम	...	कालेज के विद्यार्थी

थानेदार, सिपाही, नागरिक, मलाह--इत्यादि।

स्त्री-पात्र

अश्करी	...	रामलाल की वेश्या
दुर्गा	...	मुनीश्वर की स्त्री
ललिता	...	रघुनाथ की प्रेमिका
मुन्नी	...	ललिता की छोटी बहन
सुखिया	...	ललिता की दासी

पहला अंक

{आधी रात ! रघुनाथ के पढ़ने का कमरा। मेज पर लैम्प जल रहा है। रघुनाथ कमरे में गुनगुनाता टहल रहा है। कमरे के बाहर बरामदे में कुछ आहट मालूम हो रही है। रघुनाथ झाँक कर बाहर की ओर देखता है, फिर तेजी से लौट कर कुर्सी पर बैठ कर कुछ लिखने लगता है। अश्करी का प्रवेश। अश्करी धीरे-धीरे पैर दबाकर चलती है, रघुनाथ की कुर्सी के पीछे खड़ी होती है, दायें हाथ से रघुनाथ की दोनों आँखें दबाती हुई बायें हाथ से मेज पर से कागज उठा लेती है। }

रघुनाथ : समझ गया--{ छुड़ाने का प्रयत्न करते हुए } छोड़ दो।

{अश्करी और भी जोर से उसकी आँखें दबाकर, अपने बायें हाथ का कागज झुक कर पढ़ने लगती है... धीरे से गाती हुई }

अश्करी : प्रेयसी के वे बिखरे केश
मान के अवसर के वे भाव,
मिलन की प्रथम रात्रि के वेश,
ऐं! यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?
{कुछ और नीचे झुक जाती है। उसकी गर्दन रघुनाथ की गर्दन से सट जाती है। }

रघुनाथ : अच्छा मत छोड़ो। मैं छुड़ाऊँगा भी नहीं।

अश्करी : {कागज मेज पर रखती हुई } आधी रात को जाग कर तुम इस तरह कलेजा निकाल कर कागज पर रखते हो ! इसीलिए इस साल फेल हो गये। देखो मैं तुम्हारे बाबू जी से कहती हूँ कि नहीं। पढ़ना लिखना तो सब हवा हुआ। आधी रात को... कविता...प्रेयसी...मिलन की प्रथम रात्रि। तुम्हारी तबियत सचमुच चाहती है ? चाहती हो तो कहो तुम्हारे बाबू जी से कह दूँ तुम्हारी शादी...। मैं डरती हूँ तुम्हारे ही ऐसे लोगों को कन्जम्पशन होता है। वह वक्त जागने का है ? सारी दुनिया सो रही है।

रघुनाथ : जाओ तुम भी सो रहो... मुझे समाप्त कर लेने दो।

अश्करी : क्या ?

रघुनाथ : {कागज पर हाथ रख कर } यही दो लाइनें और हैं।

अश्करी : तुम्हारे सिर पर तो जैसे कविता का भूत चढ़ गया है...इस वक्त आधी रात को...?

रघुनाथ : हाँ चढ़ गया है...जाओ सो रहो...लिखने दो।

अश्करी : चढ़ गया है, तो उसे उतार डालो...जब तक...तुम सो नहीं जाते...मुझे नींद नहीं आती।

रघुनाथ : देखो तंग न करो। पूरा कर सो रहूँगा। जब तक लिख नहीं लूँगा...तबियत बेचैन रहेगी।

अश्करी : चलो मैं तुम्हारी तबियत ठीक कर दूँगी...{ मुस्करा कर } उसकी दवा मेरे पास है। { रघुनाथ के गले में बाँह डाल देती है। }

रघुनाथ : {उसकी बाँहे निकाल कर झुझला कर खड़ा होता है } इसका मतलब ? तुम मेरे बाप की...मेरे सामने हो...तुम से मैं कई बार कह चुका...तुम अपनी

आदत नहीं छोड़ती। मेरी जिन्दगी क्यों खराब करोगी ? तुम्हारी ओर मैं... उस नजर से देखूँगा ? है उम्मीद ? { वेग से साँस लेने लगता है }

अश्करी : मुझे तो है... मेरी ओर देखो !

रघुनाथ : तुम चली जाओ यहाँ से, नहीं तो मैं...

{अश्करी मेज पर से वह कागज उठा कर जाना चाहती है। रघुनाथ तेजी से झपट कर उसे पकड़ता है। छीना झपटी में कागज फट जाता है। अश्करी आलमारी से उढ़क कर गिरते-गिरते बचती है। रघुनाथ के पिता रामलाल का प्रवेश। रामलाल कुछ आगे बढ़कर खड़े होते हैं, इधर उधर देखने लगते हैं। अश्करी संकोच से आलमारी की आड़ में मुँह कर खड़ी होती है। रघुनाथ नीचे धरती की ओर देखने लगता है। }

रामलाल : मुझे यह सन्देह हो रहा था... रघुनाथ ? { सिर हिलाता है }

रघुनाथ : कैसा सन्देह ?

रामलाल : तुम नहीं जानते कैसा सन्देह ? आज से... मुझसे तुम्हारा कोई वास्ता नहीं। तुम अपने ही लड़के... हाईकोर्ट की वकालत... रोज की प्रतिद्वन्द्विता... शरीर का खून सूख गया... तुम्हारे लिये।... {आँखें गड़ा कर देखता है }

रघुनाथ : मैंने किया क्या ... मैं तो नहीं जान...

अश्करी : { घूमकर } तुम नहीं जानते ? तुमने क्या किया... मेरे साथ ? मैं तुम्हारे बाप के लिये हूँ... तुम्हारे लिये नहीं। तुम्हारे ऐसा लड़का दुश्मन को भी न पैदा हो।

रामलाल : {क्रोध से दाँत पीसते हुये }हरामजादे ! अब चलकर कालेज में मौज उड़ाना। पाँच सौ रुपया तुम्हारी पढ़ाई का खर्च... भीख न मँगवाया तो असल नहीं। तबियत चाहती है गोली मार दूँ। {अश्करी से } तुम यहाँ कब से हो ?

अश्करी : दो घंटे हो गये हुजूर... जाने नहीं पाती थी।

रामलाल : कैसे जाने पाओ मैंने दूध पिलाकर साँप जो पाला है।

रघुनाथ : आपको भ्रम हो गया है... सुनिये सब बातें साफ कर देता हूँ।

रामलाल : चुप रह बेहया। मैंने सब अपनी आँखों से देखा था। क्या सफाई देगा तू ? {रघुनाथ क्रोध से अश्करी की ओर देखता है }

अश्करी : क्या हो गया ? थोड़ी देर पहले मैं मीठी थी अब कड़वी हो गयी ? आदमी कितना जल्दी बदल जाता है। अब मुझे लैला न कहोगे ? {सिर हिलाने लगती है }

रघुनाथ : यह वेश्या आपको धोखे में डाल रही है।

अश्करी : वेश्या ? माँ-बाप, भाई-बहन, दीन और ईमान... सब छोड़कर यहाँ आई... इसी इनाम के लिये ? यह मेरी इज्जत है ? {रामलाल से } हुजूर याद है आपको, कितनी मुहब्बत... कितना भुलावा देकर आप मुझे यहाँ ले आये थे ?

रघुनाथ : तुम यहाँ आई क्यों ?

अश्करी : कहूँ हुजूर। { रामलाल की ओर देखती है }

रामलाल : निकल जाओ... शैतान। इस घर से तेरा कोई नाता नहीं।

रघुनाथ : बस अब मैं सुख से यह घर छोड़ दूँगा। ठीक है... यह वेश्या रहे... लड़का रहकर क्या करेगा...

{रघुनाथ का प्रस्थान}

रामलाल : {अश्करी को छाती से लगाकर} रंज मत करो। जब तक शरीर में प्राण है तुम्हें छोड़ नहीं सकता। मुहब्बत और भुलावा? उसमें संदेह न करना। दस हजार रुपये महीने की वकालत तुम्हारे लिये है। जो तुम्हारे सुख का काँटा बनेगा उसे फूँक दूँगा... चाहे कोई हो।

{अश्करी दोनों बाहें रामलाल के गले में डालकर सिसक-सिसक कर रोने लगती है।}

रामलाल : {उसकी आँखें पोंछते हुए} चुप रहो। कह तो दिया... तुम्हीं मेरी सारी दुनिया हो। मुझे लड़का नहीं चाहिये...कोई नहीं चाहिये। तुम रहो और मैं रहूँ... मेरा स्वर्ग...

अश्करी : अपने पाप का फल पा गई। अब छुट्टी दे दो चली जाऊँ! नाचना- गाना हमारा काम है। उसी से गुजर हो जायेगा। रात दिन की यह जलन! यहाँ न आई होती तो शहर का बाजार मेरे हाथ में...

रामलाल : {उसके सिर पर हाथ रखकर} तुम्हारी कसम खाकर कहता हूँ...उस शैतान को अब इस घर में पैर न रखने दूँगा। एक ग्लास लाओ।

अश्करी : क्या?

रामलाल : मैं क्या पीता हूँ? मेरी तबियत नहीं पहचानती...इतने दिनों तक...

अश्करी : इस समय? आधी रात को...

रामलाल : अब समय का ख्याल नहीं रहा। तुम पिलाती जाओ...मैं पीता जाऊँ... दुनिया एक ओर रहे और हम दोनों एक ओर...

अश्करी : इस वक्त नहीं, तबियत खराब हो जायेगी।

रामलाल : तबियत खराब...? मैंने एक-एक कर सभी रस्सियाँ काट डालीं...आज आखिरी रस्सी काटी है...रघुनाथ को निकाल कर...अपने लड़के को...लाओ देर न करो। अपने हाथों से पिलाओ। मेरी जिन्दगी के दो हिस्से हैं...एक तुम हो और दूसरा...शैम्पियन। अब तो मेरी तबियत अच्छी रहेगी तब, जब ये दोनों एक साथ रहें। {अश्करी का कन्धा पकड़ कर जोर से हिला देता है, अश्करी गनगनाकर मेज के सहारे खड़ी होती है।} तुम बहुत जल्दी काँपने लगती हो।

अश्करी : क्या करूँ? जब छू लेते हो...सारी देह गनगना उठती है। तुमने अपनी सारी रस्सियाँ काट डालीं...मेरे लिए...मैंने तुम्हारा सब कुछ...

रामलाल : तुम्हारी रस्सी सबसे मजबूत है...

अश्करी : यह तो फजूल कह रहे हो। सिवा शराब पिलाने के और मैं किस काम की? करीब-करीब पाँच साल...तुमने मुझे कभी मुहब्बत से नहीं पकड़ा।

रामलाल : मुहब्बत से पकड़ा नहीं जाता अश्करी! मुहब्बत से छोड़ा जाता है।

अश्करी : हूँ, तो रघुनाथ को मुहब्बत से छोड़ा है? शायद...

रामलाल : अश्करी! कुछ पूछो मत। चुपचाप देखती चलो। दुनिया एक तमाशा है ...देखते सभी हैं। कोई समझ नहीं पाता। यही होता रहा है, यही हो रहा है और यही होगा। दुनिया ऐसी ही हमेशा की है, न कभी इससे अच्छी थी और न बुरी हो रही है। जो इसे समझता नहीं, कहता है कि यह बुरी हो रही है, इसलिए कि इसके पहले की दुनिया उसने नहीं देखी। लेकिन जो इसे समझता है...वाह क्या पूछना...{मारे उत्साह और आनन्द से कुर्सी पर से उछल पड़ता है। अश्करी हिचक कर पीछे हटती है} क्यों क्या हुआ?

अश्करी : मैं तो डर गई... रहते-रहते जैसे पागल हो उठते हो।

रामलाल : इसका मतलब यह कि जिस समय मैं सबसे अधिक होश में रहता हूँ... तुम मुझे पागल समझती हो। खैर... जाओ ले आओ... यह सब तो... {अश्करी का प्रस्थान। रामलाल का उठना कमरे में इधर-उधर आसूदगी के साथ टहलना। दोनों हाथों से आलमारी पकड़ना और नीचे जमीन की ओर देखने लगना। थोड़ा सा करवट होते हुए आलमारी पर सिर टेक देना, मुँह का छिप जाना, चमेली की माला पहने मनोहर का प्रवेश। रामलाल का उसकी ओर घूमकर देखना, हाथ बढ़ाते हुए }

रामलाल : देखा तुमने ? { मनोहर का हाथ अपने हाथ में ले लेते हैं }

मनोहर : इसमें क्या पूछना है, आप...

रामलाल : अजी यह सब तमाशा है, सारी दुनिया तमाशा है, मैं तो इसे सीरियस नहीं समझता... {कुर्सी पर बैठते हुए } बैठो... { मनोहर मेज पर बैठता है। रामलाल उसके हाथ को झटका देते हैं, मनोहर का हाथ ऊपर उठकर जोर से मेज पर गिर पड़ता है }

मनोहर : ए... स... {हाथ दबाते हुए }

रामलाल : इतने पर...

मनोहर : तब क्या मेरा शरीर पत्थर...

रामलाल : { मनोहर की चमेली की माला हाथ में लेकर } आज बड़ी तैयारी से चले।

मनोहर : यह तो हम लोगों का नियम है... जिसका विवाह नजदीक आता है, उसे फूल की माला पहननी पड़ती है।

रामलाल : ऐं, तुम विवाह...

मनोहर : हाँ। { मुस्करा उठता है }

रामलाल : कब ?

मनोहर : पता नहीं... लेकिन जल्दी... {कुछ सोचकर } लेकिन आपने आज गजब किया... रघुनाथ...

रामलाल : मैंने तुमसे कहा था...

मनोहर : लेकिन बात कौन सी आ पड़ी ?

रामलाल : मैंने अश्करी को भेज दिया... मौका मिल गया।

मनोहर : लेकिन रघुनाथ से कोई वैसी बात तो शायद न... आपने उसे सिखला...

रामलाल : वैसी बात क्या ? इस वक्त, आधी रात को जो अश्करी और रघुनाथ या कोई भी जवान स्त्री-पुरुष मिलेंगे तो कोई न कोई बात उस मतलब की हो ही जायेगी। मैंने अश्करी से कहा, देखो रघुनाथ सो रहा है। वह नीचे यहाँ आई मैं जानता था कि वह जाग रहा था... मैं भी धीरे से चला। मुझे इस बात का सन्देह पहले से ही था कि रघुनाथ और अश्करी में... निपटारा हो गया... अच्छा हुआ। अपने को बचाने के लिए दोनों ने एक दूसरे को मुलज़िम कहा... इस तरह दोनों ही बच गये।

मनोहर : लेकिन अब...

रामलाल : मैं वह बाप नहीं जो प्रेम में आकर अपने लड़के की जिन्दगी खराब करता है... उसके दिल और दिमाग को गुलामी के लिए तैयार करता है। मैं व्यक्ति

की स्वतन्त्रता का पक्षपाती हूँ, हर एक आदमी अपने रास्ते पर चले, इसकी जरूरत नहीं कि जो दूसरे कहें...वही...करें। {कुछ सोचकर } रघुनाथ के लिए भी दूसरा हूँ और तुम भी, उसे दुनिया में अपना रास्ता निकालना चाहिये।

मनोहर : लेकिन इसमें बुराई...शायद कहीं वह ऐसा काम कर बैठे...जिससे आपको...

रामलाल : {मुस्करा कर } मुझे क्या ? आराम करेगा तो वह... फाँसी पड़ेगा तो वह, बुराई भलाई की बात...{कुछ सोचने की मुद्रा में ऊपर देखकर } यह तो कायरों का काम है जो जिन्दगी का सामना बहादुरी के साथ नहीं कर सकते। मैंने रघुनाथ को अपने जेलखाने के बाहर कर दिया है। फिर किसी जेलखाने में पड़ेगा तो उसकी मूर्खता होगी। मेरे पास शराब और वेश्या दोनों...इसका असर उसपर...यों तो ऊपरी तौर पर वह मेरी इन दोनों बातों को बुरा समझता था लेकिन वास्तव में उसने मेरी बोतल भी नहीं छोड़ी और अश्करी को तो...खैर यह अच्छा हुआ। उसे भी होश...

{मनोहर उसकी ओर ध्यान से देखने लगता है। रामलाल हथेली पर सिर रखकर दायें हाथ की उँगली से मेज खटखटाने लगते हैं। अश्करी का प्रवेश। अश्करी नीचे सिर किये मेज पर बोतल और शीशे का ग्लास रखती है...बाहर की खिड़की से होकर नीले रंग के टार्च लाइट का फोकस दूसरी ओर की दीवाल पर पड़ता है। मनोहर उसे देखकर चौंक पड़ता है। रामलाल की बाँह हिला कर उधर संकेत करता है। रामलाल भी दीवाल पर नीली रोशनी देखते हैं }

रामलाल : ऊपर जाओ...कोई शायद...पुलिस...

मनोहर : { कोट की जेब से पिस्तौल निकाल कर } मैं तैयार हूँ...चाहे जो हो...

रामलाल : {सिर हिला कर } बेवकूफी...ऊपर जाओ...दुनिया को समझो...

मनोहर : कायरता ?

रामलाल : बहादुरी की ढोंग...ऊपर जाओ। { अश्करी से } इन को ऊपर ले जाकर रघुनाथ की चारपाई पर सुला दो। रघुनाथ के कपड़े पहना देना। मैं सब देख लूँगा। जल्दी करो।

{मनोहर और अश्करी का दूसरे कमरे से प्रस्थान। बाहर के किवाड़ पर धक्का--धाँय की आवाज...फट-फट कर किवाड़ खुल पड़ते हैं। सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर मिस्टर बैनरजी का प्रवेश। रामलाल उठकर हाथ बढ़ाते हैं...दोनों हाथ मिलते हैं। मिस्टर बैनरजी कमरे में इधर-उधर ध्यान से देखने लगते हैं। दोनों कुर्सियों पर बैठते हैं }

मिस्टर बैनरजी : मुझे आप से कुछ पूछना है ?

रामलाल : {शीशे के ग्लास में शराब उड़ेलते हुए } क्षमा कीजिए...थोड़ी देर...मेरा टाइम बीत रहा है। { ग्लास बैनरजी के पास रख कर } हाँ लीजिये। { बोतल मुँह से लगाकर एक घूँट पीते हैं...खाँसी आ जाती है...मुँह से शराब निकल कर मेज पर हवा के धक्के के साथ फैल जाती है। कई बूँद मिस्टर बैनरजी के मुँह पर पड़ती है। मिस्टर बैनरजी घबड़ा कर नाक सिकोड़ कर उठते हैं...जल्दी से रूमाल निकाल कर मिस्टर बैनरजी मुँह पोंछते हैं। } मुझे अफसोस है। {मिस्टर बैनरजी उन्हें बायें हाथ से धक्का देते हैं। रामलाल की बोतल जमीन पर गिर कर चूर-चूर हो जाती है। शीशे का एक टुकड़ा रामलाल के पैर में धँस जाता है। रामलाल पैर मेज पर रखकर शीशा निकालते हैं, खून

बहने लगता है। रूमाल से पैर दबाकर बैनरजी की ओर देखते हुए } जरा-सा और ठहर जाते... मैं पी लेता... उहँ। सब नष्ट हो गया।

मिस्टर बैनरजी: पुलिस बाहर खड़ी है।

रामलाल : जाने दीजिए... आइये पहले-{ ग्लास बढ़ाते हुए } यह लीजिये... फिर... पुलिस देखी जायगी!
{ अश्करी का प्रवेश }दो बोतल और लाओ... तेजी से...
{अश्करी का विस्मय से देखते हुए प्रस्थान }

मिस्टर बैनरजी : यह कौन है...?

रामलाल : यह तहजीब के खिलाफ है... किसी स्त्री के विषय में पूछना... वह मेरी वेश्या... तुम मेरे मित्र हो...

मिस्टर बैनरजी : आप और वह... बहुत फरक है।

रामलाल : आपकी यह सहानुभूति... मेरे लिये या उसके लिये ?

मिस्टर बैनरजी : दोनों के लिये...

रामलाल : किन्तु किस पर विशेष ?

मिस्टर बैनरजी : अवश्य ही उसके लिये... आपका क्या... आपको उसे दूसरों के साथ... मनोविनोद करने ही देना चाहिए ?

रामलाल : {मिस्टर बैनरजी के कंधे पर हाथ रखकर } ओह ! जरूर... मेरा बोझ हलका हो जायगा। वह संतुष्ट... कैसे... गैरमुमकीन है {होंठ निकालकर } मुझमें प्रेम करने की शक्ति नहीं... उसे आवश्यकता है... यौवन की... अगर आप उसे संतुष्ट कर सकें... प्रेम कर सकें और मुझे... हाँ... इस बोझ को कुछ तो हल्का कर सकें!
{मिस्टर बैनरजी ह्विसिल देते हैं। कई कान्स्टेबलों के साथ पुलिस सब-इन्सपेक्टर का प्रवेश }

मिस्टर बैनरजी : {सब इन्सपेक्टर से } उनसे अभी बाहर ठहरने को कहिए.. .आइये... { ग्लास बढ़ाते हुए } लीजिये... बैठिये... यहाँ।
{पास ही रखी कुर्सी की ओर संकेत करते हैं }

सब इन्सपेक्टर : मैं तो नहीं...

मिस्टर बैनरजी : ओह... आप ब्राह्मण... तब आप जायँ। कोई जरूरत नहीं... { सिपाहियों के साथ सब-इन्सपेक्टर का प्रस्थान... रामलाल से } आपके यहाँ मनोहर आया है... वह भयंकर क्रान्तिकारी है। उसे पकड़ने के लिए...

रामलाल : ऐं कब ? अभी तो आपने एक घूँट भी नहीं... और नशा आ गया।

मिस्टर बैनरजी : नहीं जनाब मैं खूब जानता हूँ।

रामलाल : {उठकर खड़े होते हुए } तब मैं जाकर पुलिस को रोक देता हूँ... अच्छा हो मेरे घर की तलाशी हो जाय। इस वक्त कोई जानेगा भी नहीं। मेरी इज्जत भी बच जायेगी। { दरवाजा की ओर बढ़ते हुए } आपका सन्देह मिट जाय।

मिस्टर बैनरजी : नहीं... कोई सन्देह नहीं मुझे... लौटिये...

रामलाल : { अपनी जगह पर लौट कर बैठते हुए } आपके पास इतनी समझ नहीं कि जिसका सारा दिन हाइकोर्ट में 'माई लार्ड' 'माई लार्ड' कहते बीत जाता है और रात जिसकी शराब और वेश्या में... वह इन संगीन बातों में पड़ सकता है... सोचिये तो महाशय ?

मिस्टर बैनरजी : दुनिया में कौन क्या कर सकता है... कहा नहीं जा सकता।

रामलाल : तब तो आप भी क्रान्तिकारी हो सकते हैं... जब दुनिया ऐसी धोखे की टट्टी है... हो सकते हैं न ?

मिस्टर बैनरजी : हाँ अगर मौका पड़े... कब कौन क्या कर सकता है... कहा नहीं जा सकता है।

रामलाल : फिर इस आधी रात को किसी के प्राण के पीछे क्यों पड़े हैं ? दुनिया की ओर से नजर उठा कर एक बार ईश्वर की ओर भी देखिये।

मिस्टर बैनरजी : मैं इस लायक नहीं हूँ... और मुझे ईश्वर में विश्वास भी नहीं...

रामलाल : तब आप के जीने का मतलब ? जो ईश्वर के लिये नहीं जीता वह...

मिस्टर बैनरजी : यह सब बातें आप को शोभा नहीं देती... आप...

रामलाल : क्योंकि मैं शराब पीता हूँ... मैंने वेश्या रक्खी है... मेरे लिए ईश्वर... आप क्या समझते हैं ? जो कीड़े नाबदान में {हाथ की उँगलियों को हिलाते हुए} कलमल कलमल किया करते हैं... उनके लिये कोई आशा नहीं ?... वे वैसे ही रहेंगे। {अश्करी का प्रवेश। अश्करी मेज पर दो बोतलें रखती है} जाओ {अश्करी का प्रस्थान। रामलाल अपना बॉया हाथ मेज पर, हथेली ऊपर की ओर रखते हैं, दायें हाथ से मेज पर से चाकू उठा कर जोर से हथेली में मारते हैं, हथेली के आर-पार चाकू हो जाता है ! मेज पर केहुनी टेक कर हाथ ऊपर उठाते हैं, खून की धार निकल पड़ती है। }

मिस्टर बैनरजी : हाँ... हाँ... क्या करते हैं... राम राम... {मुँह फेर लेते हैं। }

रामलाल : {बैनरजी के सिर पर हाथ रखते हैं} इधर देखिये, काम तो इतना बड़ा लिया आपने और दिल आप का... {मुस्करा कर} जिन्दगी के जेलखाने के बाहर देखिये, कुछ है या नहीं ? कैसे मुँह फेर लिया आपने ? क्योंकि आप सह नहीं सके। जिनको आप फाँसी दिलाते हैं और इनाम और तरक्की लेकर खुश होते हैं... उस समय यह दिल कहाँ रहता है ? इतनी बात मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये... मुझे इसकी तकलीफ जरा भी नहीं है। मैं अभी जीना चाहता हूँ... नहीं तो एक क्या, सैकड़ों छूरी अपनी देह में मारता आप की आँखों में सुर्मा लगा देता, तब आपको देख पड़ता। मैं तो जो कुछ भी करता हूँ ईश्वर से आज्ञा ले लेता हूँ... वह देखिये {खिड़की की ओर हाथ उठा कर} वह भगवान खड़े हैं... मुस्करा रहे हैं... मैं शराब पीता हूँ उनके लिये... सब कुछ उनके लिये... सुख-दुख मेरा नहीं उनका है... वे स्वयं सब चीजों के साथ समझौता कर लें और मुझे क्या... { गला रुँध जाता है }

मिस्टर बैनरजी : चाकू निकाल लीजिये...

रामलाल : फायदा... अब तो जो होने को था हो चुका... कल डॉक्टर को बुलाकर बैण्डेज का इन्तजाम कर निकलवा लूँगा... {हाथ आगे बढ़ा कर} खींच लीजिये न तेजी से...

मिस्टर बैनरजी मुझसे तो नहीं होगा...

रामलाल : कैसे हो... आप से केक और बिस्कुट खाना हो सकेगा... चाय, शराब... फर्स्टक्लास होटल, मोटर, वेटिंगरूम, ट्रेन का कम्पार्टमेण्ट। जिसे आप बड़प्पन समझते हैं... वह है नहीं... आप क्या देख सकेंगे? दुनिया के गये गुजरे आदमी जिन्दगी का मजा आपको क्या मिलेगा ? आपके पास जिन्दगी है ही नहीं। आपने कभी वह गाना सुना है; {छाती पर हाथ रख कर} जो यहाँ, आदमी के दिल में होता है, जिसमें एक के बाद एक और इस

तरह हजारों जगत डूब जाते हैं...और आदमी सब कुछ लाँघ कर, समय और सीमा के ऊपर सिर उठा कर ईश्वर के सामने खड़ा होता है और कहता है 'तुम्हारी दुनिया मुझे सम्हाल नहीं सकती...अब मुझे अपनी जगह दो।'

मिस्टर बैनरजी : {दोनों हाथ जोड़कर} मुझे क्षमा कीजिए... {मेज पर सिर रख देते हैं।}

रामलाल : {उनके सिर पर हाथ रख कर} इधर देखिये {मिस्टर बैनरजी उनकी ओर देखते हैं। बायाँ हाथ आगे बढ़ाकर} इसे खींच लीजिये। {बैनरजी उनका हाथ पकड़ते हैं, लेकिन पकड़ते ही बैनरजी का हाथ काँपने लगता है} रहने दीजिये, आप से नहीं हो सकेगा। आपके दिल में वह कमोजरी भरी है...जिसे दुनिया के बच्चे...दया कहते हैं, सिम्पैथी कहते हैं...रहम कहते हैं...इसी तरह उसके लिये हजारों नाम दे डाले गये हैं। आदमी की कमजोरी खूबसूरत हो उठी है। दया और हत्या...एक ही चीज के दो नाम...दोनों ही बुरी। आदमी किसी को चार पैसे देकर सोचता है...मैंने आज किसी न किसी की भलाई की...यह नहीं सूझता मूर्ख को कि उसने किस की भलाई की, अपनी या दूसरे की। इसी तरह हत्या कर वह नहीं सोचता कि उसने अपनी हत्या की या दूसरे की। अश्करी! {जोर से बुलाते हैं...अश्करी का प्रवेश} भेजो मनोहर को... {अश्करी का प्रस्थान} बुला देता हूँ अब पकड़िये।

मिस्टर बैनरजी : अब बहुत हुआ...मैं पागल हो जाऊँगा।

रामलाल : आप होश में तो कभी थे ही नहीं...अब शायद...खैर, मनोहर को पकड़िये...आपको जो काम करना है। {मनोहर का प्रवेश}

रामलाल : ऐं, तुम्हारी दाढ़ी-मूँछ नकली थी? पकड़िये साहब यह आ गये। इन्होंने मुझे भी धोखा दिया...मैं जानता था...मैं इन्हें जानता हूँ...लेकिन अब। {मनोहर पिस्तौल निकालकर बैनरजी की ओर निशाना ठीक करता है।}

मिस्टर बैनरजी : हाँ... मारो बाबू...कोई हर्ज {ध्यान से देखकर} मुनीश्वर! {मनोहर चौंक पड़ता है, उसके हाथ से पिस्तौल छूटकर जमीन पर गिर पड़ता है, रामलाल आश्चर्य से दोनों की ओर बारी-बारी देखते हैं।} मुनीश्वर! उठा लो पिस्तौल मारो मुझे...मैं आज चार महीने से तुम्हारे पीछे पड़ा हूँ...तुम्हें फाँसी दिलाने के लिये।

मनोहर : चलिये अदालत में, मैं सब कुछ स्वीकार कर लूँगा। अब आपको अधिक कष्ट देना मैं... {पिस्तौल उठाकर जेब में रखता है।}

मिस्टर बैनरजी : अब क्या इससे अधिक कष्ट दोगे?...यह तो तुम जानते हो न कि मैंने यह काम करना क्यों शुरू किया? तुमने अभी मुझ पर पिस्तौल उठाई थी। मैं समझता हूँ मुझे पहचान कर...

मनोहर : हाँ जानता हूँ। आपको मैं पहचानता था...

मिस्टर बैनरजी : तब...? {रामलाल से} यह मेरा लड़का है...दो वर्ष हुआ घर छोड़कर भाग गया। तीन महीने के बाद एक पत्र मिला। उसमें लिखा था 'आपके लड़के मुनीश्वर बैनरजी की हमारी पार्टी ने हत्या की है। लाश उस गाँव के पास, उस नदी के किनारे, उस जगह गाड़ी गयी है। उसने हमारी पार्टी के साथ विश्वासघात किया था' मैं वहाँ गया। जमीन खोदी गयी। एक सड़ी हुई लाश निकली। मैंने समझा मेरा मुनीश्वर यही है, तब से...हे भगवान्! मेरे आँसू क्या करेंगे? इस पार्टी का पता लगाना चाहिये जिसने मेरे एकलौते लड़के की...। मुनीश्वर इधर आओ। मैं तुम्हारे लिये राक्षस बना था...हो

सका तो आदमी बनूँगा। पुत्र क्या चीज है, अगर तुम जानते ? {उसकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं } पर तुमने तो मुझ पर पिस्तौल...

रामलाल : तो आप अपने मुनीश्वर की जान लेना चाहते थे...आप धन्य हैं...अगर मैं भी कभी इस तरह मोह छोड़ सकता...

मिस्टर बैनरजी : मैं मोह क्या छोड़ सकूँगा ? आपके शब्दों में गया गुजरा आदमी। मुझे विश्वास हो गया था...इसी मनोहर ने मेरे मुनीश्वर की...मैंने पूरा सबूत इकट्ठा कर लिया था। और इसमें शुबहा नहीं कि अदालत से फिर न बचते। मुनीश्वर! {मुनीश्वर मिस्टर बैनरजी की ओर निसंकोच और सूखी आँखों से देखता है } मैं तुम्हारा बाप हूँ, जानते हो कि नहीं। { मुनीश्वर उसी प्रकार देर तक उनकी ओर देखता रहता है। रामलाल उसके पास जाकर उसके कंधे पर हाथ रखते हैं। मुनीश्वर उसी प्रकार निश्चेष्ट खड़ा रहता है। }

रामलाल : तब...? अब कहो ?

मुनीश्वर : कुछ नहीं...मेरा रास्ता साफ...ज्यों का त्यों...

मिस्टर बैनरजी : बूढ़ी माँ, जवान स्त्री, दो वर्ष का बच्चा और मेरी हालत तो... मुनीश्वर!

रामलाल : इनकी शादी हुई है ?

मिस्टर बैनरजी : जी हाँ...दो वर्ष का एक लड़का भी है...

रामलाल : {मुनीश्वर का सिर हिला कर } तब तुम घर जाओ। यह बहुत बड़ा पाप...औरत, वह भी जवान...घर पर छोड़ कर...तुम क्या कर रहे हो ?

मुनीश्वर : जो मुझे करना है...

रामलाल : आखिरकार तुम्हें करना क्या है ?

मुनीश्वर : कुछ नहीं ! चुपचाप...मौज...आनन्द, जो तबियत चाहे...जब जिस समय...

रामलाल : यह तो तुम मनुष्यता की प्रारम्भिक भाषा बोल रहे हो।

मुनीश्वर : जो हो। मैं तो दिल से चाहता हूँ...मनुष्य की वही प्रारम्भिक जिन्दगी फिर लौट आती। न कोई बन्धन, न कोई चिन्ता ? न धर्म, न सदाचार, न कानून, न क्रान्ति। भेदभाव का नाम नहीं...सब सुछ एकरस...स्वरूप एक में... जहाँ न पितृधर्म है, न मातृधर्म, न पत्नीधर्म, न पतिधर्म। जहाँ न कर्तव्य है न आदर्श।

रामलाल : सपना देख रहे हो ?

मुनीश्वर : सपना ? कोई दिन था जब दुनिया वैसी ही थी। न ईश्वर का अत्याचार होता था, न धर्म का। न माँ का, न बाप का, न भाई का, न स्त्री का , न लड़के का। वही दुनिया फिर लौट आती। { मिस्टर बैनरजी की ओर देख कर} देखिये...मैं बहुत दूर अब आ गया हूँ। लौटना मुश्किल है। मैं क्रान्तिकारी हूँ। लेकिन अंगरेज सरकार के खिलाफ नहीं...हर एक सरकार के...राज्य करने के, कानून बनाने के, शिक्षा देने के, धर्म और सदाचार बनाने के सभी तरीके मनुष्य को, उसके भीतर की शक्तियों को दुर्बल बनाते चले जा रहे। हमारी जिन्दगी के खतरे तो मर रहे हैं...लेकिन ग्रह जिन्दगी ? आह! कीड़ों से भी बुरी। देवता को लात मार कर पिशाच की पूजा। {दूसरे कमरे के दरवाजे तक आकर अश्करी रामलाल को संकेत करती है। रामलाल का प्रस्थान }

मिस्टर बैनरजी : तुम चाहते क्या हो ?...अगर यह सब बुरा...

मुनीश्वर : मैं चाहता हूँ सब कोई अपनी इच्छा पर, अपने भरोसे छोड़ दिये जायें।

मिस्टर बैनरजी : पैदा होते ही कुएँ में न फेक दिया जाँय !

मुनीश्वर : { गर्दन टेढ़ी कर छत की ओर देखता है, अँगूठे और तर्जनी के बीच में अपनी ठुढ्ढी दबाकर } कुएँ में ऐं?...हाँ ठीक... { बैनरजी की ओर देखकर} लेकिन अगर माँ-बाप यह कर सकें, तब तो फिर उनकी मुक्ति हो जाय। आप क्या समझते हैं कि मुझे कुएँ में न फेक कर आपने मेरे साथ एहसान किया ? जो आप नहीं कर सके उसके लिये ? जो आप की कमजोरी थी... उसके लिये ?

मिस्टर बैनरजी : तब चलो अपने लड़के को कुएँ में फेंक आओ ?

रामलाल : हाँ-हाँ, क्या कहते हैं?-{कहते हुए प्रवेश। मुनीश्वर की ओर देख कर मुस्कराता है। रामलाल मुनीश्वर की ओर देखते है। } तुम अभी दुनिया को समझे नहीं...जितना तुम समझते हो। दुनिया को समझने के लिये दुनिया के साथ रहना होता है।

मुनीश्वर : जी नहीं... तब समझने के लिये होश कहाँ रहता हैं ? कहीं इज्जत, कहीं धन, माँ, बाप, भाई, लड़के वाले ये दुनिया को समझने देंगे ? इनसे अलग होकर, दस कदम आगे बढ़ कर इनकी ओर लौट कर देखिये, तब पता चलेगा। न मालूम दुनिया के पहले आदमियों ने यह जेलखाना कबूल कैसे किया ?

रामलाल : किसी ने खुशी से कबूल किया ? दुनिया ने कबूल करने के लिये मजबूर किया। इतने बड़े मेटीरियलिस्ट क्यों बन रहे हो ? {बैनरजी की ओर संकेत कर } तुम्हारा शरीर इनका रक्त-मांस है...जानते हो कि नहीं ?

मुनीश्वर : खूब जानता हूँ। लेकिन यह भी जानता हूँ कि वह रक्त-मांश श्मशान की चीज हैं...जलाने-गाड़ने की। मेरी नजर में उसका मूल्य बहुत कम है।

रामलाल : मैं जानता था कि तुम आदमी हो...राक्षस।

मुनीश्वर : { जोर से हँसता है } हा...हा...अब आपने समझा। आप जिसे आदमी कहते हैं...वह या तो राक्षस है या देवता। आदमी ऐसी चीज न है, न थी, न होगी। {बैनरजी उठ कर खड़े होते हैं। }

रामलाल : इस लड़के का दिमाग फिर गया है। आप जाइये फिर देखा जायगा।

मिस्टर बैनरजी : मुनीश्वर ! एक बार घर न चलोगे ? तुम्हारे साथ मैं बहस नहीं कर सकता। इतना जानता हूँ, घर वाले तुम्हें देखना चाहते हैं। तुम्हारी माँ...
{मुनीश्वर धरती की ओर देखने लगता है। मिस्टर बैनरजी थोड़ी देर उसकी ओर देखते हैं। }

मिस्टर बैनरजी : {रामलाल से } मैं समझ नहीं पाता... क्या करूँ ? रामलाल बैनरजी के पास जाते हैं। उनका हाथ पकड़ते हैं। उसी तरह दोनों का प्रस्थान। मुनीश्वर दरवाजे के पास तक जाता है, बाहर की ओर झाँककर देखता है, फिर लौट कर कुरसी पर बैठकर अँगड़ाई लेता है। {अश्करी का प्रवेश। }

अश्करी : तुमने यह मुझसे छिपा रखा था ?

मुनीश्वर : हाँ।

अश्करी : क्यों ?

मुनीश्वर : कहने की कोई जरूरत नहीं थी।
{अश्करी दाँतों से अपना होठ जोर से दबाती है, कुछ तिरछी होकर नीचे जमीन की ओर देखने लगती है। }

अश्करी : { धीरे से सिर उठाकर } तो तुम चाहते हो...मुझे चाहते नहीं { सिर हिलाती है }

मुनीश्वर : इसके लिए सफाई नहीं दूँगा...इतना ही कहना ठीक है कि मैं तुमको चाहता हूँ {उसकी ओर एकटक देखते हुए } नित्य हरएक घड़ी बराबर, सोते जागते। {उठकर उसका हाथ पकड़ता है। अपनी ओर खींच कर छाती से लगाता है मुँह से मुँह और ओठ से ओठ }

अश्करी : { अपने को छुड़ा कर } हम लोग पागल हो गये हैं।

मुनीश्वर : {उसे खींच कर छाती से लगाते हुए } नहीं होश में हैं। { अश्करी का सारा शरीर थर-थर काँपने लगता है। ललाट से पसीना चल पड़ता है। मुनीश्वर हाथ से उसके ललाट का पसीना पोंछता है। अश्करी उसकी छाती से सिर सटा कर नीचे देखते लगती है। मुनीश्वर दायाँ हाथ उसकी पीठ पर फेरने लगता है, बायाँ हाथ सिर पर रखता है। }

अश्करी : {छुड़ाने का प्रयत्न करती हुई } मैं मर जाती...

मुनीश्वर : इस समय मरने में वड़ी...

मुनीश्वर : इस समय तुम अमर हो...

अश्करी : मुझे मार डालो।

मुनीश्वर : बलिदान देवता चाहता है...राक्षस नहीं। मैं राक्षस हूँ।

अश्करी : देवता कौन है ?

मुनीश्वर : रामलाल जी ! तुम्हें अपना सब कुछ देते हैं... लेते कुछ नहीं।

अश्करी : मेरी तबियत...अब मुझे यहाँ से कहीं ले चलो।

मुनीश्वर : कहाँ ?

अश्करी : जहाँ जी चाहे।

मुनीश्वर : अभी मेरे लिये कोई जगह नहीं है। राक्षस का कोई मन्दिर नहीं होता। वह जब चाहता है...देवता के मन्दिर में आ जाता है। इसलिये कि देवता निर्बल होता है। किसी को रोक नहीं पाता।

अश्करी : { अपने को छुड़ा कर, कई पग पीछे हट कर } तुम यहाँ न आया करो...

मुनीश्वर : मुझे कोई रोक दे, है किसी में बस ?

अश्करी : मैं उनसे कह दूँगी। तुम्हें अपने यहाँ न आने दें।

मुनीश्वर : लेकिन वे मुझे रोक नहीं सकते। उनके मुँह से यह बात निकलेगी नहीं!

अश्करी : और जो निकले ?

मुनीश्वर : हो नहीं सकता। उसका स्वभाव तुम बदल नहीं सकोगी। वे अपने घर को आबाद नहीं कर सकते। उसके लिए उन्हें दूसरों की जरूरत पड़ेगी।

अश्करी : उन्हें जरूरत नहीं है...तुम मेरे लिये...

मुनीश्वर : उन्हें मेरी ही जरूरत है...जो तुम्हारे लिये...तुम्हें मेरी जरूरत है कि नहीं साफ कहो।

अश्करी : जो मुझे तुम्हारी जरूरत न हो...तो तुम आना छोड़ दोगे ?

मुनीश्वर : {अश्करी की ओर देखते हुए } पर मुझे तो तुम्हारी जरूरत है...मैं कैसे जी सकूँगा ?

अश्करी : अपनी औरत के पास चले जाओ।

मुनीश्वर : मुझे दूसरी औरत की जरूरत नहीं है...तुम्हारी, बस तुम्हारी...दुनिया में किसी भी दूसरी औरत की नहीं।

अश्करी : तुम मुझे भूल जाओ। {उसकी आँखों से आँसू निकलने लगते हैं}

मुनीश्वर : रो क्यों रही हो ?

अश्करी : तुमसे मतलब ?

मुनीश्वर : मुझसे मतलब नहीं है ?

अश्करी : नहीं है। मुझे मार डालो। मैं जी कर क्या करूँगी ?

मुनीश्वर : कुछ करने के लिये नहीं जिया जाता। हम लोग जी रहे हैं, जी रहे हैं। जीने के लिये...कोई पहाड़ नहीं उठाना पड़ता।

अश्करी : दुनिया में रहने के लिए कोई मतलब होना चाहिये। ऐसी जिन्दगी...

मुनीश्वर : कुछ नहीं सब व्यर्थ। दुनिया में रहना ही एक मतलब है। नहीं तो फिर एक डोज लिक्विड और साफ...

अश्करी : एक डोज दे दो मुझे।

मुनीश्वर : उसके लिए तैयारी नहीं की जाती। वह तो होने को होता है...ऐसा होता है कि फिर किसी को पता नहीं चलता। अपने को भी पता नहीं चलता।
{अश्करी उसके पास जा कर खड़ी होती है। मुनीश्वर उसके कन्धे पर हाथ रखता है।}

अश्करी : तुम मुझे बड़ा दुःख दे रहे हो। अब तो मैं...

मुनीश्वर : तब मुझसे क्या चाहती हो ?

अश्करी : मुझे मार डालो...

मुनीश्वर : कैसे ?

अश्करी : जैसे तुम्हारी तबियत चाहे।

मुनीश्वर : अश्करी...? जिस दिन तुम्हें देखा...उसी दिन से तुम्हें मार डालने की फिक्र में हूँ। एक दिन न मार डाल कर रोज कुछ न कुछ...थोड़ा-थोड़ा जहर तुम्हें दे रहा हूँ। तुम पचाती चली जा रही हो...लेकिन कितने दिन ? किसी न किसी दिन...

अश्करी : {अपना मुँह ऊपर को उठाती है। कुछ कहना चाहती है, लेकिन मुनीश्वर उसके ओंठ पर ओंठ रख कर चुप कर देता है। रामलाल का प्रवेश। दोनों को एक दूसरे के आलिंगन में देखकर चौंक पड़ते हैं}

रामलाल : यही तुम्हारा दर्शन है मूर्ख ?

मुनीश्वर : जी, इसमें अनस्थिरता कहाँ है !

{अश्करी का प्रस्थान}

मैं समझता हूँ आप मुझे भले जानते हैं। अन्त में उसे भी तो संतुष्ट होना चाहिये। बस खाने और कपड़े से उसका काम नहीं चलेगा...

रामलाल : पर तुम्हें उसकी चिन्ता क्यों ?

मुनीश्वर : इसलिये कि मुझे आप की चिन्ता है।

रामलाल : मेरी चिन्ता ?

मुनीश्वर : जी...हाँ..। वह आप को मार डालेगी। उसकी भीतर की आँधी आप रोक सकेंगे ? {ओंठ निकाल कर सिर हिलाता है}

रामलाल : जो कहीं तुम्हीं को मार डाले... या वह आँधी तुम भी न सम्हाल सको ?

मुनीश्वर : मैं ? हो सकता है... पर इसे तो आप मानेंगे कि मैं आप से अधिक सम्हाल सकता हूँ।

रामलाल : नरक के कीड़े...

मुनीश्वर : हा... हा {हँसकर} दुनिया उन्हीं के लिये है... स्वर्ग की तितलियों के लिये नहीं, जो अपना ही बोझ नहीं..। एक बूँद जल पड़ जाने से जिनकी पाँखें टूट जाती हैं। कीड़े वे तो रेंगते-रेंगते कभी चोटी पर पहुँच जाते हैं। बस उन्हें रेंगते जाना चाहिए... फिर तो वे जहाँ चाहेंगे घर बना लेंगे।

रामलाल : मुनीश्वर...?

मुनीश्वर : कहिये...

रामलाल : तुम यह सब हृदय से कह रहे हो ?

मुनीश्वर : मैं हृदय से कुछ नहीं कहता। शायद हृदय से कहने की बात मेरे पास नहीं है। हृदय से बच्चे कहा करते हैं... जो मचलते हैं... इठलाते हैं और हठ करते हैं... समझाने से नहीं समझते। समझदार आदमी हृदय से नहीं कहा करते। जो जिन्दगी को समझते हैं... उसे हर पहलू से देखते हैं वे तो हृदय के हाथ पाँव बाँध कर उसे कुएँ में फेक देते हैं... कभी लौट कर उसमें झाँक कर देखते भी नहीं।

{रामलाल उसकी ओर आश्चर्य और संदेह से देखते हैं। मुनीश्वर उठता है। खिड़की के पास जा कर खड़ा होता है ? बाहर दूर पर नजर फेंक कर आकाश की ओर देखने लगता है। रामलाल कुर्सी पर बैठते हैं। ग्लास में शराब उड़ेलते हैं... धीरे-धीरे रुक कर पीते हैं और जैसे कुछ सोचने लगते हैं। }

मुनीश्वर : (उसी तरह आकाश देखते हुए) क्यों साहब... तारे कभी नहीं सोते ? {रामलाल उसकी ओर देख कर मुस्कुराते हैं } नहीं सोते होंगे... क्यों सोयें ? एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ: एक साथ इतने ! लोग कहते हैं ईश्वर नहीं हैं। कैसे पागल हैं ! { हाथों में अपना मुँह छिपा कर खिड़की पर झुक कर सिर टेक देता है। रामलाल ग्लास मेज पर रख कर उठते हैं, मुनीश्वर के पास खड़े होते हैं, कुछ देर ध्यान से उसे देखते रहते हैं फिर दूसरे कमरे में चले जाते हैं। मुनीश्वर सिर उठाता है। कुछ देर तक फिर बाहर आकाश की ओर देखता रहता है। दायाँ हाथ उठा कर मुट्ठी बाँधता है और उसे इधर-उधर शून्य में घुमाता है। कई बार झटका देता है। फिर मुट्ठी बाँधे हुए हाथ अपने सिर पर रख लेता है। उसी तरह सिर पर हाथ रखे आगे-पीछे टहलता है। हाथ नीचे गिरता है। झुक कर अपने कोट की जेब में कुछ देखता है। उसे चूमता है। फिर हाथ घुमाकर पिस्तौल का मुँह छाती से सटाता है। घोड़े पर अँगूठा लगाता है। मालूम पड़ता है-- अब अँगूठा दबाता है, अब दबाता है, पर दबाता नहीं। थोड़ी देर तक पिस्तौल का मुँह ठीक छाती से सटा हुआ सामने और उसका अंगूठा पिस्तौल के घोड़े पर पड़ा रहता है। उसके मुँह की आकृति गम्भीर और भयंकर हो उठती है। क्षण भर बाद जैसे उसके भीतर बिजली चमकती है। वह हिल उठता है। आवेश में 'जीवन की जय हो' कह उठता है। हाथ में एक कागज लिए... अश्करी का प्रवेश, अश्करी उसकी छाती से सटी पिस्तौल देख कर... भय के मारे काँपने लगती है। मुनीश्वर उसकी ओर देखता है। अश्करी अपने को सम्हाल नहीं सकती है। काँपती हुई जमीन पर

बैठ जाती है और झुक कर मुनीश्वर के पैर पर अपना सिर रख देती है...दोनों हाथों से उसका पैर पकड़ लेती है। सिसक-सिसक कर रोने लगती है। }

मुनीश्वर : मालूम होता है मैं नरक में जरूर जाऊँगा। पूजा कर रहा था...ध्यान टूट गया। { झुक कर अश्करी के सिर पर हाथ रखता है } मैं तो तुम्हारे रोने से हैरान हो गया हूँ। क्या है ? कैसा कागज ?

अश्करी : तुम आत्महत्या करना चाहते हो ?

मुनीश्वर : {गम्भीर होकर } चाहता तो हूँ!

अश्करी : क्यों ?

मुनीश्वर : तवियत ऊब गयी है। दुनिया में अब ऐसी कोई चीज नहीं देख पड़ती...जिसके लिये मैं जीता रहूँ।{ अश्करी की ओर गम्भीर होकर देखने लगता है, अश्करी भी उसकी ओर देखती है। थोड़ी देर दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं। अश्करी हाथ का कागज फाड़ कर फेंक देती है। }

अश्करी : उन्होंने इसमें लिखा था कि तुम यहाँ न आया करो...लेकिन अब तुम्हारे बिना...

मुनीश्वर : तब मैं नहीं आऊँगा...

अश्करी : कहो तो मैं उन्हें जहर...

मुनीश्वर : {अश्करी के दोनों कन्धों पर हाथ रख कर } जानती हो आदमी के जीवन का दाम कितना अधिक है ? उसमें भी उनके जीवन का...वे देवता हैं...मैं राक्षस हूँ। तुम अपने देवता की... {अश्करी चिन्ता में पड़ जाती है } मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता... विवश हूँ। क्या कहूँ इस अभागे दिल को...नहीं तो तुम्हारा मुँह नहीं देखता। तुम उन्हें जहर देने...पिशाचिनी ! लेकिन तुम्हारा भी दोष नहीं। सारा दोष मेरा है। मैंने ही तुम्हें पिशाचिनी बनाया...इसलिये कि मैं पिशाच...हम दोनों का... साथ। {अश्करी जमीन के नीचे की ओर देखती हुई पैर का अँगूठा हिलाने लगती है। मुनीश्वर आगे बढ़ कर उसके सिर पर हाथ फेरने लगता है। उसके बाल सूँघता है। अश्करी उसके गले में अपनी बाहें डाल देती है। मुनीश्वर उसका मुँह उठा कर चूम लेता है } रानी... जाओ सो रहो...बड़ी रात हो गई है।

अश्करी : और तुम ?

मुनीश्वर : मैं रात को सोंता नहीं...राक्षस रात को नहीं सोते।

अश्करी : कब सोते हो ?

मुनीश्वर : कभी-कभी दो-चार दिन पर जब तबियत चाहती है...सबेरे, दोपहर को या शाम को सो जाता हूँ। रात को नहीं सोता।

{ रामलाल का प्रवेश। अश्करी जाना चाहती है }

रामलाल : ठहरो! {अश्करी खड़ी होती है, खिड़की के बाहर देखने लगती है } तुम्हें मेरा पत्र मिला ? { मुनीश्वर की ओर देखते हैं। }

मुनीश्वर : आप रात को सोते हैं...या पत्र लिखते हैं ? मैं तो रात को पत्र नहीं लिखता हूँ और न पढ़ता हूँ...यह मेरा सिद्धान्त...

रामलाल : मैं पूछता हूँ मिला या नहीं...सिद्धान्त तुम्हारा जो है वह...

मुनीश्वर : आप जानते हैं...तब कोई बात नहीं...पर शायद अभी नहीं जानते!

रामलाल : तुम क्या थे और क्या हो गये ?

मुनीश्वर : जैसे दुनिया बदलती गयी, मैं भी बदल गया। समझते हैं...? जिन्दगी के लिये समझौता, यही तत्व है। जिन्दगी के साथ समझौता करना...कौन नहीं करता है...बुद्ध या ईसा, सुकरात या टाल्सटाय...जो नहीं करता वह मूर्ख...

रामलाल : तुम अपने पाप की वकालत करते हो ?

मुनीश्वर : कौन नहीं करता ?

रामलाल : सब नहीं करते। तुम सारी दुनिया को अपनी ही आँख से देखते हो।

मुनीश्वर : कौन नहीं अपनी आँख से देखता ?

रामलाल : मुनीश्वर मुझे क्षमा करो। मेरी चिट्ठी तुम्हें मिली या नहीं ?

मुनीश्वर : मुझे दिखला कर फाड़ दी गई।

रामलाल : अश्करी ! तुमने मेरे साथ विश्वासघात किया ?

मुनीश्वर : उसका क्या दोष है ? आप को इतना अनुदार नहीं होना चाहिए। मनुष्य अपने हृदय को कहाँ तक कुचलेगा ?

रामलाल : { कुछ सोच कर } मुनीश्वर ! मैं क्या कहूँ, मैं भी नहीं जानता, पर मैं अनुदार नहीं हूँ। मैं तुम दोनों को क्षमा करता हूँ। मैंने अपने हृदय को कितना कुचला है...जो तुम जानते। पर तुम जान कर ही क्या करोगे ? तुम मेरे घाव पर नमक छिड़कते जाओ...और मुझे हँसने दो। मैं रोऊँगा नहीं।

{ रामलाल का प्रस्थान }

मुनीश्वर : {अश्करी का हाथ पकड़ कर } देखा तुमने ? देवता हैं कि नहीं ?

अश्करी : अब तुम को यहाँ नहीं आना चाहिए...मैं अपने पाप का फल भोग लूँगी।

मुनीश्वर : पागल ! पाप किसे कहते हैं ? पाप...दुनिया इसी से है, नहीं तो फिर स्वर्ग हो जाय। यह कभी स्वर्ग होगी नहीं...मैं तो पाप को ही...जिंन्दगी में जो चीज सबसे सुन्दर है...उसी को पाप कहते हैं। दुनिया को वह समझ सकते हैं जो पाप को समझें ? {हँसकर } पाप को सजा दो...स्वर्ग और नरक कहीं नहीं रहेगा। स्वर्ग और नरक लड़कों का खेल है।

अश्करी : आखिरकार कब तक इस तरह चलता रहेगा...दूसरे के घर में...

मुनीश्वर : जब तक चले ? एक दिन, दो दिन, एक घड़ी या एक वर्ष...जब तक मुझमें शक्ति रहेगी...साहस रहेगा। जब मैं अपने जीवन को अपनी रुचि के अनुसार...जब तक मैं अपना राजा रहूँगा। क्यों घबड़ाती हो ? { कुर्सी घुमा कर बैठते हुए } इधर सुनो। {अश्करी उसके पास जा कर खड़ी होती है। मुनीश्वर उसका हाथ पकड़ कर खींचता है। अश्करी उसकी ओर झुकती है, कुरसी की बाँह के सहारे बैठ कर मुनीश्वर की छाती पर अपना सिर रख देती है। मुनीश्वर एक हाथ से उसके गले के चारों ओर...दूसरा उसकी पीठ पर फेरने लगता है। अश्करी को गुदगुदी मालूम होती है, उसकी देह काँपने लगती है। वह कभी हँसती है। कभी बड़बड़ाती है। कभी उलहना देती है। गोद में लड़का लिये और एक हाथ में ग्लास का जल लिये मुनीश्वर की स्त्री का प्रवेश। वह आगे बढ़ती है, एक क्षण के लिये हिचकती है। लेकिन दूसरे ही क्षण लड़के को जमीन पर उतार कर मुनीश्वर के आगे धरती पर बैठ कर उसका पैरउठा करउसके पैर का अँगूठा ग्लास के पानी में डुबोती है। अश्करी आश्चर्य से स्तम्भित होकर उठती है, पीछे हटती है। उसके पैर का धक्का बच्चे को

लगता है, वह रो उठता है। मुनीश्वर की स्त्री उसकी ओर कातर दृष्टि से देखती है। अश्करी बच्चे को रोता हुआ छोड़ कर एक ओर खड़ी हो जाती है। मुनीश्वर की स्त्री मुँह फेर कर मुनीश्वर का चरणोदक पीने लगती है। उसका लड़का रोता रहता है। मुनीश्वर लड़के की ओर देखता है। लड़का रोते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़कर मुनीश्वर का पैर पकड़ कर खड़ा होता है। मुनीश्वर गनगना उठता है, उसके चेहरे पर विषाद का कालापन आ जाता है। जैसे बड़ी पीड़ा में हो। वह अपने को सम्हालता है, लड़के को उठाकर कन्धे पर बिठा लेता है। उसकी स्त्री उसके घुटने पर अपना सिर रख देती है और अपना हाथ घुमा कर उसकी जाँघ पर, इस तरह उसका मुँह कुछ तो मुनीश्वर के घुटने के भीतर और कुछ उस की बाँहों में छिप जाता है। अश्करी आश्चर्य से यह सब देखती है। मुनीश्वर अश्करी की ओर देखता है। अश्करी की आँखों में दुःख का चिह्न साफ देख पड़ता है। अश्करी मुनीश्वर की ओर देखते हुए अपने ओठ पर उँगली रखती है। मुनीश्वर उसे वहाँ से हट जाने का संकेत करता है। अश्करी गर्दन टेढ़ी कर उस पर कटाक्ष करती है, हाथ इस तरह हिलाती है जिससे पता चलता है कि वह वहाँ से जाना नहीं चाहती। मुनीश्वर हाथ जोड़ कर उसे वहाँ से चले जाने का संकेत करता है। अश्करी हाथ जोड़ कर न जाने का संकेत करती है। मुनीश्वर सिर झुका कर अपने सिर पर हाथ रखता है। अश्करी भी उसी तरह सिर झुका कर अपने सिर पर हाथ रखती है। मुनीश्वर की स्त्री उसी तरह निश्चेष्ट मुनीश्वर के घुटने के बीच में सिर रखे चुपचाप बैठी रहती है। साँस भी लेती है या नहीं, पता नहीं चलता है। लड़का मुनीश्वर के कन्धे पर कूदने लगता है, दोनों हाथ से ताली बजाता है, कभी मुनीश्वर का बाल मुँह में पकड़ता है कभी कान। }

मुनीश्वर : ओह ! बड़ी गर्मी ! {अश्करी की ओर देखते हुए लड़के की पीठ पर हाथ रख कर } इसे बाहर बगीचे में { अश्करी मुस्कराती हुई उसके पास आती है, लड़के को गोद में लेती है, मुनीश्वर का शरीर हिल उठता है अश्करी का प्रस्थान। } दुर्गा ! {मुनीश्वर अपनी स्त्री के सिर पर हाथ रख कर उसका सिर हिलाता है } दुर्गावती ! देखो, उठो, यह ठीक नहीं। { दुर्गावती उसी तरह निश्चेष्ट पड़ी रहती है। वह उसी तरह बैठी हुई मूर्छित हो गई है। मुनीश्वर को यह पता नहीं चलता, वह खड़ा होता है, हटता है, दुर्गावती का सिर ठक से कुर्सी पर गिरता है। फिर भी किसी तरह का गति-संचार उसके शरीर पर नहीं होता। मुनीश्वर झुक कर उसका सिर कुर्सी से उठा कर उसके मुँह की ओर देखता है। दुर्गावती के ओठों की ललाई पर कुछ कालापन आ गया है, उसके गालों का रंग फीका पड़ गया है। आँखें बन्द हैं। बरौनी तनी हुई है। उसके मस्तक पर पसीने की बूँदें आ गई हैं। मुनीश्वर एक बार सिहर उठता है। उसे गोद में लेकर धरती पर बैठ जाता है। अपनी धोती से उसके मुँह का पसीना कई बार पोंछता हैं...और बार-बार हवा करता है। दुर्गावती बेहोशी में कई बार इधर-उधर बाहें फेरती है, फिर शांत हो जाती है। मुनीश्वर उसके मुँह में उँगली डाल कर उसका दाँत खोलना चाहता है...पर खोल नहीं पाता। एक बार बड़ी कोशिश करता है, किसी तरह उँगली दुर्गावती के दाँतों के भीतर चली जाती है, लेकिन फिर उसके दाँत इतने जोर से बन्द होते हैं कि मुनीश्वर की उँगली उसके दाँतों के भीतर दब जाती है और उसमें उसके दाँत गड़ जाते है। मुनीश्वर के लड़के को गोद में लेकर अश्करी का प्रवेश। अश्करी की ओर देखकर} इसके दाँत लग गये हैं। मेरी उँगली दब

गई...किसी तरह छुड़ाओ, नहीं तो... मालूम होता है अब उँगली के दो टुकड़े हुए।

अश्करी : कट जाने दो...यह सुख तुम्हें जिन्दगी भर नहीं भूलेगा।

मुनीश्वर : दिल्लकी न करो...ओह...

{अश्करी लड़के को धरती पर बैठा कर दुर्गावती के दाँत खोल कर मुनीश्वर की उँगली निकालना चाहती है। लड़का चलता है दुर्गावती की गोद में सिर इधर-उधर घूमाने और हाथ-पैर पटकने लगता है} हाय रे?

{दुर्गावती का दाँत खुल जाता है, मुनीश्वर उँगली खींचता है। दुर्गावती एक बार मुनीश्वर की ओर देखती है, क्षण भर उसकी दृष्टि जैसे टिक जाती है, किन्तु वह दूसरे ही क्षण अपने को सम्हालती है। लड़के को गोद में लेकर नीचे धरती की ओर आँख कर लेती है--अश्करी का प्रस्थान} दुर्गा इधर देखो...

{दुर्गावती उत्तर नहीं देती और न उसकी ओर देखती है} अब मैं तुम्हारे किसी काम का नहीं रहा...मुझसे मान करना...सोच लो...व्यर्थ है।

दुर्गावती : मैं नहीं जानती हूँ...पर आप मेरे काम के क्यों नहीं रहे? आपने मेरा हाथ नहीं पकड़ा...उस दिन... उस रात को...उस मण्डप में वेद मन्त्रों के बीच...?

मुनीश्वर : {हँसते हुए} पगली! {लड़के की ओर एकटक देखकर} स्त्री और पुरुष के भीतर जो प्रकृति है उस की ओर न देख कर, मण्डप, वेद, मन्त्र, कन्यादान की माया में अब तक...इतने दिन तक पड़ी रह गयी। इसीलिये तुम्हें...तुम्हें....कुलीन और प्रतिष्ठित घराने की बहू को इस तरह घर के बाहर पैर निकाल कर दूसरे के यहाँ...

दुर्गावती : आप जहाँ रहें...मुझे जाना...

मुनीश्वर : नहीं, तुमने कुलीनता की मर्यादा तोड़ी है...तुमसे मुझे ऐसी आशा नहीं थी।

दुर्गावती : आज मालूम हुआ...आप मरे नहीं, जी रहे हैं...दो वर्ष के बाद वहाँ...

मुनीश्वर : देखो...दुर्गा! अपने पत्नीत्व को भूल जाओ...मातृत्व का विचार करो। ईश्वर ने तुम्हें पुत्र दिया है...तुम्हें जीने के साधन की कमी नहीं है। मैंने तुम्हें छोड़ दिया तो छोड़ दिया। तुम देवी हो...मैं राक्षस हूँ। तुम अपना धर्म जानती हो...उसके अनुसार चलती हो। मैं पता नहीं किस लहर में बहा जा रहा हूँ। जो जी चाहता है कर बैठता हूँ...धर्म-अधर्म स्वर्ग-नरक की परवाह नहीं करता...

दुर्गावती : आप मेरे देवता हैं। यों आप की इच्छा। धर्म और अधर्म में आप पड़ें या न पवें...पर अपने हृदय के अज्ञात देव में तो आपको विश्वास है...जिसकी आशा से आप...मेरा विश्वास भी उस पर रहने दीजिये...पर मैं आपसे तर्क नहीं करूँगी। आप मुझे आज्ञा दीजिये...मैं क्या करूँ? कैसे रहूँ? कभी-कभी जब जी चाहे दासी को चरणोदक...

मुनीश्वर : दुर्गा तुम अपनी इस आखरी चाल से मुझे मात करना चाहती हो। यह चाल लौटा लो और अगर नहीं तो मैं फर्जी लड़ूँगा...तुम्हें यह चाल चलनी नहीं चाहिये थी, मेरे लिये कोई जगह नहीं बची।

{दुर्गा चुप रहती है। प्यासी आँखों से बच्चे की ओर देखती रहती है} तो तुम अपनी चाल लौटाओगी या नहीं? अच्छी बात है...मैं फर्जी लड़ता हूँ...खेल बिगड़ जाने दो। तुम मेरी दासी नहीं हो...और न रानी। याद है कि नहीं ...मैंने कहा था...मेरे साथ चलो...तुमने मेरा विरोध किया। तुमने कहा था पारिवारिक सम्बन्ध बिगड़ जायेगा। तब क्यों...मुझे छोड़ दो...भूल जाओ...तुम जाओ...तुमको अब माता का पद मिला है... उसके साथ

समझौता करो...मुझे तुमने स्वतन्त्र कर दिया...स्वयं भी स्वतन्त्र बन जाओ।

दुर्गावती : और मेरा पत्नी का पद...!

मुनीश्वर : सब कुछ साथ नहीं हो सकता। और फिर यह तो तुम पर है...उस पत्नी के पद को मार डालो या जीता रखो। तुम मुझसे माँग कर तुम्हारे पास जो है उसे भी छोड़ रही हो। जो स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं, उनका पत्नी पद जीता रहा है या मर जाता है?

दुर्गावती : हाय! कितने निष्ठुर...इस बच्चे की ओर देखो...

{मुनीश्वर दुर्गा की गोद से बच्चे को लेकर उछालने लगता है--बच्चा और जोर से हँसता है}अभागे, जो तुम जानते...

मुनीश्वर : {मुस्करा कर} इसे जनाने में जल्दी मत करो...अभी बहुत कुछ तुम्हीं नहीं जानती हो...जिस दिन जान जाओगी उस दिन...

दुर्गावती : {मुनीश्वर का हाथ पकड़ कर} तो अब कब? प्रियतम...!

{दुर्गावती की आँखों में आँसू टपक पड़ते हैं। }

मुनीश्वर : ...देखती चलो...शायद किसी दिन...{झुक कर उसका ओठ चूम लेता है}

दुर्गावती : बस, मुझे अब कुछ नहीं चाहिये...मेरा पत्नीपद जीता रहेगा।

मुनीश्वर : {कुछ सोचते हुए गम्भीर होकर } तो तुम जीत गई...और मैं हार गया...इतनी तैयारी पर...

{दुर्गावती मुस्कराती है। मुनीश्वर का हाथ उठा कर अपने हृदय पर रखती है} स्त्री और पुत्र...दुर्गा तुम सचमुच जीत गई...

दुर्गावती : मैं तुमसे अलग नहीं हूँ...मेरा जो कुछ है...तुम्हारा है। बाहर माताजी खड़ी हैं...

मुनीश्वर : माँ! अरे! यहाँ तक...तो फिर बुलाओ उन्हें...

दुर्गावती : यहाँ नहीं आयेगी...यहाँ आना उसके सम्मान के विरुद्ध... {दुर्गावती जाना चाहती है}

मुनीश्वर : {लड़के को आगे बढ़ाते हुए} इसे लिए जाओ...

दुर्गावती : क्यों भारी लग रहा है...अब दो वर्ष तुम {दुर्गावती का प्रस्थान}

{मुनीश्वर भी जाने के लिए आगे बढ़ाता है, रामलाल का भीतरी दरवाजे से प्रवेश}

रामलाल : मुनीश्वर...ठहरो। तुम्हारे पैरों में बेड़ी किसने पहनाई...स्त्री ने या पुत्र ने...

मुनीश्वर : दोनों ने...

रामलाल : तुम इसे अपना पतन मान रहे हो या नहीं?

मुनीश्वर : जनाब इसे जीवन की जीत कहते हैं।

रामलाल : मुनीश्वर! तुमने शपथ लिया था। उसका दण्ड...

{पिस्तौल निकालता है}

मुनीश्वर : {मुस्करा कर} ठहरिये, कहीं आपका निशाना चूक कर इस लड़के को...अब तो आप मेरी कोई बात नहीं सुनेंगे न?

रामलाल : कहो जब तक तुम्हारे शरीर में प्राण है...

मुनीश्वर : वकील साहब...सब कोई आप ही की तरह नहीं हो सकता। कौन कहता है कि आप हत्यारे हैं...? आप का जीवन देख कर। आपने जीवन को जीत लिया है और मुझे जीवन ने जीत लिया है। इन दोनों में अन्तर है मेरे लिये तो -

जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मम् न च मे निवृत्तिः,
केनापि देवेन हृदस्थितेन,
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।

आप मुझे मार सकते हैं...पर मेरे हृदय के अज्ञात देव को नहीं।

रामलाल : {हँस कर} हा...हा...तुम्हें इतने पर भी अपने हृदय के अज्ञात देव में विश्वास है? अच्छी बात है...मैं तुम्हें तुम्हारे हृदय के उसी अज्ञात देव की इच्छा पर छोड़ रहा हूँ। अभी तुम्हारे लिये आशा है। पर मेरे लिये...? मुनीश्वर तुम जाओ। हम दोनों में किसी एक को मरना चाहिये। मृत्यु से तुम्हारा कोई उपकार नहीं होगा...पर मेरा होगा। अब मुझे दूसरे जीवन की कामना है...मैंने इस जन्म का स्वाद बहुत लिया...जाते क्यों नहीं?

मुनीश्वर : तो क्या आप आत्महत्या करेंगे?

रामलाल : {कुछ सोच कर} आत्महत्या...एक भाँति की...सब से भयंकर। मुनीश्वर, मैं हत्या करूँगा शरीर की नहीं...आत्मा की। शरीर यही रहे, पर आत्मा यह न रहे। अब यह अपना बोझ सम्हाल नहीं सकती। यह रहने लायक नहीं है। पक गई है, डार से चू जाने दो। मैं आत्महत्या करूँगा...जो कुछ पुराना था...सब का नाश...पुराने हृदय का, पुरानी आत्मा का...पुरानी दुनिया का...जो कुछ या सब का...उस की जगह पर सब कुछ नया होगा।

मुनीश्वर : {मुस्कराकर} जैसे मैं अपना सब कुछ नया कर रहा हूँ...वैसे ही...

रामलाल : नहीं वैसे नहीं...मैं आगे बढ़ूँगा और तुम कोसों पीछे हटे हो। तुम हटते ही जाओगे...आगे नहीं बढ़ोगे...तुम्हें जहाँ पहुँचना था वहाँ नहीं पहुँचोगे।

मुनीश्वर : {मुस्करा कर} एवमस्तु, आप आगे को बढ़िये, मैं पीछे को...दुनिया गोल है...किसी न किसी दिन मिल जायँगे।

रामलाल : मिल जायँगे?

मुनीश्वर : अरे! नहीं भिड़ जायेंगे {हाथ आगे बढ़ा कर} आगे और तब घूम कर पीछे। लेकिन एक बात तो है...इस समय तो आप मुझसे आगे जा रहे हैं, लेकिन उस समय जरूर पीछे होंगे।

रामलाल : खैर जो होगा देखा जायगा। इस समय तो तुम कृपा कर जाओ।

{मुनीश्वर का सन्देह और विस्मय से प्रस्थान} अश्करी!

नेपथ्य से : क्या है?

रामलाल : इधर सुनो।

{अश्करी का सिर नीचे किये प्रवेश। रामलाल उसकी ओर ध्यान से देखते हैं। अश्करी उसी तरह सिर नीचे किये चुपचाप खड़ी हो जाती है}

रामलाल : अश्करी! {अश्करी संकोच से उनकी ओर देखती है।} शराब की जितनी बोतलें हों, ले आओ।

{अश्करी का सिर नीचे किये प्रस्थान। रामलाल का उठ कर खिड़की से बाहर की ओर देखना...खिड़की के बाहर की आहट} रामलाल कौन है रघुनाथ? नहीं सुनते?

{रामलाल का खिड़की के बाहर कूद पड़ना। अश्करी का टोकरी में शराब की कई बोतलें लेकर प्रवेश। मेज पर टोकरी रख देती है। बाहर के दरवाजे से रघुनाथ की बाँह पकड़े रामलाल का प्रवेश।}

रामलाल : मेरे बच्चे ! अतीत की बातों को अतीत के गर्भ में विलीन हो जाने दो, मैं अपना सब कुछ बदल देना चाहता हूँ...अपना जीवन, अपनी आत्मा, अपना हृदय, अपना संसार...जो बीत गया भूल जाओ।

रघुनाथ : यह नहीं हो सकता...या तो मैं रहूँगा या {अश्करी की ओर संकेत कर} यह रहेगी। दोनों नहीं रह सकते ? {रामलाल मेज पर से बोतलें उठा-उठाकर बाहर फेंकने लगते हैं। अश्करी और रघुनाथ विस्मय से देखते रहते हैं}

अश्करी : हाँ, हाँ, क्यों फेंक रहे हैं...किसी को दे डालिये पी डालेगा।

रामलाल : जो चीज मेरे लिये बुरी है, दूसरे के लिये अच्छी होगी ? अपनी बुराई दूसरे के सिर...अश्करी ! शीशा, कंघी, साबुन, सिगरेट जो कुछ हो, जिसके बिना जिन्दगी चल सके, सब उठा लाओ। मेरे घर में व्यर्थ की चीजें ! सब फेंक दूँगा।

रघुनाथ : क्यों सब फेंक रहे हैं ? आपको जरूरत नहीं है...औरों को होगी।

रामलाल : मैं अपने घर को अपनी जरूरत के मुताबिक बनाना चाहता हूँ। औरों की फिक्र...दूसरों की चिन्ता में ही मैंने अपना सब कुछ बिगाड़ा...अब अपनी चिन्ता करूँगा। अश्करी जाओ सब लाओ।

{अश्करी का प्रस्थान}

रघुनाथ : पर यह रहेगी तो मैं नहीं रहूँगा।

रामलाल : {रघुनाथ की ओर देखते हुए} उसने मेरे लिये अपनी दुनिया बिगाड़ी है। इस समय शहर के बाजार में उसका नाम होता। अब वह कहाँ जायेगी, क्या करेगी ? पर मैं एक काम कर सकता हूँ...वह भी मुझसे अलग...रहे, तुम भी मुझसे अलग रहो। तुम दोनों की जरूरतें मैं पूरी कर दिया करूँगा ! समझे ? मैं अकेले यहाँ रहना चाहता हूँ। कोई मेरे साथ न रहे। कुछ दिन ईश्वर की प्रार्थना करूँ शायद। लेकिन तुम उसके साथ क्यों नहीं रह सकते ? वह भी आदमी है। आदमी तो ऐसे होते हैं जो शेर के साथ रहते हैं ? तुम आदमी के साथ नहीं रह सकते ? {रघुनाथ कुछ सोचने लगता है} मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी चिन्ता स्वयं करे। अपना बनाना बिगाड़ना अपने हाथ है। दूसरे को दोष देना...क्यों ?

रघुनाथ : पर जिसमें इतनी शक्ति न हो...

रामलाल : न क्यों हो ? करना पड़ेगा। तभी जिन्दगी ठीक रास्ते पर रहेगी। अपना पैर बल के साथ धरती पर रखना चाहिये। आँधी आती है तो आये...समझे ? कम से कम अपने को समझ लो। तुम क्या चाहते हो ? इसका पता तुम्हें होना चाहिये। और जो यही नहीं जानते कि तुम क्या चाहते हो तो यह सब...{रघुनाथ की ओर ध्यान से देखने लगते हैं...रघुनाथ का प्रस्थान। रामलाल गम्भीर चिन्ता में पड़ जाते हैं। हथेली पर सर रख लेते हैं। अश्करी का प्रवेश।}

अश्करी : बड़े शीशे तो भारी है...उठते नहीं।

रामलाल : {उसकी ओर विरक्ति भरी सहानुभूति से देखते हुए} रहने दो। अपने साथ ले जाना। कब जाओगी ?

अश्करी : {सिर झुका कर} कहाँ ?

रामलाल : ओह...अभी तुम नहीं जानती। मैं अब अकेले रहूँगा। किसी को भी अपने साथ नहीं...तुम्हारी जहाँ तबियत चाहे जा सकती हो। पर एक बात

है...जो तुम किसी जगह अपने दिल को बस में कर रहना चाहो, तो मैं तुम्हारा सारा प्रबन्ध कर सकता हूँ। तुमने भी दुनिया की मुहब्बत देखी अब खुदा की मुहब्बत की ओर देखो तो अच्छा... {अश्करी उसकी ओर देखती है। उसकी आँखों में आँसू छलछला पड़ते हैं। मुँह फेर कर आँचल से आँखें पोंछती हैं। रामलाल उस की ओर देखते हैं। उनकी दृष्टि जैसे उसके दिल में घुस कर कुछ पता लगाना चाहती है। अश्करी तन कर उनकी ओर निःसंकोच दृष्टि से देखने लगती है।}

अश्करी : मुझसे क्या हो सकेगा क्या नहीं, यह तो मैं नहीं जानती। इसलिये इस के बारे में कुछ नहीं कहूँगी। मैं आप की इज्जत नहीं बिगाड़ती...इसलिये मुझे जहाँ जगह मिले, आपकी ओर से मैं वहीं रहूँगी। मुझे बहुत सामान भी नहीं चाहिये। मेरी इज्जत बची रहे और क्या ? मैंने आपके साथ ईमानदारी नहीं की, लेकिन तब भी आपकी माफी की उम्मीद करती हूँ। कहिये आप मुझे इस आखिरी बार माफ कर देंगे ? आखिरी बार इसका ख्याल रहे ! {रामलाल उठते हैं अश्करी के पास जाते हैं। दायें हाथ से उसका बायाँ हाथ पकड़ते हैं और बायाँ उसकी पीठ पर रख कर उसे छाती से लगाना चाहते हैं। अश्करी झटका देकर अपनी बाँह छुड़ाती है। कई पग पीछे हटती है। } बस...अब नहीं ...जो करना है अभी से शुरू हो जाय। मन की बागडोर जो कड़ी करनी है तो अभी से। एक बार भी ढीली करने पर तो यह कुछ दूर सरपट दौड़ता रहेगा। मुझे कहीं ऐसी जगह भेज दो...जहाँ न कोई मुझे जाने और न मैं किसी को जानूँ।

रामलाल : तुम्हारी तबियत लगेगी ?

अश्करी : हुजूर...अब तबियत का सवाल नहीं है...सवाल है तबियत लगाने का। आपके साथ रहने से कम से कम इस लायक हो चुकी हूँ कि खुद अपने कलेजे को चीर कर...उसका काँटा निकाल सकती हूँ। अब मैं कुछ नहीं चाहती। {रामलाल अश्करी का हाथ पकड़ना चाहते हैं } तुम्हें रघुनाथ की कसम...दुनिया में जो कोई भी तुम्हारा सगा हो...उसकी कसम कि तुम मुझे उस नीयत से छूना ! तुम्हें आज क्या हो गया। जब तुम शराब में डूबे रहते थे, तब तो तुमने मुझे कभी इस नजर से देखा नहीं और आज, जब तुम सब कुछ छोड़कर फकीर बन कर इबादत करने की तैयारी कर रहे हो...तो तुम्हारी यह हालत ? छी...तुम्हें क्या हो गया ?

रामलाल : मैं अभी फकीर नहीं बन सकता...अश्करी !

अश्करी : खैर जैसी मर्जी...लेकिन अब मुझसे कुछ उम्मीद रखना...बालू से तेल निकालना होगा।

रामलाल : मैं निकाल लूँगा बालू से तेल...

अश्करी : अच्छी बात देखी जायगी...

{ रामलाल की उसकी ओर सहानुभूति से देखते हुए प्रस्थान }
{अश्करी का कुर्सी पर बैठना। हथेली पर दोनों आँखें छिपा कर सिर टेक देना। रघुनाथ का प्रवेश। रघुनाथ का दरवाजे के भीतर एक पैर और एक पैर बाहर कर उसे देखना, पीछे हट कर लौटना, पर फिर क्षण भर बाद कमरे में आना। अश्करी के पास जाकर खड़ा होना। उसे देखना। अश्करी का सिर उठाकर रघुनाथ की ओर देखना। चार आँखें होना। रघुनाथ का झेंप जाना। }

अश्करी : मुझे यहाँ से चले जाने का हुक्म मिल गया। अब आपको मेरी वजह से तकलीफ नहीं होगी। मेरी वजह से आपको तकलीफ हुई ही क्यों ? समझ में नहीं आता।

रघुनाथ : मुझे कोई तकलीफ नहीं होती ? यह तो काम है।

अश्करी : अपनी किताब की एक जिल्द आप मुझे दे सकेंगे। रास्ते के लिए ?

रघुनाथ : कहाँ जाना होगा ?

अश्करी : यह नहीं जानती। कहीं जाना होगा...इतना जानती हूँ...मैंने आपका घर बिगाड़ा था। एक जिल्द दे दीजियेगा न। {रघुनाथ आल्मारी खोलकर किताब निकालता है। उसके सामने मेज पर रख देता है। अश्करी किताब उठाती है, इधर-उधर पन्ने करती है, एक जगह ठहर जाती है, गुनगुनाने लगती है, फिर गानेके स्वर में ऊँची आवाज में...}

किन्तु आह ? जब बैठ विजन में,
खोल हृदय पर कुंचित केश,
बीती गईं मान की घड़ियाँ,
प्रिय तुम सोचोगी किस देश ?

{रघुनाथ की ओर देखने लगती है। रघुनाथ सहम उठता है। } साथ ले जाऊँगी...जब आँधी रात होगी...तारों को छोड़कर जब और कोई जागता न रहेगा तब गाया करूगी। माफ करना।

{परदा गिरता है}

दूसरा अंक

{ नदी का किनारा। सन्ध्या। सूरज डूब रहा है। नदी के उस पार के आकाश में जैसे आग लगी है, सारा आकाश लाल, रक्त वर्ण। चिड़ियों की बोली, नदी में पतवार की कभी-कभी छप-छप, कभी-कभी मनुष्य की भी स्पष्ट ध्वनि। तीन लड़कियों के साथ अश्करी का प्रवेश। दो लड़कियाँ ऊँचे और धनी घराने की मालूम पड़ती हैं। एक की अवस्था प्राय: सोलह वर्ष की है और दूसरी बारह वर्ष की। बड़ी लड़की को देखने से मालूम होता है कि वह अधिक पढ़ी लिखी है और और नई रोशनी की तड़क-भड़क पसन्द करती है। उसकी चाल-ढाल, कपड़ों की सादगी, पर साथ ही साथ सजावट, सिर खुला हुआ, अंचल का बायें कन्धे पर सुनहली क्लिप के नीचे चुना होना और पीछे की ओर लटकना, वेणी का रेशमी फीते से और अन्त में कमर के पास रेशमी रूमाल से बँधी होना, कामदार जूता। तीसरी लड़की भी प्राय: उसी की अवस्था की, पर कपड़े और शरीर से छोटी जाति की मालूम हो रही है, उसकी दासी है। उसके हाथ में लोटा और कन्धे पर साफ कपड़े पड़े हैं। सब नदी के किनारे पर पहुँच कर ठहरती हैं। कगारे पर हरी घास जमी है। }

बड़ी लड़की : थोड़ी यहीं सुस्ता लें। आप भी तो चलती हैं तो मीलों... मैं तो थक जाती... {अश्करी उसकी ओर देखती है।} उसकी भौहें, कुछ ऊपर खिंच जाती हैं। नाक सिकोड़ कर इधर-उधर सिर हिलाती हुई, बड़ी लड़की इस तरह बैठती है जैसे बहुत कष्ट में हो। उसके बाद सभी बैठती हैं। तीसरी लड़की दूर बैठती है।

अश्करी : उतनी दूर क्यों बैठती हो, यहाँ आओ { अपने बगल में हाथ रखती है। }

बड़ी लड़की : यहाँ हम लोगों के पास ? सुखिया एक लोटा पानी... {दासी का नदी की ओर प्रस्थान }

अश्करी : हाँ... तो क्या हर्ज है ? ललिता ! {उसके कन्धे पर हाथ रख कर } मनुष्य सब जगह एक ही है।

ललिता : हो सकता है...पर सभी जगह बराबर नहीं है। दुनिया में सब की अपनी-अपनी जगह है। सुखिया अपनी जगह पर है और मैं अपनी...

छोटी लड़की : बहिन नाव...

अश्करी : हो सकता...शायद तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन ललिता, दुनिया में इतना दु:ख है और पाप इसलिए है कि यहाँ छोटा-बड़ा, धनी-गरीब, अपना पराया...इसीलिए...

ललिता : { मुस्करा कर } इस समय आप स्वर्ग में हैं...दुनिया में आइए।

अश्करी : हँसो मत, विचार कर देखो...

{ सुखिया का लोटा में पानी लेकर प्रवेश }

ललिता : {जूते के बांहर पैर निकालती है...जूते के रंग से उसकी एड़ी, तलवा, उँगलियाँ लाल हो रही हैं } धोकर रंग साफ कर दे। पैर गरम हो गया। { हाथ से तलवा पकड़ती है। सुखिया उसका पैर धोती है। अश्करी गम्भीर होकर नदी के उस पार देखने लगती है }

अश्करी : उस पार सूरज डूब रहा है...बस, अब क्षण भर और। यही जीवन है, लोग कहते हैं...

ललिता : पर कल फिर सूरज निकलेगा ... यह अन्त नहीं है... यही जीवन है { सुखिया से } मुन्नी को ले जाओ... किनारे घुमाओ। { सुखिया का छोटी लड़की को साथ लेकर प्रस्थान } आप से मैं कई बार पूछ चुकी...

अश्करी : क्या ?

ललिता : आज बता दीजिये... आपका घर... परिवार...

अश्करी : { मुस्करा कर } न मेरा कहीं घर है, न मेरा कहीं परिवार है... मैं अकेली हूँ।

ललिता : कोई नहीं है ?

अश्करी : कोई होता तब क्यों ? तब इस जीवन में तुम्हारे यहाँ... इस नदी के किनारे नहीं पहुँच पाती।

ललिता : जो भाग्य में हो...

अश्करी : भाग्य तो... हाँ, पर कुछ लोक भाग्य बदल दिया करते हैं।

ललिता : मैंने तो नहीं सुना...

अश्करी : मैंने देखा है, एक जगह नहीं, तीन तीन जगह... सुनेगी ?

ललिता : कहिए... आपकी कौन सी बात सुनने लायक नहीं होती ?

अश्करी : इससे बढ़ कर सुनने लायक बात... खैर तीन थे और तीनों तीन जगह के { कुछ देर गम्भीर होकर कुछ सोचने लगती है } जो नहीं होना चाहिए था, हो गया... तीनों का साथ हो गया ! {कुछ देर चुप रहकर } फिर तो तमाशा शुरू हुआ। पर दुनियाँ ने बहुत कम देखा... जो पूरा देख लेती तो.. { ललिता की ओर देखती है }

ललिता : आप क्या कह रही हैं ?

अश्करी : हाँ सुनो। दुनिया ने बहुत कम देखा... वे तमाशा करते गए। वे धोखे में थे कि जो कुछ हो रहा है... सच हो रहा है। कभी कभी सच-सच होता भी था, पर बहुत कम; या सच और झूठ वहाँ दोनों बराबर था... { ललिता उसकी ओर विस्मय से देखती है } उनमें जो प्रधान था, जिसने तमाशा शुरू किया था... कभी-कभी कहता था... यह तमाशा है... पर बहुत जल्दी भूल जाता था।

ललिता : रहने दीजिये... तबियत नहीं लगती... मालूम हो रहा है आप सोच कुछ रही हैं और कह कुछ रही हैं। वे तीन कौन थे ? क्यों थे ? इसका तो पता नहीं।

अश्करी : {जैसे ठोकर खाकर लड़खड़ाती हुई } वे तीनों ? आदमी थे... आदमी। एक वेश्या थी। दूसरे थे एक वकील साहब जो उसे अपनी बनाकर ले गये थे। वे नामी वकील थे। पचास से ऊपर थे। रुपये का लालच देकर ले गये। उस समय वह लड़की थी... उसे कुछ पता नहीं था कि दुनिया में क्या होता है। प्रेम क्या है ? मुहब्बत क्या है ? उस समय या तो उसे... अच्छे-अच्छे खाने, कपड़े और ऐश-आराम की जरूरत थी। दिल जैसी बला... अभी उसके पास नहीं थी। वह चली गई। दो वर्ष बीते बड़े आराम और चैन से। सात बजे शाम को सोती थी और उठती थी सात बजे सबेरे...

ललिता : {मुस्कराकर } तब तो ठीक लड़की थी। इतना सोना ? पर वे, जो ले गये थे, उसे इस तरह सोने देते थे ? तब ले क्यों गये ?

अश्करी : हाँ... उसे कभी छेड़ते नहीं थे। ले क्यों गये थे, यह भी कहा नहीं जा सकता। दुनिया के और आदमी जिस लिए वेश्या रखते हैं... उस लिए उन्होंने नहीं रखा था। शाम को कचहरी से आते थे... बोतल और ग्लास लेकर वह उनके सामने

खड़ी होती थी। वह जब तक पीते रहते थे, उसकी ओर देखा करते थे... बस यही इतना... इसका जो मतलब समझा जाय।

ललिता : वे उसे प्रेम करते थे ?

अश्करी : इस तरह का प्रेम भी होता है कि कभी हाथ तक न पकड़ा जाय। खैर! दो वर्ष तो बीत गये... पर जब तीसरा चढ़ा... उसके जीवन में एक नई बात आ गई। वह रात को इधर-उधर करवटें बदलती, घंटो आसमान की ओर, तारों की ओर, चाँद की ओर देखती रहती... ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये रोग बढ़ता गया। दवा करने वाला कोई था नहीं। { चुप हो जाती है। }

ललिता : हाँ कहिये... अब असल बात आई है। तब क्या हुआ ? कोई दवा करने वाला मिला कि नहीं ?

अश्करी : फिर वह जिस किसी भी झोली वाले को देखती... उसकी झोली भरने लगती। किसको पड़ी थी कि उसकी बीमारी की जाँच कर दवा देता। दुनिया ऐसी है भी नहीं। जिसके मन में जो आया, उसने उसे दे दिया। लाभ कुछ नहीं। सब झोली वालों की झोली में दवायें नहीं रहतीं। जो रखते हैं, वह भी अच्छी दवा लेकर बाहर नहीं निकलते। { दोनों हँसने लगती हैं }

ललिता : जिनके यहाँ वह रहती थी... रोकते नहीं थे ?

अश्करी : पहले तो उन्हें पता नहीं चला। चलता भी कैसे ? दिन भर अदालत में, घर सूना। कोई भी आ-जा सकता था। रात को... शाम होते ही खूब पी लेते थे, जागना और सोना बराबर।

ललिता : { सहानुभूति के स्वर में } तब तो उसे बड़ी तकलीफ हुई होगी ?

अश्करी : नरक से बढ़कर। वह तकलीफ... {आवेश में उसका स्वर काँपने लगता है }

ललिता : {विस्मय से } हाँ, हाँ क्या हो गया ? आप घबड़ा क्यों जाती है ? रहने दीजिये, दूसरे दिन...

अश्करी : नहीं, रोज-रोज क्यों... आज ही दिल हल्का हो जाय। [{ ललिता सन्देह और उद्वेग के साथ उसकी ओर देखती है। अश्करी इस ओर कुछ ध्यान न देकर कहती जा रही है } उसे बड़ी तकलीफ हुई। मारे प्यास के बेचैन होकर उसने गले में तेजाब उड़ेल लिया। { अश्करी की आँखों से आँसू बह चलते हैं, सिसक सिसक कर रोने लगती है }

ललिता : हाय! हाय! आपका दिल इतना कोमल है कि दूसरे के दुःख की याद कर आप इस तरह... {उसके आँसू पोंछती है। अपनी रूमाल से उसकी दोनों आँखें बन्द कर देती है। अश्करी कुछ देर तक सिसकती रहती है। उसका शरीर हिलता रहता है। ललिता उसकी ओर दुःख और सहानुभूति के साथ देखती रहती है। अश्करी अपने को सम्हाल कर खड़ी होती है। ललिता उसके मुँह की ओर देखती रहती है। }

अश्करी : ललिता मेरी निर्बलता पर हँसना मत। दुनिया में हँसने वाले भी हैं और रोने वाले भी। दूसरे के दुःख में हँस लेने की बनिस्बत रो लेना अच्छा है। आँसू के साथ हृदय का विकार निकल जाता है। प्रायश्चित्त करने का सबसे सीधा रास्ता है।

ललिता : पर आपको प्रायश्चित करने की जरूरत ?

अश्करी : क्यों! मेरी जिन्दगी आदमी की जिन्दगी नहीं है ? प्रायश्चित किसने नहीं किया ? प्रायश्चित करने के लिए ही आदमी का जन्म हुआ। तुम क्या

सनझती हो...मैंने कोई बुराई नहीं की है...कोई पाप नहीं किया है ? दूसरे का दु:ख अपने दु:ख की याद दिलाता है और तब आँखों की राह से दिल...

ललिता : आप को कौन-सा दु:ख है ?

अश्करी : दु:ख कहने की बात नहीं है ललिता ? जो कहा जा सकता। दुनिया तब इससे साफ और सीधी रहती। कोई कह नहीं सकता। कहने की तबियत चाहती है। जो कुछ इस हृदय में है...हवा में उड़ा दें...सब सुन लें...जो ईश्वर भी कहीं है तो वह भी सुन ले और देख ले, उसने अपनी दुनिया कैसी बनाई है। पर यह सब कुछ नहीं, जीवन अपने रास्ते पर चलता है, किसी के रोके नहीं रुकता।

ललिता : मुझसे आपकी कोई सहायता हो सके...

अश्करी : {मुस्कराकर } नहीं...नहीं हो सकती। मेरी सहायता ? यह बात...अब आदमी के बस के बाहर की बात है। अब तो जो {ऊपर हाथ उठा कर } वही। पर वह भी क्या करेंगे ? यह जन्म इसीलिए था ? {अन्यमनस्क होकर नदी के उस पार देखने लगती है। ललिता अँगड़ाई लेती है...फिर केहुनी धरती पर टेकती है और हथेली ऊपर की ओर कर और उस पर कनपटी रखकर भूमि पर लेट रहती है। सुखिया के साथ रोती हुई मुन्नी का प्रवेश}

ललिता : क्या हुआ रे ? क्यों रो रही है ? ऐसी बुरी लड़की है...

सुखिया : {नदी की ओर हाथ उठा कर } किनरवे एक ठों नाव बाय...

ललिता : तो यह नाव पर चढ़ना चाहती है ? मुन्नी...बड़ी बदमाश...

मुन्नी : { रोती हुई } ऊँ, ऊँ नाव पर चढ़े का तो नाई कहत हई

ललिता : तब क्या कहती है ? { सुखिया से } क्यों रो रही है रे यह ?

सुखिया : ओई में एक जने बाबू...

ललिता : उसने मारा है इसे ?

सुखिया : कितबिये छोरि लिहलनि...ई दूसर दिहलनि { किताब आगे बढ़ाती है ललिता ले लेती है }

ललिता : कैसा विचित्र आदमी है।

अश्करी : {चौंककर } मेरी किताब...

सुखिया : ऊहे।

ललिता : {किताब खोलकर } ऐं ! सप्रेम...लेखक ? वही किताब ? इसका मतलब कि इस पुस्तक के लेखक नाव में हैं। {अश्करी ललिता के हाथ से झपट कर किताब ले लेती है खोलकर देखती है। }

अश्करी : हाँ...वहीं हैं...इसके लेखक।

ललिता : सचमुच...

अश्करी : हाँ...

ललिता : ओहो। चलिये मिल लें। जिस पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते तन्मय हो जाती है...उसके लेखक...चलिये मिल लें। इसमें संदेह नहीं बड़े सुन्दर जीव हैं, नहीं तो भला इतना बड़ा साहस कौन...

अश्करी मैंने संसार के सुन्दर जीवों को बहुत देखा है।

ललिता : इस पुस्तक के लेखक जिसे आप इतना अधिक...और मुझे तो लगता है उनका हृदय हम लोगों के हृदय की तरह कोमल है। पढ़ते-पढ़ते हृदय हिलने लगता है...।

{खड़ी होकर अश्करी की बाँह खींचती हुई} चलिये चलें।

अश्करी : बाँह छुड़ाकर मैं न हीं जाऊँगी...जिस जन से कभी...छोड़ो तबियत अच्छी नहीं है।

ललिता : पर मैं तो मिलना चाहती हूँ...

अश्करी : जाओ मिल आओ...सावधान रहना।

ललिता : इसीलिए तो कहती हूँ, आप भी चलिये...

अश्करी : मैं नहीं जा सकती...जाओ मैं यही बैठी हूँ...

ललिता : अच्छी बात है, न जाइए...चल रे लड़की देखूँ कौन है...
{सुखिया से} यहीं रह {मुन्नी को लेकर ललिता का प्रस्थान}

अश्करी : {सुखिया से} तुम भी जाओ...

सुखिया : रंज होइहैं...

अश्करी : नाव में अकेले हैं या कोई और है ?

सुखिया : भीतर कोई ना रहल। मलहवा से कहलें देखु रे कहाँ गइल हउवनि...जल्दी नैया खुले...

अश्करी : तब कोई और होगा...नाव से उतर कर कहीं गया रहा होगा।

सुखिया : अब जवन होय...

अश्करी : (उठकर) मैं तो जा रही हूँ...तुम यहीं रहो उन्हें साथ लेकर आना।

सुखिया : तब से बइठीं न, सब लोग के साथ चलब...

अश्करी : तबियत अच्छी नहीं है {अश्करी का एक ओर प्रस्थान। सुखिया का उसकी ओर देखते रहना और सिर हिलाना।}

सुखिया : हूँ। तबियत अच्छी नाहीं हवै...मोहूँ जानत हौं..{सुखिया का नदी की ओर जाना और आँखों से ओझल होना।}
{रघुनाथ और मुनीश्वर का प्रवेश}

मुनीश्वर : तुम मेरा विश्वास नहीं करते ?

रघुनाथ : अजी क्या अब...

मुनीश्वर : फिर वही...शैतानी...

रघुनाथ : कृपाकर सभ्य शब्दों में बातें कीजिये।

मुनीश्वर : मुझे क्या पता सभ्यता क्या है पर रघुनाथ, मैं हृदय से कहता हूँ...मुझे तुम्हारी इस विपत्ति से बड़ा दुख हुआ है...अब क्या करोगे ? दुनिया में कौन सुखी है ?

रघुनाथ : {उद्वेग से उसकी ओर देखकर} मैं भी हृदय से कहता हूँ...आप मेरी विपत्ति में रस ले रहे हैं ? सहानुभूति और समवेदना के शब्द इतने रूखे नहीं होते। जिनको वास्तव में दु:ख होता है वे उपदेश नहीं देते। वे तो जब कभी देखते हैं...उनकी आँखें डूबती रहती हैं। आप समझते हैं, मैं जानता नहीं। पिताजी ने अपना सब कुछ आपको दे दिया...मुझे भूखों मरते छोड़कर। आपको कम से...कम यह सोचना चाहिए था कि मैं खाऊँगा क्या ? आप मेरे रक्त से अपना गुलाब सींच रहे हैं...कि एक दिन फूल मिल जाय। पर वह फूल कब तक रहेगा ? (मुनीश्वर उसकी ओर सूखी आँखों से देखता है)

रहेगा...हाँ रहेगा, एक मुरझाये तो दूसरा खिलेगा। कुछ हो, मेरा खून सब में रहेगा।

मुनीश्वर : होश में हो या नहीं...

रघुनाथ : नहीं। इतने पर भी होश में ? यह सम्भव है ? मैं बेहोश हूँ जनाब, बेहोश ?

मुनीश्वर : तुम्हारे पिता ने अपना धन, देश और समाज की सेवा में लगाया...मेरा क्या दोष ?

रघुनाथ : किसकी स्कीम थी ? किसने उन्हें उनकी जरूरत का पहाड़ दिखलाया ? वेश्या-सुधार ? उसके लिए मेरा सर्वनाश...ढोंगी, मक्कार...(क्रोध में हिल उठता है)

मुनीश्वर : मैं पूछता हूँ इसमें मेरा क्या दोष है ?

रघुनाथ : अदालत में मालूम होगा जब तुम्हारे पत्र पेश किये जायँगे। तुमने एक पागल को बहका कर इसी सिलसिले में उसके लड़के को तबाह किया...शायद उसकी भी जान ली।

मुनीश्वर : ऐं! ऐं! ऐं! { दाँतों के नीचे होंठ दबाता है }

रघुनाथ : ऐं! नहीं मैं छल और कपट नहीं जानता। मुझे और मेरे साथियों को सन्देह है कि तुमने उन्हें जहर देकर...

मुनीश्वर : तुम्हारे पिता को ? वे अस्पताल में मरे थे।

रघुनाथ : जी हाँ...इसीलिये और सन्देह है। अस्पताल में ले कौन गया था और कैसे ?

मुनीश्वर : ले तो मैं गया था...पर उनके कहने पर...

रघुनाथ : उनके कहने पर ? या उन्हें समझा कर, बहका कर...

मुनीश्वर : {मुस्कराकर }साबित कर सकोगे तुम...

रघुनाथ : कह नहीं सकता...पर...

मुनीश्वर : और जो न साबित हो तो जानते हो क्या होगा ?

रघुनाथ : जानता हूँ, जेलखाने जाऊँगा! यहाँ बाहर रह कर ही क्या खाऊँगा ?

मुनीश्वर : क्यों ? आश्रम में कुछ काम करना। इसमें कोई हेठी नहीं है...इसकी स्थापना तुम्हारे पिता के धन से हुई है...

रघुनाथ : मेरे पिता के धन से...मेरे नहीं ? ठीक है। पर मैं वेश्या-सुधार-आश्रम में क्या करूँगा ? मैं...? वेश्या-सुधार हो सकता है ? यह काम तुम्हारा है...तुम्हारी लालसा के लिए नई दुनिया मिल रही है।

मुनीश्वर : सेवा...रघुनाथ...?

रघुनाथ : सेवा नहीं मुनीश्वर ...लालसा और उपभोग..वासना और विकार मुनीश्वर! आज की दुनिया में तुम्हारे ऐसे सेवक बहुत हैं, इसीलिए इसकी यह दशा है। यह गिरती चली जा रही है...रोज तुम लोग अपनी लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट निकालते हो...स्कीम बनाते हो...आन्दोलन करते हो...यह सब दुनिया की भलाई के लिए नहीं, बुराई के लिये हो रहा है। तुम वेश्या-सुधार आश्रम के व्यवस्थापक हो। वह भी वर्ष दो वर्ष के लिए नहीं, दस-पाँच वर्ष के लिए नहीं, जीवन भर के लिए। मेरी दस लाख की सम्पत्ति उसमें लग गई और रजिस्ट्री हुई तुम्हारे नाम से। मैं आज एक-एक पैसे के लिए भिखारी हूँ।

मुनीश्वर : तुमने अपने पिताजी को रोका क्यों नहीं ?

रघुनाथ : रोक नहीं सका...

मुनीश्वर : {मुँह बनाकर } तब मुझसे शिकायत क्यों ? मेरी सेवा के बारे में तुम्हें संदेह हो तो मेरी इस साल की रिपोर्ट देखना।

रघुनाथ : वह तो मैं कह चुका हूँ...लम्बी चौड़ी आश्चर्यजनक होगी। उसमें सत्य कितना होगा ? पर संसार को सत्य से क्या नाता ? कौन कितना धोखा दे सकता है...सेवा और योग्यता की यही कसौटी है।

(मल्लाह का प्रवेश)

मल्लाह : चार कोस चलै के हौ बाबू बड़ी रात होई। कहाँ ठहरल जाई...

मुनीश्वर : { रघुनाथ से } चलते हो...{ मल्लाह से } चलो, आ रहा हूँ
{ मल्लाह का प्रस्थान }

रघुनाथ : नहीं...

मुनीश्वर : यहाँ कहाँ रहोगे ? रात को...

रघुनाथ : तुमसे मतलब...

मुनीश्वर : मैं तुम्हारी भलाई चाहता हूँ...

रघुनाथ : अपने शिकार की ?

मुनीश्वर : तुम जो समझो...

रघुनाथ : अब तुम मुझे क्या समझाओगे ?

मुनीश्वर : अच्छी बात है...दो दिन जहाँ उपवास करना पड़ा, अपने ही समझ जाओगे।

रघुनाथ : अजी जाओ...मैं उपवास करूँ या मरूँ...जड़ काट कर पत्ते को पानी देने से क्या होगा ?

मुनीश्वर : मैंने जड़ नहीं काटी है...अच्छे फल के लिए कलम किया है... अच्छे फल के लिए...

रघुनाथ : अच्छी बात है। मैं मान गया। आपने बड़ा अच्छा किया है...दुनिया में बड़ा अच्छा स्वर्ग बनाया है...उसके देवता आप हैं। पर मेरे फूल आपके चरणों के योग्य नहीं हैं...मुझे क्षमा कीजिये।

मुनीश्वर : तुम्हारा जहाँ मन चाहे जाओ...जो जी में आये करो। इसकी धमकी से... मेरा क्या होता है ? {मुनीश्वर का प्रस्थान। रघुनाथ वहीं खड़े-खड़े चुपचाप गम्भीर मुद्रा में नदी के उस पार आकाश की ओर देखने लगता है। गोधूली हो चुकी है...आकाश में कहीं-कहीं दूर-दूर पर तारे निकल रहे हैं। पूर्णिमा की संध्या है। पूर्व की ओर से चाँद लाल-लाल ज्यों-ज्यों ऊपर उठ रहा है, उजाला होता जा रहा है। कहीं कोई नहीं...एकान्त...निस्तब्ध। मुन्नी के साथ ललिता का प्रवेश। मुन्नी रघुनाथ की ओर हाथ उठाती है }

ललिता : आपने इस लड़की की पुस्तक क्यों छीन ली ? {रघुनाथ गहरी चिन्ता में चुपचाप उसी प्रकार आकाश की ओर देखता हुआ खड़ा रहता है। लगता है उसने ललिता की बात नहीं सुनी। ललिता उसकी ओर विस्मय से देखने लगती है। रघुनाथ की विचार-धारा टूटती है। वह ललिता की ओर देखता है और सहम उठता है } आपने इस लड़की की किताब क्यों छीन ली ? {ललिता एक साँस में कह उठती है। }

रघुनाथ : मैंने ? { मुन्नी की ओर देखकर } ओ-हो। इसने अपराध लगाया तब... {छोटी लड़की के सिर पर हाथ फेरता है। }

ललिता : क्या करती ?

रघुनाथ : पर मैंने उसके बदले में नई प्रति दे दी।

ललिता : कृपा कर वही पुरानी दे दीजिये, मुझे उसी की चाह है। जिसकी वह प्रति है...वह।

रघुनाथ : उसे यह नई दे दीजियेगा ?

ललिता : { मुन्नी को किताब देकर } दे डाल इन्हें। वही पुरानी दें...

रघुनाथ : क्षमा कीजिये वह तो नाव पर छूट गई...मैं कहाँ से लाऊँ ?

ललिता : इस पुस्तक के लेखक आप ही हैं ? {सिर नीचा कर लेती है। }

रघुनाथ : हाँ...लोग कहते तो ऐसा ही हैं ?

ललिता : पर यह...आपकी लिखी है...या नहीं...आप नहीं जानते। ऐसा ही है न ?

रघुनाथ : मैं यह भी नहीं जानता...मैं कुछ नहीं जानता इस विषय में। किसकी है, कैसी है ? आपको वह प्रति कहाँ मिली थी ?

ललिता : मिल गई थी एक जगह। इस टाउन में लड़कियों का स्कूल है। उसकी अध्यापिका से मिली थी।

रघुनाथ : क्या नाम है उनका ?

ललिता : ठहरिये। पहले मुझे पूछ लेने दीजिये। फिर मैं आप का उत्तर दूँगी। मैं आपका परिचय जानना चाहूँ...आप कौन हैं ? आपकी क्या जाति है ? क्या अवस्था है ? आप यहाँ कैसे और किसलिए आये ?

रघुनाथ : टू मच ऐग्रेसिव...

ललिता : आप लोग लेखक होते हुए भी अपनी भाषा में नहीं बोलते। इतनी ईमानदारी भी आप लोगों में नहीं ? यदि मैं अंग्रेजी न जानती ? जो हो, इसमें ऐग्रे सिवनेस क्या है महाशय ?

रघुनाथ : किसी के बारे में इतनी पूछताछ करना। या तो मैं अपनी सब बातें बता कर अपने को नग्न कर दूँ...या झूठ बोलूँ। पर मैं...मैं इन दोनों में कोई नहीं चाहता।

ललिता : {मुस्कराकर } आपकी हालत छुई-मुई...की-सी है। छू दिया बस, आप सिकुड़ गये...संकुचित हो गये। तो कोई बात नहीं। कष्ट के लिए क्षमा। आपने इसकी पुस्तक न छीन ली होती तो यह नौबत क्यों आती ? उन्होंने कहा इस पुस्तक के लेखक आप हैं। मैंने उचित समझा...

रघुनाथ : इसके लिये आपको धन्यवाद देता हूँ।

ललिता : पर मुझे वह स्वीकार नहीं है। राह चलते-चलते धन्यवाद की गठरी...मुझे बोझ ढोने की आदत नहीं है। मैंने आपका परिचय पूछा है। मनुष्यता के नाते आपको इसका उत्तर देना चाहिए। छिपाने की कोई विशेष बात हो...तो मैं आपको विवश भी करना नहीं चाहती।

रघुनाथ : { कुछ सोचकर } मनुष्यता का भी कोई नाता होता है ? मनुष्यता के नाते से मेरे पिता ने एक पिशाच का अपने साथ परिचय बढ़ाने दिया...उसका फल हुआ...उसने उनका भी सर्वनाश किया और मेरा भी। वे तो मर गये लेकिन मैं...मैं भी...मनुष्यता का...नाता ? संसार में सबसे बड़े अत्याचार और पाप दो ही बातों के लिये हुए हैं...ईश्वर के लिये और इस मनुष्यता के लिये। ईश्वर के लिये लोग जलाये गये और मारे गये। मनुष्यता के लिये लोगों की स्वतन्त्रता छीनी गई। पर यह भ्रम कितना महान है !

ललिता : मालूम हो रहा है आप आसमान में उड़ रहे हैं...इधर-उधर सब ओर और किसी ओर नहीं। एक ओर उड़ते होते तो कुछ दूर गये भी होते। कम से कम आपको यह तो सोचना चाहिये आप अपरिचित मनुष्य से बातें कर रहे हैं।

रघुनाथ : { सम्हल कर }मनुष्यता के नाते भी परिचय की बात आती है ?

ललिता : आप तो उस नाते को नहीं मानते ?

रघुनाथ : आप तो मानती हैं ?

ललिता : मेरे मानने से क्या होता है ?

रघुनाथ : फिर मेरे न मानने से क्या होता है ?

ललिता : { हँसती हुई } क्या कहना ! तो आप न बतायेंगे ?

रघुनाथ : अभी बतलाना कुछ बाकी है ? मेरा परिचय...उसी पुस्तक में आपको नहीं मिला ?

ललिता : मुझे देर हो रही है-- {ललिता का प्रस्थान--रघुनाथ उसकी ओर देखता रहता है। ललिता के चलने से मालूम होता है जैसे वह विवश होकर चल रही है, अन्यथा चलना नहीं चाहती--कभी तेज, कभी धीरे, कभी रुक कर...। इस तरह ललिता दूर निकल जाती है, चाँदनी में देख नहीं पड़ती। रघुनाथ धीरे-धीरे नदी के किनारे चला जाता है। मुनीश्वर और अश्करी का प्रवेश }

मुनीश्वर : यहीं तो था { अश्करी चारों ओर देखती है } तो तुम तैयार नहीं हो ?

अश्करी : नहीं...जब तक मैं अपना सुधार नहीं कर लेती।

मुनीश्वर : तुम्हें क्या सुधार करना है ?

अश्करी : मुझे सुधार नहीं करना है ? मुनीश्वरजी ! आप जगत को धोखा दे रहे हैं...नहीं तो आप वेश्या-सुधार आश्रम में क्या करेंगे...मुझे मालूम है। आप सुधार करने के लिये बनाये नहीं गये थे। आप तो बनाये गये थे सबको ठगने के लिए। आप अपना काम करते चलिये। सुधार के बहाने जिनको फँसाकर आप अपने आश्रम में रखेंगे, उनमें कोई न कोई आपके मतलब की मिल जायेगी।

मुनीश्वर : अश्करी ! मेरे आश्रम से समाज की बड़ी सेवा होगी। मैं चाहता था इस काम में तुम्हारा भी कुछ भाग होता। रामलाल जी ने अपनी सारी सम्पत्ति आश्रम को दे दी, तुम्हारा ही ध्यान रख कर। वे मरने के समय तक तुम्हें याद करते रहे।

अश्क़री : इसका मतलब यह कि उन्होंने सेवा-भाव से कुछ नहीं किया, मरने के समय तक अपने लिए नरक का सामान बटोरते रहे। इसमें आपने उनकी मदद की।

मुनीश्वर : तुम जानती हो मैं नरक-स्वर्ग कुछ नहीं मानता। यह सब पुजारियों और पंडों के कारनामे हैं।

अश्करी : वैसे ही जैसा आपका आश्रम !

मुनीश्वर : मेरा आश्रम इतना झूठा नहीं है।

अश्करी : आपके आश्रम से बढ़कर झूठा धरती पर और क्या है...मैं नहीं जानती। आपने रघुनाथ का सब कुछ लेकर...बेचारे को उसके घर से निकाल दिया।

मुनीश्वर : वह कैसे ?

अश्करी : अभी उसकी जो बातें हुई हैं...मैं सब सुनती रही हूँ। जी चाहता था सिर पटक दूँ...या आपको { उत्तेजित हो उठती है }

मुनीश्वर : { हँसते हुए } मुझे आग में डालो, पानी में डालो...साँप से कटाओ या जहर दे दो...मुझे तो सब कुछ स्वीकार है। तुम्हारे हाथों से जो... {अश्करी का हाथ पकड़ता है अश्करी झिझककर पीछे हटती है } सुनो, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता!

अश्करी : मेरे बिना ? हाँ, तो यह सब मेरे लिये हुआ है ? मेरे लिये ? पापी पुरुष! ईश्वर से भी डरो...

मुनीश्वर : ईश्वर प्रेम करने का है अश्करी...डरने को नहीं। उसी ने तो यह सारा खेल खड़ा किया है...नहीं तो जो तुम, वहीं मैं...

अश्करी : यह उसूल जिन्दगी में रहना चाहिये। बातों से कुछ नहीं होता।

मुनीश्वर : तुम्हें चलना पड़ेगा।

अश्करी : जबरदस्ती ?

मुनीश्वर : मैं उस लायक भी हूँ ?

अश्करी : वे दिन चले गये।

मुनीश्वर : कभी नहीं। वे चले जायँगे तो दुनिया चली जायगी। दुनिया में वे ही रहेंगे। दुनिया में उनके सिवा और कुछ नहीं है...

अश्करी : कुछ नहीं है ? क्या कह रहे हो ?

मुनीश्वर : जो कह रहा हूँ ठीक...समझ कर... { अश्करी की ओर देखने लगता है }

अश्करी : तो तुम मुझे जबरदस्ती ले जाओगे ?

मुनीश्वर : हाँ, तुम्हारा सुधार करने के लिए। तुम्हें प्रेम का अमृत पिलाकर जिलाने के लिये और तुम्हारी पूजा करने के लिये। तुम्हारे बिना आश्रम...कैसा होगा, मैं समझ नहीं सकता। तुम्हारा वही प्रेमी एक बार फिर तुम्हारे हृदय के द्वार पर भीख माँग रहा है। उसे विमुख करोगी ? है यह सम्भव ? अश्करी मुनीश्वर की ओर विस्मय और उद्वेग से देखने लगती है। {मुनीश्वर उसकी ओर देखकर भौंहें नचाकर मुस्कराता है। अश्करी घूमकर जाना चाहती है }

मुनीश्वर : तुम क्यों उधर बढ़ रही हो ! मैं कह चुका हूँ बरजोरी ले जाऊँगा। मैं अपना अधिकार नहीं छोड़ सकता। ठहरो... {अश्करी चलती ही जाती है। } अच्छा चलो, देखूँ तुम्हें कौन मेरे साथ ले जाने से रोक सकता है।

अश्करी : {खड़ी होकर ऊपर आकाश की ओर हाथ उठाती हुई } वही जो ऊपर हैं और जो यह सब देख रहे हैं...

मुनीश्वर : ऊपर कोई नहीं है...मैं हूँ, मैं ही ईश्वर...स्वर्ग, नरक जो कुछ है, सब हूँ। यह दासता--{ आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ता है }

अश्करी : ईश्वर से डरो पापी पुरुष... !

मुनीश्वर : मैंने कह दिया मैं ईश्वर हूँ। ईश्वर निर्बलों के लिए है। जो अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते, ईश्वर के सहारे खड़े होते हैं। { अश्करी को अपनी ओर खींचना चाहता है। अश्करी वहीं जमीन पर बैठ जाती है। दूर से एक कंकड़ आकर मुनीश्वर के हाथ में लगता है। उसका हाथ झब्ब से हो उठता है। अश्करी का हाथ छूट जाता है। मुनीश्वर एक हाथ से चोट दबाकर जिधर से कंकड़ आता है, उधर देखने लगता } प्रतिहिंसा ? रघुनाथ ! सावधान रहना।

नेपथ्य में : अब क्या करोगे ?

मुनीश्वर : अभी कुछ करना है; अभी मैंने किया क्या ? अब देखना ?

नेपथ्य में : चुप रह बेहया।

मुनीश्वर : मालूम होता है अब मुझे तुम्हारे लिये हथकड़ियों की भी तैयारी करनी पड़ेगी। तुम्हारी दवा--{तेजी से रघुनाथ का प्रवेश}

रघुनाथ : राक्षस ! {रघुनाथ बॉयें हाथ से मुनीश्वर का गला पकड़ता है, और दॉया हाथ उसकी कमर में डालकर उसे जमीन पर दे मारता है। मुनीश्वर जमीन पर चित्त गिरता है। रघुनाथ उसकी छाती पर पैर रखता है। }

अश्करी : हाँ ठीक है... मार डालो इसे... इसने...

{ललिता का प्रवेश। ललिता यह देखकर भय और विस्मय से पीछे हटती है। }

ललिता : ऐं !--यह कवि का काम ? मनुष्य की छाती पर पैर ! छी: आप तमाशा देख रही हैं ?

{अश्करी की ओर देखती है}

अश्करी : इसी ने मुझे स्वर्ग से खींच कर नरक में पटक दिया... {ललिता रघुनाथ को ढकेल कर अलग कर देती है}

मुनीश्वर : {बैठकर} सच कह रही हो ? मैंने ही तुम्हें स्वर्ग से खींचकर नरक में पटक दिया ? तुम अपने आप गिरीं। मैं नहीं रहता तो पता नहीं कितने गहरे गई होतीं। मैंने उस तूफान को रोका जो तुम्हें पत्ते की तरह जहाँ चाहता उड़ाता फिरता {एक ओर से अश्करी और दूसरी ओर से मुनीश्वर का प्रस्थान}

ललिता : आप कितने निष्ठुर हैं ?

रघुनाथ : जी...

ललिता : जी नहीं सच...

रघुनाथ : होगा...

ललिता : जैसे यह बड़ी छोटी बात है...

रघुनाथ : मेरे लिए तो..

ललिता : क्या आप के लिए...

रघुनाथ : कुछ नहीं, आप जाइये।

ललिता : मनुष्य की छाती...पैर...

रघुनाथ : वह मनुष्य नहीं, राक्षस है।

ललिता : क्यों ?

रघुनाथ : जो है उसके लिए क्यों की क्या बात ? वह मनुष्य नहीं राक्षस है। उसने धर्म के नाम पर...वेश्या-सुधार-आश्रम के नाम पर मेरे पिता से उनकी सारी सम्पत्ति ले ली और मुझे घर से आज..{उसकी ओर देखकर} क्या कहूँ... मेरे लिये यह ठीक नहीं...कहाँ रात और कहाँ सबेरा ? ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ मैं पैर दबाकर खड़ा रह सकूँ।

{ललिता गम्भीर होकर कुछ सोचने लगती है। } या तो मैं इसे मार डालूँगा या अपने मर जाऊँगा। दोनों का जीना सम्भव नहीं।

ललिता : ऐसा आदमी ? लेकिन आपको क्षमा करना चाहिए।

रघुनाथ : मुझे करना तो बहुत कुछ चाहिये। यदि मैं कर सकूँ। मैं अपने वश में नहीं हूँ। मुझे होश नहीं है...कहाँ जा रहा हूँ, किस ओर...

{ दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं }

ललिता : क्या आप मेरी... {एकाएक चुप हो जाती है। रघुनाथ चुपचाप उसकी ओर देखता रहता है }

रघुनाथ : किसलिये ?

ललिता : मुझे डर है, इस मानसिक...निराशा में आप पागल न हो जायँ...

रघुनाथ : ओह ! पागल कितना सुन्दर होगा ! जैसा दिन, वैसी रात, जैसा सुख, वैसा दु:ख। सब एक-सा। कहीं कुछ नहीं...

ललिता : यह तो आप कविता करने लगे !

रघुनाथ : नहीं सच बात है।

ललिता : कविता भी तो सच बात है...

रघुनाथ : जी नहीं। कविता करते समय लोग मृत्यु को ललकार देते हैं। जो कहीं फोड़ा हो जाय और उसका आपरेशन कराना पड़े, तब मालूम होता है...मृत्यु क्या है ?

ललिता : आज आप मेरे यहाँ चलें। आप का चित्त...

रघुनाथ : मुझे बदला लेना है, और जब तक वह नहीं हो जाता...मुझे...

ललिता : आप इसके योग्य नहीं है। इसके लिए...आप कष्ट उठायेंगे। परेशान होंगे। कुछ होगा नहीं। आपको...किसी शान्त वातावरण में चुपचाप कलम और कागज लेकर बैठ जाना चाहिये।

रघुनाथ : जीवन को लात मारकर...

ललिता : नहीं जीवन को सजा कर...उसे महान और सुन्दर बना कर। क्षुद्र प्रवृत्तियों में पड़ने से लाभ...

रघुनाथ : क्षुद्र प्रवृत्तियाँ ? बात तो ठीक लग रही है...पर मैं इसे समझता नहीं। मेरे भीतर जैसे कोई कह रहा है...उठो...चल पड़ो और बदला लो। मैं विवश हूँ। मैं भी तो मनुष्य हूँ...मेरे भी हृदय है। उसमें दु:ख है, क्रोध है। मैं क्या करूँ ? मेरा क्या दोष ? चुपचाप अन्याय सह लेने में मेरी मनुष्यता रो पड़ेगी। जगत मुझे...

ललिता : जगत से अधिक अपनी चिन्ता करनी चाहिये। और फिर आपको क्या पता, मेरी तरह जगत के कितने जीव आपसे यही कहेंगे। {रघुनाथ सहानुभूति की दृष्टि से ललिता की ओर देखता है। ललिता उसकी ओर देख कर दृष्टि नीची कर लेती है। नेपथ्य में जंगली जानवरों के बोलने की ध्वनि }

रघुनाथ : कितनी रात गई होगी ?

ललिता : कम से कम दो घड़ी...

रघुनाथ : आपका घर कितनी दूर है ?

ललिता : प्राय: एक मील...

रघुनाथ : यहाँ इस समय ठहरना सुरक्षित नहीं। कितना सुनसान है !

ललिता : कोई भय नहीं...मैं तो यहाँ इस समय प्राय: आया करती हूँ। प्रकृति का सुख...यह कहाँ मिले ?

रघुनाथ : अच्छी बात है...आप जाइये ?

ललिता : और आप ?

रघुनाथ : मैं क्या ?

ललिता : आप इस रात को...

रघुनाथ : यहीं या और कहीं...

ललिता : यदि और कहीं तो मेरे यहाँ....

रघुनाथ : और कहीं नहीं, बस यहीं...

ललिता : पर यहाँ अकेले...

रघुनाथ : कोई भय नहीं और, फिर मुझे तो अकेले...

ललिता : यह कौन जानता है ?

रघुनाथ : मैं जानता हूँ...

ललिता : आप सब कुछ नहीं जानते। कब क्या होगा...कहा नहीं जा सकता ?

रघुनाथ : कहा तो नहीं जा सकता। पर जिसका पता नहीं, उस पर विश्वास भी तो नहीं हो सकता। मैं तो आज के लिए जीता हूँ...कल क्या होगा ? कल जाने। उसकी चिन्ता...अश्करी की भेंट आप से कब हुई ?

ललिता : अश्करी कौन ?

रघुनाथ : वही जो आप के साथ यहाँ आई थी।

ललिता : तो क्या उसका जन्म मुसलमान घर में हुआ है ?

रघुनाथ : हाँ...

ललिता : हे भगवान !

रघुनाथ : क्या हुआ ?

ललिता : उनका छुआ मैंने जल पिया है...वे शालिग्राम की पूजा करती हैं, दोनों समय घंटी बजाती हैं, आरती करती हैं, भोग चढ़ाती हैं, एकादशी का व्रत रखती हैं...निर्जल...!

रघुनाथ : {विस्मय से} यहाँ तक ? वे रहती कहाँ हैं ?

ललिता : मेरे ही मकान में।

रघुनाथ : तब तो मुझे भी वहाँ चलना होगा। उसका यह जीवन देखने के लिए। इतना परिवर्तन ? संसार भी क्या विचित्र है !

ललिता : तो फिर चलिये। {दोनों का प्रस्थान}

{मुनीश्वर का प्रवेश--मुनीश्वर इधर उधर चारों ओर देखकर आकाश की ओर देखने लगता है, क्षण भर के बाद एक ओर निकल जाता है} पर्दा उठता है। {अश्करी का कमरा-काठ की चौकी पर सुन्दर पीतल की डिबिया में शालिग्राम की मूर्ति। पूजा के पात्र, फल, फूल, घंटी। अरघे में आग लेकर अश्करी का प्रवेश। शुभ्र उज्ज्वल साड़ी, खुले बाल। अश्करी चौकी के एक कोने पर अरघा रख देती है। विधिवत शालिग्राम की पूजा प्रारंभ करती है। कुछ देर बैठ कर धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाती है। मूर्ति को स्नान कराती है। सूखे वस्त्र से पोंछ कर फिर रखती है। फूल चढ़ाती है, फल चढ़ाती है, नैवेद्य चढ़ाती है झुक कर बायें हाथ से घंटी बजाती है और दायें हाथ से आरती उतारती है।}

{रघुनाथ का प्रवेश-रघुनाथ कमरे के द्वार पर खड़ा होकर यह दृश्य देखता है। आश्चर्य और विस्मय उसके चेहरे पर दीख पड़ता है। दायें हाथ की हथेली अपने सिर पर रख कर झुक कर खड़ा होता है। अश्करी घूम कर उसकी ओर देखती है। }

रघुनाथ : अश्करी...!
अश्करी : { प्रसन्न होकर } आप...यहाँ कैसे...कहिये।
रघुनाथ : यह क्या ?
अश्करी : क्या हुआ ?
रघुनाथ : तुम शालिग्राम की पूजा करती हो ?
अश्करी : हाँ...
रघुनाथ : कब से...क्यों...कैसे ? { उसकी साँस रुक जाती है }
अश्करी : मुझे नहीं मालूम ?
रघुनाथ : तो तुम भी जगत को धोखा दे सकती हो।
अश्करी : इसमें धोखा क्या है...पागल !
रघुनाथ : लोग तुम्हें हिन्दू समझते हैं। तुम्हें मसजिद में खड़ी होकर, झुककर, बैठकर, लेटकर इबादत करनी चाहिये।
अश्करी : इबादत कैसी हो, यह तो इबादत करने वाले पर है। मुझे यही तरीका अच्छा लगता है। भगवान के आमने सामने बैठकर...
रघुनाथ : तुम क्या से क्या हो गई ?
अश्करी : सचमुच ! { मुस्करा उठती है }
रघुनाथ : सचमुच ! शालिग्राम की पूजा करती हो ?
अश्करी : मैं क्या करती हूँ, यह आप जान कर क्या करेंगे ? आप इधर रास्ता कैसे भूल गये ?
रघुनाथ : तुमने जो यहाँ तमाशा खड़ा कर रखा है, वही देखने के लिए ?
अश्करी : { क्षुब्ध होकर } आपके घर में मैंने जो तमाशा खड़ा किया था, उससे तबियत नहीं भरी क्या ? जो यहाँ आकर...। आप लोग कितने संकीर्ण हैं। सब किसी के जीने का तरीका अपना अलग है। मैं इसी तरह जी रही हूँ। आखिरकार आप मुझे जीने देंगे या नहीं। { रघुनाथ कुछ सोचने लगता है, अश्करी उसका ख्याल न कर फिर पूजा में लग जाती है। रघुनाथ कुछ देर ज्यों का त्यों खड़ा रहता है, फिर जैसे कुछ सोचकर कमरे में प्रवेश करता है। अश्करी के पीछे खड़ा होता है। अश्करी हाथ जोड़कर मूर्ति के सामने धरती पर सिर रख देती है, रघुनाथ झुककर उसके सिर पर हाथ रख देता है। }
अश्करी : अरे...अरे ! { रघुनाथ की ओर सिर घुमाकर देखती है }
रघुनाथ : वरदान...
अश्करी : तुम्हारा...
रघुनाथ : क्यों तुम्हें संदेह ?
अश्करी : अब मुझे मनुष्य के वरदान की चाह नहीं है।
रघुनाथ : यह मेरा पहला और अन्तिम वरदान है...सदैव के लिए।
अश्करी : मुझे मनुष्य के वरदान में विश्वास नहीं है...चाहे वह पहला हो या अन्तिम। तुम अपने देवता का अनादर करते हो।
रघुनाथ : पहला और अन्तिम वरदान सदैव देवता का होता है। मेरे भीतर भी वह देवता है।

अश्करी : यह सब तो कहने की बात है।
रघुनाथ : मैंने तो वरदान दे दिया...लौटा नहीं सकता।
अश्करी : तुम चाहते क्या हो ? किसलिए ?
रघुनाथ : कुछ नहीं। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए बुरी भावना थी...वह सदैव के लिए मिट गई।
अश्करी : मैं अब भी वही हूँ। इस जीवन के साथ जो कलंक है मिटाया नहीं जा सकता।
रघुनाथ : मेरे लिये तो मिट गया...
अश्करी : तुम्हारे लिए होगा...पर सारी दुनिया के लिए नहीं।
रघुनाथ : सारी दुनिया की परवाह क्यों करती हो ?
अश्करी : फिर तुम्हारी ही परवाह क्यों करूँ ?
रघुनाथ : किसी की तो परवाह करोगी ? तुम्हें किसी की परवाह करनी होगी ? इस तरह जीवन का रास्ता तुम नहीं भूल सकोगी।
अश्करी : अब किस लिये ! मेरे पास क्या है ? जिसकी चिन्ता करूँ। कोई भी रास्ता मुझे भटका नहीं सकेगा।
रघुनाथ : तुम्हें अपने पर इतना विश्वास है ?
अश्करी : अब हो गया है...
रघुनाथ : कल मिट सकता है...
अश्करी : कल क्या होगा ? कौन जाने...
रघुनाथ : जो हो...लेकिन उसके लिए...
अश्करी : उसके लिए कुछ नहीं। अगर आज है... जो है रहेगा।
रघुनाथ : वही तो नहीं रहता, नहीं तो यह जगत इतना जटिल नहीं होता। धरती के जीव इस तरह प्रकाश और अन्धकार में नहीं भटकते!
अश्करी : वह प्रकाश और अन्धकार तो तुम्हारे मन का है। धरती का नहीं। जगत में तो वे मिले हुए हैं...एक...सब ओर एक और कुछ नहीं। प्रकाश और अन्धकार में सामंजस्य, सुख और दु:ख में सामंजस्य, जीवन और मरण में सामंजस्य। सत्य के टुकड़े को न देखो...रहने दो एक और तब देखो। { रघुनाथ गम्भीर होकर कुछ सोचने लगता है अश्करी उसकी ओर देखती है }
रघुनाथ : रोम्याँरोलां...कहीं { चुप हो जाता है }
अश्करी : क्या कहा ?
रघुनाथ : कुछ नहीं। रोम्याँरोलां ने अपने ज्यांक्रिस्तोफ़ में ऐसा ही कहा है।
अश्करी : कैसा ?
रघुनाथ : जैसा तुम कह रही हो...
अश्करी : क्या कहा है ?
रघुनाथ : ठीक याद नहीं पड़ता...
अश्करी : कुछ तो कहो।
रघुनाथ : उन्होंने कहा है या उनके महान चरित्र ज्यांक्रिस्तोफ़ ने अनुभव किया... 'तुम्हारा फिर जन्म होगा। विश्राम करो। दिन और रात की { कुछ देर ठहर कर } हाँ...दिन और रात की मुस्कराहट एक दूसरे का आलिंगन कर रही है।

हे सामंजस्य ! प्रेम और घृणा के महान मिलन...मैं ईश्वर के सामने दो उन्नत स्वरों में गा रहा हूँ...जीवन की जय हो मृत्यु की जय हो !' ऐसा ही तुम भी करती हो। इसी तरह का...तुम कितने ऊँचे उठ गई...यह भाषा तुम्हें कहाँ मिली...कहाँ मिले ये शब्द...

अश्करी : रघुनाथ बाबू न मैं ऊपर उठी और न नीचे गिरी। मैं अब भी वही हूँ...वही शरीर, वही आत्मा, वही जीवन सब कुछ वही...मैं ने बस अपना रास्ता बदल दिया है। इसे गिरना समझो या उठना। कहाँ जाना है...कितनी दूर जाना है, यह मैं नहीं जानती। चल पड़ी हूँ...मैं हूँ और { मूर्ति की ओर संकेत कर } भगवान है...भाषा और शब्द सभी भगवान के हैं। मनुष्य को जो कुछ मिला है सब उन्हीं का है।

रघुनाथ : {सहम कर } मुझे साथ न ले चलोगी ?

अश्करी : तुम अभी बच्चे हो, तुम्हारे पैरों में बल नहीं है। तुम्हारी चिन्ता में मैं अपने भगवान को भूल जाऊँगी। यह सौदा बड़ा महँगा होगा।

रघुनाथ : क्या तुम्हारा भगवान मेरे भीतर नहीं है ?

अश्करी : हो सकता है लेकिन मैं उस भगवान को चाहती हूँ जो इस मूर्ति में है। तुम्हारे भीतर भगवान यदि है तो जेलखाने में है, जंजीरों में जकड़ा हुआ है।

रघुनाथ : उसकी जंजीर काट दो...क्यों ? { उसकी ओर देखकर मुस्कराता है }

अश्करी : यह बल मुझमें नहीं है। उसकी जंजीरें तुम्हारें मरने पर कटेंगी।

रघुनाथ : मेरे मरने पर ? तुम मेरा मरना चाहती हो ?

अश्करी : नहीं...बिलकुल नहीं। लेकिन मेरे नचाहने से ही तुम अमर नहीं हो जाओगे। कभी तुम्हें मरना तो है...आज नहीं तो कल, जितनी ही जल्दी मरोगे उतनी ही जल्दी...उसका छुटकारा होगा।

रघुनाथ : तो आत्महत्या कर लूँ ?

अश्करी : यदि कर सको...यदि वह करने दे...

रघुनाथ : क्यों ?

अश्करी : अपने भीतर के भगवान को स्वतन्त्र करने के लिये ? अपने कष्ट के साथ ही साथ तुम उसे भी कष्ट देते रहे हो।

रघुनाथ : उसे भी कष्ट होता है ?

अश्करी : तुम्हें कुछ भी होता है...सब उसे होता है।

रघुनाथ : हूँ, तो क्या करूँ ? आत्महत्या ?

अश्करी : बिलकुल आत्महत्या नहीं। जिन बातों से तुम्हें कष्ट होता है... उन्हें हृदय से निकाल फेंको। तुम्हारे भीतर का भगवान प्रसन्न होगा। मुनीश्वर को क्षमा कर दो...अपने पिताजी को क्षमा कर दो और यदि हो सके तो मुझे भी। अपनी सीमाओं को पार कर जाओ...बस तुम देवता हो...देवत्व के लिए बस इतना ही...

रघुनाथ : यदि यह सम्भव...

अश्करी : {उसकी ओर देखकर } रघुनाथ बाबू !

रघुनाथ : कहो !

अश्करी : सम्भव...असम्भव तो अपने मन की बात है। अपनी मुक्ति अपने हाथ में है।

रघुनाथ : हो सकता है जी...लेकिन...

अश्करी : ठहरो अभी आ रही हूँ... {अश्करी का प्रस्थान }

रघुनाथ : मुझे जाना है, देर होगी...

अश्करी : { लौट कर } इस रात को...

रघुनाथ : हाँ... अभी...

अश्करी : क्या कहते हो... वही पागलपन {अश्करी का प्रस्थान }

रघुनाथ : {इधर-उधर कमरे में टहलने लगता है। शालिग्राम की मूर्ति को उठाकर सिर पर रखता है } भगवान मेरे लिये कोई रास्ता नहीं है ? यदि है तो बताओ, चाहे वह कहीं हो, किसी ओर हो, जितने दिन, जितने वर्ष या जितने युग चलना पड़े... चलता रहूँगा। { नेपथ्य में } वह रास्ता जीवन का है... उसे समझना चाहिए! [{ रघुनाथ चौंक कर सहम जाता है। मूर्ति को उसी जगह पर रख कर वहीं धरती पर बैठ जाता है.. ललिता का प्रवेश }

ललिता : आप नीचे बैठे हैं{आगे बढ़ कर रघुनाथ की बाँह पकड़कर} उठिये... चलें...

रघुनाथ : {बाँह छुड़ाकर } उहँ...

ललिता : क्षमा कीजिये! मैं नहीं समझती...

रघुनाथ : आपको इतना जानना चाहिये कि अपरिचित व्यक्ति से कैसा व्यवहार किया जाता है।

ललिता : मैं यह सब जानती हूँ श्रीमान्...

रघुनाथ : आप नहीं जानतीं। श्रीमान् मैं अभी कहाँ हूँ ?

ललिता : आप मेरे घर में मेरा अपमान कर रहे हैं।

रघुनाथ : यह बुरा नहीं है... अपने घर मैं आपका अपमान नहीं करता।

ललिता : ...हूँ {नीचे धरती की ओर देखने लगती है। रघुनाथ उसकी ओर देखकर मुस्करा उठता है। अश्करी किवाड़ के सामने तक आती है। उन दोनों को देखती है और पीछे हट कर किवाड़ से लगकर खड़ी हो जाती है। }

रघुनाथ : मालूम होता है आप... रंज हो गई हैं।

ललिता : जी नहीं... आप अपने घर में मेरा अपमान नहीं करते... मैं भी अपने घर में आपसे रंज नहीं होती। बड़े भाग्य से आप आज मेरे अतिथि हैं। अतिथि देवता का स्वरूप होता है।

रघुनाथ : होता होगा... पर मेरे ऐसा अतिथि नहीं!

ललिता : आप ही के जैसा अतिथि... जिसके साथ व्यवहार करने में डरना पड़े। जिसकी रुचि जगत से अलग हो...

रघुनाथ : जी तब...

ललिता : कुछ विशेष नहीं... केवल यही कि मुझे अतिथि-सत्कार... अपनी सेवा का अधिकार आज दे दें।

रघुनाथ : मुझे यहाँ ठहरना नहीं है। आप परेशान न हों।

ललिता : इस समय तो आपको ठहरना होगा। अब इस समय...

रघुनाथ : ठहर सकता तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती!

ललिता : लेकिन बाधा क्या है ?

रघुनाथ : मेरा मन!

ललिता : उसे वश में कीजिए।

रघुनाथ : इसीलिये तो जाऊँगा। जो वश में नहीं करता तो शायद जा नहीं पाता।

ललिता : तो आप मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं करेंगे ?

रघुनाथ : जी नहीं।

अश्करी : { कमरे में प्रवेश करते हुए } और मेरी...

रघुनाथ : आपको तो मनुष्य में विश्वास नहीं है...इसलिये शायद आप मनुष्य से कुछ कहें भी न ?

अश्करी : मुझे मनुष्य के वरदान में विश्वास नहीं है...और फिर तुम तो वरदान भी दे चुके हो...और उसे लौटाना भी नहीं चाहते।

रघुनाथ : मैं जो कुछ करता हूँ, विवश होकर। जैसे और लोग सोच-विचार कर सब तरह से, हर एक पहलू देख कर करते हैं...वह मुझे नहीं आता। यहाँ तो...{ कुछ देर रुक कर } लहर आती है और मुझे कहाँ से कहाँ पहुँचा देती है। मैं देखना चाहता हूँ, पर देख नहीं पाता। समझना चाहता हूँ, समझ नहीं पाता। मेरी दशा...न तो पार लग रहा हूँ और न डूब रहा हूँ। असमंजस के थपेड़े...{उसका गला रुँध जाता है }

अश्करी : घबड़ाने की बात नहीं है...भगवान के भरोसे हाथ-पैर फेंकते चलो। पार लगना... वह तो होगा ही। {ललिता रघुनाथ की ओर सहानुभूति की दृष्टि से देखती है }

रघुनाथ : भगवान के भरोसे ! किया है किसी ने उसका कभी भरोसा ? किसी का भरोसा न भी पूरा हुआ है और न होगा। मुझे यदि भरोसा करना होगा तो मैं पिशाच का करूँगा, किन्तु भगवान का नहीं।

ललिता : चुप भी रहिए।

रघुनाथ : क्योंकि आपको बुरा मालूम हो रहा है...भगवान क्या है ? तुम न समझोगी। दुर्भाग्य के थपेड़ों का पता चला होता तो भगवान की बात...

अश्करी : रघुनाथ बाबू, मैं किससे कहूँ और क्या हूँ ?

रघुनाथ : किसी से नहीं।

अश्करी : तब फिर आपकी शिकायत कैसी ? भगवान का भरोसा इस बिगड़े जमाने में भी बहुत कुछ है। आपके पिताजी 'ताको भलो अजहूँ तुलसी जेहि प्रीति प्रतीत है आखर दूकी' बराबर गाया करते थे। सबेरा होता था...अभी थोड़ी-सी रात रहती थी...वे विनयपत्रिका के पद गाना शुरू कर देते थे। मालूम होता था...क्या...कहूँ? मेरी नींद कभी-कभी खुल जाती थी...वे क्या गाते थे, सब समझ में तो नहीं पड़ता था...लेकिन तब भी जैसे दिल धुल जाता था। हम लोगों के बहुत से दुर्भाग्य हमारे ही बनाये हुए हैं।

रघुनाथ : { कुछ सोचकर }ठीक तो लग रहा है...पर यह बड़ी कठिनबात है...{ हृदय पर हाथ रखकर } मैं तो समझता हूँ, यहाँ भगवान से अधिक जगह पिशाच को मिली है...वही यहाँ का राजा है...वह इसकी व्यवस्था करता है... पहरेदारी करता है...वह कुरूप तो है...भयंकर तो है। पर जो है समझ पड़ता है...आँखों के सामने आता है...और भगवान यह सपना...मैं इस फेर में पड़ना नहीं चाहता। जिसका पता नहीं, जो जाना नहीं जा सकता...पिशाच बराबर मुस्कराता रहता है...दुःख और दुर्भाग्य उसके सामने खड़े नहीं होते। मनुष्य उसके भरोसे कम से कम हँस तो सकता है।

नित्य का रोना... {अश्करी का प्रस्थान} यही है। ऐसा ही है। मुझे तो यही मालूम होता है {ललिता से} आप क्या... समझती हैं ? मैंने ठीक कहा या नहीं ?

ललिता : {गम्भीर और चिन्ता के स्वर में} आपको समझ लेना मेरे लिए सरल नहीं हैं। आप मुझे समझने देंगे भी नहीं। आप समझते हैं कि आपके भीतर पिशाच है। मैं देखती हूँ कि आपके भीतर देवता है... आप स्वयं देवता हैं... यदि आप मुझे अवसर दे दें तो...

रघुनाथ : तब क्या होता ?

ललिता : जिस तरह वे {मूर्ति को दिखाकर} इनकी पूजा करती हैं, उसी तरह मैं...

रघुनाथ : लेकिन इसके लिये प्रेम...

ललिता : तो आप क्या समझते हैं कि मैं आपको...

रघुनाथ : {सिर हिला कर} कह तो नहीं सकता... मुझे प्रेम कोई भी नहीं करेगा, कोई भी नहीं। मैं इसके लिए बना नहीं हूँ। आप की यह उदारता... मुझ में क्या है... मैं आपको क्या दे सकूँगा। मैं अभागा...

ललिता : {नीचे धरती की ओर देखती हुई} यह बात तर्क करने की नहीं है... यही तो आत्मा का स्वर्ग है... विश्वास की विभूति है... जीवन का संगीत है। {रघुनाथ की ओर देखकर} यह जो है... है {मुस्करा उठती है। रघुनाथ पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जैसे वह हिल उठता है}

रघुनाथ : मैं सम्हाल नहीं सकूँगा... मुझे क्षमा करो...

ललिता : मैं कुछ माँगती तो नहीं हूँ...

रघुनाथ : मेरे पास है ही क्या ?

ललिता : क्या नहीं है ?

रघुनाथ : कुछ नहीं, तुम जानती नहीं। मैं सब ओर से दरिद्र...

ललिता : हृदय और आत्मा के धनी... जीवन से धनी... और फिर यदि दरिद्र भी हो तो मेरे लिये क्या ? विश्वास और त्याग के जगत में आकांक्षा... देवता के मन्दिर में नशा {रघुनाथ की बाँह पकड़ लेती है। रघुनाथ सिहर उठता है। अश्करी का प्रवेश। अश्करी यह दृश्य देखकर सहम उठती है, किन्तु उसी क्षण साहस कर आगे बढ़ती है}

अश्करी : {ललिता के कन्धे पर हाथ रख कर} यह क्या ? {ललिता धरती की ओर देखने लगती है। रघुनाथ की ओर देखकर} आप कहिये बिरागी !

रघुनाथ : {हँसता हुआ} मैं नहीं जानता... पूछो {ललिता की ओर संकेत करता है}

ललिता : मैं नहीं जानती...

अश्करी : तब...

रघुनाथ : अब तुम बतलाओ...

अश्करी : मैं ?

रघुनाथ : हाँ... हाँ... अपने भगवान से पूछकर...

अश्करी : मैं तो इसे जीवन की जीत समझती हूँ... मनुष्य के हृदय में जो है और जो रहेगा... जिसे होना चाहिये, वही। मैं प्रसन्न हूँ। ईश्वर तुम दोनों को...

रघुनाथ : {सहसा गम्भीर होकर} समझ नहीं पड़ता यह सब...

अश्करी : फिर वही...जीवन का गीत सुनो...कितना सुन्दर...कितना मीठा और कितना नशीला...मैं इस लायक नहीं हूँ कि उसका संदेश दे सकूँ...पर {ललिता का प्रस्थान} बड़ी अच्छी लड़की है। जो यह हो सकता...

रघुनाथ : क्या कहा जाय ?

अश्करी : कोई चिन्ता की बात नहीं है...मुझे विश्वास है कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

रघुनाथ : पड़ेगीं तो क्या ? मेरे पास तो बाधा...मेरे पास इसे छोड़ कर और क्या है ? पर तुम...

अश्करी : रघुनाथ बाबू मैं जहाँ पहुँच चुकी हूँ, वहाँ से यह धरती...क्या कहूँ...आप इसे मेरा पागलपन समझेंगे। यह धरती कितनी छोटी है। मैं इसके सभी कामों में रह सकती हूँ, पर बराबर ऊपर। मेरे भगवान मुझे मुक्ति दे सकेंगे, और कोई तरीका नहीं। आपको इसी धरती के साथ समझौता करना चाहिये। अभी आए कितने दिन के हुए ? आपको यह सब देखना है, समझना है। आगे बढ़ने के लिये या ऊँचे उठने के लिये...यही दिन तैयारी के हैं।

{रघुनाथ और अश्करी का प्रस्थान}

{पर्दा उठता है।ललिता का कमरा।दीवारों पर चित्र।दरवाजे और खिड़कियों पर सुन्दर परदे। कमरे के कोने में एक छोटी-सी मेज और कुर्सी। मेज पर लैम्प और हारमोनियम। इसके पास ही पलंग। ललिता का प्रवेश। ललिता कुर्सी पर बैठती है। मेज़ के सहारे केहुनी टेक कर हथेली पर सिर रख लेती है। उँगलियों के नीचे उसकी आँखें छिप जाती हैं। गहरी चिन्ता, उद्वेग और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता में जान पड़ती है। थोड़ी देर के बाद वह सचेत होती है। अनायास ही उसकी उँगली हारमोनियम पर पहुँच जाती है। थोड़ी देर इधर उधर उँगली फेरती है। फिर ठिकाने से बजाने लगती है। हारमोनियम के स्वर निकल कर वातावरण में फैलते हैं। जैसे वायु-आकाश जो कुछ है झूमने लगता है। ललिता के मुँह पर हर्ष और विषाद की बिजली खेलने लगती है। सहसा दाईं ओर का किवाड़ खुलता है--पर्दा हटाकर सुखिया का प्रवेश}

ललिता : {झुंझला कर} क्या है रे ?

सुखिया : चला...बोलावत हईन।

ललिता : {क्रोध में} चला, जैसे मैं इसकी बराबर की हूँ। बोलने का भी ढंग नहीं। कहाँ हैं ?

सुखिया : ऊपर छत पर। जल्दी कहली हैं।

ललिता : कह दे मेरी तबियत ठीक नहीं है। यहीं भेज दे।

{सुखिया का प्रस्थान। कुर्सी से उठती है। चादर तान कर चारपाई पर पड़ी रहती है}

{अश्करी का प्रवेश। वह चारपाई के पास जाकर ललिता के मुँह पर से चादर हटाना चाहती है। ललिता जल्दी से करवट बदल कर चादर जोर से दबा लेती है।}

अश्करी : वे जा रहे हैं।

ललिता : तो मैं क्या करूँ।

अश्करी : रात का समय है। तुम्हारे यहाँ आये हैं...तुम्हें रोकना चाहिये

ललिता : आप क्यों नहीं रोकतीं ?

अश्करी : किस अधिकार से ?

ललिता : मेरे पास कौन-सा अधिकार है ?

अश्करी : तुम्हारा घर है और तुम उन्हें प्रेम...

ललिता : आपको शर्म नहीं आती ?

अश्करी : मैंने किया क्या ?

ललिता : मुझे कहना पड़ेगा ?

अश्करी : {गम्भीर होकर} चाहिये न ?

ललिता : आपका मैं ने इतना विश्वास किया। मैंने आपके लिए क्या नहीं किया ? लेकिन आपने मुझे धोखा दिया..

अश्करी : धोखा ? तुम्हें ! शायद तुम भ्रम में...

ललिता : {चादर फेंककर चारपाई पर बैठती हुई} जी नहीं, जान-बूझ कर, समझ कर आपने मुझे धोखा दिया। मैं खूब जानती हूँ। पहले आप यह बतलाइये कि आप हिन्दू हैं या मुसलमान।

अश्करी : हिन्दू ?

ललिता : झूठ है ?

अश्करी : {हँस कर} नहीं जी सच है। मैं हृदय से, आत्मा से हिन्दू हूँ।

ललिता : और शरीर से ?

अश्करी : मिट्टी के बारे में क्या पूछती हो ? मिट्टी तो सब की एक है...

ललिता : इसी को धोखा देना कहते हैं...आप अब भी नहीं मान जातीं कि आप मुसलमान हैं। आपने मेरा धर्म लिया।
सुखिया...सुखिया {सुखिया का प्रवेश। अश्करी की ओर हाथ उठाकर} इन्हें बर्तन न छूने देना ये मुसलमान हैं।

सुखिया : हैं...अरे बाप रे...ईहो भईल। धरम...करम।

ललिता : क्या बक रही है जो कहा समझ गई ? {सुखिया सिर हिला कर हाँ कहने की मुद्रा प्रकट करती है} जा। {सुखिया का प्रस्थान।}

अश्करी : तो इसका मतलब है कि मुझे यहाँ से चले जाना चाहिये।

ललिता : अब आप जो सोचिये ! आप शालिग्राम की पूजा करती थीं मैं समझती थी...यह सब दिखावटी...

अश्करी : मैं अभी जा रही हूँ।

ललिता : अपने शालिग्राम को भी लेते जाइये।

अश्करी : वे भी अपवित्र हो गये हैं क्या ?

ललिता : हाँ...हाँ...नहीं तो...

अश्करी : अच्छा तुम्हें कष्ट न हो...मैं जा रही हूँ। इतना मैं कह देना चाहती हूँ कि मैंने जान-बूझ कर धोखा नहीं दिया। मैं समझती थी तुम्हारी...तुम्हारी शिक्षा इतनी हो चुकी है...तुम मनुष्य के कर्मों का विचार करोगी। पर कोई बात नहीं। {अश्करी का प्रस्थान रघुनाथ का प्रवेश}

रघुनाथ : {ललिता की ओर देखते हुए} देवी जी ! मनुष्य के हृदय और आत्मा को देखना चाहिए। आप इतनी संकीर्ण हैं। आपसे उस देवी को आज...आप का नहीं आपके संस्कार का दोष है। जब आप फिर कभी मिलेंगी उनसे तब

जानेंगी कि वे कितने ऊपर उठ चुकी हैं। हमसे, आपसे, इस धरती से
{रघुनाथ जाने के लिये द्वार की ओर मुड़ता है }

ललिता : आप कहाँ जा रहे हैं। { आगे बढ़कर रघुनाथ की बाँह पकड़ कर } आपको तो मैं न जाने दूँगी।

रघुनाथ : मैं आपके योग्य नहीं हूँ। न आप मेरे। हम दोनों में बड़ा अन्तर है। आपको क्या पता कि मैं किस दृष्टि से उन्हें देखता था। आपने उनका अपमान किया और मुझसे प्रेम ? सम्भव नहीं।
{ रघुनाथ का प्रस्थान। ललिता अवाक् खड़ी रहती है। }

{परदा गिरता है }

तीसरा अंक

{नगर की एक सड़क। दोनों ओर इमारतें। आने-जाने वाली सवारियों की धूम। एक आदमी डुग्गी पीट कर नोटिस बाँट रहा है। } डुग्गी वाला- 'मातृ-मन्दिर का उद्घाटन। मुनीश्वर का अपूर्व त्याग। मातृमन्दिर के मैदान में जनता का विराट समारोह। नेताओं का भाषण।' {जगह-जगह नोटिस लेने वालों की भीड़ लग जाती है, डुग्गी पीटने वाला नोटिस बाँटना बन्द कर बार-बार कहता है-- 'मातृमन्दिर का उद्घाटन। मुनीश्वर जी का अपूर्व त्याग। मातृमन्दिर के मैदान में जनता का विराट समारोह। नेताओं का भाषण।' { रघुनाथ के साथ कुछ युवकों का प्रवेश }

रघुनाथ : देखते हो न जगत कैसा अन्धा है ?

पहला युवक : { नोटिस बाँटने वाले से } क्यों जी कब सभा होगी ?

नोटिस बाँटने वाला : पाँच बजे...

पहला युवक : कौन-कौन नेता आवेंगे ?

नोटिस बाँटने वाला : जो आयेगा आयेगा...मैं क्या जानूँ ? मुझसे जो कहा गया कह रहा हूँ...

दूसरा युवक : तो तुम कही हुई बात कह रहे हो !

नोटिस बाँटने वाला : { आगे बढ़ते हुए } आप लोग वहीं जाइये।

तीसरा युवक : मातृ-मन्दिर क्या बला है जी !

नोटिस बाँटने वाला : वहाँ औरतों को खाना कपड़ा दिया जाता है।

चौथा युवक : बस या और कुछ ?

नोटिस बाँटने वाला : और क्या चाहिये ? खाना कपड़ा बहुत है। कोई काम न धंधा...दिन भर बैठे रहना। कुर्सी भी, मेज भी, चारपाई, तकिया, तोशक...यह सब कम है क्या ?

एक नागरिक : {रुककर } क्यों साहब ! मातृ-मन्दिर कोई धर्मशाला है ? मैंने सुना है वहाँ औरतें रक्खी जाती हैं। जो औरत पहले पहल जाती है, उसकी फोटो खींची जाती है। बहुत सी फोटो तो बाजार में बिक रही हैं।

रघुनाथ : उसकी कीमत क्या होती है ?

नागरिक : आधा बेचने वाला पाता है और आधा उन औरतों के मैनेजर साहब के पास जाता है। लोग कहते हैं वे साधु हैं...फकीर हैं...उन्होंने घर-बार, माँ-बाप सब कुछ छोड़कर यह काम उठाया है। यहाँ की बहुत-सी वेश्यायें अपना काम छोड़ कर वहाँ चली गई हैं। वे जब निकलते हैं लोग हाथ जोड़-जोड़ कर नमस्कार करते हैं, वे मुस्कराकर हाथ हिलाते चलते हैं। आज-कल तो उनकी धूम हो गई है।

पहला युवक : आपकी समझ में वे साधु हैं...या नहीं ?

नागरिक : साहब जिसने जन्म भर वेश्या का काम किया है...उसकी तबियत धर्मशाला में नहीं लगेगी, मुझे तो यह सब पसन्द नहीं पड़ता है, मैंने खुद एक बुढ़िया को भेजा था...जिसका कोई नहीं था... जिसका लड़का अभी पन्द्रह दिन पहले मरा था। पर मैनेजर साहब ने उसे नहीं रखा...कह दिया जगह भर गई है। यह सबको धोखा देना है। और

फिर जो जैसा करता है पाता है... जैसा भाग्य होता है। भाग्य को कौन बदल सकता है। मैनेजर साहब बाजारू औरतों तक का भाग्य बदल देना चाहते हैं...हो सकता है बाबू कहीं... यह भी। यह बड़ा मुश्किल काम है। ब्रह्मा का लिखा झूठा आदमी कर देगा! जिसके लिलार में वेश्या होना लिखा होगा...वह कहीं भी रहे वहीं रहेगी।

रघुनाथ : नहीं भाई...ब्रह्मा कहीं नहीं लिखता! आदमी का लेखा-जोखा इसी धरती पर बनता और बिगड़ता है।

नागरिक : बाबू साहब आप लोग अंग्रेजी पढ़कर नास्तिक हो गये हैं। भगवान पर विश्वास नहीं करते, सभा करके, व्याख्यान देकर रामराज्य लाना चाहते हैं। यह भी कहीं हो सकता है साहब? कोई कहता है यह हो, कोई कहता है वह हो...पर होता कुछ नहीं। रोज ही सभा होती है। रोज ही व्याख्यान होते हैं। कोई कहता है अंग्रेजों को निकाल दो...कोई कहता है...खद्दर पहनो...पर लोग यह नहीं जानते यह सब भगवान की मर्जी की बात है। सभा करने से क्या होगा? सत्यनारायण की कथा और दुर्गापाठ होता तो सब दु:खदरिद्र भाग जाते। उसकी तो आप लोग दिल्लगी उड़ाते हैं। कहते हैं...घंटी बजाने से क्या फायदा होता है...शंख बजाने से क्या होता है? हवन करने से क्या होता है। जो होता है सभा करने से व्याख्यान देने से। मेरा लड़का बीमार था। मैंने बहुत दवा की, डाक्टर लोग आते थे, कल-पेंच छाती पर लगा कर चले जाते थे। सब ओर से थककर मैं भगवान का नाम लेकर रोज सत्यनारायण की कथा कहलाने लगा। रोज ब्राह्मणों को खिलाया, लड़का भला चंगा हो गया। उसका भी अब दिमाग फिर गया है...वह भी...उन्हीं साधु बाबा के साथ दिन-रात उन औरतों के साथ पड़ा रहता है। हजारों रुपये ले जाकर दे आया, रोजगार की ओर उसकी तबियत नहीं लगती। मेरी उमर चौसठ साल की हो गई और कोई करने वाला नहीं है। मैं क्या करूँ, बस अब भगवान का भरोसा है।

पहला युवक
दूसरा युवक] यह तो बड़ा बुरा हुआ!

तीसरा युवक
चौथा युवक] आप उसे रोकते क्यों नहीं?

{ रघुनाथ ध्यान से उसकी ओर देखता है }

नागरिक : बाबू जब लड़का सयाना हो गया तब क्या? मैं ने उसे अंग्रेजी पढ़ा कर गलती की, काम तो सपड़ता नहीं...खद्दर पहन कर गाँधी बाबा की टोपी लगा कर नेता बनता है। मैं तो मर जाता
तो अच्छा होता। यह तो रोज-रोज का...बाबू साहब आज पाँच दिन से घर नहीं आया।

रघुनाथ : उसकी शादी हुई है?

नागरिक : हुई है सरकार--चार वर्ष हुआ औरत के पास कभी नहीं जाता। कहता है वह पढ़ी-लिखी नहीं है। गाना-बजाना नहीं जानती। भले घर की लड़की को गाने-बजाने से क्या मतलब, इसमें बाप-दादों की इज्जत रहेगी बाबू? घर-गिरस्ती का काम लड़की जानती हो तो गा-बजा कर क्या करेगी?

रघुनाथ : आप क्या रोजगार करते हैं ?
नागरिक : गल्ले और घी की आढ़त है बाबू। दस हजार का माल स्टेशन पर पड़ा है। मुझे छूट्टी नहीं मिली की छुड़ाने जाऊँ।
पहला युवक : आपका नाम क्या है ?
नागरिक : मुझे तो लोग दौलतराम कहते हैं सरकार !
दूसरा युवक : आप अपने लड़के को विलायत भेज दीजिए।
नागरिक : राम, राम, ईसाई बनाने के लिये बाबू !
दूसरा युवक : ईसाई बनाने के लिये नहीं साहब बनाने के लिए।
दौलतराम : औरत को मोटर में लेकर घूमने के लिए। मेम होने के लिये। बाप-दादों की इज्जत गँवाने के लिये। यही न बाबू ?
रघुनाथ : सेठ ! दुनिया बदल गई। जो बात आज से दस वर्ष पहले इज्जत थी अब बेइज्जत हो गईं है।
दौलतराम : { एक ओर हाथ उठाकर } 'रोको' { नेपथ्य में मोटर रुकने की आवाज होती है }कहाँ जाते हो ? मालूम होता है अब घरवालों से कोई रिस्ता-नाता नहीं है...क्यों ? पछताओगे।

{ दौलतराम के लड़के भवानीदयाल का प्रवेश। खद्दर का कुर्त्ता; गाँधी टोपी, चट्टी, छड़ी ! पतला लम्बा शरीर। बड़े बढ़े बाल किन्तु अव्यवस्थित। आँखें कुछ धँसी हुई। कटी हुई मूँछें। अवस्था प्रायः पच्चीस वर्ष }

भवानीदयाल : {मुस्कराकर } मैं आपसे सच कहताहूँ...इधर बहुत बझा था...बड़ा परेशान था...
दौलतराम : लेकिन किसलिये बाबू ? कोई कमाई कर रहे थे ? कहाँ है कमाई दो न ? स्टेशन पर माल सात दिन से पड़ा है। सैकड़ों रुपया दंड देना पड़ेगा। तुम पाँच दिन से गायब हो। इधर-उधर लोगों में काना-फूसी हो रही है। इस वक्त कहाँ जा रहे हो ?
भवानीदयाल : स्टेशन...
दौलतराम : माल छुड़ाने...
भवानीदयाल : नहीं रिसीव करने...
दौलतराम : रिसीव करना क्या ? कोई नया रोजगार खोल रहे हो क्या...मुझसे पूछ तो लिया करो। { कई युवक हँस पड़ते हैं }
भवानीदयाल : { झेंपकर } सभा में लोग बाहर से आ रहें हैं उनको लिवाने के लिये...
दौलतराम : तो तुम अर्दली का काम करते हो ?
भवानीदयाल : यह अर्दली का काम है ?
दौलतराम : और नहीं तो क्या ? { रघुनाथ से } कहिये बाबू ! यह अर्दली का काम नहीं है ? स्टेशन पर हाजिर होना, मोटर में बैठाना, और फिर ले आना।
रघुनाथ : बड़े-बड़े लोगों को ले आना...अर्दली का काम नहीं है यह इज्जत की बात है।
दौलतराम : बाबू साहब इज्जत रुपये से होती है। इधर-उधर दौड़ने से, लेक्चर देने से और लोगों को मोटर में बैठाकर चलने से नहीं !
दौलतराम : कौन-कौन लोग आ रहे हैं साहब !
भवानीदयाल : ललिता देवी इस गाड़ी से आ रही हैं। उनका व्याख्यान होगा...
रघुनाथ : कौन हैं ये ?

भवानीदयाल : आप इन्हें नहीं जानते ? इन्होंने दस हजार मातृ-मंदिर के लिये दिये हैं। उसका उद्‌घाटन वे ही करेंगी।

रघुनाथ : और कोई ?

भवानीदयाल : वहाँ जाने पर और शायद कोई मिल जाय। रघुनाथ बाबू...

रघुनाथ : रघुनाथ बाबू कौन ?

भवानीदयाल : रामलाल वकील के लड़के जिनका बहुत-सा धन मन्दिर में लगा है...मंत्री साहब ने कहा है शायद वे भी आयें ?

पहला युवक : वह किसलिये आयेंगे साहब ?

भवानीदयाल : शायद यह देखने के लिये कि उनका धन कैसे अच्छे काम में... उनको मानपत्र देने का भी प्रबन्ध हमारी ओर से हुआ है। यदि वे आयेंगे तो...

रघुनाथ : और यदि न आयें ?

भवानीदयाल : तो उनके लिये धन्यवाद का प्रस्ताव पास कराया जायगा { कलाई की घड़ी देखकर }अब मुझे देर हो रही है। { दौलतराम से } मैं परसों घर आऊँगा। { प्रस्थान }

दौलतराम : परसों हूँ...अच्छा देखूँगा कैसे शौक चलता है।

{ दौलतराम का प्रस्थान }

रघुनाथ : अब क्या होना चाहिये।

पहला युवक : सभा में जाने के पहले एक बार मातृमन्दिर का निरीक्षण करना चाहिये।

रघुनाथ : भाई मेरी आत्मा तो इसके लिए गवाही नहीं देती।मैं वहाँ जाकर क्या करूँगा। दुनिया भर की अच्छी-बुरी औरतें...

दूसरा युवक : तो तुम्हें अपने पर विश्वास नहीं है। वहाँ की हालत पहले देख लेनी अच्छी होगी। उसी के अनुसार कुछ कहा भी जा सकता है।

पहला युवक : { रघुनाथ का हाथ पकड़ कर आगे बढ़ने के लिए संकेत करता है }

रघुनाथ : अच्छी बात है चलो...पर मुझे तो इस आश्राम-पंथ और व्याख्यान पंथ से भय मालूम होता है। समझदार, चिन्ताशील मनुष्य इससे अलग रह जाते हैं। और वे लोग इसमें भाग लेते हैं, जो कहते बहुत हैं किन्तु करते कुछ नहीं। उनका सिद्धान्त और आदर्श शब्दों और वाक्यों का है...सत्य का नहीं। वे तैयार करते हैं, रटते हैं और बोलते हैं। अपने हृदय से नहीं पूछते वह क्या कह रहा है ? सिद्धान्त और आदर्श की जहाँ बात पड़ती है...वहाँ एक ही साँस में...बुद्ध, ईसा, कन्फूसियस, सुकरात और टाल्स्टाय, गाँधी या लेनिन का नाम ले जाते हैं। यह नहीं देखते उनका जीवन क्या था, और इनका जीवन क्या है? मुनीश्वर आज सुधारक बना है। और कल...यही जाति की गति है।

पहला : इसीलिये तुम्हारी यह हालत है।

रघुनाथ : कैसी हालत ?

पहला : जो तुम्हारी इस समय है। जिसने तुम्हें धोखा दिया है, तुम्हारी सारी सम्पत्ति छल से हड़प गया है, तुम्हारे साथ क्या-क्या न किया ? तिस पर भी तुम उसे क्षमा करने पर तैयार हो।

रघुनाथ : पर मैं कर ही क्या सकता हूँ ?

पहला : तुम ! यह धरती उलट सकते हो, इसकी नींव हिला सकते हो। यदि चाहो उसमें कुछ प्रयत्न करो। देवता बनो, राक्षस बनो, तपस्वी बनो, हत्यारा बनो। चुपचाप हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहने से कुछ नहीं होगा।

रघुनाथ : मैंने देख लिया मैं कुछ नहीं कर सकता। वह विजयी है। पिताजी बराबर उससे पीछा छुड़ाते रहे, किन्तु अन्त में उसकी च्छा पूरी हुई। वह विजयी है।

दूसरा : तब कहो वह तुम्हारा आदर्श है

रघुनाथ : ऐसा नहीं, पर धरती उसके लिये है और वह इस धरती के लिए।

पहला : फिर भी आपको मैदान इस तरह नहीं छोड़ना चाहिये। चलने में क्या हानि है ? सभा में तो चलना ही है।

रघुनाथ : चलो। मुझे चलने में कोई आपत्ति नहीं है। पर... {सब जाते हैं, कई नागरिकों का प्रवेश}

पहला : गाँ धी बाबा आइल बाड़ें। चले के चाही।

दूसरा : कहाँ गाँधी बाबा आयल बाड़े।

तीसरा : सभा में...लेकचर होई...

चौथा : मों तो देखले हौं...

पहला : फेरु देख लेब...

चौथा : मों नाहीं जाब...

पहला : काहे...का गईल बाय। शहर भर के रण्डी आसरम में चलि गईलिन। बाबू लोग खद्दर पहिरि के गाँधी टोपी पहिरि के...का कहल जाय। जमाना जरि गईल। कुल बात पुरानी टूटी गईल। न पूजा न धरम, साफ कपड़ा चाही दिल साफ रहे वा न रहे। बाप जियत रहे मोछ मुड़ाय जाय। साड़ी पहिन के चलेत महरारुन में पता न चले। {नागरिकों का प्रस्थान। कालेज के कुछ लड़कों का प्रवेश}

पहला : अरे यार...परिस्तान है ! जन्नत का सारा सामान जमीन पर उतर आया है। मैं एक दिन गया। जिधर देखिये...कहीं बाल खुले हुए, कहीं बँधे हुए, कहीं लटकते हुए। बस देखते ही बनता...

दूसरा : चुप क्या बक रहे हो। पढ़ लिख कर गुण्डों की बातें। उसके ऊँचे आदर्शों को देखो।

पहला : मैं खूब देख रहा हूँ। एक बिजली की चमक सम्हाली जा सकती है...आँखें जिस तरह सम्हाल लेती हैं, पर एक साथ एक हजार बिजली चमक उठें... तो...तुम्हारें ऐसे आदर्शवादी जीवन भर के लिये अन्धे हो जायँ।

तीसरा : यह मुनीश्वर भी बड़ा बिलक्षण जीव निकला। आज से चार वर्ष पहले क्या था अब क्या हो गया। मुझे याद पड़ता है आज से चार वर्ष पहले कांग्रेस आफिस में काम करता था। रुपया लाने बैंक गया। आफिस में आकर रोने लगा कि कहीं नोटों का लिफाफा गिर गया। खैरियत हुई कि उस समय रमेशचन्द्र जी वहीं थे। उन्होंने उसकी ओर देखा। उसकी आँखों में शैतानी नाच रही थी। उन्होंने सारा मतलब समझ लिया। उसी समय उन्होंने उसे ठोकर मार कर निकाल दिया और कहा कि यदि रुपया नहीं मिलेगा तो बड़े घर की हवा खानी पड़ेगी। खैर साहब दूसरे दिन सबेरे चालाकी से रुपया दफ्तर में फेंक गया। वही मुनीश्वर आज सुधारक बना है।

दूसरा : तो इससे क्या। हत्यारा जो बाल्मीकि हो सकता है तो चोर भी सुधारक हो सकता है।

तीसरा : जी हाँ...मैं भी विकास में विश्वास रखता हूँ...किन्तु इस तरह का विकास...जिस रास्ते पर घी की काई जमी हुई है...बड़ा भयंकर है। कोई कितना सम्हाल कर चलेगा। मनुष्य की प्रकृति भी कोई चीज है।

दूसरा : वह भी बराबर नैतिक है।

तीसरा : जी नहीं, कभी-कभी उसे भी कोड़े लगाने चाहिये। हाब्स को नहीं पढ़ा क्या ?

दूसरा : रूसो और टाल्स्टाय को भी मैं पश चुका हूँ।

तीसरा : उहँ...दोनों की नैतिकता भावावेश की है। जीवन के गहरे तल में वे कहीं नहीं उतरते।

दूसरा : आज का संसार रूसो और टाल्स्टाय की विभूति है।

तीसरा : आज की क्रांति भी ढोंग थी...

दूसरा : मेरा आपके साथ समझौता नहीं हो सकता ।

तीसरा : लेकिन मैं चाहता भी नहीं। आप भीतर की आँखों से बरछी की नोक देखना चाहते हैं लेकिन तब तक नहीं देख पाते जब तक कि वह आपके कलेजे में नहीं गड़ती। {दूसरे का प्रस्थान}

तीसरा : {पहले से} आप नहीं जानते...मुनीश्वर के आश्रम का यह प्रोपगैण्डा करता फिरता है। कालेज के कई लड़के वहाँ के मेम्बर हो गये हैं। होस्टल में इस समय सिवा आश्रम की चर्चा के कोई बात नहीं है। यार लोग शाम को घूमने निकलते हैं तो आश्रम की ओर घूमघाम कर चल पड़ते हैं। लौटने पर घंटे भर तक उसी बात को लेकर कुर्सी तोड़ा करते हैं। सिनेमा और थियेटर का शौक अब कुछ कम हुआ जा रहा है। यह सब इसी की करतूत है। आश्रम की बात सबसे पहले इसी ने चलाई।

पहला : बनता तो है भाई आदर्शवादी। चार बजे सबेरे उठ जाता है, और नियम से दस बजे सो जाता है। हम लोगों की तरह दो बजे करवटें नहीं बदलता रहता और न एक पहर दिन तक सोता रहता है।

तीसरा : सबेरे सोना और उठना सबके लिए गुण नहीं है। पशु भी प्रकृति के अनुसार सोते और उठते हैं। मैं मनुष्य की आत्मा की बात मानता हूँ।...नियम कुछ ऊँचे भी उठाते हैं पर बहुतों के लिये तो वे बोझ हो जाते हैं। बहुत सा भाग...जीवन का मशीन या पुतलीघर हो जाता है। कोयला झोंकते जाओ, तेल डालते जाओ, धूआँ निकलता रहेगा। मनुष्य कुछ दूसरी वस्तु है। वह क्या है, आज की दुनिया नहीं समझ रही है। मनुष्य से ऊँची जगह कुर्सी को मिल रही है। प्रोफेसर लोगों के यहाँ जाइये--घण्टे भर बाहर बैठे रहिये। कभी तो चपरासी ने कह दिया सो रहे हैं। कभी कह दिया स्नान कर रहे हैं। कभी कह दिया तवीयत खराब है। बड़े भाग्य से अगर भेंट हो गई तो सवाल हुआ 'कहिये साहब क्या बात है? मेरे पास समय नहीं है।जरा जल्दीकीजिये।' यही शाम ह्युमैनिटी सभी जगह देखने को मिलती है। तुलसी जयन्ती के अवसर पर सभापतित्व के लिये एक प्रोफेसर साहब के यहाँ गया। आप आध पाव सुपारी मुँह में भरे थे...साफ बोली भी मुँह से नहीं निकलती थी...कहने लगे {मुँह बनाकर} हूँ मैं क्या जानूँ। तुलसीदास के बारे में, यह काम विद्वानों का है। मुझे तो क्षमा कीजिये। मैं कहता ही रह गया, न छोड़ कर हाँ नहीं हुआ। मुझे भी कुछ रंज मालूम हुआ...मैंने उनसे

पूछा जब आप सूरदास पर या बिहारी पर कलम उठाते हैं तो हम लोग समझते हैं कि तुलसीदास पर आप कुछ जरूर कह सकते हैं।

दूसरा : तब उन्होंने क्या कहा ?

तीसरा : कहते क्या चुप हो गये। इस बात का जवाब ही क्या हो सकता था। हिन्दी में लिख कर रुपया कमाने के लिये इस तरह के लोग मैदान में तो कूद पड़ते हैं...पर जब कहीं साहित्यिक-सार्वजनिक कार्य में भाग लेना होता है...तब बस बस हवा...इन लोगों में न तो आत्मविश्वास है न सेवा का भाव।

पहला : आदर्श और जीवन में अन्तर है।

तीसरा : यह व्यर्थ की बातें हैं। आदर्श और जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं और फिर जब ऐसे लोग एक दो नहीं अनेक हैं, जिन्होंने अपने जीवन में आदर्श की प्रतिपत्ति सफलतापूर्वक करके दिखलायी है। तब इस द्वन्द्व पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस युग में सम्मान मुर्दे को सजा रहा है...डिग्री से, पद से, धन और सम्मान से। ये मुर्दे कानफ्रेन्स करते हैं...सभा और सम्मेलन करते हैं मनुष्यता का जो सम्बन्ध है...मनुष्य में जो चिरन्तन है उसकी ओर इनकी आँख नहीं उठतीं। महात्मा गाँधी में और क्या है ? सिवा इसके कि वे मनुष्यता का सम्बन्ध समझते हैं। सारे संसार का सुख और दुख उनका सुख और दुख है। इसीलिये बड़े हैं... इसीलिये वे संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं...इसीलिये वे महात्मा है। { दूसरे से } तुमने 'वर्ल्डस् टुमारो' का वह अंक देखा था जो केवल गाँधी जी के बारे में निकला था।

दूसरा : नहीं।

तीसरा : बाह क्या पूछना है ? संसार के प्रसिद्ध लेखकों ने गाँधी के बारे में अपने विचार व्यक्त किये थे। किसी ने उन्हें इस युग का सबसे ऊँचा मनुष्य माना था, तो किसी ने कहा था कि ईसा के बाद उस कोटि के ये पहले महापुरुष हैं। यह सम्मान उनका नहीं...भारत का सम्मान है। इसका हम सब को गर्व होना चाहिये।

दूसरा : पर किसको इसका गर्व नहीं है ?

तीसरा : तुम नहीं जानते। तुम्हें जो महाशय हिन्दी पढ़ाते हैं और कभी हँसते हैं नहीं ...समझे।

दूसरा : कौन ? { कुछ सोच कर } हाँ समझ गया...क्या हुआ...?

तीसरा : समझ गए ? तुमने कभी उन्हें हँसते देखा है ? मुझे तो भाई उस आदमी पर दया आती है। पढ़ा-लिखा तो उसने कुछ नहीं...समझता है कि बस मैं ही जो कुछ हूँ हिन्दी साहित्य में हूँ। थोड़े से चाटुकार कहते हैं बड़ा गम्भीर गद्य लिखता है। मुझे तो एक वाक्य भी नहीं मिला जो कहीं न कहीं का अनुवाद न हो यों तो मैं उससे केवल इसी बात के लिये घृणा कर सकता हूँ कि बिना कुछ समझे बूझे वह उन नये लेखकों और कवियों का विरोध करता है...जिन्होंने विश्व-साहित्य का अध्ययन किया है...उनका रुख पहचाना है...जिनकी रचनायें इस बात की आशा दिलाती हैं कि किसी न किसी दिन वे भी विश्व-साहित्य में रखी जायेंगी। लेकिन सबसे अधिक घृणा मैं उससे इसलिये करता हूँ कि वह बड़ा भारी गाँधी-द्रोही है। एक बार पं० यज्ञनाथ म्युनिसिपल चुनाव में खड़े हुए थे। हम लोग इस आशा से कि पढ़ा-लिखा आदमी है... योग्य व्यक्ति को वोट देगा...उसके पास प्रार्थना करने के लिये गये। उसने चट कह दिया मैं गाँधीवाद और खद्दरवाद से घृणा करता हूँ।

पहला : हाँ ?

दूसरा : तुमने कुछ नहीं कहा।

तीसरा : मैं कब छोड़ने वाला...मैंने कह दिया आपको ठीक दिखलाई नहीं पड़ता। गाँधीवाद से घृणा तो उनके सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी लार्ड रीडिंग नहीं करते। संसार के बड़े-बड़े लेखकों और विचारकों ने उस वाद की पूजा की है। आप का यह कहना शोभा नहीं देता, आप भारतीय हैं।

पहला : पर चाटुकार और गुलाम भी तो हैं। गुलाम भारतीय शायद संसार में सबसे नीची कोटि का जीव है...सबसे नीच कोटि का। वह लात मारने पर दाँत दिखलाता है...पूँछ हिलाता है।

तीसरा : {पहले का कन्धा पकड़ कर जोर से हिला देता है }वाह, वाह तुम भी समझने लगे ?

पहला : तुम से अधिक। तुम्हारा शब्दों का प्रेम है और मेरा कर्मों का। बात करने में तो तुम जैसे भगत सिंह से भी चार डग आगे बढ़ जाते हो...पर काम में... क्यों...कांग्रेस कमेटी में स्वयंसेवक बनना था, तो चार घण्टे के लिए खद्दर को धन्य कर दिया--{ उसकी धोती पकड़ कर } और यह क्या है ?

तीसरा : अहमदाबाद मिल...

पहला : जी नहीं...मैनचेस्टर...और यदि अहमदाबाद भी तो क्यों...यह बेईमानी क्यों ?...तुम विदेशी पहनो कोई बात नहीं, पर यह आत्मवंचना किस काम की ? गाँधी का महत्व शब्दों के बाहर तुम नहीं सझमते। जिसे खद्दर में विश्वास नहीं हुआ वह गाँधी में विश्वास क्या करेगा ? खद्दर... खद्दर...खद्दर...हमारी सारी बीमारियों की एक ही दवा...एक ही महौषधि...नौकरशाही घुटनों के बल आ गिरेगी। साम्राज्यवाद विरोधी परिषद् में संसार का एक नक्शा टँगा था, जिसमें दिखलाया गया था कि भारत की गुलाम सेना एशिया और अफ्रीका या सारे संसार की गुलामी की जड़ है। जिस दिन देश खद्दर स्वीकार कर लेगा, नौकरशाही की नींव हिलेगी।

तीसरा : तो नौकरशाही का कोई भी दोष नहीं है ?

पहला : कोई भी नहीं ! सारा दोष तुम्हारा है। तुम कहते तो बहुत हो पर करते कुछ भी नहीं...आज की दुनिया ने शब्दों का बड़ा दुरुपयोग किया हैं। इसीलिए अब वह शब्दों पर विश्वास नहीं क[illegible] अब तो चुपचाप जिससे बन पड़े करता चले। कहना, लिखना और व्याख्यान देना झूठ है जो कुछ कहना हो तुम्हारे कर्त्तव्य कहें। तुम कुछ न कहो। कोरे शब्दों में शक्ति का अपव्यय होता है...मिलना कुछ भी नहीं।

तीसरा : { पहले का हाथ पकड़ कर } बहादुर हो...

दूसरा : तपस्वी हो...

पहला : जी नहीं...ऐसा कुछ नहीं। मुझे कहना नहीं आता।

दूसरा : यह तो काम है जगदीश ! कोई कहता है...कोई करता है।

जगदीश : नहीं घनश्याम ! यह काम नहीं है। कहने वाले को करना भी चाहिए।

तीसरा : तो तुम कहते क्या हो ?

जगदीश : मैं ?

तीसरा : हाँ...

जगदीश : मैं कुछ नहीं कहता महेश ! मुझे जो कहना होता है... मैं कर बैठता हूँ।

महेश : मेरे लिये क्या कहते हो ?

जगदीश : तुम्हारे लिए ?... मेरा कहा तुम मानोगे ?

महेश : { हाथ बढ़ा कर } हाथ मिलाओ... जो कहो... वही...

जगदीश : { उसका हाथ पकड़ कर } अच्छी बात तो खद्दर पहनो।

महेश : इस महीने में घर से रुपया आ जाय।

जगदीश : वह नहीं होगा। रुपया आवेगा... पान वाले का, दूध वाले का, मिठाई वाले का, शर्बत वाले का, दुनिया भर के बिल पे करने में खतम हो जायगा। तुम आज ही पहनो...

महेश : किस तरह हो सकता है... मेरे पास रुपया नहीं है।

जगदीश : मेरे कपड़े पहनो। अपने लिये एक कुर्त्ता और एक धोती यह रख कर अपने बाकी दो कुर्त्ते, दो बण्डी, और दो धोती मैं तुम्हें दे सकता हूँ। तुम्हें पहनना होगा।

महेश : अच्छी बात है शाम की मीटिंग से लौट कर।

जगदीश : {उसका हाथ पकड़ कर खींचते हुए } अभी चलो होस्टल... पहन कर मीटिंग में आना। { एक ओर हाथ उठाकर } इक्के वाले... इक्के वाले रोको। चलो इक्का खड़ा हो गया।

महेश : रहने दो शाम को...

घनश्याम : अब क्या रहने दो... देह छिल जायगी ?

महेश : अजी ये तो बड़ा मोटा खद्दर पहनते हैं। बोझ हो जाता होगा।

जगदीश : मेरा यह सिद्धान्त है कि पतले कपड़े तुम्हारे ऐसे शौकीनों को छोड़ दूँ और मोटा मैं पहनूँ। सोचो तो कोई पहनेगा नहीं तो मोटा खद्दर क्या होगा ? यह हो नहीं सकता कि सभी खद्दर... पहने तो सभी लोग पतला खद्दर खोजते हैं। न मिलने पर मिल से संतोष करते हैं। खद्दर और शौक दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। खद्दर के साथ सादगी को भी रहना होगा... गाँधी जी का यही सिद्धान्त है।

महेश : होस्टल चलने में तो अब देर होगी।

जगदीश : कोई बात नही ..तुम्हारा खद्दर पहनना उसकी मीटिंग में जाने से कहीं बढ़ कर है।

महेश : सचमुच { मुस्कराने लगता है } जगदीश !... खद्दर में एक तरह की संकीर्णता मालूम होती है। संसार के सभी मनुष्य एक हैं... सब में वही आत्मा और सब के ऊपर वही ईश्वर है। अंग्रेजों से वैमनस्य... एक प्रकार की घृणा यह अच्छी बात है ?

जगदीश : महेश बाबू थोड़ा और ऊँचे उठो और तब देखोगे। मनुष्य की आत्मा और तुम्हारा ईश्वर भी मशीनों में पीसा जा रहा है। संसार का धन थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में चला जा रहा है और दूसरी ओर जग के तीन चौथाई आदमी दिन भर मरते हैं शाम की रोटी के लिये। खद्दर का अन्तिम परिणाम सारे संसार की मुक्ति है। करोड़ों भूखे मनुष्यों के कल्याण का संदेश लेकर यह आगे बढ़ रहा है। किसी न किसी दिन दुनिया इसे सुनेगी। यह युद्ध अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं सारे संसार के अन्याय, अत्याचार और विषमता के विरुद्ध है। तुम पहले मनुष्य बनो और तब मनुष्यता का सन्देश सुनाओ। इस युग में देश की इस दरिद्रता और गुलामी में जब तक तुम खद्दर और सादगी स्वीकार नहीं करते तब तक तुम्हारी मनुष्यता पूरी नहीं हो सकती। दुनिया आज नहीं बनी

है। पहले भी मनुष्य थे…पर जितना अत्याचार और जितना उत्पीड़न आज है उतना कभी नहीं था।

महेश : पर यह तो निश्चय है संसार का विकास हो रहा है।

जगदीश : हाँ, पर मनुष्य की भौतिक शक्तियों का, आध्यात्मिक शक्तियों का नहीं। दया का, प्रेम का, उदारता का और सत्य का नहीं। मनुष्य की भीतरी शक्तियों का विकास नहीं हो रहा है। तुम हवाई जहाज पर चढ़ते हो, टेलीफोन का मजा उठाते हो, साथ ही साथ, होटलों में…यही तुम्हारा विकास है। और यदि समझो तो यही तुम्हारा पतन है। तुम युद्ध करते हो शारीरिक बल या हृदय के साहस से नहीं…जहरीली गैस से।

महेश : मैं क्या करता हूँ जी…

जगदीश : तुम नहीं…जिसे तुम सभ्य मनुष्य कहते हो, जो तुम्हारा आदर्श है, जिसका अनुगमन करना तुम कर्त्तव्य समझते हो। जो नाचता भी है, गाता भी है और गरीबों को ठोकर भी मारता है…जिसके प्रेम और त्याग का मूल्य भी रुपये में आँका जाता है…जो सैकड़ों स्त्रियों का चुम्बन करता है…चुम्बन रहस्य पर प्रकाश डालने के लिए, जैसे चुम्बन बिल्कुल शारीरिक व्यापार है, जैसे इसका सम्बन्ध आत्मा और हृदय से नहीं है। जिसकी सारी जानकारी यहीं तक है कि आत्मा ऐसी जो वस्तु मनुष्य में है उसकी ओर वह आँख न उठावे…जो त्याग, तपस्या और पवित्रता की हँसी उड़ाता है।

महेश : अन्धविश्वास का समय तो अब चला गया अब तो विवेक…

जगदीश : विश्वास का भी चला गया, अब तो तर्क…

घनश्याम : तर्क से ही तो सब बात साबित होती है…

जगदीश : हाँ ईश्वर नहीं है, दया और सहानुभूति कमजोरियाँ हैं, और इस तरह की सैकड़ों बातें तर्क से साबित की जाती हैं। मनुष्य में जो पशु हैं, उसका सबमें बड़ा भोजन तर्क के द्वारा मिलता है।

घनश्याम : तुम प्राचीनता के पुजारी हो…जो कुछ पुराना है अच्छा है, नई बातें सब बुरी हैं।

जगदीश : क्या नया है और क्या पुराना है घनश्याम जी! न तो यह दुनिया नयी है न मनुष्य नया है। जो कुछ है सभी पुराना है। शरीर नहीं बदलनेवाला है। कपड़ा जो चाहो पहनो अन्तर नाम और रूप का है। सत्य जो है सदैव है।

महेश : अब तक तुम छिपे थे…

जगदीश : प्रकट हो कर ही क्या करता…

महेश : जिस दिन तुम प्रकट होते…उसी दिन से मैं तो खद्दर पहनने लगता!

जगदीश : आज ही से पहनो…जभी से होश हो…

महेश : चलो अपने कपड़े दे दो…

जगदीश : सच कहते हो…?

महेश : हाँ जी…

जगदीश : { महेश का हाथ पकड़ कर } चलो…

{ जगदीश महेश और घनश्याम का प्रस्थान }

{पर्दा उठता है! मातृमन्दिर का भवन। सामने आगे को निकला हुआ चबूतरा। उसके नीचे सपाट मैदान। हरी घास चबूतरे से लेकर कुछ दूर

मैदान तक, ऊपर शामियाना-चबूतरे पर शामियाने के नीचे एक बड़ी गोल मेज और कुर्सियों की कई कतारें। नीचे भी कई कमरों में कुर्सियाँ। सामने से प्रवेश करने का रास्ता नीचे की कुर्सियों के बीच से होता हुआ चबूतरे तक। मुनीश्वर प्रबन्ध की व्यवस्था इधर-उधर घूम कर, कर रहा है! खद्दर का कुर्त्ता एड़ी तक धोती और चट्टी। कुर्ते की जेब में फाउण्टेनपेन की क्लिप बाहर की ओर सुनहली चमकती हुई। }

मुनीश्वर : { संकेत से कई स्वयंसेवकों को बुलाता है। किसी के कान में कुछ कहता है। किसी को कागज देकर ऊपर की ओर हाथ फेर कर उँगली दिखाता है } हाँ... उस कोनेवाले कमरे में...आफिस रूम के बगल में ? { एक स्वयंसेवक का हाथ पकड़ कर } जिसके पास टिकट न हो न आने देना। सबसे कह दो। समझे! लेकिन कोई कड़ा शब्द न कहना। जिसके पास टिकट न हो { हाथ जोड़कर } क्षमा कीजिये, आज्ञा नहीं है। बस इससे अधिक कुछ नहीं! सार्वजनिक कार्य है। इसका ख्याल रहे बदनाम करनेवाले लोग बहुत हैं। मैंने इतना प्रयत्न किया...घर वालों का भी मोह छोड़ दिया। लेकिन समझते हैं इसमें मेरा स्वार्थ है...जैसी ईश्वर की इच्छा ? सावधान रहना। मैं ऊपर जा रहा हूँ कार्यक्रम तैयार करने। { एक प्रेस संवाददाता का प्रवेश }

संवाददाता : { अपना कार्ड देता है }

मुनीश्वर : { कार्ड देकर } आप...की बड़ी कृपा हुई।

संवाददाता : आपके मन्दिर की बड़ी धूम है...

मुनीश्वर : सब आप लोगों की कृपा है {बाईं ओर हाथ उठा कर } पहली कतार आप लोगों के लिये है। अभी यहाँ मेज नहीं रखी गई। क्षमा कीजियेगा अभी प्रबन्ध करा देता हूँ। { जेब से घड़ी निकाल कर } अभी पूरे घण्टे भर की देर है। तब तक आप प्रार्थना-भवन में बैठें {एक स्यवंसेवक से } आप को लिवा जाओ { संवाददाता से } और कोई बात ?

संवाददाता : जी नहीं...

मुनीश्वर : मन्दिर की व्यवस्था के बारे में यदि जानना चाहें तो सभा के बाद...

संवाददाता : आप अपनी स्पीच में नहीं कहेंगे ?

मुनीश्वर : क्यों नहीं...कुछ कहूँगा। आप चलिये, बैठिये।

{ मुनीश्वर का प्रस्थान। एक ओर से अपने साथियों के साथ रघुनाथ का और दूसरी ओर से भवानीदयाल के साथ ललिता का प्रवेश। दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं। क्षण भर जैसे दोनों सिहर उठते हैं...रघुनाथ लौट पड़ता है...ललिता उसकी ओर देखती रह जाती है...रघुनाथ के साथी विस्मित होकर एक-दूसरे से धीरे-धीरे कुछ कहने लगते हैं...कोई उसकी ओर हाथ उठाता है तो कोई सिर हिलाता है। }

भवानी दयाल : चलिये ऊपर...

ललिता : थोड़ी...देर...बड़ी थकावट...{वहीं एक कुर्सी खींच कर बैठ जाती है। कुर्सी की बाँह पर केहुनी टेक कर...हथेली पर सिर रख लेती है और ऊपर शामियाने की ओर देखने लगती है }

भवानीदयाल : { कुछ देर चुपचाप खड़ा रह कर } ऊपर चलना अच्छा होता... फिर तो नीचे आना होगा।

ललिता : नीचे क्यों आना होगा ?

भवानीदयाल : सभा के अवसर पर यहाँ बैठने के लिये।

ललिता : मेरी क्या जरूरत है ?

भवानीदयाल : { कुछ आश्चर्य से उसकी ओर देखता है। रघुनाथ के साथी सभी धीरे-धीरे चले जाते हैं }

ललिता : { गम्भीर होकर } मन्त्री जी ऊपर हैं ?

भवानीदयाल : जी हाँ...

ललिता : चलिये, फिर इसी शाम की गाड़ी से लौट जाना चाहती हूँ।

भवानीदयाल : तब तक तो सभा होती रहेगी...!

ललिता : मुझे सभा से क्या मतलब साहब ! देखने आई थी।...आप लोग बड़ा अच्छा कर रहे हैं...धन्य हैं। स्त्री जीवन के कष्ट और दुःख...ओह...!

भवानीदयाल : सब आप लोगों की कृपा है। { मुनीश्वर का प्रवेश }

मुनीश्वर : ललिता को नमस्कार। {भवानीदयाल से } इन्हें यहीं बैठा दिया ! आपकी समझ...गाड़ी की थकावट कुछ...देर आराम कर लिये होतीं...

भवानी : क्या जबरदस्ती ? बैठ गईं...

मुनिश्वर : हाँ ऐसे मौके पर जबरदस्ती की जाती है। {ललिता से } उठिये चलिए {उसकी बाँह पकड़ कर } देखिए चलती हैं या नहीं।

{ ललिता उठ कर खड़ी होती है }

ललिता : मन्त्री जी मैंने आपका आश्रम देख लिया...शाम को जाऊँगी...

मुनीश्वर : जी देखा जायगा...अभी आपने आश्रम ही नहीं देखा...उसका शरीर देखा है...उसके भीतर जो आत्मा है...

ललिता : वह देखने की चीज नहीं है...लेकिन खैर चलिए यदि सम्भव हो सके...

{ललिता मुनीश्वर और भवानीदयाल का प्रस्थान }

{ ऊपर का बड़ा कमरा। बीच में मेज चारों ओर कुर्सियाँ। मेज पर कई फाइलें और अन्य आवश्यक लिखने-पढ़ने का सामान। दायीं ओर दूसरे कमरे में जाने का दरवाजा...दरवाजे पर खद्दर का रंगीन परदा। मुनीश्वर, ललिता और भवानीदयाल का प्रवेश }

मुनीश्वर : यही तो मेरा आफिस-रूम...

ललिता : अच्छा तो है...

मुनीश्वर : हाँ इस स्थिति में जो हो सका है। {भवानीदयाल से } आप नीचे चलिये...जरूरी काम...{भवानी दयालका अनमना होकर प्रस्थान... ललिता से } उस कमरे में आप थोड़ी देर आराम कर लें। जल-पान का सामान भेज रहा हूँ { मुनीश्वर का प्रस्थान। ललिता एक बार शून्य दृष्टि से कमरे के चारों ओर देखती है। फिर पर्दा हटा कर दूसरे कमरे में चली जाती है। थोड़ी देर बाद मुनीश्वर का प्रवेश। मुनीश्वर कुर्सी पर बैठकर एक स्लिप खींच कर कुछ लिखने लगता है। एक युवती का प्रवेश }

युवती : मैं तो यहाँ नहीं रह सकती...

मुनीश्वर : { चौंककर } क्या ?

युवती : दस बजे सोने और चार बजे घण्टी बज जाने पर उठ जाने की मेरी आदत नहीं है। मैं तो देर तक जागती रहती हूँ, सबेरे नींद नहीं खुलती...

मुनीश्वर : यह आश्रम है। आश्रम में आदत बनानी पड़ेगी।

युवती : जब नहीं तब, जो आता है उसे आप हमारे कमरे में भेज दिया करते हैं... जैसे मैं कोई नुमाइश की चीज हूँ। भवानीदयाल जी के मारे तो और तबीयत हैरान है। जब नहीं तब, किसी न किसी बहाने से सिर पर सवार हो जाते है... और किसी कमरे में तो नहीं जाते।

मुनीश्वर : तुम उन पर सन्देह करती हो... उन पर...।

युवती : मैं उनसे हैरान हो गई हूँ...

मुनीश्वर : अच्छा... चलो देखा जायगा।

युवती : नहीं आप उन्हें मना कर दें। नहीं तो मैं नहीं रहूँगी।

मुनीश्वर : {मुस्करा कर} अच्छी बात, मैं उन्हें मना कर दूँगा—लेकिन उनके व्यवहार की शिकायत किसी दूसरे से तो नहीं करोगी न ?

युवती : इस शर्त पर...

मुनीश्वर : हाँ सम्भव है तुम्हारी तरह किसी और को छोटी-सी बात पर सन्देह हो...

युवती : मुझे यह शर्त मन्जूर है, लेकिन आप उन्हें मना कर दीजिये और किसी दूसरे को मेरे कमरे में न आने दिया कीजिये। {प्रस्थान}

मुनीश्वर : उठकर आगे बढ़ते हुए ऽ वाह भाई! मुझे याद तो किया।

रघुनाथ : हाँ एक बार... इसकी जरूरत थी।

मुनीश्वर : एक बार... फिर... नहीं... रघुनाथ! मैंने जान बूझ कर तुम्हारी कोई हानि नहीं की।

रघुनाथ : हो सकता है... मैं इसका निपटारा करने नहीं आया हूँ। {मेज की दूसरी ओर दरवाजे की ओर पीठकर कुर्सी पर बैठता हूँ। मुनीश्वर खड़ा-खड़ा उसकी ओर देखा करता है} बैठिये... मैं देर तक यहाँ ठहर नहीं सकता...

मुनीश्वर : तुम्हारी इच्छा, किसी दिन समझोगे कि मैंने तुम्हारा कोई अपकार नहीं किया...

रघुनाथ : मैं आज ही समझ रहा हूँ... मैंने आपका अपकार स्वयं किया। मैं अपनी रक्षा नहीं कर सका... मेरा दोष था। आपका कोई दोष नहीं...

मुनीश्वर : वास्तव में ?

रघुनाथ : हाँ वास्तव में। एक के नाश पर ही दूसरे का जीवन है। यह प्रकृति का नियम है। इसमें आपका कोई दोष नहीं।

मुनीश्वर : तो मैंने अपने जीवन के लिए तुम्हारा नाश किया ?

रघुनाथ : यदि वह हो भी तो बुरा नहीं। मैं इतनी छोटी तबियत का आदमी नहीं हूँ कि इसे बुरा मानूँगा। लेकिन जाने दीजिये... मैं इतने दिनों तक आपसे बदला लेने के लिए तैयारी करता रहा हूँ... मैंने पूरा साधन भी प्राप्त कर लिया है। {कुर्ते की जेब से एक पत्र निकालता है} यह आपका एक पत्र है जो आपने पिताजी को लिखा था। {मुनीश्वर चौंक उठता है, किन्तु दूसरे ही क्षण मुस्कराने लगता है}

रघुनाथ : हूँ... आप मुस्करा रहे हैं, अच्छा पत्र को सुन लीजिये। {पढ़ने लगता है}

पूज्यवर

मैं लड़कपन या जवानी के पागलपन में आपको समझ नहीं सका इसका मुझे खेद है, आशा है आप क्षमा करेंगे। अपनी सफाई मैं क्या दूँ... शायद दे भी नहीं सकता। उन दिनों मेरे हृदय में तूफान उठ रहा था... मेरी लालसायें मुझे पथ भ्रष्ट कर रही थीं... मस्तिष्क में वह शक्ति नहीं थी जो यह सब रोक सके।

जब मैं पीछे लौट कर देखता हूँ मुझे पश्चाताप होता है। किन्तु जो बीत गया लौटाया नहीं जा सकता। मैं उसे धो देना चाहता हूँ अपनी सेवाओं से, अपने रक्त से + + + + + अनाथ अबलाओं के लिए एक आश्रम खोलने का विचार कर रहा हूँ, जिनके लिये समाज के पास न सहानुभूति है और न न्याय... जिनका सारा जीवन विपत्ति की थपकियों में ही बीतता है। तन और मन तो इसके लिये मैं दे सकता हूँ किन्तु धन कहाँ से लाऊँगा ? यही चिन्ता है। आश्रम की व्यवस्थापिका अश्करी देवी को बनाता।

मुनीश्वर : क्यों पढ़ रहे हो, मैंने क्या लिखा था मुझे याद है।

रघुनाथ : अच्छी बात...अब दूसरा पत्र सुनिये।

मुनीश्वर : कोई भी नहीं...मैंने क्या और कब लिखा था भूल नहीं गया हूँ। तुम्हारा मतलब क्या है ? वह कहो।

रघुनाथ : मेरा ? मेरा मतलब...यह साबित करना कि आपने उन्हें बहका कर मेरा सर्वनाश किया।

मुनीश्वर : यह सर्वनाश नहीं है रघुनाथ बाबू ! जिस सम्पत्ति का उपभोग केवल आपकी लालसा में होता, उससे कितने दुखी-प्राणियों का निर्वाह हो रहा है। मैं पापी हूँ या पुण्यात्मा, इस पर विचार करने के अधिकारी आप नहीं। मैं क्या करता हूँ उसको देखिये यह बुरा है या भला, { रघुनाथ गम्भीर होकर कुछ सोचने लगता है } मैं वही नहीं हूँ जो पहले था। मेरी वह आत्मा मर गई अब दूसरी आत्मा ने जन्म लिया है। दुनिया में जिनके लिये कहीं जगह नहीं...मरने का द्वार जिनके लिये बराबर खुला है...मैंने उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है। मैं एक नहीं, दो नहीं...न मालूम कितने डूबते हुओ को बचाने को इस अथाह समुद्र में उतरता हूँ। बहुत सम्भव है कोई मुझसे लिपट जाय और मैं स्वयं डूब मरूँ। आप समझते हैं नाम के लिये, यश के लिये अधिकार...धन की लालसा से मैंने इस रास्ते में कदम बढ़ाया है। य़ह आपका भ्रम है। सत्य इससे बहुत दूर है, एक बार, उसकी ओर आँख उठाइये, तब आपको मालूम होगा मैं क्या हूँ और कहाँ जा रहा हूँ ?

रघुनाथ : हूँ...

मुनीश्वर : मेरा भार आप स्वयं ले लीजिये। देखिये मैं यहाँ से हट जाता हूँ या नहीं।

रघुनाथ : आप हट जायँगे ?

मुनीश्वर : सुख से...हाथ मिलाइए {आगे की ओर हाथ बढ़ाता है। उजली साड़ी पहने बाल खोले अश्करी का प्रवेश }

अश्करी : कभी नहीं। {रघुनाथ की ओर देखते हुए } आपको सोते जागते सपना देखना है। जीवन में जो निर्बल है...उसे सजाना है। आप फूलों के साथ खेलने के लिए बनाये गये हैं... पहाड़ों के साथ खेलने के लिये जिस कलेजे की जरूरत होती है {मुनीश्वर की ओर हाथ उठाकर } वह इनके पास है। आपके पास नहीं। अपने जीवन का सौन्दर्य और अपने हृदय की मधुरता आप क्यों बिगाड़ेंगे ? { मुनीश्वर को संकेत कर } हाँ...इधर...

{ अश्करी का प्रस्थान। उसके पीछे मुनीश्वर का भी प्रस्थान। रघुनाथ बेचैन होकर इधर-उधर चारों ओर कमरे में दृष्टि दौड़ाता है बाईं ओर की कमरे से पर्दा हटाकर ललिता का प्रवेश। रघुनाथ उसे देखकर सहम उठता है और उठकर बाहर जाता है। }

ललिता : कुछ कहना है...

रघुनाथ : { घूमकर } कहिये...
ललिता : मुझे देखकर इस तरह भागते क्यों हैं ?
रघुनाथ : इसलिये कि आपके सामने खड़े होने का साहस नहीं होता...
ललिता : मेरा अपराध...
रघुनाथ : आप का नहीं मेरा...
ललिता : { मुस्करा कर } मैं आपको क्षमा करती हूँ...
रघुनाथ : मैंने आज तक न तो किसी को क्षमा किया है और न किसी की क्षमा चाहता हूँ...
{ललिता उदास होकर रघुनाथ की ओर देखने लगती है...रघुनाथ अपने सिर पर हाथ फेरने लगता है } आपको पता नहीं हम दोनों में कितना अन्तर हैं।
ललिता : हम दोनों मनुष्य हैं...
रघुनाथ : तो इससे क्या ?
ललिता : कहना पड़ेगा ?
रघुनाथ : हाँ कह डालिये।
{ललिता चुप होकर कभी रघुनाथ की ओर देखती है और कभी धरती की ओर देखने लगती है। रघुनाथ जाना चाहता है }
ललिता : ठहरिये !
रघुनाथ : किस लिये ? साफ क्यों नहीं कहती ?
ललिता : वरदान देने के लिये मेरे...देव ! { धरती की ओर देखने लगती है }
रघुनाथ : { उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ } वह तो बहुत दिन हुआ मैंने किसी को दे दिया ?
ललिता : दूसरे को भी दिया जा सकता है।
रघुनाथ : जिसे मिलना था मिल चुका। दूसरे को वरदान देने के पहले मुझे फिर एक बार देवता बनना पड़ेगा। जो अब सम्भव नहीं।
ललिता : तो मुझे निराश होना पड़ेगा ?
रघुनाथ : वास्तव में आपको कोई आशा थी ? राह चलते संदेश कहने से कोई दूत नहीं बन जाता। साल भर हो रहा है, बारह महीने और तीन सौ साठ दिन...वरदान की बात अब तक भूली थी ? मुझे यहाँ देख कर...{ उसकी ओर निर्द्वन्द्व होकर देखने लगता है, जैसे उसके ऊपरी आवरण को भेद कर उसके हृदय को देखना चाहता है...ललिता वहीं खड़ी-खड़ी काँपने लगती है। रघुनाथ आगे बढ़ कर उसके कन्धे पर हाथ रखता है...{अश्करी का प्रवेश...अश्करी चुपचाप बढ़ कर दरवाजे पर खड़ी हो जाती है, पर दूसरे ही क्षण घूमकर बाहर निकल जाती है। दोनों थोड़ी देर उसी हालत में निश्चेष्ट खड़े रहते हैं--रघुनाथ जैसे होश में आकर कुर्सी पर बैठता हुआ } यह जानते हुए कि मैं इस आश्रम से घृणा करता हूँ, इसकी इमारत मेरे रक्त मांस से तैयार हुई है। इसमें और सहायता देना यहाँ तक कि इसके उत्सव में शामिल होने के लिए आ जाना...उस पर उनको अपने घर से निकाल दिया कितनी संकीर्णता थी ? इसलिये कि उनका जन्म मुसलमान के यहाँ हुआ था...कितनी संकीर्णता इस युग में...जब मनुष्य सम्प्रदाय और धर्म के

जेलखाने से निकल कर खुले मैदान में आया है...कितनी हृदयहीनता ! {ललिता की ओर देखता हुआ } मैं जितना ही अधिक सोचता हूँ...आप को...बहुत...दूर पाता हूँ...आप...मुझे तो आप क्षमा करें । नहीं और किसी दूसरे को...

ललिता : { जैसे ठोकर खाकर लड़खड़ाती हुई } बस { तर्जनी हिला कर } चुप रहिये ! अब मैं आपको क्षमा करती हूँ... एक दिन एक वर्ष के लिए नहीं सारे जीवन के लिये । मैं दूर...हूँ...ठीक है मुझे दूर रहना ही चाहिये । आप क्या समझते हैं मैं आपका चरण पकड़ कर रोने लगूँगी । प्रेम की भीख नहीं माँगी जाती महाशय ! बिल्ली से चूहा खेलते ही खेलते मर जाता है---वही हालत आप मेरी करना चाहते हैं । आप से मैं दूर तो बहुत हूँ...लेकिन फिर इस तरह घबड़ा क्यों रहे हैं ? गला बार-बार भर क्यों जाता है ? { धीमे स्वर में } धोखा मुझे भी और अपने को भी {रघुनाथ उद्वेग में बस की ओर देखता है } आप निश्चित रहिये मैं इस प्रवृत्ति को दबाऊँगी, अब फिर कभी आपको इस बात की शिकायत न होगी ।

रघुनाथ : दब सकेगी ?

ललिता : जरूर । आपको सन्देह है । इसलिये कि आप में साहस नहीं है । हृदय की आवाज तो आप सुन लेते हैं...लेकिन आत्मा की नहीं । मेरे हृदय को ठुकरा कर आज आपने मेरी आत्मा को जगा दिया है इसके लिये मैं आपकी सदैव कृतज्ञ...

रघुनाथ : मैंने आपके हृदय को कब ठुकराया ?

ललिता : अभी दस मिनट पहले...जब मैं आपसे बहुत दूर थी।

रघुनाथ : मेरा मतलब नारी मोह से था नारी प्रेम से नहीं ।

ललिता : नारी-मोह और नारी-प्रेम में कोई अन्तर नहीं हैं । कहने और समझने के तरीके अवश्य भिन्न हैं...अलग-अलग हैं । मैंने आपको कष्ट दिया...आपकी चिन्ता...इसका खेद मुझे है...मेरे हृदय की कमजोरी थी...आशा है आप क्षमा करेंगे ।

रघुनाथ : { गम्भीर होकर धीरे से } वास्तव में मुझे...प्रेम...करती थीं । मुझमें प्रेम करने की कौन-सी बात मिली ?

ललिता : {हाथ जोड़कर } जिस बात को मैं दबाना चाहती हूँ...सदैव के लिये सुला देना चाहती हूँ... उसे अब मत जगाइये ।

रघुनाथ : { मुस्करा कर } उसे मैं सोने ही क्यों दूँ ?

ललिता : इसलिये कि आप बहुत पहले किसी को वरदान दे चुके हैं ।

रघुनाथ : पर उसे लिया नहीं ।

ललिता : लिया या नहीं लिया...मेरे लिये दोनों बराबर हैं...आप दे तो चुके... {रघुनाथ हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ता है...सिर हिला कर } छोड़ दीजिये ! स्त्री का हृदय विश्वास चाहता है...और फिर उसे फुटबाल बनाइये...सब सहता जायगा । लेकिन जहाँ सन्देह पैदा हुआ...वह किसी काम का नहीं...एक आघात में ही फटकर इधर-उधर छितरा जाता है । आपकी आज्ञानुसार मैंने तो आपको क्षमा कर दिया...आप भी मुझे क्षमा कर दें...हम दोनों एक-दूसरे को भूल कर जीवन का नया पथ निकाल लें ।

रघुनाथ : मुझसे तो नहीं होगा...?

ललिता : तब इस तरह ठुकराते क्यों रहे,..

रघुनाथ : इसका उत्तर क्या दूँ। मुझे पढ़ाया गया था...अपनी लालसाओं को दबाओ...युवती के प्रेम से दूर रहो...यह सब माया है...जीवन इससे बिगड़ जाता है। मैं तोते की तरह अपना पाठ याद करता जाता था! आदर्श के झमेले में मैं जीवन को नहीं समझ सका।

ललिता : आप भाग्वान थे...आप को ऐसी शिक्षा मिली थी। आप बच गये। आप अपने सम्राट् हैं। न तो आप को तारे गिन कर रात काटनी है और न दिन में द्वार बन्द कर चादर ताननी है। आपकी अवस्था में सिर ऊपर तकिया रख कर जिसने आँसू नहीं बहाया...अपने हृदय को लालसा की आग में नहीं डाला वह... वास्तव में भाग्यवान है। उसी का जीवन सफल है। उसकी इच्छा संसार में कानून का काम कर सकती है।

रघुनाथ : और जो मैंने भी तारे गिन कर रातें बिताई हों और सिर के ऊपर तकिया रखकर आँखों के रास्ते से अपना हृदय बहा दिया हो तो...

ललिता : { विस्मय से } सचमुच! किस लिये?

रघुनाथ : पता नहीं...हृदय का बोझ हल्का करने के लिये...या...

ललिता : अभी समय है...अब से सम्हल जाइये।

रघुनाथ : तो अब क्या होगा? {निराशा की दृष्टि से उसकी ओर देखने लगता है}

ललिता : कुछ नहीं...हृदय से कहा जायेगा 'अब तुम सो जाओ।' और आत्मा से कहा जायगा 'अब तुम जागो।'

रघुनाथ : पर यह जीवन कितना सूना रहेगा...।

ललिता : पर साथ ही साथ कितान सुन्दर और कितना सुखद होगा। हृदय के भीतर चिन्ता और विकार का समुद्र लहरें नहीं मारेगा। बच्चों को यह चाहिये...स्त्री को यह चाहिये--इससे छुट्टी अपने...सम्राट्...कोई बन्धन नहीं।

रघुनाथ : { ललिता का हाथ खींच कर अपने कन्धे पर रखते हुए } तो मुझे सदैव के लिये...?

ललिता : मैं सदैव याद रखूँगी सहानुभूति और सम्मान के साथ...

रघुनाथ : तब फिर जीवन का दूसरा रास्ता कैसे होगा?

ललिता : इतना भी नहीं समझे? मैं सहानुभूति और सम्मान से याद रक्खूँगी। वहाँ वह बात न होगी जिसके कारण एक बार देख लेने से या स्वर सुन लेने से हृदय काँप उठता है...मैं सब कुछ भूल जाती थी। मेरा नारीत्व जाग कर पत्नीत्व की ओर झुकना चाहता था।

रघुनाथ : क्या प्रमाण वह बात न होगी?

ललिता : मेरा भविष्य का व्यवहार...दूसरी बार के मिलने पर आप को पता चल जायगा।

रघुनाथ : मैं अब फिर नहीं मिलूँगा।

ललिता : पुरुष का हृदय इतना निर्बल नहीं होना चाहिये। आप मुझसे मिलियेगा मित्र की तरह, हृदय को कड़ा करके...सावधानी के साथ। जिस विकार के साथ पुरुष भीरु और साहसहीन हो जाता है, उसे अपने पास न आने दीजिये।

{ कमरे के बाहर किसी की आहट मालूम पड़ती है । } {रघुनाथ चौंक कर उधर देखता है } कोई हो आने दीजिये । किसका साहस है कि हम लोगों पर सन्देह करे ।

रघुनाथ : { ललिता की ओर देखकर } अच्छा तो अब चलूँ ?

ललिता : जाइये... ईश्वर करें आप सुखी रहें ।

रघुनाथ : मैं आशीर्वाद नहीं चाहता ।

ललिता : मेरे पास और है ही क्या ? {ललिता का पर्दा हटा कर दूसरे कमरे में प्रस्थान । }

रघुनाथ : यह स्वप्न भी टूट गया ! जीवन के समुद्र में बवंडर आया है, डूबने के पहले हाथ पैर तो मारना होगा । {उत्साह के साथ खड़ा होता है । दोनों हाथ ऊपर फेंक कर उँगलियों को मिलाकर अँगड़ाई लेता है । अश्करी का प्रवेश । रघुनाथ अश्करी को देखकर सावधान होकर खड़ा होता है । }

अश्करी : रघुनाथ बाबू !

रघुनाथ : कहिये...

अश्करी : आप यहाँ से चले जाइये । थोड़ी देर में यहाँ त्याग और साधना का ताण्डव प्रारम्भ होगा । आपकी आत्मा वह सब देख कर काँप उठेगी ।

रघुनाथ : और आप ?

अश्करी : मैं !---मैं भी भाग लूँगी । एक साल इधर-उधर भटकती रही हूँ... मुझे कहीं शान्ति नहीं मिली । अब मैं अपने भगवान को सर्वत्र देखना चाहती हूँ... किसी से घृणा नहीं कर सकती । भले और बुरे सब में... पापी और पुण्यत्मा सब में... सब जगह वही भगवान देख पड़ते हैं । मैं जंगल में रहूँ या इस आश्रम में... यहाँ रहना और अच्छा है... यहाँ, जहाँ दुनिया के पापी प्राणी एक साथ हैं... इन्हीं के भीतर {ऊपर हाथ उठाकर } उन्हें ढूँढ़ निकालूँगी ।

रघुनाथ : मुझे ऐसी आशा नहीं थी...

अश्करी : मुझे भी नहीं थी... भगवान की मर्जी । उन्होंने संकेत किया मैं चली आई । {रघुनाथ आश्चर्य में उसकी ओर देखता है } आश्चर्य की बात नहीं है । यही सच है । अपनी ठीक जगह मुझे अब मिली है । यहाँ रहने वालों को भगवान की जरूरत है । वह है तो इन्हीं के भीतर लेकिन इनको पता नहीं । इन्हीं के भीतर मैं उसे जगाऊँगी । इनकी आँखों में प्रकाश आ जायगा ।

रघुनाथ : यह सौदा बड़ा महँगा होगा--अश्करी...!

अश्करी : मेरे पास दाम की कमी नहीं है । भगवान का भरोसा... यह खजाना कभी कम न होगा रघुनाथ बाबू ! {ललिता का प्रवेश } आप लोगों का समझौता हो गया ।

ललिता : जी हाँ, हम लोग जीवन भर मित्र रहेंगे । सुख-दु:ख में एक दूसरे का साथ देंगे । { मुनीश्वर का प्रवेश } मुनीश्वर
{ ललिता से } चलिये नीचे । सभा अब शुरू होगी । जापकी स्पीच तो तैयार होगी ?

ललिता : मुझे अब आप की सभा में नहीं जाना है । मेरे जीवन ने आज दूसरा रास्ता पकड़ा है । मुझे अपना अलग आश्रम बनाना होगा । { ललिता का प्रस्थान }

मुनीश्वर : { रघुनाथ से } और आप ?

रघुनाथ : मेरी भी वही हालत है। { जेब में से पत्रों का पुलिन्दा निकाल कर मेज पर रखते हुए } यह आपके पत्र हैं। आप निश्चित होकर जैसा मन चाहे...मैंने आज जो छोड़ा है उसके सामने जगत की कोई भी सम्पत्ति अब मेरे काम की नहीं रही। { रघुनाथ का प्रस्थान, भवानीदयाल का प्रवेश--अश्करी पत्रों का पुलिन्दा उठाती है } बाहर निकल जाती है।

अश्करी : { नेपथ्य में } रघुनाथ बाबू! आप दोनों मेरा निवेदन सुनें।

भवानीदयाल : मैं आपसे कहता था न ? आपने ख्याल नहीं किया उन्होंने सारी जायदाद प्रभुदयाल के नाम कर दी। मेरे छोटे भाई के नाम...

मुनीश्वर : तुम्हारे पिताजी ने ?

भवानी : हाँ { अश्करी प्रवेश करती है }

मुनीश्वर : तब क्या...तुम स्वतन्त्र हो गये। अब तुम सच्चे सेवक हो सकोगे {भवानी दयाल का सन्देह से देखते हुए प्रस्थान--अश्करी से } और आप ?

अश्करी : जहाँ तुम हो, तुम्हारे जैसा पापी...पापियों का इतना बड़ा गिरोह मुनीश्वर! मैं इन सब को पार करना चाहूँगी। {शालिग्राम की मूर्ति दिखला कर } भगवान के भरोसे ?

मुनीश्वर : अश्करी! तुम क्या करना चाहती हो ?

अश्करी : तुम अब किसी का नाश न कर सको। न अपना न किसी दूसरे का।

मुनीश्वर : ओह! मो तुम मेरा विरोध करोगी।

अश्करी : तुम्हारे भीतर जो राक्षस है, जो अब तक अधर्म को धर्म और झूठ को सच करता रहा है...वह धन पुण्य में लगेगा...जो एक ही साथ हम तीन को लील गया ?

मुनीश्वर : तीन कौन...?

अश्करी : वकील साहब...मैं और रघुनाथ। इस आश्रम की व्यवस्थापिका हूँ मैं। यही लिखकर तुमने उन्हें अपनी जाल में फँसाया। उसमें अब तुम फँसे हो। { हाथ में तीसरा पत्र दिखाकर }

मुनीश्वर : अरे!

अश्करी : इसी सभा में तुम्हारी पोल खोल दूँगी। नहीं तो स्वीकार करो कि इस आश्रम से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं होगा। तुम सबको सुना कर यह बात कह दोगे कि इस आश्रम की व्यवस्थापिका मैं हूँ। बोलो...

मुनीश्वर : {पीला पड़ कर } ठीक है मैं कह दूँगा और इसकी रिपोर्ट...इस वर्ष की, तब तुम पढ़ोगी।

अश्करी : हाँ मैं पढ़ूँगी और यह भी कह दूँगी कि तुम्हारा अब कोई सम्बन्ध इस आश्रम के साथ नहीं है। रघुनाथ और ललिता यहीं दम्पत्ति बन कर रहेंगे।

मुनीश्वर : एं!

अश्करी : प्रकृति का शुद्ध न्याय यही होगा मुनीश्वर। रघुनाथ के पिता का धन इस संस्था के मूल में है। वही इसका मन्त्री बनेगा। अपनी पत्नी के साथ इस नरक को स्वर्ग बनायेगा। तुम सदा स्वर्ग को नरक बनाते आये। तुम्हारा वह व्यापार अब न चलेगा। मुनीश्वर, रघुनाथ और ललिता तो चले गये।

अश्करी : नहीं जी यहीं हैं...{ मुस्कराती रहती है। }

मुनीश्वर : यहीं हैं ? रघुनाथ ने जो पत्र छोड़ दिया।

अश्करी : वे दोनों और तीसरा पत्र जो मेरे पास है तीनों सभा मंच से पढ़े जायेंगे।

मुनीश्वर : पराजय का स्वाद मुझे कभी नहीं मिला है अश्करी। {दाँत पीस अश्करी की ओर बढ़ता है पीछे से रघुनाथ प्रवेश कर उसका गला पकड़ लेता है।}

रघुनाथ : इस तरह तुम्हारा कण्ठ पकड़े मैं सभा मंच पर ले चलूँगा। वहाँ लोग सुनेंगे कि संसार को ठगने के लिये तुमने कितने कुकर्म किये ?

अश्करी : तीनों पत्र तुम पढ़ोगे ?

रघुनाथ : पत्र आप पढ़ेंगी... मैं इसका गला इस तरह हिलाता रहूँगा। ऐसे हिलाऊँगा कि जैसे यह अपने पापों को स्वीकार कर रहा है। { उसका गला स्वीकृति की मुद्रा में हिला देता है }

ललिता : { प्रवेश कर } ऐं! यह क्या हो रहा है ?

अश्करी : { हाथ मे तीनों पत्र हिलाकर } सभा मंच पर आप इन तीन पत्रों को पढ़ेंगी ललिता जी, जिसमें इस राक्षस के कुकर्म लोग जान लें।

रघुनाथ : और इसका यह राक्षस का मन्दिर शुद्ध अर्थों में मातृ-मन्दिर बने।

{ परदा गिरता है। }

{समाप्त}

मुक्ति का रहस्य

पुरुष पात्र

उमाशंकर शर्मा

मनोहर	:	उमाशंकर का लड़का, अवस्था ८ वर्ष
त्रिभुवननाथ	:	उमाशंकर का मित्र, डाक्टर।
बेनीमाधव	:	उमाशंकर का मित्र, वकील।
काशीनाथ	:	उमाशंकर का चाचा
देवकीनन्दन	:	मनोहर का अध्यापक
मुरारी सिंह	:	टाउन स्कूल का हेडमास्टर
जगई	:	उमाशंकर का नौकर

स्त्री पात्र

आशादेवी

पहला अंक

{ सड़क के किनारे दुमंजिला बँगला। बँगले से सड़क तक थोड़ी - सी जमीन। उसमें छोटा-सा बगीचा। सड़क से बँगले तक पतली सड़क। उस पर उभड़े हुए कंकड़ और घास। बँगले की सड़क के दोनों ओर फूलों के पौधे। फूलों का क्या कहना, पौधों की पत्तियाँ भी सूख रही हैं। बँगले के सामने जो जमीन है उसके चारों ओर छोटी-सी चहारदीवारी है। चहारदीवारी से लगाकर केले के पेड़ लगाये गये हैं। लेकिन उन्हें देखकर मालूम होता है कि आसमान से जो पानी गिरता है उसे छोड़कर साल भर उन्हें कोई दूसरा पानी नहीं मिलता। यहाँ तक तो बगीचे की हालत--बँगले की ओर देखने से यों तो बँगले की बनावट अच्छी है, खिड़कियाँ और दरवाजे अच्छी लकड़ी और अच्छे शीशे के हैं, दीवालें भी जहाँ तक देख पड़ती हैं रँगी हुई, लेकिन जैसे इधर वर्षों से उसकी सफाई और सफेदी, रँगाई या पालिश नहीं हुई है। सुन्दर चीजें भी बेमरम्मत या लापरवाही के साथ रक्खी जाने से भयंकर हो उठी हैं। ऐसी हालत इस बँगले की है। इस बँगले को देखते ही इनमें रहनेवालों की दशा पर, मनुष्य में जो सबसे बड़ी कमजोरी या सबसे बड़ा विकार है, जिसे साधारण मनुष्य की भाषा में दया या सहानुभूति कहते हैं, जाग उठती है।

साँझ हो रही है। डूबते हुए सूरज की किरणें बँगले के ऊपर वाले कमरों के दरवाजों और खिड़कियों के शीशे पर पड़ कर चमक पैदा कर रही हैं। गर्मी का दिन है। इसलिए शाम होने पर भी अभी गर्मी कम नहीं हुई है। चारों ओर सन्नाटा-सा मालूम होता है। सामने की सड़क पर कभी-कभी मोटर, टाँगे या इक्के की आवाज होती है। बँगले के नीचे एक कोने का दरवाजा खुलता है और एक व्यक्ति बाहर निकलता है। आजकल जैसी कि लोगों की कहने की आदत हो गई है, यह व्यक्ति भारत का भावी सैनिक है। प्रायः तीस वर्ष की अवस्था, न बहुत लम्बा न बहुत छोटा, मझोले कद का, न बहुत मोटा न बहुत पतला, साधारण स्वस्थ शरीर, न बहुत गोरा न बहुत काला, बिल्कुल भारतीय रंग, गाँधी टोपी, खद्दर का कुरता, धोती पैर में चट्टी। भारत के भावी नेताओं का वेश आजकल चारों ओर दीख पड़ता है बिल्कुल वही। वह व्यक्ति दरवाजा लगाकर बाहर निकलता है, इतने ही में ऊपर आवाज होती है-- }

आशादेवी : 'सुनिये तो शर्माजी, उमाशंकर जी!'

{ इस व्यक्ति का नाम उमाशंकर शर्मा है। शर्माजी ने १९२१ में अच्छे नम्बरों के साथ एम० ए० पास किया था। डिप्टी कलक्टरी में आपका नामिनेशन भी हो गया था। लेकिन आपने असहयोग की लहर में इस्तीफा दे दिया और दो वर्ष के लिए जेल गये। }

{ उमाशंकर शर्मा बाहर खड़े होकर देखने लगते हैं। कुछ देर के बाद }

शर्माजी : क्या है? मुझे देर हो रही है।

{ऊपर के कमरे का दरवाजा खुलता है और एक युवती बाहर खुली छत पर आकर खड़ी होती है। देवी का नाम आशादेवी है। सुन्दर, कोमल, आकर्षक, जिनकी आँखें बाहरी आवरण के भीतर नहीं पैठ सकतीं--उनके लिए जो कुछ चाहिए सब कुछ। बहुत बारीक खद्दर की साड़ी किनारों पर छपी हुई। खुले हुए अस्त-व्यस्त बाल। देखने से मालूम होता है कि आधुनिक सभ्यता की लहर में देवीजी बहुत दूर तब बह गई हैं। आपकी आँखों में संकोच नहीं है। बोलने में आपकी जबान कभी रुकती नहीं। }

आशादेवी : क्षमा कीजियेगा...मैंने समझा शायद आपने मेरी बात नहीं सुनी और चले गए।

उमाशंकर : कुछ कहना है...आपको ?

आशादेवी : जी नहीं...यों ही...हाँ, आप लौटेंगे कब ? किस काम से...

उमाशंकर : ठीक नहीं कह सकता ! कल चुनाव है। देखूँ लोगों की मनोवृत्ति क्या है ? आप भी कहीं जाना चाहती...

आशादेवी : सिनेमा...लेकिन नहीं...शायद आप देर...

उमाशंकर : आपके साथ शायद मैं न चल सकूँ।पता नहीं कब तक लौटूँ तब तक...आप चली जाइएगा। मनोहर को भी साथ ले लीजिएगा।

{उमाशंकर का प्रस्थान। आशा थोड़ी देर तक वहाँ खड़ी रहती है, जब उमाशंकर सड़क तक पहुँच जाते हैं, तब लौटकर कमरे के दरवाजे पर खड़ी होती है। }

आशादेवी : मनोहर मनोहर...इधर चलो।

{ कमरे के दरवाजे के पास एक कुर्सी खींच कर उधर को मुँह कर बैठती है। उसके सामने कमरे के बीच में एक छोटी-सी मेज और उसके अगल-बगल में तीन कुर्सियाँ रक्खी हैं। उसके सामने की दीवाल में एक दरवाजा है जिसके बाहर नीचे जाने के लिए सीढ़ी बनी है। उसकी दाईं ओर की दीवाल में भी एक दरवाजा है जिसकी दूसरी ओर उमाशंकर का कमरा है। (मनोहर का सामने के दरवाजे से प्रवेश.) मनोहर सीधे आशा के पास न जाकर कमरे में इधर-उधर देखता है जैसे कुछ पता लगाना चाहता है--फिर तेजी से दूसरा दरवाजा खोलकर उमाशंकर के कमरे में जाता है।}

मनोहर : {उसी कमरे में ताली बजाता है, शोर करने लगता है} कुरता; टोपी कुछ नहीं...कुछ नहीं... बाबूजी चले गए...बाबूजी चले गये। {उस कमरे से निकलकर फिर दूसरे दरवाजे से भाग जाना चाहता है। }

आशादेवी : सिनेमा चल रही हूँ...मिठाई भी खिलाऊँगी, तमाशा भी दिखलाऊँगी।

{ मनोहर दौड़कर आशा के पास आता है, कभी उसका हाथ पकड़ कर खींचता है तो कभी उसका कपड़ा पकड़कर... }

मनोहर : कब चलोगी ?...चलो...अभी-अभी चलो।

आशादेवी : {उसके सिर पर हाथ रखकर} अभी नहीं घण्टे भर बाद। जब रात होगी।

मनोहर : हूँ...तब तो मैं सो जाऊँगा ! चलो...अभी-अभी चलो !

आशादेवी : अच्छा यह तो बताओ मैं तुम्हारी कौन हूँ !

मनोहर : तुम बताओ।

आशादेवी : मैं तुम्हारी माँ हूँ। आज से मुझे माँ कहना।

मनोहर : हूँ...वह तो मर गई। मर गई।

आशादेवी : कौन कहता है ? अपने बाबूजी से पूछ लेना, मैं तुम्हारी माँ हूँ या नहीं ?

मनोहर : नहीं हो। मेरी माँ नहीं हो।वह तो मर गई। बाबूजी तो कहते हैं मर गई और मुझे भी याद है--उस दिन दोपहर को (कमरे के बाहर हाथ उठाकर) वहाँ छत पर कम्बल बिछाकर सुलाई गयी थी। मुझे बुलाकर उसने अपनी छाती पर बैठा लिया। उसके बाद तुमने मुझे जबरन उठा लिया...वह मेरी ओर देखने लगी...मैं रोता ही रह गया...तुमने मुझे जाने नहीं दिया...वह भी रोने लगी।

(ऊपर हाथ उठाकर) फिर वह आसमान की ओर देखती रह गई। लोग उसे उठा ले गये। फिर वह नहीं आई। तुम मेरी माँ नहीं हो। वह मुझे दूध पिलाती थी। अपने साथ रात को लेकर सोती थी।

आशादेवी : मैं भी तो तुम्हें दूध पिलाती हूँ... अपने साथ लेकर सोती हूँ।

मनोहर : तुम तो मुझे गाय का दूध पिलाती हो। अपना दूध तो नहीं पिलाती...

आशादेवी : (मुस्कराकर) मेरा दूध पिओगे ?

मनोहर : नहीं तुम्हारा नहीं... किसी का नहीं। मुझे दूधपिलाना होता तो वह मरती क्यों ? {उसकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं}

आशादेवी : {अपने अंचल से उसकी आँख पोंछकर} चुप रहो। चलो तुम्हें सिनेमा ले चलूँ।

मनोहर : वह गयी कहाँ ? फिर नहीं आयेगी ?

आशादेवी : नहीं, जो जाता है, फिर नहीं आता। वह भगवान के दरबार में गई है, वहाँ कोई मरता नहीं। किसी को कोई दु:ख नहीं होता।

मनोहर : तब तो वहीं... चलो वहीं चलें। तुम भी चलो... मैं भी चलूँ। बाबूजी को भी ले चलो। वहाँ माँ से भेंट होगी, हम सब लोग साथ रहेंगे। मैं वहाँ भागूँगा नहीं। उसी के साथ रहूँगा।

आशादेवी : तुम वहाँ भी भागोगे ? शैतानी करोगे ?

मनोहर : नहीं... वहाँ नहीं भागूँगा... शैतानी नहीं करूँगा। जो कहेंगी वही करूँगा। कब चलोगी ?

आशादेवी : नहीं अभी नहीं। जब बुड्ढी हो जाऊँगी। बीमार पड़ूँगी... तब...

मनोहर : तो अभी बीमार पड़ो न। बता दो बीमार कैसे पड़ा जाता है। मैं बीमार पड़कर चला जाऊँ...

आशादेवी : अभी नहीं। अभी तुम बड़े होगे। पढ़ोगे। साहब बनोगे। तुम्हारा विवाह होगा। लड़के होंगे। तब तुम बुड्ढे होगे, बीमार पड़ोगे।

मनोहर : और तब वहाँ जाऊँगा ?

आशादेवी : हाँ, तब...

मनोहर : (चिंतित होकर) और तुम कब जाओगी ?

आशादेवी : मेरा... भी... विवाह होगा... लड़के होंगे। जब वह सब बड़े हो जाएँगे, उनका... भी... विवाह होगा {अपना बाल हाथ में लेकर} मेरा बाल सफेद हो जाएगा... मैं बुड्ढी हो जाऊँगी... तब मैं बीमार पड़ूँगी और मर जाऊँगी... तब मेरे लड़के मुझे उठाकर... वहाँ पहुँचा देंगे, जहाँ तुम्हारी... माँ गई हैं।

मनोहर : तुम्हारे बाल सफेद हो जाएँगे तब... कैसे सफेद ? सन की तरह ? {सिर हिलाता है}

आशादेवी : हाँ सन की तरह। तुम्हारे ही ऐसे मेरे भी लड़के होंगे।

मनोहर : उनको तुम दूध पिलाओगी ?

आशादेवी : {कुछ सोचने लगती है।} मनोहर! आज से तुम मुझे माँ कहो। मेरे लड़के नहीं होंगे। मैं मर जाऊँगी... तो मुझे वहाँ पहुँचा देना। तुम्हारी माँ ने मुझसे कहा था... कि मैं तुम्हारी माँ बनूँ। इधर सुनो। {उसके सिर पर हाथ रखकर} तुम्हें माँ की जरूरत है और मुझे बच्चे की। तुम मुझे माँ कहो... मैं तुम्हें बच्चा कहूँ। कहोगे न ?

मनोहर : बाबूजी से पूछ लूँ नहीं तो मारेंगे। कहेंगे तुम्हारी माँ तो मर गई, झूठ बोलता है। उस दिन उन्होंने झूठ बोलने के लिये मारा था...

आशादेवी : और अगर नहीं मारेंगे तो तुम मुझे माँ कहोगे ?

मनोहर : कहूँगा... नहीं... मैं दिन भर सड़क पर लड़कों में खेला करता हूँ। भगवती की माँ उसे पकड़ कर ले जाती है, रामदीन की माँ भी उसे पकड़ कर ले जाती है। तुम मुझे पकड़ने नहीं जाती। मेरी माँ तो मुझे बगीचे के बाहर नहीं निकलने देती थी। दिन भर मेरे पीछे लगी रहती थी। वह तो मर गई... मुझे मिठाई न देना, दूध न पिलाना... मैं तुम्हें माँ भी न कहूँगा।

{ आशा निराश होकर उस लड़के की ओर देखती है। जगई का प्रवेश }

आशादेवी : क्या है जी...?

जगई : डाक्टर साहब आपसे मिलने आए हैं।

आशादेवी : (घबड़ा कर) डाक्टर साहब ?

जगई : जी हाँ, नीचे बरामदे में खड़े हैं।

आशादेवी : कह दो शर्माजी नहीं हैं।

जगई : कहा... तो आपसे मिलना चाहते हैं।

आशादेवी : क्यों... कह दो तबियत अच्छी नहीं है।

मनोहर : तब तो तुम भी माँ के पास जाओगी ?

आशादेवी : (सम्हलकर) डाक्टर साहब के पास सुई है मनोहर को चुपचाप लगा दें।

मनोहर : नहीं नहीं...

{ भाग जाता है। सीढ़ियों से होकर नीचे निकल जाता है। }

आशादेवी : कह दो तबियत अच्छी नहीं है। खड़े क्या हो ?

{ जगई जाना चाहता है। डाक्टर त्रिभुवननाथ प्रवेश करते हैं, सामने के दरवाजे से। }

डाक्टर : तबियत अच्छी नहीं है... तभी तो डाक्टर की जरूरत है।

{ कमरे के इस ओर आकर एक कुर्सी खींचकर आशा के पास बैठते हैं। जगई का प्रस्थान। डाक्टर बढ़िया सूट पहने, एक हाथ में फेल्ट हैट और दूसरे में छड़ी लिए जैसे सिविल सर्जन से मिलने निकले हों। डाक्टर साहब की दाढ़ी-मूँछ सफाई से बनी है। पाउडर, क्रीम और वालेटाइन सेन्ट इत्यादि बहुत-सी चीजों से यह पता चलता है कि डाक्टर साहब इसी पीढ़ी के उन विकृत हृदय और विकृत मस्तिष्क युवकों में हैं, जिन्होंने साहब बनने के शौक में संस्कार, चरित्रबल या ऐसी सभी बातें जो मनुष्य को पशुत्व के ऊपर उठाये रहती हैं, छोड़ दिया है, जो प्रवृत्तियों के गुलाम हैं। सारांश यह कि डाक्टर साहब इसी पीढ़ी के उन लोगों में हैं जिनके भीतर भारतीय पतन की चरम दशा दीख पड़ती है। }

आशादेवी : इस तरह किसी के घर में चले आने का क्या अधिकार है साहब ? यह कहाँ की सभ्यता है ?

डाक्टर : जिस घर में रोगी रहता है उसमें डाक्टर को जाने का पूरा अधिकार है। बीमार की नजर में डाक्टर कभी सभ्य नहीं होता क्योंकि वह उसके मन की बात कभी नहीं करता... इसलिए वह असभ्य होता है... पशु होता है... राक्षस होता है।

आशादेवी : {उद्विग्न होकर} लेकिन यहाँ कोई बीमार नहीं है।

डाक्टर : क्यों ? आपकी तबियत खराब है न ? उस नौकर से आप कह रही थीं।

आशादेवी : डाक्टर साहब ! न तो मेरे पास समय है और न मैं आपसे अधिक बातें करना चाहती हूँ।

डाक्टर : हूँ...

आशादेवी : कहिए। आप किसलिए...

डाक्टर : शायद आप भूल गई होंगी। मैं बार-बार नहीं कहता।

आशादेवी : अगर आप मुझे बहुत तंग करेंगे तो मैं कुएँ में कूद कर प्राण दे दूँगी। { सिर नीचे कर धरती की ओर देखने लगती है। }

डाक्टर : देवीजी ! प्राण ऐसी सस्ती चीज नहीं है। {उसकी ओर देखकर मुस्कराता है।}

आशादेवी : मेरा प्राण बहुत सस्ता है, अगर इसे देकर मैं और चीजों से छुट्टी पा जाऊँ तो...मेरा महाजन खुश रहे...मैं रहूँ या न रहूँ।

डाक्टर : यह तो आप अपने महाजन पर अन्याय कर रही हैं। आप अपने महाजन की ओर एक बार सहानुभूति की आँख से देखना भी नहीं चाहतीं, और कहती हैं प्राण देने के लिए। इधर देखिए (सहमकर) अपने प्राण के लिए मैं अपनी दुनिया छोड़नेको तैयार हूँ।जिस दिन मन हो देख लीजिए।

आशादेवी : अच्छा हो आप अपनी दुनिया न छोड़कर बस मुझे छोड़ दें।

डाक्टर : (सिर हिलाकर) हूँ शायद आपको मालूम नहीं। आप मेरी दुनिया से बड़ी हैं। यह बात बहुत कहने को नहीं है...मैंने आपके लिए क्या नहीं किया...डाक्टर होकर...जिस मरीज की जिंदगी मुझे सौंपी गई थी...उसको जहर...खैर मैं क्या करता। मेरा कमजोर दिल...आह।

{ आशा की जाँघ पर अपना हाथ रख देता है। आशा जल्दी कुर्सी छोड़कर दरवाजे के पास खड़ी होती है। डाक्टर भी उठना चाहता है। }

आशादेवी : बस तुम उठे कि मैंने नौकर बुलाया। नरक के कीड़े...

डाक्टर : देवीजी ! आपको पता नहीं कि आप क्या कर रही हैं ? आपने दवा में मनोहर की माँ को जहर पिलाया था।

आशादेवी : अच्छा...

डाक्टर : मुझसे लेकर...

आशादेवी : माना यह भी सही...पर इसका मतलब ?

डाक्टर : इसका मतलब यह कि आपको मेरी बात माननी होगी। एक नहीं सौ बार...

आशादेवी : और अगर मैं न मानूँ ?

डाक्टर : तो फिर दुनिया जान जायगी कि आपने क्या किया।

आशादेवी : मैं कह दूँगी , यह सब झूठ है।

डाक्टर : मेरे पास प्रमाण है...

आशादेवी : कैसा प्रमाण ?

डाक्टर : आप का पत्र। आपने लिखा है डाक्टर साहब ! मैंने आठ बूँद डाल दिया है...समझा आपने। पूरा पत्र कम से कम बीस लाइन का है।

आशादेवी : (कुछ सोचकर) कोई बात नहीं। देखा जायगा। किसी भी हालत में मैं अपने चरित्र की पवित्रता छोड़ने पर राजी नहीं हूँ। चाहे इसका परिणाम जो हो !

डाक्टर : चरित्र की पवित्रता ? देवी जी ! यह सब बातें दुनिया के लिए हैं। जिसे संसार में रहना है...अपनी प्रतिष्ठा बचानी होगी।

आशादेवी : संसार के ऊपर भी कोई है..उसे ईश्वर कहते हैं...डाक्टर साहब ! उसकी दृष्टि से बचकर कोई कहाँ जाएगा ?

डाक्टर : वह संसार के ऊपर नहीं...संसार के भीतर है। और फिर वह कहने नहीं आता। उसकी कल्पना ही मनुष्य ने पाप के लिए की है और फिर यहाँ पाप और पुण्य का क्या सवाल है? यह तो प्रकृति की बात हाँ! जो है वही है।

आशादेवी : मैं आपसे बहस करना नहीं चाहती?

डाक्टर : मैं भी नहीं चाहता। तो फिर...

आशादेवी : तो फिर...{ऊपर देखने लगती है}

डाक्टर : तो यह निश्चित है? लेकिन पछताना होगा।

आशादेवी : जी नहीं...बिलकुल नहीं। अगर आप यह बात खोलेंगे, तो आप भी जाएँगे।

डाक्टर : मैं क्यों जाऊँगा? मैंने उसे जहर तो दिया नहीं।

आशादेवी : लेकिन आपने उसके लिए जहर तो दिया!

डाक्टर : मैंने उसके लिए नहीं आपके लिए जहर दिया था। कोई भी मेरे यहाँ से जहर ला सकता है। उसका वह कैसे उपयोग करेगा...इसका जिम्मेदार मैं नहीं।

आशादेवी : लेकिन तो जब आपको पता चला तभी आपने पुलिस को रिपोर्ट क्यों नहीं दी? इसका उत्तर क्या देंगे?

डाक्टर : मुझे अब पता चला है। जिस दिन रिपोर्ट करूँगा उसी दिन पता चलेगा और फिर पुलिस में रिपोर्ट करने की क्या जरूरत है। मैं शर्मा जी से कह दूँगा। कहना तो होगा ही मुझे। आज तक मैंने कभी हार मानी नहीं है। इसके लिए मैं बनाया नहीं गया था। मुझे कितनी बड़ी आशा दिखाई गयी थी! आपको याद नहीं है? आपने क्या कहा था?

आशादेवी : डाक्टर साहब! मैं स्वयं पश्चात्ताप से मरी जा रही हूँ। उस समय मेरे मस्तिष्क में हत्या की भावना नाच रही थी, उस समय मैं मनुष्ययोनि से उतर कर पिशाचयोनि में चली गयी थी। मैंने क्या कहा था उसे भूल जाइये।

डाक्टर : एक बार आप और उसी पिशाचयोनि में उतर कर... मैं और कुछ नहीं चाहता। एक बार केवल एक बार, आप मेरी ओर उस आँख से...जिससे आपने उस दिन देखा था, देख लें...मैं समझूँगा मेरी मजूरी मिल गयी।

आशादेवी : (कुछ सोचकर) अच्छा...लेकिन यह शर्त है।

डाक्टर : (उत्साह से) कहिये एक नहीं...एक लाख शर्तों...आपको पता नहीं...इन दिनों मुझ पर क्या बीत रही है। {गला भर आता है} तीन महीने हुए जिस दिन पहले पहल देखा था...{थोड़ी देर रुक कर} कभी रात को नींद नहीं आई; कितनी कल्पना...मैं आपको बदनाम नहीं करूँगा। यों आपका जो मन...हाँ तो शर्त...

आशादेवी : बस, वही आठ बूँद आप मुझे भी पिला दें। मैं जब अपने को सँभाल नहीं सकती। मेरा बोझ बराबर बढ़ता चला जा रहा है...उससे छुट्टी लेनी होगी। मैं किसलिए पैदा हुई थी और क्या हो गयी? कहाँ जाना था...कहाँ जा पहुँची? जब कभी सोचने लगती हूँ, मालूम होता है ओफ, हाय रे जिन्दगी--हाँ, तो अधिक सोचने का समय नहीं है। कहिए स्वीकार है?

डाक्टर : और अगर स्वीकार न हो?

आशादेवी : क्यों स्वीकार नहीं होगा? आप मेरी नैतिक हत्या करना चाहते हैं पर शारीरिक नहीं। देवता के सिर पर लात मारकर मन्दिर में आतिशबाजी करना चाहते हैं।

डाक्टर : देवता के सिर पर लात रखकर कभी चोर ने घंटा उतारा था। उसे वरदान मिला, आपको याद है या नहीं।

आशादेवी : (मुस्कुराकर) तो मैं भी तो वरदान देने को तैयार हूँ, लेकिन मेरी शर्त आपको माननी होगी।

डाक्टर : आपकी शर्त मानने के लिए पत्थर का कलेजा होना चाहिए।

आशादेवी : हूँ, मेरा चरित्र स्त्री जीवन का जो सबसे बड़ा भरोसा है...उसे बिगड़ने में डाक्टर साहब...इसके लिये भी पत्थर का कलेजा होना चाहिए। {डाक्टर की ओर देखने लगती है} मेरे कहने का आप पर असर नहीं होता। मैं आपको धोखा देना नहीं चाहती... व्यर्थ की आशा और मायाजाल में आपको रख छोड़ना ठीक नहीं है। अब आप यहाँ न आया करें।

डाक्टर : मुझे एक बार और आना होगा...शर्माजी से कहने के लिये !

आशादेवी : (उद्विग्न होकर) उनसे कहने ? कहियेगा मत डाक्टर साहब ! कितना बड़ा विश्वासघात होगा मैं उनके सामने कैसे जाऊँ...वे क्या कहेंगे ?

डाक्टर : मैं उनसे सब कुछ खोलकर कह दूँगा। किस तरह आप उस रात गई। किस तरह कैसी आशा दिलाकर मुझसे जहर लिया और फिर क्या-क्या हुआ।

आशादेवी : कब आयेंगे आप उनसे कहने ?

डाक्टर : आज या कल।

आशादेवी : कुछ दिन और ठहर जाइए। मैं अपने को इसके लिए तैयार कर लूँ।

डाक्टर : {उठते हुए} मैं आपके लिए क्या नहीं कर सकता, लेकिन जो होने को नहीं है...उसके लिये...

{मनोहर का प्रवेश। सीढ़ी के पास खड़ा होता है। }

मनोहर : अब तो रात... हो रही है...चलिये न सिनेमा...

डाक्टर : आप सिनेमा जाएँगी ?

आशादेवी : जी हाँ, विचार तो है। आप भी चलेंगे ?

डाक्टर : चलिये न। लेकिन तब मनोहर को न ले चलिए।

आशादेवी : (सन्देह से) क्यों ?

डाक्टर : इसलिये कि रात को...उसे तकलीफ...

आशादेवी : लेकिन वह मानेगा...नहीं उससे कह दिया...

डाक्टर : कोई बहाना कर दीजिए।

आशादेवी : मनोहर ! डाक्टर साहब के साथ चलोगे ? उनके पास सुई है।

मनोहर : (रोता हुआ) ऊँ...नहीं...नहीं जाऊँगा (भाग जाता है)

आशादेवी : ठहरिए, मैं कपड़े बदल आऊँ।

{ आशा का प्रस्थान। डाक्टर उसकी ओर देखता रह जाता है। आशा के चले जाने पर कमरे में इधर-उधर टहलने लगता है। मेज पर हाथ रखकर नीचे देखते हुए सिर झुकाकर खड़ा होता है; उसकी आँखें बंद हो जाती हैं। मनोहर सीढ़ी के ऊपर आकर कमरे के बाहर खड़ा होता है। थोड़ी देर तक डाक्टर की ओर भय से देखता रहता है }

मनोहर : सुई...{अपनी बाँह उठाकर टीका लगाने की जगह को बार-बार चुटकी से मलता है} नहीं...नहीं...डाक्टर साहब पूजा कर रहे हैं। आँख बन्द किये हैं।

{ डाक्टर उसी तरह खड़े-खड़े उसकी ओर देखता है }

मनोहर : पूजा कर रहे थे डाक्टर साहब ?

डाक्टर : {कुछ सोचते हुए } हाँ...

मनोहर : आप मन्त्र जानते हैं ?

डाक्टर : {कुछ सोचते हुए} नहीं...

मनोहर : {ताली बजाकर इधर-उधर उछलते हुए} तब पूजा किसकी कर रहे थे। मालूम होता है आप सुई कहीं भूल गए हैं...उसी को सोच रहे थे।

डाक्टर : सुई...कैसी सुई?

मनोहर : {अपनी बाँह उठाकर} इसमें छेदने के लिये। आपके कोई लड़का नहीं है डाक्टर साहब? उसकी बाँह में तो आप सुई नहीं चुभाते होंगे? {डाक्टर उसकी ओर देखकर मुस्कराता है}

मनोहर : बतलाइए। बतलाते क्यों नहीं? आपके लड़का है?

डाक्टर : नहीं। मैं जिस लड़के की बाँह में सुई चुभाता हूँ...उसी को लड़का मान लेता हूँ।

मनोहर : तब तो आपके बहुत से लड़के होंगे। उनको कभी मिठाई खिलाते हैं डाक्टर साहब? वे बीमार पड़ते हैं तो दवा का काम लेते हैं या नहीं?

आशादेवी : {दूसरे कमरे से} शैतानी करोगे मनोहर? इसको छाप लगाइए डाक्टर साहब।

मनोहर : अच्छी बात {डाक्टर के पास आकर बाँह उठाकर खड़ा होता है} हाँ लगाइये छाप डाक्टर साहब...अब मैं नहीं मानूँगा। लगाइए...लगाते क्यों नहीं? देरी न कीजिये...मैं भी चलूँगा सिनेमा देखने।

डाक्टर : छाप लगाने पर तुम्हें ज्वार आ जाएगा।

मनोहर : (कुछ सोचकर) और मैं बीमार पड़कर मर जाऊँगा। {ऊपर हाथ उठा कर} फिर वहाँ चला जाऊँगा...माँ के पास। (हाथ जोड़कर) हाथ जोड़ता हूँ। डाक्टर साहब! मुझे छाप लगा दीजिए मैं बीमार पड़ूँगा। माँ मिलेंगी। मेरी माँ... {उसकी आँखों से आँसू चल पड़ते हैं।}

डाक्टर : {मनोहर के सिर पर हाथ रखकर} तुम अपनी माँ को याद करते हो मनोहर?

मनोहर : कोई अपनी माँ को भूल सकता है...डाक्टर साहब? {दूसरे कमरे की ओर हाथ उठाकर} यह कहती हैं कि मुझे माँ कहो। मुझे सिनेमा दिखाने को कहती थीं। मैं लड़कों से कह आया था...मैं सिनेमा देखने जा रहा हूँ। अब कहती हैं, मत चलो। कल जब लड़के पूछेंगे...मैं क्या कहूँगा? मेरी माँ कभी ऐसा करतीं? मैं इन्हें कभी माँ नहीं कहूँगा।

डाक्टर : {धीरे से} हाँ, कभी न कहना।

मनोहर : कभी नहीं कहूँगा डाक्टर साहब? मेरी माँ मर गई...मर गई...मर गई... {उसकी देह काँपने लगती है}।

डाक्टर : और अगर तुम्हारे बाबूजी विवाह करें।

मनोहर : किससे...माँ तो मर गई।

डाक्टर : किसी से... {दूसरे कमरे की ओर हाथ उठाकर} और जो इन्हीं से करें तब तो तुम इन्हें माँ कहोगे।

मनोहर : (गर्दन टेढ़ी कर) कभी नहीं। इससे क्या? मेरी माँ तो मर गई।

डाक्टर : लेकिन अगर तुम इन्हें माँ नहीं कहोगे तो खाने को नहीं पाओगे।

मनोहर : (कुछ सोचकर) डाक्टर साहब! सड़क के उस पार जो अनाथालय है उसमें जो लड़के रहते हैं, उनकी सबकी भी माँ मर गई हैं। मैंने कई लड़कों से पूछा है, सब कहते हैं कि उनकी माँ मर गई है। उसमें लड़को को खाना मिलता है--सबेरे दूध भी मिलता है। दिन भर खेलते रहते हैं, कोई मारता नहीं, मैं भी उसी में चला जाऊँगा।

डाक्टर : ऐं! अनाथालय में?

मनोहर : तो क्या ? सब लड़के तो रहते हैं...
डाक्टर : उसमें गरीब लड़के रहते हैं...जिनको घर पर खाने को नहीं मिलता।
मनोहर : अच्छा तो जब मुझे खाने को नहीं मिलेगा तो मैं भी चला जाऊँगा।

{कपड़े पहनकर आशा का प्रवेश। उसके खुले हुए बाल रेशमी फीते से बँधे हैं। साड़ी का अंचल बाईं ओर से घूमकर दाहिनी ओर कँधे से नीचे पीछे की ओर लटक रहा है। दाएँ कंधे पर अंचल चुन कर सुनहली क्लिप में समेट दिया गया है। पैर में कामदार जैपुरी जूता है। डाक्टर साहब एक बार दृष्टि दौड़ाकर उसे नीचे से ऊपर तक देख लेते हैं फिर मनोहर की ओर देखने लगते हैं।}

आशादेवी : (मनोहर से) मुझे माँ कहो तो तुम्हें लिवा चलूँगी।
मनोहर : माँ ? तुमको ?...नहीं...नहीं नहीं...
आशादेवी : (मुस्कराकर) नहीं कहोगे ?
मनोहर : कभी नहीं। मेरी माँ तो वहाँ है। {ऊपर हाथ उठाता है}
डाक्टर : तुमने वहाँ कभी देखा है अपनी माँ को ?
मनोहर : हाँ, एक बार। जिस दिन वह वहाँ {कमरे के सामने खुली छत की ओर हाथ उठाकर} मरी थीं और लोग उसे उठा ले गए...मैं चाँद की ओर देख रहा था...वहाँ माँ खड़ी थी और मुझे बुला रही थी। वहाँ मैं कैसे जाता डाक्टर साहब ? मैं चील होता तो वहाँ उड़ कर चला जाता; तब से मैं बराबर चाँद की ओर देखता हूँ माँ नहीं आतीं।
डाक्टर : तुमसे नाराज हैं।
मनोहर : इसीलिए तो मैं किसी को माँ नहीं कहता...नहीं तो और नाराज हो जाएँगी, हो जाएँगी न ?
डाक्टर : {अन्यमनस्क होकर} हाँ, हो जाएँगी।
आशादेवी : देखिए, आप लड़के का मन और बिगाड़ रहे हैं।
मनोहर : (चिढ़कर) चाहे जो करो...मैं तुम्हें माँ नहीं कहूँगा।
आशादेवी : अच्छा तो मैं जा रही हूँ।
मनोहर : जाओ न।
आशादेवी : चलिए साहब!

{आशा और डाक्टर का प्रस्थान। मनोहर सीढ़ी पर जाकर नीचेकी ओर झाँक कर देखता है।}

मनोहर : जाओ...जाओ। तुम्हें माँ नहीं कहूँगा। {लौटकर कमरे में आकर खड़ा होता है और ऊपर छत की ओर देखने लगता है} माँ...माँ उतर आओ नीचे। यहाँ कोई नहीं है तुम्हें कोई पकड़ेगा नहीं। कोई नहीं पकड़ेगा...कह तो रहा हूँ। नहीं आएगी, नहीं आएगी!

{बैठकर गच पर सिर रख देता है। आशा का प्रवेश। आशा सीढ़ी के ऊपर कमरे के बाहर खड़ी हो जाती है। क्षण भर मनोहर की ओर देखती है। फिर जल्दी से आगे बढ़कर मनोहर को गोद में उठा लेती है।}

मनोहर : छोड़ दो...छोड़ दो...छोड़ दो।
आशादेवी : चलो लाल! तुम्हें ले चलूँगी। मुझे माँ न कहना। बस अब मानोगे न...।
मनोहर : छोड़ दो {उसकी गोद में छटपटाने लगता है। आशा उसे धीरे से नीचे उतार देती है।}
आशादेवी : {मनोहर का हाथ पकड़कर} चलो चलें।

मनोहर : {आशा की ओर देखकर} नहीं जाऊँगा अब जानती हो माँ ने मुझसे क्या कहा था ?

आशादेवी : नहीं।

अच्छा सुनो उस दिन रात को कोई नहीं था {दूसरे कमरे की ओर हाथ उठाकर} माँ उस कमरे में सोई थी। दूसरा कोई नहीं था..मैं चला गया। उसने मुझे अपनी छाती पर बैठा कर कहा 'बाबू मेरे मर जाने पर किसी चीज के लिए किसी से हाथ न जोड़ना।' मैं तुमसे हाथ नहीं जोडूँगा।

आशादेवी : हाथ जोड़ने को कौन कहता है ? चलो।

मनोहर : नहीं मानोगी तो मैं रोने लगूँगा। चली जाओ।

{आशा कुछ देर तक उद्विग्न खड़ी रहती है। फिर धीरे-धीरे सिर नीचे कर चली जाती है। मनोहर बेचैन होकर इधर-उधर देखने लगता है। किवाड़ खोलकर दूसरे कमरे में आता है और अपनी माँ की तस्वीर लेकर निकलता है। तस्वीर को दोनों हाथों से पकड़ कर उस पर अपना सर रख देता है। }

मनोहर : माँ ! माँ ! बोलो। नहीं बोलोगी ? नहीं बोलोगी ? अच्छा तब मैं उसे ही माँ कहूँगा और तुम्हें चिढ़ाऊँगा।

{ दूसरे कमरे में ध्वनि होती है, मनोहर चौंक कर खड़ा होता है। धीरे-धीरे पैर दबाकर कमरे के दरवाजे पर जाता है और दूसरे कमरे में झाँककर देखता है। फिर ओठ दबाते हुए लौटता है, उसकी नाक कभी ऊपर उठती है, कभी नीचे झुकती है। }

{कोई नहीं है...कोई नहीं है जगई का प्रवेश }

जगई : चलोगे बाबू ! शहतूत खाने ?

मनोहर : नहीं। {कुछ सोचने लगता है।}

जगई : चलो न, खूब पक गयी।

मनोहर : (डाँटकर) चला जा। उस दिन नहीं पकी थी बाबूजी ने मुझे मारा और कहने लगे कि रात को शहतूत खाता है...बीमार पड़ जायेगा।

जगई : वह तो शहर गये हैं...रात को आयेंगे।

मनोहर : नहीं जाऊँगा...नहीं जाऊँगा...मेरे बहाने शहतूत खायेगा और मारा जाऊँगा मैं।

{ जगई का प्रस्थान }

{मनोहर सामने के दरवाजे पर कुर्सी खींचकर बैठता है। तस्वीर को नाक के सामने ऊपर उठाकर देखने लगता है। बातें करते हुए शर्माजी और बेनीमाधव का प्रवेश। बेनीमाधव शर्माजी की अवस्था का है। रेशमी कुरता, बढ़िया पाड़ की विलायती धोती। न राष्ट्रवादी और न अंग्रेजी प्रभुत्व का दास। लम्बा तगड़ा, घनी मूँछे शायद उसके लिए अपना मतलब चलता रहे...यही संसार का सबसे बड़ा सिद्धान्त है। }

शर्माजी : {मनोहर के पास जाकर} क्या कर रहे हो ? चित्र तोड़ डालोगे ?-मैं तो हैरान हो गया हूँ तुम्हारी शैतानी से। बार-बार मना किया कि कोई चीज न छुआ करो, तुम नहीं मानते। मुझे अवसर नहीं है कि बराबर तुम्हारे पीछे पड़ा रहूँ। देखा करूँ कि तुम क्या कर रहे हो, कैसे रहते हो। मास्टर साहब आये थे ?

मनोहर : {कातर दृष्टि से शर्माजी की ओर देखता हुआ} अभी नहीं।

शर्माजी : अभी नहीं ? पहली तारीख को पन्द्रह रुपये के लिए सिर चढ़ बैठेंगे। क्या कहूँ जिसके साथ जितनी ही उदारता दिखलाई जाय वह और भी ख्याल नहीं करता अच्छा जाओ नीचे ! (उसके हाथ से तस्वीर ले लेते हैं) जगई ! जगई !

जगई : (नीचे से)) आ रहा हूँ साहब...
शर्माजी : अभी लालटेन नहीं जली ?

{लालटेन लेकर जगई का प्रवेश। दूसरे कमरे में लालेटन रख देता है। इस कमरे में रोशनी हो जाती है।जगई और मनोहर का प्रस्थान }

बेनीमाधव : किसका चित्र है ?
शर्माजी : मेरी पहली स्त्री का...
बेनीमाधव : तो क्या कोई दूसरी स्त्री भी है ?
शर्माजी : {असमंजस में} जी नहीं...अभी तो नहीं।
बेनीमाधव : तब पहली क्यों ?
शर्माजी : मैं भूल गया कि यहाँ के नामी वकील के सामने खड़ा हूँ। नहीं तो ऐसा भूल नहीं करता {दूसरे कमरे में प्रवेश कर} आओ यहीं बैठें।
बेनीमाधव : {कमरे के दरवाजे पर जाकर} वह साहब ! यह तुम्हारा कमरा है या अजायबघर । {कमरे के चारों ओर देखकर} जिधर देखिए...किताबें, अखबार, नोटिसें, कैसे रहते हो इसमें ?
शर्माजी : आओ भी।
बेनीमाधव : आखिरकार बैठा कहाँ जायेगा ? कुर्सियों पर भी तो कागजों का ढेर लगा है।

{ शर्माजी कुर्सियों पर से कागज उठाकर इधर-उधर जमीन पर फेंकने लगते हैं, जिनकी ध्वनि बाहर सुनाई पड़ती है। }

बेनीमाधव : हुँ...हुँ...क्या कर रहे हो ? इतनी धूल उड़ रही है। आओ, बाहर वहाँ छत पर बैठें...बड़ी गर्मी है। {रूमाल निकालकर नाक दबा लेते हैं} चेयरमैन होकर भी शायद अपना आफिस ऐसे ही रक्खोगे।
शर्माजी : {बाहर निकलते हुए} नहीं, वह घर नहीं रहेगा कि जैसा रहे कोई बात नहीं।
बेनीमाधव : जी नहीं, घर की आदत बाहर नहीं छूटती।
शर्माजी : अच्छी बात। तब तक चेयरमैन हो ही कहाँ रहा हूँ।
बेनीमाधव : {छत की ओर बढ़ते हुए} चेयरमैन तो हो ही जाओगे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं। तुमने देश के लिए जो त्याग किया है। डिप्टी कलक्टरी के चुने जाने पर, ट्रेनिंग भी खतम हो जाने पर, तुमने इस्तीफा दे दिया। जो सुनता है हैरान हो जाता है।
शर्माजी : जगई! जगई!
बेनीमाधव : क्या होगा ?
शर्माजी : कुर्सी बाहर रख दे।
बेनीमाधव : {एक कुर्सी उठाकर छत पर निकलते हुए} बुलाओ, तुम नेता हो। मुझे तो रोज दस बार इधर से उधर कुर्सी करनी पड़ती है।

{ शर्माजी एक कुर्सी लेकर बाहर निकलते हैं। जगई का प्रवेश }

शर्माजी : कुछ नहीं जाओ। मनोहर कहाँ है ?
जगई : नीचे तख्त पर सो रहे हैं।
शर्माजी : सो रहे हैं ? इस सभय ? बड़ा चाण्डाल लड़का है। अभी यह हालत है आगे क्या करेगा ? {जगई का प्रस्थान}
बेनीमाधव : उसकी माँ मर गई। तुमको उस पर उदार होना चाहिए। {कुर्सी पर बैठते हैं}

शर्माजी : {कुर्सी पर बैठते हैं} उदार होना चाहिए...ए। तुमको पता नहीं मेरा जीवन आजकल क्या हो गया है। जिस साल मैं फोर्थ इयर में था मैंने अपने हाथ से पाँच हजार रुपया एक साल में खर्च किया था जबकि दूसरे लड़कों का काम पाँच सौ में ही चल जाता था और आज मेरी स्त्री मर रही थी, मैं इस लायक नहीं था कि उसकी ठिकाने से दवा कर सकूँ। चाचाजी चाहते थे कि मैं रोता हुआ उनके सामने खड़ा होऊँ और तब वह दुनियादारी का लेक्चर देकर अपनी लोहे की सन्दूक खोलें और मुझे रुपये दें। मुझसे यह नहीं हो सका। इसके लिए मुझे कितना कष्ट सहना पड़ा...याद कर तबियत दहल उठती है। शरीर का एक-एक बूँद रक्त नाचने लगता है। यह बात सच है कि तुझे दुनियादारी नहीं आती। लेकिन शायद इसके लिए मैं पैदा भी नहीं हुआ था। मुझे इसकी परवाह नहीं है कि दुनिया मुझपर सन्देह करेगी।

बेनीमाधव : लेकिन दुनिया तुम पर सन्देह क्यों करेगी ?

शर्माजी : {बेनीमाधव की ओर ध्यान से देखकर} बेनी बाबू... (रुक जाते हैं)

बेनीमाधव : हाँ-हाँ कहो...आज मैं इसीलिए आया हूँ कि तुम्हारी सभी बातें सुन लूँ। कल तो तुम चेयरमैन हो जाओगे। फिर पता नहीं...

शर्माजी : हूँ...तो मेरी सारी बातें सुन लेना चाहते हो आज...जब कि मैं दुर्भाग्य की भँवर में नीचे-ऊपर हो रहा हूँ...अब गया, तब गया--क्यों {थोड़ी देर रुककर} कल जब मैं चेयरमैन होकर सौभाग्य के शिखर पर चढ़ जाऊँगा... तब तुम नहीं सुनोगे)। {उद्विग्न होकर}ठीक है..आज ही सुनो ...आज तुम्हारी छुरी पूरा काम करेगी...कल की तो शायद हाथ मिले। अच्छा तो सुनो! औरों की बात कौन कहे पहले तो तुम्हीं मुझ पर सन्देह कर रहे हो।

{ बेनीमाधव एक बार उनकी ओर देखकर चुप रह जाता है }

शर्माजी : हूँ तो 'मौनं सम्मति लक्षणं'--(सिर हिलाकर) यहाँ कानूनी कूटनीति की जरूरत नहीं है। मैं तो साफ कहता हूँ और साफ सुनना चाहता हूँ।

बेनीमाधव : तो क्या मेरा सन्देह निराधार है ? {मुस्कराकर भौंहें नचा देता है।}

शर्माजी : {कुछ सोचकर} मान लो कि मैं देवीजी को प्रेम करता हूँ तो ? {सिर नीचे कर दाँतों से ओठ दबा लेते हैं}

बेनीमाधव : (रूखे स्वर में) तो कुछ नहीं...जैसी खुशी...लेकिन समाज...

शर्माजी : (रूखे स्वर में) समाज का ठेकेदार कौन है मैं या तुम ?

बेनीमाधव : हम दोनों...

शर्माजी : कोई नहीं। हम दोनों सुन्दर भोजन पर, सुन्दर वस्त्र पर, सुन्दर स्त्री पर...धन, कीर्ति, यश, दुनिया की इन सब चीजों पर समाज के मुखिया कहते बहुत हैं...करते कुछ नहीं। या सड़क पर जिसे पाप समझते हैं, कमरे में उसी की उपासना करते हैं। अपने भीतर एक बार देखो तो मालूम होगा। हम जिस सफाई के साथ अपने पुण्य का विज्ञापन देते हैं, अगर उसी सफाई के साथ अपने पाप का विज्ञापन देते, मुझे पूरा विश्वास है, हम लोगों की नैतिक दशा आज की स्थिति से कहीं अच्छी होती।

बेनीमाधव : इसका मतलब कि तुमसे और कुछ कहना व्यर्थ है।

शर्माजी : व्यर्थ नहीं है। मुझसे जो कुछ, जितना कहना चाहो, कहो, लेकिन अपने को भी याद रक्खो, अपनी जिन्दगी को...अपनी ओर देखकर मेरी ओर देखो, तब

तुम मुझे समझ सकोगे। मेरे पाप को, मेरे पुण्य को...अगर इन चीजों का कुछ मतलब हो सकता है या इन चीजों में कुछ सचाई है।

{एकाएक उठकर टहलने लगते हैं, ऊपर देखते हैं, आसमान में चन्द्रमा निकल आया है--छत के किनारे खड़े होकर बाहर सड़क की ओर देखते हैं और फिर लौटकर कुर्सी पर बैठते हुए बेनीमाधव का हाथ अपने हाथ में लेकर। }

तुम जानते हो असहयोग की लहर में...इस्तीफा देने के बाद...मैं दो वर्ष केलिए जेल गया। मैं मोतीलाल नेहरू तो था नहीं कि मेरे पास जेल में भी सभी चीजें मौजूद थीं, अखबार भी, किताबें भी, या एक शब्द में आनन्द भवन की दीवाल को छोड़कर आनन्द भवन की बाकी सभी चीजें। मैं केवल असहयोगी नहीं था, क्रान्तिकारी भी था। नौकरी से इस्तीफा देकर मैंने नौकरशाही की मशीन का छेद दिखलाया था, उसे जबरदस्त धक्का दिया था। इसलिये जेल में मेरी अच्छी खबरली गई। चोर और हत्यारे की तरह मेरी सासत की गई। तुम मेरे लड़कपन के साथी थे। मुझे याद आता है जब हम दोनों दर्जा तीन में पढ़ते थे, हमने एक ही आम बारी-बारी दाँत से काटकर खाया था कालेज तक साथ रहे। उन चौबीस महीनों में तुम से यह नहीं हो सका कि अपने लड़कपन के साथी और अपनी जवानी के मित्र को एक बार देख आते। तुम जाते कैसे ? दो दिनों में दो सौ रुपये छोड़ने पड़ते। मामूली आदमी के लिए यह मामूली बात नहीं थी। {थोड़ी देर ठहर कर} मतलब यह है कि तुम नहीं गए। घरवालों को क्या पड़ी थी ? माँ-बाप थे नहीं। चाचाजी को कलक्टर साहब और डिप्टी कलक्टर को दावत देने से ही फुरसत नहीं थी ! दुनिया में जो अपने सगे कहे जाते हैं, उनके इस व्यवहार से मुझे जितना दुःख हुआ, उतना जेलर की बदमाशी से नहीं।

बेनीमाधव : ठहरो...

शर्माजी : क्यों ?

बेनीमाधव : इसलिए कि जो बीत गया...मैं मानता हूँ हम लोगों से भूल हुई।

शर्माजी : जो बीत गया...बहुत कुछ जीवन में दे गया...वह मिटाने की चीज नहीं है। भूल आप लोगों से तब हुई, वही भूल इधर भी होती रही और होती रहेगी। इसलिए कि अब मैं आप लोगों के काम का नहीं रहा। आप लोगों को मैं संतुष्ट नहीं कर सकूँगा।

बेनीमाधव : वही भूल इधर भी, इसका मतलब ? कहोगे इमान से, इधर तुमने क्या कहा जो मैंने नहीं किया ?

शर्माजी : अजी मैं तुमसे कहता कुछ करने के लिए ? कभी नहीं। जब मेरे जीवन के लिए कहने के सिवा और कोई चारा नहीं रह जाता तो शायद मैं अपने यहाँ के मजिस्ट्रेट मिस्टर कार्टन से कहता, जिनकी नजर में मैं नौकरशाही का सबसे बड़ा शत्रु था और जिन्होंने मुझसे बदला लेने के लिए बड़ी कोशिश कर दो वर्ष सख्त कैद की सजा दिलाई थी। शत्रु से हाथ जोड़ते बनता है, लेकिन मित्र से नहीं।

बेनीमाधव : मैं तो तुमसे हजार बार हाथ जोड़ सकता हूँ।

शर्माजी : तुम जोड़ सकते हो, चालाकी के लिए, मुझे यह नहीं आता। सात सौ तीस दिन जेल में बीत गये। जिस दिन दो बजे मुझे बाहर निकलना था, ठीक बारह बजे जेलर ने आकर कहा क्यों साहब अभी तक आपके स्वागत के लिए तो नहीं आया, आपके घर पर कोई नहीं है ? मुझे मालूम हुआ जैसे मैं अनन्तकाल अकेले था, न मेरे नीचे पृथ्वी थी और न ऊपर आकाश ! बेनीबाबू जिन्होंने संसार को माया कहा था, मिथ्या और भ्रम कहा था, उन्हें असली बात मालूम थी।

बेनीमाधव : तुम जानते हो वेदान्त की बातें, मेरी समझ में नहीं आतीं।

शर्माजी : तुम्हें समय कहाँ ? दिन भर कचहरी में मुन्सिफ साहब, जज साहब, गुहर्रिर साहब या शायद मुअक्किल साहब भी। रात भर घर में, माँ- बाप, बाल-बच्चे, इधर-उधर की गप-शप। एक बार क्षण भर इनसे ऊपर उठकर देखो, तब मालूम होगा वेदान्त क्या है ? दुनिया तुम्हारे लायक है और तुम दुनिया के लायक हो, इसीलिए तुम वेदान्त नहीं समझते। जिस दिन तुम दुनिया के लायक नहीं रहोगे या जिस दिन दुनिया तुम्हारे लायक नहीं रहेगी, उस दिन तुम वेदान्त समझोगे। या उस दिन तुम देदान्त छोड़कर और कुछ नहीं समझोगे।

बेनीमाधव : लेकिन शायद वह दिन आयेगा नहीं। मैं तो समझता हूँ मनुष्य को बराबर दुनिया के लायक होना चाहिए। सभ्य मनुष्य होकर दुनिया के लायक न होगा, यह बात तो मेरी समझ में नहीं आती खैर ! तब क्या हुआ ?

शर्माजी : इच्छा हो रही है। सुनने की न ? मनुष्य की जितनी रुचि दूसरे के दु:ख की बातें सुनने की होती है, उतनी उसके सुख की नहीं !

बेनीमाधव : अजी तुम क्या हो गये ?

शर्माजी : हो गया क्या ?

बेनीमाधव : तुम्हारे दु:ख की बातें सुनने में मेरा मनोरंजन होगा ?

शर्माजी : होगा ! तुम्हारा नहीं, यह मनुष्य के स्वभाव का दोष है। अभी तक स्वभाव से ही क्रूर है। जब कोई दया की भीख माँगता है, हम उसकी ओर देखकर मुँह बनाते हैं।जब कोई पत्र लिखकर हमारी सहानुभूति अपनी ओर खींचना चाहता है, हम उसका पत्र पढ़कर अपने मित्रों को सुनाते हैं, और कहते--कैसा मूर्ख है...इसे दुनिया का अनुभव नहीं। जिसे हम दुनिया का अनुभव कहते हैं, वह हमारी संकीर्णता और हमारे स्वार्थ की अभिव्यक्ति है। हमारी सभ्यता तो बढ़ रही है...लेकिन हमारी मनुष्यता...{ चुप हो एकटक बेनीमाधव की ओर देखने लगते हैं। }

बेनीमाधव : घट रही...यही न ?

शर्माजी : मुझे तो ऐसा ही मालूम हो रहा है। हमें जीवन का रस नहीं मिलता और न तो हम कभी खुली हवा में साँस ले पाते हैं। प्रेम करने में भी पाप है, दान देने में भी पाप है। दुनिया के नब्बे प्रतिशत लोग जो काम नहीं करते, वह करना...लोग सन्देह करते हैं कि यह प्रेम क्यों करता है, दया क्यों करता है, होगी कोई-न-कोई छिपी बात।

{ मनोहर का प्रवेश }

क्यों जी क्या चाहते हो ? मास्टर साहब आए ?

मनोहर : हाँ आए हैं।

शर्माजी : कब आए ?

मनोहर : देर हुई।

शर्माजी : तुम्हें पढ़ा चुके ?

मनोहर : हाँ !

शर्माजी : घर जा रहे हैं ?

मनोहर : अभी तो बैठे हैं।

शर्माजी : तुम किसलिए यहाँ आये ?

मनोहर : {खड़ा होकर कुछ सोचने लगता है} कहते हैं पूछ आओ कोई काम तो नहीं है ?

शर्माजी : कह दो अभी बैठें ? तुम सिनेमा देखने नहीं गए ?

मनोहर : नहीं ले गई ?

शर्माजी : क्यों ?

मनोहर : डाक्टर साहब थे।

शर्माजी : उनके साथ गई ?

मनोहर : हाँ...

शर्माजी : अच्छा जाओ। {मनोहर का प्रस्थान}

बेनीमाधव : कौन ? डाक्टर त्रिभुवननाथ।

शर्माजी : हाँ।

बेनीमाधव : अब कहो ?

शर्माजी : क्या ?

बेनीमाधव : {उनकी ओर देखकर} डाक्टर त्रिभुवननाथ के साथ, जिसके बारे में रोज शिकायतें सुनी जाती हैं, उसके साथ ? तुम बदनाम हो जाओगे।

शर्माजी : बदनाम तो मैं कभी हो चुका।

बेनीमाधव : इसीलिए उसकी अब परवाह नहीं है। यही न ?

शर्माजी : वकील साहब ! मैं समझ नहीं सका आप क्या कह रहे हैं ? शिकायतें बराबर सची नहीं होतीं और अगर हों भी, तो मैं क्या कर सकता हूँ। आप जानते हैं, मेरा उन पर कोई अधिकार नहीं है, वह किसके साथ रहें और किसके साथ न रहें, किससे मिलें और किससे न मिलें, इस बारे में मैं क्या कर सकता हूँ। जिस तरह से स्वतंत्र हूँ, आप स्वतंत्र हैं। जिस तरह मैं जिससे चाहूँ मिल सकता हूँ या आप जिससे चाहें मिल सकते हैं, उसी तरह वे भी जिससे चाहें मिल सकती हैं। मेरा विश्वास तो ऐसा है...मनुष्य का विकास उसके निजी अनुभवों पर ही होता है। यह बात भी मानी हुई है कि सब के विकास का रास्ता एक नहीं है। सबका रास्ता अलग-अलग है, सब किसी को उस पर चलना पड़ता है, ठोकर खाना और गिरना यह भी स्वाभाविक है। यही होता रहा है.. हो रहा है और होगा। कोई इसे रोक नहीं सकता...इसलिए मैं उसकी चिन्ता नहीं करता।

बेनीमाधव : जो हो, तुम उनसे छुट्टी क्यों नहीं ले लेते ? क्या जरूरत है कि वे तुम्हारे साथ रहें। उनको तुम्हारे साथ रहने का कोई अधिकार भी नहीं है, जिसे दुनिया या समाज स्वीकार न करे।

शर्माजी : (कुछ सोचकर) दुनिया या समाज, ऐं ! {चुप रह जाते हैं} मैं हर एक बात को व्यक्ति की आँख से देखता हूँ। दुनिया या समाज की आँख से नहीं। व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व जहाँ कहीं हुआ, जब कभी हुआ है, यह सच है कि व्यक्ति को बराबर दुःख उठाना पड़ता है, किन्तु यह भी सच है कि नैतिक विजय बराबर व्यक्ति की हुई है। तुम्हारी दुनिया या तुम्हारे समाज ने ईसा, कन्फ्यूसियस, सुकरात या मंसूर के साथ क्या किया था ? तुम्हें खूब मालूम है। समाज के अगुआ उस समय भी यही सोचते थे कि वे उचित कर रहे हैं। मनुष्य-जाति की दुःखमय कहानी जिसे हम लोग इतिहास कहते हैं--इन्हीं बातों से भरी पड़ी है। तुम्हारा समाज नहीं जानता कि उन्हें मेरे साथ रहने का

अधिकार है या नहीं। लेकिन, मेरा हृदय जानता है, मेरी आत्मा जानती है कि उन्हें मेरे साथ रहने का अबाध अधिकार है।

बेनीमाधव : क्यों?

शर्माजी : सभी बातें कही नहीं जा सकतीं। मेरी अनुपस्थिति में अगर तुम होते तो तुम्हें पता चलता। मेरी स्त्री मर गयी थी, मैंने चारों ओर देखा कोई मेरा सहायक नहीं मिला। इस देवी ने उस विपत्ति में मुझे सहारा दिया। मनुष्य जितना अधिक से अधिक त्याग कर सकता है, उसने किया। सम्भव है लोगों को उसके चरित्र पर संदेह हो, पर मेरी दृष्टि शायद उधर न उठे। उसने मेरा उपकार किया, यह सत्य है! इसलिए मैं उसका सदैव आभारी रहूँगा। इस अपने देश में कोई भी स्त्री यदि अंधविश्वासों और बेहूदी रूढ़ियों को तोड़कर आगे बढ़ेगी, तो लोग उस पर संदेह करेंगे। हम लोगों का नैतिक जीवन बहुत नीचे पहुँच गया है। हम जिधर नजर डालते हैं, बुराई छोड़कर और कुछ देख नहीं पाते।

बेनीमाधव : जो हो। मैं यह नहीं चाहता कि लोग आपको झूठ-मूठ बदनाम करें। मुझे मालूम है, जब तक देवीजी आपके साथ रहेंगी, आपके चाचा आपसे बोलेंगे नहीं। इसमें हानि आपकी है। आप जो समझें। देवीजी आपको मिलीं कैसे।

शर्माजी : यह जानकर आप क्या करेंगे? जहाँ तक चाचाजी की बात है, मुझे ऐसी इच्छा भी नहीं कि वह मुझसे बोलें। जिस दिन चाहूँगा उन्हें मजबूर होकर मेरा हिस्सा अलग करना पड़ेगा। लेकिन मैं यह चाहूँगा ही नहीं। अपने लिए परिवार को छिन्न-भिन्न करना, मुझे पसन्द नहीं।

{मनोहर को गोद में लेकर शर्माजी के चाचा काशीनाथ का प्रवेश। उनके पीछे और आदमी हैं। जगई लालटेन लेकर सबके आगे हैं, जो मेज पर लालटेन रखकर दूसरे कमरे से कुर्सियाँ निकाल कर रखता है। शर्माजी और वकील साहब कमरे में आते हैं। शर्माजी आगे बढ़ कर काशीनाथ का पैर छूना चाहते हैं। काशीनाथ रेशमी पारसी कोट, जो देहाती सिलाई होने के कारण भद्दा बना है, फेल्ट टोपी, मखमली किनारे की विलायती धोती और काले रंग का फुल स्लीपर पहने हैं। }

काशीनाथ : नहीं-नहीं--मेरा पैर न छूना। अब तुमसे मेरा क्या नाता?
{शर्माजी चुपचाप सिर नीचे करके खड़े हो जाते हैं}

काशीनाथ : वकील साहब! सुना है यह अपने हिस्से के लिए दावा करने वाले हैं। इसकी क्या जरूरत है, अपना अलग कर लें।
{उनके साथ के आदमी एक साथ कह उठते हैं।}
ठीक कहलीं बाबू, इहै ठीक होई।

शर्माजी : जी नहीं, यह गलत बात है... मैं अपना हिस्सा नहीं चाहता।

काशीनाथ : सब लोग कह रहे हैं, गलत कैसे है? वकील साहब उस दिन आप भी तो कह रहे थे?

{वकील साहब असमंजस में पड़ जाते हैं, जो उनके चेहरे से साफ मालूम होता है। }

बेनीमाधव : {कुर्सी बढ़ाते हुए} बैठिए, सब ठीक हो जायगा।

काशीनाथ : जी नहीं, मैं यहाँ बैठूँगा! इस घर में? मुंशीजी बही इधर दीजिए तो...

{मुंशी वही मेज पर रखते हैं} खोल दीजिए वह पन्ना, वकील साहब देख लें। {मुंशीजी वह पन्ना खोलते हैं} देखिए तो वकील साहब! इनके पढ़ने में कुल कितना खर्च हुआ है? मैंने साल-साल का हिसाब लिख दिया है।

बेनीमाधव : {बही पर नजर दौड़ाकर} रु० २०५९३.६९ कुल मिजान है।

काशीनाथ : देखिए ! मिजान ठीक दिया गया है न ?

बेनीमःधव : {थोड़ी देर चुप रहकर} जी हाँ, ठीक है ! आपका मिजान गलत होगा ?

काशीनाथ : गलत हो वकील साहब, तो गुजर कैसे हो ? कोई रियासत तो है नहीं, दिन-रात मेहनत कर कमाता रहा और इनके पढ़ने का खर्च देता रहा। जहाँ एक जोड़े जूते में मेरा साल कटता था, वहाँ इनको आठ जोड़े लगते थे। मैं समझता था कोई अच्छी नौकरी पा जायेंगे, इज्जत से रहेंगे, मेरी भी इज्जत बढ़ेगी। बार-बार कहा 'सुराज' के फेर में न पड़ो, गाँधी बनिया है, उसकी बात में न आओ। अँग्रेज न रहेंगे तो हमारे असामी हमें लूट लेंगे। कौन सुने। कितनी मेहनत से डिप्टी-कलक्टरी दिलाया। खट से इस्तीफा दे दिया और इज्जतदार के लड़के होकर चक्की पीसने जेलखाने गये। दो वर्ष के बाद निकले भी तो {मनोहर की पीठ पर हाथ रखकर} इसकी माँ के रहते ही एक फाहशा औरत रख लिया। आज ही कलक्टर साहब कहते थे--उस औरत को हटाकर उन्हें घर ले जाइये। आप लोग तो कहते ही थे। अब अफसर भी कहने लगे।कहिए न ! मैं कैसे लोगों को मुँह दिखाऊँ ?

मुंशीजी : सच बात है वकील साहब, ऐसी हालत में कैसे भला ...

काशीनाथ : वकील साहब ! पूछिए कैसे हिस्सा लगेगा। इस रु० २०५९३.६९ का हिसाब कैसे होगा ?

शर्माजी : {काशी की ओर देखकर} मेरे पास तो रुपया है ही नहीं कि इस समय मैं आपको दे सकूँ। शायद कभी होगा भी नहीं।

काशीनाथ : होगा क्यों नहीं। एक ही साथ के पढ़े वकील साहब सौ रुपया रोज कमाते हैं।

शर्माजी : मेरे पास रुपया कमाने का ढंग नहीं है, इसलिए नहीं होगा। हाँ उसी बीस हजार में...

काशीनाथ : सिर्फ बीस हजार नहीं रु० ५९३.६९ और

शर्माजी : अच्छा, उसी रु० २०५९३.६९ में मैं अपना सारा हिस्सा छोड़ दूँगा। कल आप मुझसे रजिस्ट्री करा लें।

बेनीमाधव : इनके हिस्से की आमदनी कितनी होगी ?

काशीनाथ : करीब सात हजार सालाना।

बेनीमाधव : तब तो हिस्से की मालियत उससे बहुत ज्यादा है।

काशीनाथ : हाँ, है तो ?

शर्माजी : है तो क्या ! मुझे स्वीकार है। मैं अपने सारे हिस्से की रजिस्ट्री कल कर दूँगा। आज आप रह जाइए।

बेनीमाधव : लेकिन कल तो आपका चुनाव है ?

शर्माजी : उससे बड़ा काम इस समय मुझे यही मालूम हो रहा...

{ काशीनाथ मुंशीजी को अलग हटाकर सीढ़ी के पास खड़े होकर धीरे-धीरे कुछ बातें करते हैं...फिर लौटकर }

काशीनाथ : वकील साहब ! पूछिए, उस औरत को हटाकर घर नहीं चलेंगे ? अब तो जो होने को था, हो चुका। घर पर खाने-कमाने को बहुत है। इन सब बातों की नौबत क्यों आये ?

बेनीमाधव : कहिए साहब ! {शर्माजी की ओर देखता है}
शर्माजी : जी नहीं, मुझे घर नहीं जाना है ।
काशीनाथ : अच्छी बात है । तो मैं आज रह जाऊँगा । कल जो होने को हो...हो जाय । आगे फिर झंझट न रहे ।
आशादेवी : (नीचे से) जगई ! जगई ? लालटेम लाना ।

{जगई दूसरे कमरे से लालटेन लेकर नीचे उतरता है । शर्माजी चौंक उठते हैं, घबड़ा जाते हैं, उनका शरीर थरथरा उठता है । वे अपने को सँभाल नहीं सकते और तेजी से स्वयं भी नीचे जाते हैं ।}

काशीनाथ : यही वह औरत है क्या ?
बेनीमाधव : जी हाँ ?
काशीनाथ : कहीं गई थी ?
बेनीमाधव : डाक्टर साहब के साथ सिनेमा देखने ।
काशीनाथ : कौन डाक्टर ?
बेनीमाधव : वही जिनकी दूकान कचहरी के पीछे है ।
काशीनाथ : राम...राम...उसके साथ । क्यों साहब ! मोतीजान के साथ उसी का न नाजायज ताल्लुक था ?
बेनीमाधव : जी हाँ !
काशीनाथ : उसके साथ ? कैसी औरत है ? देखते हैं कितना बेशर्म है । दौड़ा हुआ चला गया । वकील साहब ! कल रजिस्ट्री करा लीजिए । नहीं तो यह सब इसी औरत के पीछे फूँक देगा ।
मुंशीजी : बाबू, इनको क्या हो गया । पढ़ते थे तब कैसे थे । देखकर मन नाच जाता था ।
काशीनाथ : अभी यहाँ आप रहेंगे वकील साहब ?
बेनीमाधव : जी नहीं...मैं अब चलूँगा ।
काशीनाथ : चलिए चलें । मेरी तो अब यहाँ पल भर रहने को तबियत नहीं चाहती । पचपन वर्ष की उम्र हुई । अब तक इज्जत से निबहता आया । उँगली उठाने की किसी की हिम्मत नहीं हुई । आखिरी बार यही दाग लगा ।
मुंशीजी : दाग क्या है बाबू ? जो जैसा करेगा, पाएगा ? आपका क्या बिगड़ेगा ? देखते नहीं हैं, कहाँ वह गुलाब ऐसा चेहरा और कहाँ आजकल मालूम हो रहा है जैसे तपेदिक हो गया है ।
काशीनाथ : बिना बुलाए क्यों बोलते हैं मुंशीजी-(डाँटकर) जब बोलने का ढंग नहीं आता, तो चुप रहा कीजिए । नालायक भी है, तो अपना है । तपेदिक उसके दुश्मन को हो । रजिस्ट्री मैं इसलिए कराऊँगा कि जायदाद बची रहे । आज नहीं कल होश होगा, घर न जाएगा तो क्या करेगा ?
बेनीमाधव : आप बहुत ठीक कह रहे हैं । घर न जाएँगे, क्या करेंगे ।
काशीनाथ : (मनोहर से) क्यों नाती चलोगे घर तुम ? {उसके सिर पर हाथ फेरते हैं ।}
मनोहर : बाबूजी मारेंगे । वह...नहीं जाएँगे तो मैं कैसे जाऊँगा !
काशीनाथ : वह नहीं जाएँगे, तुम चलो घर पर गाय है, भैंस है, हाथी है । दूध पीना, हाथी पर चढ़ कर घूमना ।
मनोहर : {जैसे कुछ याद कर} नहीं नहीं माँ ने कहा था कि बाबूजी को रंज मत करना ।
काशीनाथ : {उसे छाती से लगाकर} तुम्हें अपनी माँ की बात याद है ?
मनोहर : (साँस खींचकर) हाँ...है याद ।

काशीनाथ : वकील साहब ! अपना अपना ही है। घर में इस समय कोई लड़का नहीं है। सूना मालूम होता है और यह यहाँ पड़ा है। मनोहर चलो घर तुम।

मनोहर : नहीं नहीं...छोड़िए ? {मनोहर नीचे उतर कर कमरे के कोने में खड़ा हो जाता है।}

काशीनाथ : अभी तक नहीं लौटा। इतनी बेशर्मी...वकील साहब चलिए।

{ काशीनाथ, वकील साहब और उसके साथ वालों का प्रस्थान। मनोहर बेचैन होकर इधर-उधर कमरे में भटकने लगता है। नीचे कुछ अस्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है }

काशीनाथ : नहीं...नहीं मैं यहाँ नहीं ठहरूँगा। वकील साहब ! मना कीजिए। कल रजिस्ट्री हो जानी चाहिए। पूछिए मैं रह जाऊँ न!

शर्माजी : रह जाइए...कल हो जावेगा।

मनोहर : {मनोहर दरवाजे के बाहर सीढ़ी तक जाता है, फिर लौट कर} आ रहे हैं, आप आ रहे हैं।

{दौड़ कर चुपचाप कुर्सी पर बैठ जाता है। शर्माजी और आशा का प्रवेश। शर्माजी अपने कमरे में जाकर कुर्सी पर बैठ जाते हैं। आशा इधर-उधर कमरे में टहल कर बाहर खुली छत पर चली जाती है। मनोहर कभी छत की ओर देखता है तो कभी शर्माजी के कमरे की ओर। थोड़ी देर तक बिल्कुल सन्नाटा रहता है। आशा ऊपर हाथ उठाकर अँगड़ाई लेती है। धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगती है। शर्माजी के कमरे में किसी चीज के गिरने और झनक कर टूटने की कड़ी ध्वनि होती है। आशा जल्दी से भीतर जाकर लालटेन उठाकर उस कमरे में जाती है। }

आशादेवी : {कोमल स्वर में} चित्र कैसे फूट गया ? तबियत ढीली है क्या ? तब बोलते क्यों नहीं ? अँधेरे में आकर यहाँ बैठ गए। चलें बाहर...

{आशा और शर्माजी बाहर दूसरे कमरे में आते हैं। मनोहर के पास की कुर्सी पर शर्माजी बैठते हैं। आशा वहीं खड़ी रहती हैं }

शर्माजी : मनोहर! सुनो।

{ मनोहर उनके पास जाता है और वे उसे उठाकर अपनी जाँघ पर बैठा उसे छाती से लगा लेते हैं। मनोहर सिसक-सिसक कर रोना आरम्भ करता है और ज्यों-ज्यों शर्माजी चुप कराते हैं त्यों-त्यों उसकी रूलाई बढ़ती जाती है। }

चुप रहो...न रोओ {उसके सिर पर हाथ फेरते हुए} भूल गये तुम्हारी माँ कह गयी थी न कि बाबूजी का कहा मानना। {मनोहर रोना बन्द करता है} क्यों रोते हो...बताओ ?

मनोहर : रोने का जी चाहता है।

{ जगई का प्रवेश }

भोजन तैयार है।

शर्माजी : मनोहर को ले चलो खिलाओ तब तक।

{ जगई मनोहर को लेकर चला जाता है। दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं। थोड़ी देर सन्नाटा रहता है। }

उमाशंकर : {आशा की उँगली पकड़कर} चिन्ता कैसी ?

{ आशा का शरीर काँप उठता है। वह सिर झुकाकर रोशनी की ओर देखने लगती है। रोशनी में उसका सारा मुँह दीख पड़ता है। उमाशंकर उसके मुँह की ओर देखने लगते हैं। आशा की आँखों से निकलकर कई बूँद आँसू मेज पर टपक पड़ते हैं। }

उमाशंकर : ऐं ! रो रही हो ! {उसका पूरा हाथ पकड़कर खींचते हुए} इधर देखो ।

{आशा अपना मुँह फेर लेती है--उमाशंकर एकाएक खड़े होकर एक हाथ से उसका मुँह रोशनी की ओर फेरते हैं और दूसरे में रूमाल से उसकी आँखें बन्द कर उसके मुँह की ओर देखते हैं । आशा अपना सिर उनके कन्धे पर रख देती है । क्षण भर सन्नाटा । }

आशादेवी : {एकाएक अलग होकर भर्राई हुई ध्वनि में} आपके चाचाजी यहाँ जो कहते रहे...आपके बारे में या मेरे बारे में...मैं सब यहाँ सीढ़ी पर खड़ी होकर सुनती रही हूँ...नीचे भी जो बातें हुई हैं...मैंने सुना है । मेरे लिए आप घर से अलग न हों । मैं यहाँ आई थी आपकी सेवा करने और सहायता करने । वह समय निकल गया । अब मेरा काम नहीं है । मेरे लिए सदैव के लिए घर की सम्पत्ति छोड़ देना...

उमाशंकर : (रूखे स्वर में) घर की सम्पत्ति मैं अपने लिए छोड़ रहा हूँ ।अपनी मुक्ति के लिए । साम्यवाद की लहर आ रही है...देश की सम्पत्ति राष्ट्र की सम्पत्ति होगी...राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की...धनी गरीब...यह बात मिटने वाली है । अब तो वह युग आ रहा है, जिसमें मनुष्य के समान अधिकार और समान कर्त्तव्य होंगे...स्वामी और सेवक, पूँजीपति और मजदूर इन बातों में पड़कर दुनिया बहुत बिगड़ चुकी है । उसकी रीढ़ की हड्डी टूट चुकी है, वह सीधी खड़ी नहीं हो सकती । समाज परिवर्त्तन नहीं, क्रान्ति चाहता है । पुरानी इमारत की मरम्मत बहुत हुई...इतनी हुई कि अब उसमें दूसरी मरम्मत की जगह नहीं है । उसकी नींव हिल रही है...एक धक्का और...साफ । जो समाज की सच्ची भलाई चाहने वाले हैं, उनका काम है कि इस हिलती नींव पर एक भी नई ईंट न रक्खें, उस पर और बोझ न लादें । या तो उसे छोड़कर खुले आसमान के नीचे आ जायँ...मनुष्य जाति की वह आदिम अवस्था जिसमें धर्म न अधर्म, न पाप न पुण्य, न शिक्षा न मूर्खता, प्रकृति के जड़ नियमों में जड़ मनुष्य का जीवन, न घर न परिवार न समाज न देश । कहीं कुछ नहीं । सब एक रस और नहीं तो फिर आवेश में इस इमारत को गिराकर उसकी नींव खोदकर फेंक दें और उसकी जगह दूसरी इमारत की नींव डालें । पुरानी इमारत की एक ईंट भी इस नई इमारत में न लगे, नहीं तो वह बैठेगी नहीं । { कुछ सोचने लगते हैं । आशा ध्यान से उनकी ओर देखने लगती है }

उमाशंकर : {आशा की ओर देखते हुए} इतनी हैरान क्यों दीख पड़ती हो...मैं शायद, हाँ घर वालों से नाता तोड़कर, पुश्तैनी जायदाद को लात मारकर, मैंने युग का आज सच्चे दिल से स्वागत किया है जिसमें मनुष्य केवल मनुष्य होगा । इस पुरानी इमारत की नींव से मैंने एक ईंट निकाल ली है । मैं गिराना चाहता हूँ, बनाने वाले दूसरे होंगे ।

आशादेवी : मनुष्य केवल मनुष्य होगा ?

उमाशंकर : हाँ...

आशादेवी : लेकिन मैं समझ नहीं सकी !

उमाशंकर : जो बात अब तक हुई नहीं, समझाई नहीं जा सकती । लेकिन यों समझो कि...हमारे और तुम्हारे या किसी जीवन में हमारी आंतरिक प्रवृत्तियाँ हमारी आत्मा पर छोड़ दी जायँ । हम अपने जिम्मेदार रहें, अपने मालिक और अपने नौकर रहें ।

आशादेवी : हूँ...तो मैं कब जाऊँ ?

उमाशंकर : कहाँ जाना है ? तुम्हें अब कहीं जाना नहीं होगा ?

आशादेवी : नहीं, मैं यहाँ नहीं रहना चाहती। मेरी आंतरिक प्रवृत्तियाँ मेरी आत्मा पर छोड़ दी जायें।

उमाशंकर : समझकर कह रही हो ?

आशादेवी : हाँ...

उमाशंकर : इसका मतलब कि मैं और भी स्वतन्त्र हो रहा हूँ। पर...गर्ल्स स्कूल में अब जगह न मिले।

आशादेवी : मैं अब अध्यापिका नहीं रहूँगी। जब एक बार छोड़ दिया तो...

उमाशंकर : तब फिर...

आशादेवी : जो हो-{कमरे के बाहर खुली हुई छत पर जाकर बाहर देखती है}

उमाशंकर : हूँ...

आशादेवी : यहाँ आइए...यह देखिए...जल्दी...जल्दी।

उमाशंकर : (वहाँ जाकर) क्या है ?

आशादेवी : {एक ओर हाथ उठाकर} वह देखिए...कोई जैसे मनोहर की माँ...वह सफेद साड़ी पहने।

उमाशंकर : यहाँ...कोई तो नहीं...

आशादेवी : देखिए, देखिए, आपको दीख नहीं पड़ता ?
{ हाथों में अपना मुँह छिपा लेती है }

{परदा गिरता है।}

दूसरा अंक

{ दोपहर। भीषण गर्मी। बाहर धू-धू कर लू चल रही है। वही कमरा, वही मेज और कुर्सियाँ। उसी तरह अव्यवस्थित। पिछले दरवाजे से लगकर दाईं ओर की दीवाल के पास एक चारपाई बिछी है। आशा उस पर बैठकर जाने की तैयारी में सामान सूट-केस में रख रही है। डाक्टर त्रिभुवननाथ का प्रवेश। }

डाक्टर : यह सब क्या हो रहा है ?
आशादेवी : {सिर उठाकर उनकी ओर देखने लगती है, फिर नीचे देखती हुई} बैठिए।
डाक्टर : {कुर्सी खींचकर उसके पास बैठते हुए} कहिए ?
आशादेवी : {उसकी ओर देखती हुई रूखे स्वर में} क्या पूछ रहे हैं ?
डाक्टर : यह सब तैयारी...
आशादेवी : जी हाँ...मैं जा रही हूँ।
डाक्टर : कहाँ...?
आशादेवी : वहाँ...जहाँ मनुष्य नहीं।
डाक्टर : हूँ...लेकिन...क्यों ?
आशादेवी : पता नहीं...यहाँ रहने की तबियत नहीं चाहती। मेरा पत्र...
डाक्टर : (मुस्करा कर) पत्र क्या ?
आशादेवी : वही जो रात आपने लौटा देने को कहा था।
डाक्टर : आप मेरा विश्वास नहीं करतीं...अब क्या ?
आशादेवी : हाय ! मेरा सब कुछ बिगाड़कर, मेरे पास जो अमूल्य रत्न था उसे छीनकर, उस पर भी...डाक्टर साहब ! {बेचैन हो उठती है, स्वर भारी हो उठता है} अच्छा न दीजिये। याद रखिए। उस पाप का भार मुझ पर, पर इसका आप पर।
डाक्टर : किसके सामने ?
आशादेवी : ईश्वर के ?
डाक्टर : देवीजी !...मैं नास्तिक हूँ।
आशादेवी : अच्छा मेरे...मेरे सामने उसका भार आप पर है। आपने मुझे लोभ में फँसाकर...
डाक्टर : लोभ में फँसा कर ? आपकी इच्छा नहीं थी ? तब तो मेरे साथ बड़ा धोखा हुआ।
आशादेवी : { क्रोध से उसकी ओर देखने लगती है }
डाक्टर : रंज होने की बात नहीं है...समझने की बात है। पुरुष कोई भी हो, पुरुष है। स्त्री कोई भी हो, स्त्री है।
आशादेवी : इसका मतलब ?
डाक्टर : यही कि जो शर्माजी, वही मैं...भेद सब नाम का है।
आशादेवी : देवता और राक्षस ? भेद सब नाम का है ? बस आप यहाँ से चले जाइये।
डाक्टर : देवी जी ? कल आप मुझे धमकाने के योग्य थीं...पर आज नहीं हैं। आपके लिए मैं पहला पुरुष हूँ। आपको मेरा सम्मान करना चाहिए।
आशादेवी : { अपने घुटनों के भीतर सिर दबाकर मुँह छिपा लेती है }

डाक्टर : { मुस्कुराकर कई बार सिर हिलाता है। }
आशादेवी : {डाक्टर की ओर देखती हुई} तो आप पत्र नहीं देंगे ?
डाक्टर : जी नहीं। मैं उसे आपकी याद में रखना चाहता हूँ। हाँ, मैं किसी को दूँगा नहीं...इसका मैं आपकों विश्वास दिलाता हूँ।
आशादेवी : लेकिन इसका विश्वास मैं कैसे करूँ ?
डाक्टर : आपका मन। जितना पापी मुझे आप समझती हैं...उतना पापी मैं नहीं हूँ। आपके साथ विश्वासघात अब मैं नहीं करूँगा। वह तो अपने ही साथ विश्वासघात करना होगा।
आशादेवी : अपने ही साथ क्यों ?
डाक्टर : मैं अब आपको अपना समझता हूँ।मेरा जीवन बहुत बिगड़ चुका था...पर अब नहीं बिगड़ेगा। मैं डूब रहा था...आपने मुझे बचा लिया। अब मैं किसी न किसी तरह किनारे लगूँगा ?
आशादेवी : पर मैं तो डूब गयी।
डाक्टर : इसे आप समझें। यह आपका पत्र है। {पत्र उसके सामने फेंक देता है} अब तो आप निश्चिन्त हुई।
आशादेवी : (पत्र देखकर) जी हाँ...आपको धन्यवाद।
डाक्टर : (उठते हुए) नमस्कार...क्षमा कीजियेगा।

{ डाक्टर का प्रस्थान }

{ आशा वहीं चारपाई पर लेटकर अपने मुँह पर तकिया उठाकर रख लेती है। उमाशंकर का प्रवेश। }

उमाशंकर : कैसी तबियत है ?
आशादेवी : {उठकर बैठती हुई} अच्छी है।
उमाशंकर : {सूटकेस की ओर हाथ उठाकर} तैयारी हो रही है क्या ?
आशादेवी : जी हाँ...तीन बजे की गाड़ी से।
उमाशंकर : इस लू में ? रात तबियत उस तरह बिगड़ गई थी।
आशादेवी : अब तो यहाँ...क्षण भर भी जी नहीं चाहता...
उमाशंकर : मैं यह तो कहता नहीं कि आप रह जायँ। लेकिन एक बात है। (चुप होकर) मेरे पास इस समय रुपये नहीं हैं, आपको देने के लिए...
आशादेवी : मुझे देने के लिए रुपए ? हे ईश्वर...
उमाशंकर : मैं चाहता हूँ...सबसे छुट्टी ले लेना कोई अपना नहीं...किसी तरह का बन्धन...अकेले मैं और यह संसार चाहे जैसा रहे। इसके साथ समझौता मैं नहीं कर सकूँगा। मैंने देख लिया अच्छी तरह से, यह सम्भव नहीं ? मैंने रजिस्ट्री कर दिया...सारी जायदाद...पढ़ाई के खर्चे में...जिसके लिए पिताजी को वर्षों बाहर रहना पड़ा था। जिस धन के पैदा करने में उनकी जिन्दगी गई थी...मैंने यों ही हँसी से छोड़ दिया। करता ही क्या ? चुप हो जाते हैं)
आशादेवी : {नीचे धरती की ओर देखती हुई} इस पर भी रुपये की चिन्ता ?
उमाशंकर : हाँ मैं और किसी का भी ऋणी रहना चाहता हूँ...पर आपका नहीं।
आशादेवी : मैंने क्या किया ?
उमाशंकर : वह मैं कह न सकूँगा। क्या नहीं किया ? मेरे लिए अपनी नौकरी छोड़कर...नहीं...नहीं, यह कहने की बात नहीं। मेरे हृदय में कितने घाव

हुए थे...वे सब भर गए...इसी से...बस इसी से आप जा नहीं सकतीं, जब तक मैं आपका रुपया दे न दूँ।

आशादेवी : मैं तो आज जाऊँगी।

उमाशंकर : तो आज ही रुपया दूँगा।

आशादेवी : मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। मनोहर कहाँ है ?

उमाशंकर : हो सकता है...मुझे तो अपने साथ न्याय करना है। मनोहर को घर ले गये है।

आशादेवी : आपके चाचाजी ?

उमाशंकर : हाँ..

आशादेवी : जाते समय उसे देख भी न सकी। {हथेली पर सिर रख लेती है}

उमाशंकर : अच्छा है...घर रहे। मेरे साथ रहने में उसे कष्ट..

आशादेवी : पर जब आपने सारी जायदाद की रजिस्ट्री उनके नाम करा दी तो क्या वह वहाँ उनकी दया पर रहेगा।

उमाशंकर : {कुछ सोचते हुए} जैसे रहे ? उनके भाग्य में जो होगा...मनुष्य जो लेकर पैदा होता है...वही...कोई बदल नहीं...{आशा उठकर दूसरे कमरे में चली जाती है} आदमी का जीवन और यह विराट जगत समुद्र के बुलबुले उठे और बैठे...

{ देवकीनन्दन और मुरारीसिंह का प्रवेश। मुरारीसिंह एक टाउन स्कूल के हेडमास्टर हैं। अल्पाके का घुटने तक लम्बा कोट, जो कम से कम दस वर्ष का पुराना है, मखमली किनारी की बिलायती धोती, जो कम से कम एक महीने की धुली है। }

आइये {कुर्सियों की ओर संकेत कर} मास्टर साहब! क्या हालचाल है ? मनोहर तो घर गया। अब आपको नहीं आना होगा।

देवकीनन्दन : कब तक ?

उमाशंकर : ठीक नहीं कह सकता। आपका परिचय ?

देवकीनन्दन : आप रामगढ़ टाउन स्कूल के हेडमास्टर बाबू मुरारीसिंह हैं।

उमाशंकर : (नमस्कार कर) किस लिये...?

देवकीनन्दन : यों ही सरकार के दर्शन के लिए।

उमाशंकर : और कोई काम ?

मुरारीसिंह : जी नहीं...सब आपकी कृपा!

देवकीनन्दन : आपके चुनाव में आप बड़ी मेहनत कर रहे हैं। इधर पाँच दिनों से स्कूल बन्द कर और मास्टरों के साथ देहातों में घूम-घूमकर आपने लोगों को समझाया है कि शर्माजी के चुने जाने से यह लाभ होगा-कच्ची सड़क पक्की हो जायेगी। नाले पर पुल बन जाएगा। नए मदरसे खुलेंगे। मास्टरों की तनखाह बढ़ेगी।

उमाशंकर : बस चुप रहिए। क्यों साहब यह सच है ?

मुरारीसिंह : हुजूर हम लोगों ने स्कूल बन्द कर देहातों में लोगों को यह सब समझाया है। जहाँ तक बन पड़ा है, रात-दिन...

उमाशंकर : तब तो आपको बड़ा कष्ट हुआ।

मुरारीसिंह : जी नहीं सरकार। आप चुन लिए जायँ तो हम लोगों का नसीब बन जाय।

उमाशंकर : मेरे चुने जाने से आप लोगों का क्या लाभ होगा ?

मुरारीसिंह : हुजूर यह मैं कैसे कहूँ...मुझे यकीन है।

उमाशंकर : आपको यकीन है कि मदरसे में मैं आप लोगों के लिए सिंहासन बनाऊँगा ?

मुरारीसिंह : नहीं सरकार...

उमाशंकर : तब क्या ?
मुरारीसिंह : हुजूर तो जिरह कर रहे हैं!
उमाशंकर : मास्टर साहब, थोड़ी देर के लिए आप नीचे जाइए।

{ देवकीनन्दन का प्रस्थान }

सिंहजी, आपको तनखाह मिलती है...लड़कों को पढ़ाने के लिए या चुनाव में कनवेसिंग करने के लिए!

मुरारीसिंह : (भय से) हुजूर! जब से चुनाव हो रहा है, मैं यह बराबर करता हूँ और साहब लोग बराबर खुश होते रहे हैं। हुजूर अपनी तरक्की के लिए आदमी मिहनत नहीं करता ?
उमाशंकर : तो इस तरह की मिहनत आप बराबर करते रहे हैं।
मुरारीसिंह : हुजूर! यह हम दोनों का काम है। आप लोग बने रहेंगे तो हम लोगों का भी गुजर होगा।
उमाशंकर : लेकिन आप मेरे लिए कोशिश क्यों कर रहे हैं...दो आदमी और खड़े हुए हैं। शायद उनमें से कोई चुन लिया जाय तब ?
मुरारीसिंह : हुजूर! जैसी मेरी तकदीर हो, इसके लिए कोई क्या करेगा ? इसके लिए मैंने सत्यनारायण की कथा मानी है कि आप हो जायँ, हुजूर से मुझ गरीब को बड़ा फायदा होगा!
उमाशंकर : मुझसे! फायदा होगा ?
मुरारीसिंह : उम्मीद तो हुजूर से ऐसी ही है।
उमाशंकर : अगर आप मेरे लिये सचमुच कोशिश कर रहे थे...तो इस समय आपको पोलिंग-स्टेशन पर रहना चाहिए था...यहाँ आने की क्या जरूरत थी ?
मुरारीसिंह : (घबड़ाकर) यह तो...गलती हो गई...हुजूर जरूर!
उमाशंकर : हूँ...आपके मदरसे में कितने मास्टर है ?
मुरारीसिंह : हुजूर पाँच।
उमाशंकर : सभी मेरे लिये कोशिश कर रहे हैं।
मुरारीसिंह : जी नहीं...एक ऐसे भी महाशय हैं,जो कहते हैं कि इन चीजों से हम लोगों को क्या मतलब ? चेयरमैन कोई हो...हमारा काम पढ़ाना है...पढ़ाते चलना चाहिए। यहाँ तक इधर हम लोगों ने स्कूल बंद कर दिया, इसलिए जो कुछ हो सके आपके लिए कोशिश कर दें...दो आप रंज हो गए और अपने दर्जे के लड़कों को छुट्टी नहीं दी...मालूम हुआ कि तीन ही दिन में पढ़ाकर लड़कों को बी०ए० पास करा देंगे। अब देखें हुजूर क्या करते हैं ?
उमाशंकर : उनका नाम क्या है ?
मुरारीसिंह : जगदीश तिवारी।
उमाशंकर : हूँ...पुराने मुदर्रिस हैं।
मुरारीसिंह : नहीं साहब...मैंने पढ़ा कर तो अभी उसे मिडिल पास कराया। इधर दो वर्षों में नार्मल हो आया है।
उमाशंकर : तो अभी नये आदमी हैं...तेज होंगे। मालूम होता है कि आप से उनकी पटती नहीं।
मुरारीसिंह : जो आप लोगों के काम का नहीं होगा...हुजूर उससे मेरी पटेगी कैसे ?
उमाशंकर : अच्छा अब आप जाइये...उन्हें भेज दीजिए...मास्टर साहब को।
मुरारीसिंह : हुजूर मुझे भूल न जाएँगे...शायद...

उमाशंकर : जी नहीं...अगर मैं चेयरमैन हो गया, तो सबसे पहले आप ही को याद करूँगा।

{ मुरारीसिंह का नमस्कार कर प्रस्थान }

उमाशंकर : {दूसरे कमरे के दरवाजे पर आकर} क्या सोच रही हो ?

आशादेवी : यही कि मेरे जीवन का क्या होगा ?

उमाशंकर : यह कोई बड़ी समस्या तो नहीं है ।जो हो काल के अनंत प्रवाह में मनुष्य का जीवन ही क्या ? तिनके की तरह बहता चला जा रहा है।

आशादेवी : लेकिन इसी में संतोष तो नहीं हो सकता।

उमाशंकर : सँतोष करना चाहिए न ?

{ देवकीनन्दन का प्रवेश }

देवकीनन्दन : क्या आज्ञा है ?

उमाशंकर : (घूमकर) मैं अगर चुन लिया जाऊँगा मुरारीसिंह को बरखास्त कर दूँगा।

देवकीनन्दन : बेचारे ने बड़ी मेहनत की है...आपके लिए।

उमाशंकर : इसीलिए तो...

{डाक्टर साहब का प्रवेश }

इस धूप में !

डाक्टर : जी हाँ आपको आगाह करने । आप लोगों का विश्वास जल्दी कर जाते हैं। वकील साहब आपको वोट नहीं देंगे । मेरे सामने उन्होंने सेठ से पाँच सौ रुपया लिया है।

उमाशंकर : बेनीमाधव ने ? उस निरक्षर को वोट देंगे...जो ठीक अपना नाम भी नहीं लिख सकता उसको !...

डाक्टर : जी हाँ...उसको !

उमाशंकर : मुझे धोखा देंगे ? इसका विश्वास तो मुझे नहीं...

डाक्टर : आपको विश्वास हो या न हो। आपको मेरी बात में संदेह हो, तो कोतवाली के पोलिंग स्टेशन पर चले जाइए। वहीं गए हैं...जहाँ तक उनसे हो सकेगा, किसी को भी आपके लिए वोट नहीं देने देंगे।

उमाशंकर : पर क्यों ?

डाक्टर : पहली बात तो यह है कि सेंत में पाँच सौ रुपये मिल गए और दूसरी बात यह है कि सेठ से और भी बहुत तरह का मतलब सधेगा। आप उनके किस काम आएँगे ?

उमाशंकर : अरे ! हमारे देश के पढ़े-लिखे लोग भी वोट बेचते हैं ?

डाक्टर : जी हाँ...इन्हीं लोगों के बल पर स्वराज्य का शोर हो रहा है।

उमाशंकर : ठीक कहते हैं...स्वराज्य अभी बहुत दूर है । चलिए कोतवाली मैं चलूँगा देखूँ...मुझे धोखा...अपने मित्र को ?

डाक्टर : आप हठात् मित्रता का नाता निबाहना चाहते हैं। दुनिया कितनी ठोस है... आप नहीं जानते।

{उमाशंकर, डाक्टर का हाथ पकड़ कर दूसरे कमरे में सामने के दरवाजे के पास ले जाकर धीरे-धीरे कुछ कहते हैं }

डाक्टर : चलिए अभी...मेरे पास है...ले आइए।

उमाशंकर : (कुछ सोचकर) तो...चलिए ! डाक्टर साहब ! मनुष्य का जीवन क्या से क्या हो गया !

डाक्टर : रोने के लिए जीवन में बहुत कुछ है। इसे जितना ही भूला रहे...इसीलिए तो मैं हँसता रहता हूँ।

उमाशंकर : चलिए अभी आ रहा हूँ।

{डाक्टर का प्रस्थान। उमाशंकर दरवाजा पकड़ कर बाहर आकाश की ओर देखने लगते हैं। आशा का प्रवेश }

आशादेवी : {उसके पास जाकर} डाक्टर से रुपया लेंगे ?

उमाशंकर : {उसी ओर देखते हुए} हाँ...

आशादेवी : मुझे देने के लिए ?

उमाशंकर : हाँ।

आशादेवी : हूँ...तो मैं सब ओर से गई !

उमाशंकर : क्यों ? {उसकी ओर देखने लगते हैं}

आशादेवी : {उनकी ओर देखकर} आप जानते नहीं। इस डाक्टर ने आपकी कितनी हानि की है।

उमाशंकर : मेरी हानि...डाक्टर ने ?

आशादेवी : हाँ, जिस दिन आप जानेंगे...

उमाशंकर : सुनूँ भी !

आशादेवी : मैं नहीं कहूँगी...शायद कहने से पहले मेरी जीभ गिर पड़ेगी।

उमाशंकर : {ध्यान से उसकी ओर देखने लगते हैं, आशा सिर नीचे कर लेती है} बात क्या है ? इस तरह काँप क्यों रही हो ? जहाँ तक मैं जानता हूँ, डाक्टर ने कोई बुराई नहीं की मेरी !

आशादेवी : (साँस खींचकर) ईश्वर करे यही सच हो...पर कैसे ? जो मैं यह कह पाती !

उमाशंकर : किसी ने मुँह तो नहीं बन्द किया है।

आशादेवी : मेरे हृदय ने...मेरी आत्मा ने...

उमाशंकर : मैं यह पहेली समझ नहीं सकता...(प्रस्थान)

आशादेवी : {अपनी जेब से एक शीशी निकालती है} आठ बूँद और मेरी मुक्ति ! आठ बूँद। {शीशी का कार्क थोड़ा हिलाकर सूँघती है। नाक-मुँह सिकोड़कर कई बार काँप उठती है। दूसरे कमरे से शीशे के छोटी ग्लास में दो घूँट पानी लाती है। कभी ग्लास के पानी की ओर देखती है, तो कभी शीशी की ओर। {शीशी का कार्क खोलकर ग्लास में उड़ेलती हुई} आठ बूँद, एक...दो तीन...चार {उसका हाथ काँपने लगात है और सारी शीशी उलट पड़ती है। वह थोड़ी देर तक ग्लास की ओर देखती रहती है। कभी तो हाथ नजदीक लाकर और कभी दूर फैलाकर। थोड़ी देर तक गहरी चिन्ता में फिर एकाएक उत्साह से } बस यही...अब क्या।! {ग्लास को ओठ से लगाकर मुँह में एक घूँट पीना; लेकिन उसी दम जल्दी दरवाजे की ओर बढ़ना और कुल्ला कर, ग्लास मेज पर रख देती है।} जगई ! जगई...!

जगई : (नीचे से) आया !

आशादेवी : हाँ, वहीं से कहो आया। इधर न आना।

{ जगई का प्रवेश }

यह मेरा बिस्तर जल्दी बाँध दो {चारपाई की ओर हाथ उठाती है}

जगई : अभी बड़ा घाम है।
आशादेवी : (जोर से) बहस क्यों करते हो ?
जगई : {बिस्तर बटोरता हुआ} घाम है...इस लूह में !
आशादेवी : डरो मत, तुम्हें स्टेशन नहीं जाना होगा।
जगई : कौन ले जायगा ?
आशादेवी : इक्का, टाँगा जो भी मिले।
जगई : और लारी...बस...जल्दी जाना हो तो...!
आशादेवी : लारी में कई आदमी के साथ बैठकर...नहीं...नहीं इक्का या टाँगा लाना...पूरा किराया तय करके।
जगई : {बिस्तर बाँध कर} तो जाऊँ न ?
आशादेवी : कहाँ ? {जैसे बड़ी देर के बाद होश में आई हो।}
जगई : टाँगा के लिए, इक्का...
आशादेवी : (कुछ सोचकर) हाँ, जाओ...देर न करो। जाओगे तो इनाम दूँगी।
जगई : अभी लाया। {तेजी से निकल जाता है। आशा ग्लास उठाकर एक बार और ओंठ से लगाती है, पर व्यर्थ, पी नहीं पाती। निराश होकर गहरी चिन्ता में ग्लास मेज पर रखती है। नीचे मनोहर की बोली सुन पड़ती है।}
मनोहर : कहाँ जा रहा है ? बाबूजी हैं...देवीजी...कोई नहीं है। नहीं आयेगा ? मैं अकेले रहूँगा ? अच्छा न आ। लौटेगा तब पूछूँगा।

{आशा चौंककर उठती है। ग्लास उठाकर पी जाती है। दरवाजे के बाहर सड़क की ओर देखती है, फिर घूमकर पीछे सीढ़ी की ओर देखती है।}

मनोहर : {सीढ़ी के नीचे} कोई नहीं है...मैं अकेला रहूँगा ? अनाथालय में...अनाथालय में...लड़कों के साथ...किसी की माँ नहीं है...वह सब लड़के...मैं भी उसी में। { मनोहर का प्रवेश }
आशादेवी : {दौड़कर मनोहर को गोद में उठाती हुई} तुम आ गये...आ गये ! मेरे जाने के पहले ...उसका सिर अपनी छाती से लगाकर मेरे बच्चे, मुझसे भेंट करने के लिए। तुम्हें मालूम हो गया कि मैं जा रही हूँ ! {ऊपर हाथ उठाकर} तुम्हारी माँ के यहाँ।
मनोहर : जा रही हो ? माँ के यहाँ।
आशादेवी : हाँ...
मनोहर : कब ?
आशादेवी : आज...अभी !
मनोहर : तुम बीमार तो नहीं हो ?
आशादेवी : (मुस्करा कर) मैं ? तुम क्यों आये...घर न जा रहे थे ? अपने बाबा के साथ।
मनोहर : मैं नहीं जाऊँगा। अपने तो गद्देवाली गाड़ी में बैठे और मुझे दूसरी गंदी गाड़ी में...उसमें चमार चिलम पी रहे थे...उसी में थूकते थे...{पीठ पर हाथ रखकर} यहाँ मेरी पीठ पर पड़ गया...मैं गाड़ी से निकल आया...सीटी बजी 'भों' 'धुक...धुक' धुआँ निकला...मैं वहीं खड़ा रहा, गाड़ी निकल गई, चले गए, अब मुझे नहीं पाएँगे। बाबूजी तो अपने साथ गद्देवाली गाड़ी में बिठाते हैं। मैं नहीं जाऊँगा नहीं जाऊँगा... भेजेंगे तो गाड़ी से कूद पड़ूँगा...मर जाऊँगा।
आशादेवी : मैं जा रही हूँ...तुम्हारी माँ के पास...दो घण्टे में चली जाऊँगी।

मनोहर : मुझे भी ले चलना।

आशादेवी : {उसे छाती से लगाकर}नहीं लाल! तुम यहाँ दुनियामें फूलो-फलो। लोग तुम्हारी बड़ाई करें। मैं तुम्हारी माँ से कह दूँगी कि तुम बड़े हो रहे हो, पढ़ रहे हो, बड़े अच्छे लड़के हो। जब तुम स्कूल जाओगे तो मैं तुम्हारी माँ के साथ {ऊपर हाथ उठाकर} वहाँ बहुत ऊपर खड़ी होकर तुम्हारी राह देखूँगी।

मनोहर : और जब स्कूल से लौटूँगा...तब भी ?

आशादेवी : हाँ तब भी।

{उसे नीचे उतार कर} घूम रहा है। मकान घूम रहा है न। मनोहर!...जैसे बिजली घर में चक्का घूमता है {नीचे ऊपर हाथ घुमाकर वृत्त बनाती हुई} इस तरह... इस तरह इस तरह। {कुर्सी पर बैठकर मेज पर सिर टेक देती है। मनोहर आश्चर्य से उसकी ओर देखता है।}

मनोहर : बीमार पड़ गई...माँ के पास जाने के लिए जाड़ा लगता है...कोई चीज ओढ़ा दूँ...{दौड़कर दूसरे कमरे से कम्बल लाकर उसके ऊपर डाल देता है, फिर उसकी पीठ की ओर जोर से दबाकर} कुर्सी पर रख लो...इसे, जड़ा रहा है...काँप रहा है।

{ जगई का प्रवेश }

टाँगा आ गया।

आशादेवी : (कम्बल फेंककर) ऐं आ गया ? चलो जल्दी चलो। हाँ बिस्तर, सूटकेस ले लो, एक लोटा भी। उठकर खड़ी होती है...उसके मुँह से अधिक पसीना चल रहा है। रह-रहकर आँखें खुलती है और बन्द होती हैं। चलना चाहती है, लेकिन पैर सीधे नहीं पड़ते, लड़खड़ाती हुई दो पग आगे बढ़ती है। जगई सामान उठाता है।

मनोहर : कहाँ जा रही हो ?

आशादेवी : अपने घर...

मनोहर : कहाँ है घर ?

आशादेवी : संसार के उस पार जहाँ कोई नहीं...कोई नहीं...ओह! आग लगी है। पानी। एक लोटा पानी जल्दी। जगई चारपाई पर सूटकेस और बिस्तर रखकर नीचे दौड़कर जाता है। {आशा वहीं धरती पर सिर थामकर बैठ जाती है} मनोहर! मनोहर!!

मनोहर : {उसके पास जाकर} क्या है ? {उसकी पीठ पर हाथ रखता है}

आशादेवी : भाग...जाओ...भाग...जाओ...आग...लगी...जल...जाओगे...जल...जा...ओ।

{पानी लेकर जगई का प्रवेश }

जगई : हाँ...पानी...

आशादेवी : {अपने सिर पर हाथ रखकर} यहाँ गिराओ...जल्दी करो।

{ जगई उसके सिर पर पानी गिराने लगता है }

टाँगावाला : (बाहर से) देर हो रही है सरकार! गाड़ी नहीं मिलेगी।

आशादेवी : गाड़ी नहीं मिलेगी ? चलो...चलो...जल्दी करो...{उठकर अपना बाल पीछे की ओर फेंक देती है। आगे बढ़कर कमरे के बाहर सीढ़ी के पास जाती है।}

मनोहर : {दौड़कर उसका हाथ पकड़ता है} कहाँ जाओगी ? इसी तरह भींगे कपड़े। ...{उसका हाथ पकड़कर खींचता है}

आशादेवी : {उसके साथ कमरे में आकर} तुम्हारी माँ...तुम्हारी माँ...वह देखो...नहीं देखते।

{एकाएक चुप हो जाती है--मनोहर भय से उसकी ओर देखता है। जगई जाना चाहता है}

मनोहर : मैं अकेले रहूँगा...? देखता नहीं यह जा रही हैं माँ के पास... जा...जा मैं अकेले रहूँगा...बाबूजी को बुला ला। जल्दी जल्दी!

आशादेवी : (सम्भल कर) नहीं...नहीं मुझे कुछ नहीं हुआ है...उन्हें न बुलाना...न बुलाना! देवता के सामने...मेरा पाप! देव! देव! मेरे अनन्त जीवन के उपास्य देव। उन्हें नहीं...उन्हें नहीं।

मनोहर : {चिल्लाकर} क्या कह रही हो?

आशादेवी : {धीरे से हाथ हिलाकर} कुछ नहीं, डरो मत, तुम्हारी माँ की तरह मैं यहाँ फिर न आऊँगी।

मनोहर : माँ आती है?

आशादेवी : हाँ, रात को रोज जब आधी रात होती है। तुम सो जाते हो। तुम्हारे बाबूजी भी सो जाते हैं, मुझे नींद नहीं आती...तब। तब तुम्हारी माँ आती हैं, मैं रोज उनसे वादा करती हूँ, उनके पास जाने के लिये...पर...

मनोहर : मेरे लिए आती होंगी? तुम्हारे लिए नहीं।

आशादेवी : {एक बार कमरे में चारों ओर देखती है...जैसे कोई भी चीज वह नहीं पहचान पाती। रह-रहकर उसके मुँह पर भय और विस्मय की रेखा दीख पड़ती है। मनोहर मारे डर के थर-थर काँप रहा है।} तुम्हारे लिए नहीं मेरे लिए। मैंने जो किया...कहते हैं मर जाने पर कोई नहीं आता। मकान उड़ा जा रहा है...ऊपर...ऊपर...आसमान में। {अपनी देह पर जल्दी से इधर-उधर हाथ फेरती हुई} चींटी...चींटी बहुत काट रही हैं, बहुत काट रही हैं, बहुत।

{डाक्टर का प्रवेश}

डाक्टर : {आशा की मुँह की ओर देखकर चौंक जाते हैं} ऐं? {आगे बढ़ कर आशा की ओर देखते हुए} आँखें काली पड़ रही है...नसें तन गई है--{एकाएक मेज पर से एक छोटी शीशी उठाकर देखते हुए} यही न...यही न, जरूर...मैं डरता था। (जोर से) जहर खा लिया?

आशादेवी : नहीं...अमृत...अमृत...

डाक्टर : {उसकी नाड़ी देखते हुए} कितनी देर हुई?

आशादेवी : {कोई जवाब नहीं देती धरती पर लड़खड़ा कर बैठ जाती है।}

डाक्टर : {वेग से दूसरे कमरे में जाते हैं} जगई...टाँगा रोको जाने न पाए। नहीं ठहरो। {एक स्लिप लेकर प्रवेश} शर्माजी को यह देना... जब आएँ...उसी समय। मनोहर तुमने कोतवाली देखी है? {जगई स्लिप लेता है।}

मनोहर : जहाँ बन्दूक लेकर सिपाही खड़े रहते हैं। जहाँ फुहारा है?

डाक्टर : हाँ वहीं। चले जाओ। अपने बाबूजी से कहना कि डाक्टर साहब देवीजी को अस्पताल ले गए हैं।

मनोहर : डाक्टर साहब देवीजी...कहाँ?

डाक्टर : अस्पताल ले गए हैं...अस्पताल। समझे।

मनोहर : हाँ...यह तो माँ के पास जा रही हैं...वहाँ न ले जाओ।

डाक्टर : जगई! इनका हाथ पकड़ तो।

{एक हाथ जगई पकड़ता है, दूसरा हाथ डाक्टर पकड़ कर आशा को उठाते हैं--और धीरे-धीरे सीढ़ी की ओर ले चलते हैं। आशा जाना नहीं चाहती।}

डाक्टर : सम्हाल कर जगई !...सम्हली रहिए, गिरी क्यों जा रही हैं ? जाओ मनोहर तुम जल्दी।

मनोहर : {मनोहर को छोड़कर सबका प्रस्थान--मनोहर शीशी उठाता है--उसे इधर-उधर उलट-पलट कर देखता है। } जहर खा लिया। माँ के पास जाने के लिए। मैं भी खा लूँगा। कहती हैं मकान आसमान में उड़ रहा है। आग लगी है। ओह ! ओह !

{ जगई का प्रवेश। मनोहर दरवाजे के बाहर सड़क की ओर देखता है। }

वह ताँगा गया। डाक्टर साहब पकड़े हुए हैं। घोड़ा खूब दौड़ रहा है। सरपट...सरपट...

जगई : जाते हो बाबूजी के यहाँ...या सरपट करते रहोगे ?

मनोहर : (घूमकर) बाबूजी के यहाँ ?

जगई : डाक्टर साहब नहीं कह गए ?

मनोहर : (सोचकर) क्या कह गए ? क्या कह गए ? बता दो।

जगई : बता क्या दूँ ? न जाओ। चपत खाओगे तो याद पड़ेगा।

मनोहर : बताओ...जगई...हूँ।

जगई : अब कभी नहीं न मारोगे ?

मनोहर : नहीं...कभी...नहीं बता दो ?

जगई : बाबूजी से कोतवाली में जाकर कह दो कि डाक्टर साहब देवीजी को अस्पताल ले गए...आप भी जाइए जल्दी।

मनोहर : तुम जाकर कह दो...मैं भूल जाऊँगा ?

जगई : यहाँ रहोगे अकेले ?

मनोहर : हाँ रहूँगा...जाओ !

जगई : तुम डरोगे। यहाँ भूत आता है।

मनोहर : तुमको नहीं पकड़ेगा ?

जगई : मैं उससे लड़ाई करूँगा...और तुम, तुमको उठाकर चला जायगा।

मनोहर : अच्छा...क्या कहूँगा ?

जगई : बाबूजी से कहना कि डाक्टर साहब देवीजी को अस्पताल ले गए। उन्होंने जहर खा लिया है।

मनोहर : जहर क्या होता है जी !

जगई : जिसे मरना होता है खाकर मर जाता है।

मनोहर : देवीजी मर जाएँगी ? अच्छा होगा, माँ के पास चली जायँगी।

जगई : बाबूजी सुनेंगे तो मारेंगे।

मनोहर : क्यों ?

जगई : देवीजी का मरना वह नहीं चाहते। सुनेंगे तो मारेंगे।

मनोहर : हूँ...तब नहीं कहूँगा।

जगई : जाओ बाबू...जल्दी करो। अस्पताल भेजो उन्हें।

{मनोहर का प्रस्थान }

जहर खा गई। बाबूजी से झगड़ा हो गया इसीलिए जा रही थीं मर जाती तो अच्छा होता ! डाटने लगती हैं। मलकिन कितना मानती थीं। कभी कड़ा नहीं बोलती थीं। कहती थीं आदमी

का दिल दुखेगा। इनको तो दिन भर बाल झारना और बाँधना रहता है। उस पर रोब गाँठती हैं। लोग बाबूजी की शिकायत करते हैं। इनके साथ रहने से...

उमाशंकर : {नीचे से गम्भीर स्वर में} क्या हुआ?

मनोहर : डाक्टर साहब अस्पताल ले गये!

उमाशंकर : किसको?

मनोहर : देवीजी...जहर।

उमाशंकर : जहर...?

{ उमाशंकर और मनोहर का प्रवेश }

उमाशंकर : क्या हुआ रे?

जगई : (जल्दी से) अस्पताल जाइए अस्पताल। देवीजी जहर...{उनकी ओर देखने लगता है}

उमाशंकर : जहर खा गईं।

जगई : जी हाँ...डाक्टर साहब अस्पताल ले गये। यह चिट्ठी है। (स्लिप देता है)।

उमाशंकर : स्लिप लेते हैं...उनका हाथ काँपने लगता है। वेग से दूसरे कमरे में जाते हैं...फिर लौटकर दौड़ते हुए सीढ़ियों से उतर जाते हैं...{जगई और मनोहर एक दूसरे की ओर देखने लग जाते हैं।}

मनोहर : (कुछ सोचकर) माँ को अस्पताल नहीं ले गये।

जगई : उन्होंने जहर नहीं खाया था न? वह बीमार ही थीं।

मनोहर : बीमार थीं? मैं बीमार नहीं पड़ूँगा जगई?

जगई : चुप रहो! कोई आता है! नीचे आहट होती है।

{ जगई का प्रस्थान }

{मनोहर इधर-उधर कमरे में घूमता है, मुँह बनाकर सीटी बजाता है। बेनीमाधव और काशीनाथ का बातें करते हुए प्रवेश }

बेनीमाधव : बड़ा बुरा हुआ।

काशीनाथ : बुरा क्या हुआ वकील साहब...वह मर जायगी तो यह आदमी हो जाएगा। देखा आपने, मैं रोकता ही रह गया...लेकिन रजिस्ट्री कराने पर तुल गया। मैंने भी सोचा कि जब इसकी यही नियत है, तो मैं क्यों रोकूँ। कहिये न आप ही, कोई दूसरा आदमी मेरा इतना सामना कर सकता है?

बेनीमाधव : बड़ी बदनामी होगी...{दोनों कुर्सी पर बैठते हैं। मनोहर दूसरे कमरे में जाकर छिप रहता है}

काशीनाथ : अब तक बदनामी नहीं हुई?

बेनीमाधव : कलक्टर रंज है, मौका पाने पर छोड़ेगा नहीं...और अब इससे बढ़कर दूसरा मौका क्या होगा?

काशीनाथ : अगर वह उसे बेकसूर कहकर सभी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ले?

बेनीमाधव : दुनिया अपने को बचाती है...दूसरे का ख्याल नहीं करती। देखिए वह कह देगी कि उन्होंने जहर दिया।

काशीनाथ : इसमें शक नहीं कि वह बदचलन औरत है। लेकिन वह अपना ख्याल नहीं करेगी उसी को बचाएगी। देखा नहीं आपने, उस दिन जब मैं उमाशंकर से बातें कर रहा था...उसकी आँखों से चिनगारी निकल रही थी। मुझे तो मालूम हो रहा है, वह उसे सचमुच मुहब्बत करती है।

बेनीमाधव : लेकिन यह तो और बुरा है।

काशीनाथ : मैं भी इसे भला नहीं कहता...लेकिन बात कुछ ऐसी है। इस वक्त तो अगर वह मर जाय तो मैं सत्यनारायण की कथा कहलाऊँगा।

बेनीमाधव : (मुस्कराकर) सचमुच ?

काशीनाथ : जी हाँ ! उसने मेरा घर बिगाड़ दिया।

बेनीमाधव : उसने आपका घर नहीं बिगाड़ा।

काशीनाथ : (आश्चर्य से) क्या कहते हैं ?

बेनीमाधव : यही कि उसने आपका घर नहीं बिगाड़ा।

काशीनाथ : तब किसने बिगाड़ा ?

बेनीमाधव : बिगड़ने को था...बिगड़ गया।

काशीनाथ : देखिए साहब ! मैं नसीब नहीं मानता। जो जैसा काम करता है, फल पाता है...कलक्टर साहब यही कहते है।

बेनीमाधव : (हँसकर) जी हाँ, आप तो वही न कहते हैं...जो कलक्टर साहब कहते हैं।

काशीनाथ : क्या बुरा करता हूँ...इसीलिए तो वे मुझे इतना मानते हैं। कोई दूसरा जमींदार है। इस जिले में जिसकी वह इतनी इज्जत करते हों ! उनकी बात तो दूसरी ही है...मेम साहब भी बराबर हाथ मिलाती है और अपने बराबर बैठने के लिए कुर्सी देती हैं। आपसे सच कहता हूँ, अगर मेरा लिहाज नहीं करते तो कलक्टर साहब उमाशंकर को फिर जेल भेज देते। एक दिन मेम साहब यही कह रही थीं।

बेनीमाधव : कभी मेम साहब ने आपको चाय पिलाया है या नहीं ! सच कहिएगा।

काशीनाथ : {उसकी ओर देखकर मुस्कराते हैं} आप भी दिल्लगी करते हैं।

बेनीमाधव : जी नहीं, बिल्कुल नहीं। मेम साहब जिसकी इज्जत करती हैं, उसे चाय जरूर पिलाती हैं।

काशीनाथ : (सहम कर) तब आपसे क्या झूठ बोलूँ...मुझे कई बार उन्होंने चाय...{चुप हो जाते हैं}

बेनीमाधव : हाँ...हाँ...कहिए...इसमें हर्ज क्या है ! चाय में क्या दोष है ? रेलगाड़ी में बैठकर पूड़ी खाने से बुरा तो है नहीं। उसमें कौन नहीं बैठा रहता... मुसलमान या भंगी।

काशीनाथ : {कुछ सोचते हुए वकील साहब का हाथ पकड़ लेते हैं} आर्यसमाजी सच कहते हैं--छुआछूत में कोई दोष नहीं है...सफाई होनी चाहिए। परसाल मैंने मेम साहब को डाली दी थी...बड़े दिन में, एक हजार रुपया खर्च हुआ था...आठ सौ रुपये की तो अँगूठी थी। रुपया है किसलिए ? इज्जत के लिए तो मैं अपनी देह बेच दूँगा।

बेनीमाधव : जी हाँ, सच है। {कुछ सोचकर} देखिए तकदीर। आज मैं सेठ जी के लिए कोशिश करता ही रह गया, लेकिन मेरे मुअक्किल भी बहक कर इन्हें वोट दे आए। कहते थे सब, गाँधी बाबा के चेला हैं।

काशीनाथ : आपने नहीं कहा कि एक बदचलन औरत अपने साथ लिये हैं ? कहना चाहिए था।

बेनीमाधव : मैंने कहा...लेकिन सुनता कौन ? गाँधी का जादू ऐसा चल रहा है कि जिसने गांधी टोपी लगाई...बस वह गाँधी बना।

काशीनाथ : कलक्टर साहब भी कह रहे थे कि गांधी बड़ा अच्छा आदमी है।

बेनीमाधव : लेकिन उमाशंकर तो उन्हें देवता समझते हैं...कहते हैं कि वह भगवान के अवतार हैं।
काशीनाथ : भगवान का अवतार, बनिया ?
बेनीमाधव : जी हाँ, कहते हैं।
काशीनाथ : जाने दीजिए, कुबंस हे। मैं तो उसकी ओर देखना नहीं चाहता। वह तो वह ...देखि उसके मनोहर को, गाड़ी से निकलकर भाग आया।
मनोहर : {दूसरे कमरे से निकल कर} भाग आया...तो क्या ? अपने तो गद्देवाली गाड़ी में बैठे और मुझे...
काशीनाथ : गद्देवाली गाड़ी में बैठोगे ? खाने को नही मिलेगा।
मनोहर : नहीं मिलेगा तो अनाथालय में चला जाऊँगा।
काशीनाथ : अनाथालय में ? उठाकर फेंक दूँगा नीचे, मर जाओगे।
मनोहर : फेंक दो...मर जाऊँगा तो माँ के यहाँ चला जाऊँगा !
काशीनाथ : इधर चलो। (डाँटकर) चलो इधर।
मनोहर : नहीं...नहीं आऊँगा !
काशीनाथ : नहीं आओगे ?
मनोहर : कहता तो हूँ...नहीं।
बेनीमाधव : (मुस्कराकर) नेता का लड़का है। दिल्लगी नहीं है। डरेगा नहीं।
काशीनाथ : {कोध से मनोहर की ओर देखते हुए} घर नहीं चलेगा ?
मनोहर : नहीं।
काशीनाथ : कहाँ रहेगा ?
मनोहर : यहीं, बाबूजी के साथ।
काशीनाथ : लेकिन वह तो जेल जाएँगे ? चक्की पीसने तब...
{ मनोहर सन्न होकर उनकी ओर देखने लगता है }
बेनीमाधव : बोलो तब क्या होगा ?
मनोहर : कुछ नहीं।
काशीनाथ : तब किसके साथ रहोगे।
मनोहर : अकेले...
काशीनाथ : तब मेरे यहाँ चलना पड़ेगा, नहीं तो पेट पचक जायेगा।
मनोहर : तुम्हारे यहाँ तो नहीं जाऊँगा...चाहे मर जाऊँ ! तुमसे हाथ नहीं जोड़ूँगा... माँ ने कहा था किसी से हाथ न जोड़ना !
काशीनाथ : तुम्हारी माँ ने कहा था ?
मनोहर : हाँ...
काशीनाथ : कब...
मनोहर : रात को...जिसके दूसरे दिन {छत की ओर हाथ उठाकर} वहाँ मर गई और लोग उठा ले गए।
{ दरवाजे पर सिर रखकर दोनों हाथों में मुँह छिपा लेता है। }
काशीनाथ : वकील साहब ! वह मेरे घर की लक्ष्मी थी। चार वर्ष वहाँ रही...लेकिन कभी उसकी बोली नहीं सुन पड़ी। ऐसा नहीं हुआ कि किसी नौकर को कभी उसकी परछाई भी दीख पड़ी हो। अगर वहाँ रहती, तो मरती भी नहीं।
बेनीमाधव : लेकिन आपने आने क्यों दिया ?

काशीनाथ : न पूछिये क्या कहूँ। मैं आने नहीं देता था...उसने मेरे पास चिट्ठी लिखी कि मुझे जाने दीजिए। अपने आराम के लिए मैं उनसे अलग नहीं रहूँगी। उनकी सेवा करने से मेरा परलोक बनेगा। इस तरह की बहुत-सी बातें थीं, लक्ष्मी थी लक्ष्मी!

{ डाक्टर त्रिभुवननाथ का प्रवेश }

बेनीमाधव : क्या हाल है डाक्टर साहब ?

डाक्टर : ऐं! किसका ?

बेनीमाधव : तो छिपा रहे हैं। हम लोगों को मालूम है कि उन्होंने जहर खा लिया...

डाक्टर : हाँ तब ?

बेनीमाधव : पूछ रहा हूँ कि क्या हाल है ?

डाक्टर : (रूखे स्वर में) जहर निकल गया है...बच जाएँगी। मेरा काम था उनका प्राण बचाना। मुकदमा चलाना आपका काम है।

बेनीमाधव : हूँ...चलेगा मुकदमा जरूर, डाक्टर साहब!

डाक्टर : कल चलेगा न ? आज तो नहीं न चलता। आज हम लोगों को दूसरी चिन्ता है...मुकदमा की नहीं। चलेगा मुकदमा तो देखा जायेगा...

बेनीमाधव : लेकिन उन्होंने जहर क्यों खा लिया ?

डाक्टर : इसका जवाब मैं क्या दूँ ?...उनकी तबियत।

बेनीमाधव : उन्हे जहर मिला कहाँ ?

डाक्टर : यह सब जानकर आप क्या करेंगे .

बेनीमाधव : लेकिन मेरे जान लेने से आपका बिगड़ेगा क्या ?

डाक्टर : मेरा क्यों बने-बिगड़े साहब ? जहर उन्होंने खाया जानना चाहते हैं...आप...मुझसे क्या मतलब ?

बेनीमाधव : सिवा आपके उन्हें जहर मिला कहाँ होगा ?

डाक्टर : जी हाँ...मैंने ही दिया था। और कुछ ?

बेनीमाधव : इसका मतलब है कि आप भी जायेंगे ?

डाक्टर : हो सकता है। आप दूसरे की बात के लिए इतने परेशान क्यों हो रहे हैं ?

बेनीमाधव : इस बात का मेरे मित्र से सम्बन्ध है...इसलिए...

डाक्टर : आज कोतवाली में मित्र के लिए वोट क्यों नहीं दिया ? वकील साहब! मित्रता दिल से होती...जबान से नहीं। जो बन पड़े कर ले...बहुत कहने से क्या लाभ ?

काशीनाथ : जाने दीजिए साहब क्या जरूरत...फजूल की बकवाद! हम लोगों से कोई मतलब नहीं डाक्टर साहब! उनकी इज्जत बनाने के लिए तो आप यहाँ...

डाक्टर : आप पर तो इज्जत का भूत...इसीलिए जिस समय वह जेल में पड़े थे...आप कलक्टर की दावत कर रहे थे...जिसने उनको सजा दी थी।

काशीनाथ : {क्रोध से डाक्टर की ओर देखते हुए} आप होश में हैं या नहीं ?

डाक्टर : आप जो समझें। लेकिन सच तो यह है कि आज जिस घड़ी आपने उनकी जायदाद की रजिस्ट्री अपने नाम से...उसी वक्त से मैं होश में नहीं हूँ। आप उनके सगे चाचा हैं और आपका काम यह ?

{पर्दा गिरता है। }

तीसरा अंक

{ रात। सब ओर सन्नाटा। वही कमरा। मेज और कुर्सियाँ निकाल दी गई हैं, बाहर छत पर। कमरे के बीचों-बीच, मसहरी के भीतर चारपाई पर आशा सो रही है। उसके पैताने थोड़ी दूर हटकर स्टूल पर मोमबत्ती जल रही है, बाहर छत पर, कुर्सी पर उमाशंकर बैठे हैं, उनके पास इधर-उधर कुर्सियों पर कागज पड़े हैं। उनके सामने कुछ दूर पर लालटेन जल रही है, जिसकी तीखी रोशनी उनके मुँह पर पड़ रही है। लेकिन लालटेन नहीं दीख पड़ती। बाएँ हाथ की केहुनी कुर्सी की बाँह पर टेक कर हथेली पर सिर और दायाँ हाथ सीधा कुर्सी की दूसरी बाँह पर पड़ा है बाएँ हाथ की उँगलियाँ बालों के भीतर घुस गई हैं। }

{ तेजी से जगई का प्रवेश }

उमाशंकर : {उसकी ओर देखकर} धीरे से...जग जाएँगी।

जगई : {उनके नजदीक आकर} वकील साहब...

उमाशंकर : आए हैं ?

जगई : जी...हाँ...

उमाशंकर : (कुछ सोचकर) इस समय...? क्या बात ?

जगई : कहते हैं थोड़ी देर के लिए।

उमाशंकर : अच्छा भेजो...कह देना पैर दबाकर आयेंगे ?

{ जगई का प्रस्थान। }

उमाशंकर : {कुर्सी पर का कागज उठाकर धीरे-से धरती पर रखते हैं और उठकर कुर्सी ठीक करते हैं। }

{ बेनीमाधव का प्रवेश }

बेनीमाधव : {कुर्सी पर बैठते हुए} बधाई !

उमाशंकर : किस बात की सरकार ?

बेनीमाधव : दावत दो दावत...चेयरमैन चुन लिये गए, अब क्या ?

उमाशंकर : आपकी कृपा...

बेनीमाधव : मैंने तुम्हारे लिये इतनी कोशिश की पर तुम्हें शुबहा है कि...

उमाशंकर : (सिर हिलाकर) नहीं...नहीं...कौन कहता है...अगर आप लोग मेरे लिये कोशिश नहीं करेंगे...तो कौन...?

बेनीमाधव : मैंने तो बड़ी कोशिशें कीं, यों अगर...

उमाशंकर : (हाथ उठाकर) धीरे से...{आशा की ओर इशारा करते हैं।}

बेनीमाधव : मैं कहता था...तुम फजूल के लिये परेशान होगे उनके साथ...यों तो बदनामी थी ही...अब...और

उमाशंकर : उस विषय की बात न करें। बहुत कहा-सुना गया उस बारे में...उसे फिर उठाना...नहीं...नहीं बदनामी होती है तो हो।

बेनीमाधव : जिनको तुम्हारी भलाई का ख्याल होगा...जरूर कहेंगे। मैं तो कहता ही रहूँगा, क्योंकि...मुझे...तुम्हारी भलाई...

उमाशंकर : लेकिन अब मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। कृपा कर इस विषय में अब आप लोग चुप रहें।

बेनीमाधव : (कुछ सोचकर) तब...नहीं कहूँगा। पर इन्होंने जहर क्यों खा लिया ?

उमाशंकर : फिर वही बात। उस विषय में कुछ नहीं...।

बेनीमाधव : लेकिन समाज में इस तरह...

उमाशंकर : मैं कई बार कह चुका हूँ...समाज की चिंता आप न करें। वह ऐसा ही...सदैव से है। वही मनुष्य...वही उसका दिल और दिमाग...बुराई...भलाई सब ऐसी ही। और फिर मैं...अपने साथ प्रयोग कर रहा हूँ...समाज को छोड़ देना मुझे स्वीकार है...लेकिन उनका नहीं। भेंड़ की तरह आँख मूँदकर बराबर सीधे चलते जाना...मुझे यह भी पसन्द नहीं है। मैं तो इन दिनों अपने जीवन की प्रयोगशाला में बैठा हूँ...बाहर क्या हो रहा है...सुनना या देखना नहीं चाहता।

बेनीमाधव : लेकिन लेबोरेटरी से भी बाहर निकाला जाता है...

उमाशंकर : ठीक है...लेकिन वह लेबोरेटरी अपने खून-माँस की या अपने शरीर की नहीं होती...इस लेबोरेटरी से निकलना...सहज नहीं।

बेनीमाधव : हूँ...पर जो इसमें हानि हो...

उमाशंकर : हानि तो होगी ही...पर बिना उसके प्रयोग भी तो पूरा नहीं होगा। बोतल की शराब न जला कर मैं अपने हृदय की शराब जला रहा हूँ...वह प्रयोग जिस दिन पूरा होगा...वकील साहब {उत्साह से} उस दिन मैं सच्चा मनुष्य हूँगा।

बेनीमाधव : अच्छी बात है। बनो सच्चा मनुष्य !

उमाशंकर : आप मेरी चिन्ता न करें। मैं अपना रास्ता जानता हूँ...वकालत खाने के बाहर कोई रास्ता आप...नहीं जानते। मैं अपना रास्ता स्वयं निकला रहा हूँ...सम्भव है ठोकर लगे...कहीं ऊबड़-खाबड़ में गिर भी पड़ू...पर जो रास्ता मालूम हो जायगा...तो सारा परिश्रम...

बेनीमाधव : अच्छा जाते हो...(हाथ उठाकर) यह बँगले के सामने की सड़क

उमाशंकर : क्यों...?

बेनीमाधव : अब भी...चेयरमैन होकर भी नहीं...। हम लोगों को यहाँ आने में कितनी झंझट होती है।

उमाशंकर : {उनकी ओर देखकर} चेयरमैन इसीलिये हुआ जाता है कि सबसे पहले अपने बँगले के सामने की सड़क मरम्मत करा दें। कैसे आप लोग यह सब सोचते हैं ?

बेनीमाधव : हम लोग दुनिया के मामूली आदमी हैं, समझते हैं, पहले पास से काम शुरू करना चाहिए।

उमाशंकर : मैं तो पहले इस बँगले के पीछे जो गली है, उसकी मरम्मत कराऊँगा।

बेनीमाधव : यह...जिसके दोनों औय चमार बँसफोर बसे हैं।

उमाशंकर : हाँ, बरसात में बेचारे को बड़ी हाय-हाय होती है। घुटने तक कीचड़ हो जाता है। शायद जबसे ये सब यहाँ बसे होंगे कभी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने इस पर एक खाँची मिट्टी भी नहीं डाली होगी। बोर्ड के शानदार मेम्बरों ने कभी इसका विचार ही नहीं किया।

बेनीमाधव : तब तो उनका दिमाग और आसमान पर चढ़ जाएगा। यों तो बरसात में साईस गुड़सवार में सोते भी हैं...तब तो...

उमाशंकर : अब आप सोइएगा। अपना काम...

बेनीमाधव : जी हाँ, हम लोग घास करेंगे...लीद फेकेंगे...क्यों यही न ?

उमाशंकर : तो इसमें हर्ज क्या है ? टाँगे पर चलेंगे आप और...

बेनीमाध : लीद फेंकेगा कौन ? कह डालो ! लोगों के स्वराज्य में लोगों की इज्जत तो रहेगी नहीं...यह तो मालूम...बात है !

उमाशंकर : आप लोग इज्जत का ठीक मतलब नहीं समझते।

बेनीमाधवं : कुछं सुनूँ भी तुमने क्या समझा है ?

उमाशंकर : मेरी समाज में तो असली मान मनुष्य का मान करने में है.. किसी को उसके मन के विरुद्ध दबाकर उससे वह काम लेना जो अपने नहीं कर सकते...

बेनीमाधव : हुजूर तनखाह दी जाती है, मुफ्त नहीं।

उमाशंकर : इसीलिए साम्यवाद का तूफान उमड़ा चला आ रहा है। आप लोगों को अभी नहीं समझ में आता, किसी दिन रूस की हालत होगी...तब कहा जाएगा...गरीबों ने जुल्म किया, लूट लिया...फूँक दिया...मार डाला। वह नौबत क्यों आने पाए, आप लोग पहले ही सम्हल जाइए।

बेनीमाधव : अब वह बन्दूक का लाइसेंस जल्दी मिल जाता है, कोई हर्ज नहीं। मैं तो नहीं... ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी--गोसाईं जी ने समझकर लिखा था। मैं तो यही समझता हूँ ठीक है इनके साथ मेहरबानी किये नहीं कि ये सिर चढ़े।

उमाशंकर : बन्दूक का लाइसेंस वहाँ भी था (कुछ सोचकर) वकील साहब ! मनुष्य बनना सीखिए।

बेनीमाधव : क्षमा कीजिए। मैं उपदेश नहीं चाहता। इसीलिए यहाँ के किसी भी प्रतिष्ठित आदमी ने आपको वोट नहीं दिया। सबको मालूम है कि आप अमीरों के लिए कुछ नहीं करेंगे।

उमाशंकर : अमीरों के लिए बहुत हो चुका है...अब कुछ गरीबों के लिए होना चाहिए। मुझे इसकी इच्छा ही क्यों हुई ? केवल उन्हीं के लिए। केवल गरीबों के लिए। उनकी हालत जब तक सुधारी नहीं जा सकती ... जब तक देश...देश के सर्वस्व वहीं है...उन्हीं से देश है!

बेनीमाधव : इसका मतलब यह है कि जो कहीं दुर्भाग्य से आप स्वतन्त्र भारत के नायक चुने जायँ तो आप अमीरों को निकाल बाहर करेंगे।

उमाशंकर : देखिए...इधर...स्वतन्त्र भारत अभी स्वप्न है। मामूली बात में इतने आगे बढ़ जाना...यहाँ अमीरों के निकाल देने का सवाल नहीं...गरीबों के बसाने का सवाल है। इतने बड़े संसार में उनके लिए कहीं आशा है या नहीं। देखना यह है।

बेनीमाधव : मेरी समझ में तो नहीं है...वे इस लायक नहीं...पशुओं का गिरोह

उमाशंकर : मेरी समझ में तो है। उन्हें पशु बनाया किसने ?

बेनीमाधव : (रूखे स्वर में) किसने...?

उमाशंकर : हम लोगों ने...हम लोग जो अपने को सभ्य, शिक्षित और प्रतिष्ठित कहते हैं। {कुछ सोचने लगते हैं}

बेनीमाधव : {उनके मुँह की ओर देखकर} मुझे ऐसी आशा नहीं थी।

उमाशंकर : (चौंककर) एँ कैसी आशा थी?

बेनीमाधव : यही कि आपसे हम लोगों की हानि होगी।

उमाशंकर : ऐसी आशा तो मुझे भी नहीं है कि आप लोगों की हानि होगी।

बेनीमाधव : तुम कह क्या रहे हो समझ में नहीं आता।

उमाशंकर : क्या ?

बेनीमाधव : तुम समझो...हम लोगों के विरोध में तुम इन गँवारों को भड़काओगे {थोड़ी देर रुक कर} वे हमें धक्का देते चलेंगे। बात-बात में जवाब देंगे तुम...तुम यह करोगे ? तुम्हें वोट देकर या तुम्हारे लिए कोशिश कर मैंने..। {चुप हो जाते हैं}

उमाशंकर : भूल की...शायद यह कहना चाहते थे। लेकिन मुझे मालूम है, न तो आपने मेरे लिए कोई कोशिश की और न मुझे अपनी वोट ही दी। इसका उलाहना देना मैं नहीं चाहता था पर विवश होकर इसका दु:ख भी नहीं है। मैं जानता हूँ, आप लोगों का मतलब मुझसे नहीं निकलेगा। इसीलिए जो आप लोग मुझे वोट न दें, तो कोई बुराई नहीं। हम लोग अपने सिद्धान्त के लिए लड़ना नहीं जानते। हर एक बात को व्यक्तिगत बनाकर बिगाड़ देते हैं । आपके जो सिद्धान्त हैं...वही आपके लड़कों के भी हो...आपकी स्त्री के हों...आपके मित्रों और सम्बन्धियों के भी हों। क्यों ? सब कोई विचारों में आपके दास क्यों हों ?

बेनीमाधव : इसलिए कि समाज की इसी में भलाई है।

उमाशंकर : बिल्कुल नहीं ...समाज में बुराई इसीलिए बढ़ रही है कि दस-पाँच गुमराह जो सोचते हैं कि उन्हीं का कहना और सोचना ठीक हो सकता है...सब जगह अपना ही सिक्का देखना चाहते हैं। औरों को न सोचने देते हैं, न कहने देते हैं। इसका नतीजा ? ज्यों-ज्यों लोगों का हक छीना जाता है...थोड़े आदमियों पर उसका बोझ पड़ता है। वे अब अपना अलग समाज बना लेते हैं। दुनियाँ की सभी अच्छी चीजें धन, दौलत, पद, मर्यादा सब प्रकार की सुविधाएँ--सुन्दर मकान, सुन्दर सड़कें, एक शब्द में {रुक कर} जो कुछ उपयोगी और शानदार सब उनके लिए और बचे हुए...मनुष्य...जैसे...आपने...कहा था... पशु...गँवार...असभ्य...नालायक...! {एकाएक खड़े होकर टहलने लगते हैं।}

बेनीमाधव : {उनकी ओर उपेक्ष की नजर से देखकर} दुनिया स्वर्ग नहीं होगा।

उमाशंकर : (पास आकर) इसीलिए नरक हो जाय ?

बेनीमाधव : नरक तो है ही।

उमाशंकर : समझने की बात है।

बेनीमाधव : देखता हूँ कैसे स्वर्ग बनाते हो ?

उमाशंकर : आप देख नहीं सकेंगे। आपकी आँखों ने अब तक जो देखा है...उससे आगे नहीं बढ़ सकेंगी। आप लोगों ने अपनी कड़ियों को फूलों से सजा दिया है...इसलिए कि सुन्दर दीख पड़ें। एक बार उन्हें तोड़ कर बाहर निकाल आइए, यहाँ खुले आसमान के नीचे...और तब देखिए अपनी ओर और उन गँवारों या पशुओं की ओर जिन्हें आप कहते हैं वही मनुष्य, वही हृदय, वही मस्तिष्क, वह जीवन...वही अभाव {उत्तेजित स्वर में} यहाँ आइए...बस देखिये...दुनिया स्वर्ग हो उठती है या नहीं।

बेनीमाधव : (कुछ सोचकर) नहीं...मैं यहाँ नहीं रह सकता...ऐसी बातें ओफ...सिर में चक्कर आने लगा (उठते हैं)।

उमाशंकर : {उनका हाथ पकड़ कर} चक्कर क्यों आने लगा ? अपने मतलब के लिए इतनी बेचैनी...मनुष्य होकर---{उनका हाथ हिलाकर} सब के भीतर ईश्वर है, किसी का रास्ता न रोको, मनुष्य बनो। तुम्हारा हृदय तो अच्छा है लेकिन संस्कार...

बेनीमाधव : जाने दो इस बात को। {आशा की ओर इशारा कर} जहर मिला कहाँ ?

उमाशंकर : फिर वही बात ? कितने महत्व की बातें हो रही थीं। बिगाड़ दिया...

बेनीमाधव : इसके बतलाने में क्या हर्ज है ?

उमाशंकर : उस विषय में मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता। {मनोहर का सीढ़ियों के ऊपर निकलना हाथ उठा कर} धीरे से !

बेनीमाधव : { पैर दबाकर उसके पास आता है और कुछ कहना चाहता। }

उमाशंकर : (हाथ उठाकर) चुप जाग जाएँगी।

बेनीमाधव : डाक्टर साहब तो कह रहे थे...उन्होंने जहर दिया था।

उमाशंकर : झूठ...नहीं हो सकता।

बेनीमाधव : आप कह रहे थे। आपके चाचा भी थे वही...सब के सामने ? अगर मुकदमा चला तो डाक्टर साहब फसेंगे।

उमाशंकर : मुकदमा आज नहीं चल रहा है ?

बेनीमाधव : नहीं...लेकिन...

उमाशंकर : लेकिन की बात नहीं है...आज उसकी बात मैं नहीं सुनूँगा। मुकदमा चलेगा...आप से राय मागूँगा तो कहिएगा, अभी नहीं आज तो मैं शान्ति से...

बेनीमाधव : आपको मालूम होना चाहिए...मैं सरकारी वकील हूँ...यह मामला मेरे हाथ में...

उमाशंकर : ठीक है, तब जिसे चाहिए...फाँसी दे दीजिएगा। इस धमकी का काम अभी नहीं है।

बेनीमाधव : कभी पड़ेगा !

उमाशंकर : जब पड़ेगा देखा जायगा। इस समय आप क्षमा करें।

बेनीमाधव : मैं तुम्हारी भलाई चाहता हूँ !

उमाशंकर : (पैर पटक कर) चुप रहिए...मैं अपनी भलाई नहीं चाहता। एक बात और है, आज से आप दोस्ती की बातें करने न आया करें। मैं बहुत हैरान...

बेनीमाधव : {कोध से देखते हुए} मेरा अपमान...इस तरह...मित्र होकर... अच्छा !

उमाशंकर : मित्र होकर नहीं...शत्रु होकर...क्योंकि मेरा अपनी भाषा में यह शब्द नहीं है। धीरे से जाओ।

{ बेनीमाधव का पैर पटकते हुए प्रस्थान }

उमाशंकर : {कुर्सी पर बैठकर} क्या है ? कहो

मोहन : मास्टर साहब आए है...

उमाशंकर : आए हैं ? नीचे हैं ?

मोहन : हाँ...

उमाशंकर : कोई और है ?

मोहन : मास्टर साहब और एक आदमी और...उस दिन जो आए थे ? मास्टर साहब के साथ।

उमाशंकर : मुरारीसिंह हेडमास्टर ! अच्छा चलो आ रहा हूँ।

{ मनोहर का प्रस्थान }

{कुछ देर तक सोच कर} मनुष्य की अहमन्यता...

{ खड़े होकर ऊपर देखने लगते हैं। चार बार इधर-उधर टहलते हैं। कुर्सी पकड़ कर खड़े होते हैं और बाँए हाथ की उँगलियों से कई बार अपना सिर ठोकते हैं फिर कमरे में आकर आशा की चारपाई के पास खड़े होकर उसकी ओर देखते हैं। धीरे-धीरे कई बार मसहरी हिलाते हैं। थोड़ी देर रुक कर...उसकी चारपाई के पास झुक कर कुछ आहट लेना चाहता हैं। आशा करवट बदलती है। उमाशंकर सीधे खड़े होते हैं। थोड़ी देर चुपचाप खड़े रहते हैं और फिर धीरे-धीरे नीचे चले जाते हैं। (थोड़ी देर सन्नाटा) आशा कई बार करवट बदलती है--चारपाई मरमरा उठती है। }

आशादेवी : जै शिव...जै शिव {चारपाई पर उठकर बैठती है। महसरी हटाकर बाहर निकालती है। उसके बाल इधर-उधर मुँह पर, कंधे पर, छाती पर और पीठ पर तितर-बितर, मुँह सूखा हुआ और पीला मालूम हो रहा है। बाहर छत की ओर जाना चाहती है, लेकिन दो पग चलने के बाद वहीं फर्श पर बैठ जाती है। }

{ मनोहर का प्रवेश }

मनोहर : (उसे देखकर) जग गई, तब तो मारेंगे...{पीछे लौटना चाहता है}

आशादेवी : {हाथ हिलाकर उसे बुलाती है। मनोहर चुपचाप खड़ा हो जाता है, उसके पास नहीं जाता} आओ...सुनो !

मनोहर : बाबूजी मारेंगे ?

आशादेवी : क्यों ?

मनोहर : कहेंगे जगा दिया।

आशादेवी : नहीं...मैं कह दूँगी...तुमने नहीं।

{ मनोहर उसके पास जाकर खड़ा होता है, आशा उसके कंधे पर हाथ रखती है }

मनोहर : कहो।

आशादेवी : कुछ नहीं...यहीं खड़े रहो।

मनोहर : माँ के पास नहीं जाओगी ?

आशादेवी : {उसके कंधे को ठोकते हुए} अभी नहीं...{उसके मुँह की ओर देखने लगती है। }

मनोहर : कहती तो थी जाने के लिये। जाने को कहो तो तुम्हें माँ कहूँगा।

आशादेवी : अब मैं तुम्हारी माँ नहीं हो सकती...मैं अब...उसके योग्य...नहीं।

मनोहर : अस्पताल क्यों गई ? नहीं जाती तो माँ के पास चली जाती न ?

आशादेवी : हाँ, तब तो चली जाती...पर...

मनोहर : फिर जहर खा लेना...अस्पताल न जाना ! मुझे भी जहर देना...मैं भी चलूँगा।

आशादेवी : तुम्हें ? हे भगवान (धीरे-धीरे उसकी देह पर हाथ फेरने लगती है सीढ़ी पर किसी के पैरों की ध्वनि होती है।

मनोहर : (चौंक कर) आ रहे हैं बाबूजी...आ रहे हैं...छोड़ो {छुड़ा कर भाग जाता है।}

डाक्टर : (सीढ़ी पर) मनोहर चलो।

मनोहर : नहीं--नहीं--नीचे--

{डाक्टर का प्रवेश। डाक्टर केवल चादर डाले }

डाक्टर : {आशा के पास जाकर} यहाँ बैठो--सुना था--सो रही हैं।

{आशा सिर नीचे किये चुपचाप बैठी रहती है। छत पर से दो कुर्सियाँ लाकर कमरे में रखते हुए} बैठिए। {आशा फिर भी नहीं उठती।} बैठिए, कुछ कहना है।

आशादेवी : {उसी तरह नीचे बैठी हुई} अब कुछ न कहिए।

डाक्टर : बस यही अन्तिम बार।

आशादेवी : अच्छा कहिए।

डाक्टर : {उसका हाथ पकड़ कर उठाते हुए} बैठिए यहाँ तब--

आशादेवी : {कुर्सी पर बैठकर} क्या कहेंगे अब ?

डाक्टर : सुनिये--आपने विष खाकर मेरी आत्मा को धोकर पवित्र कर दिया है। बहुत दिनों की बुराई निकल गई। अब मैं मनुष्य हूँ। पर मेरी मनुष्यता में अभी एक कमी है।

आशादेवी : वह क्या ?

डाक्टर : आपकी क्षमा--मुझे क्षमा कर दीजिए। मैंने आपके साथ--{उसका स्वर काँपने लगता है}

आशादेवी : (प्रसन्न होकर) सच्चे मन से कह रहे हैं--डाक्टर साहब!

डाक्टर : हाँ--जहाँ तक इस जीवन में सम्भव है। मैंने कितने बुरे काम किये, ओह! {फिर से उनका स्वर काँपने लगता है।}

आशादेवी : (कुछ सोचकर) पर अभी यह नहीं हो सकता। मैं अभी आपको क्षमा करने की--मुझे भी अधिकार नहीं कि आपको क्षमा कर सकूँ। मुझे भी मनुष्य बन लेने दीजिए।

डाक्टर : वह कब ?

आशादेवी : अभी--आज ही--इसी रात को। जो वे मुझे क्षमा कर दें तो--(कुछ सोच कर) तो मैं भी मनुष्य बन जाऊँ। डाक्टर साहब। वे मेरे ईश्वर हैं--देवता हैं--उनको पाने के लिए--लेकिन नहीं मैं उन्हें अपवित्र नहीं करूँगी।

डाक्टर : (एकाएक काँपकर) लेकिन वह कैसे हो सकेगा वह--

आशादेवी : मैं उनसे सब कह दूँगी...खोलकर...शब्द...शब्द

डाक्टर : ऐ सब कह देंगी ? {वेग से साँस लेने लगते हैं}

आशादेवी : {उसका हाथ अपने हाथ में लेकर} घबड़ाइए मत। गंगा की तरह सब कुछ धो देंगे। वही केवल...वही...और कोई यह दाग धो नहीं सकता।

डाक्टर : पर...(कुछ सोचकर) उनका विश्वास...कितना अधिक...नहीं नहीं, नहीं वह तो मेरा मरना होगा।

आशादेवी : तब...

डाक्टर : मैं भाग जाऊँगा...जहाँ फिर कभी उनके सामने न आ सकूँ। आज की रात नहीं... आज की रात नहीं...कल मैं नहीं जाऊँगा। {उसकी ओर देखते हुए} मेरी रक्षा कीजिए...कल ...कल...कल कह दीजिएगा। ओह! जब वे मेरी ओर देखेंगे। आज नहीं...उनकी आँखों से आग निकलेगी...मैं जलने लगूँगा। आज नहीं...आज नहीं... {स्वर के साथ ही साथ उसका सारा शरीर काँपने लगता है।}

आशादेवी : हाँ...हाँ...क्या कह रहे हैं? हम दोनों की मुक्ति हो नहीं सकती जब तक कि हमारा पाप उनके सामने खुल न जाय। डाक्टर साहब! वे देवता हैं...आपने उन्हें पहचाना नहीं।

डाक्टर : हो सकता है... शायद हैं भी। पर मैं उनके सामने खड़ा नहीं हो सकूँगा। मैं साहस नहीं कर सकता।

आशादेवी : तब तो अभी आप मनुष्य नहीं हुए। मनुष्य का हृदय इतना निर्जीव नहीं होता...जो अपना पाप न सँभाल सके।

डाक्टर : { कुर्सी पर झुक कर हाथों में अपना मुँह छिपा लेता है }

आशादेवी : {उसकी ओर देखती हुई} डाक्टर साहब।

{डाक्टर उसी तरह चुपचाप खड़ा रहता है।}

आशादेवी : देखिये भी इधर।

{डाक्टर फिर भी कोई उत्तर नहीं देता }

धन्य! {उसकी ओर ध्यान से देखने लगती है}

डाक्टर : {आशा की ओर देखते हुए} अभी नहीं...अभी मेरा हृदय इसके लिए तैयार नहीं है।

आशादेवी : {सिर हिलाती हुई} अभी तैयार नहीं है...तब आप इसी तरह नरक में पड़े रहेंगे! उस पाप को धोकर सदैव के लिए सिर ऊँचा क्यों नहीं कर लेते? घड़ी भर की पीड़ा और फिर मुक्ति...कितनी सुन्दर उसके लिए...उसके लिए... यह अधीरता?

डाक्टर : {विक्षिप्त होकर कमरे में टहलता है। बाहर छत पर जाता है। आशा उठकर खड़ी होती है, धीरे-धीरे चारपाई पर जाकर लेट जाती है। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहता है। }

{डाक्टर का प्रवेश }

डाक्टर : {आशा की चारपाई के पास पहुँच कर} तो मैं जा रहा हूँ...कल कोई नहीं जानेगा...मैं कहाँ रहूँगा। {जाना चाहता है}

आशादेवी : डाक्टर साहब!...एक बात और...सुनिए...सुनिए...नहीं लौटेंगे?

डाक्टर : {उसके पास आकर} क्या है। {रूखे स्वर में} मैं अब यहाँ ठहर नहीं सकता।

आशादेवी : मुझे छोड़कर चले जाएँगे।

डाक्टर : इसका मतलब?

आशादेवी : यह आप से हो सकेगा?

डाक्टर : मैं नहीं समझता।

आशादेवी : अपने हृदय से पूछिए।

डाक्टर : वह तो बेहोश है।

आशादेवी : वह बोल रहा है...आप सुन नहीं पाते।

डाक्टर : अच्छा यही सही...
आशादेवी : इतनी रुखाई ?
डाक्टर : आप चाहती क्या हैं ?
आशादेवी : मैं ?
डाक्टर : (रूखे स्वर में) जी हाँ आप।
आशादेवी : मैं चाहती हूँ कि हम दोनों पापी प्राणी...एक...साथ...
डाक्टर : मैं समझ नहीं रहा हूँ।
आशादेवी : {चारपाई से उतर कर खड़ी होती है} किस तरह समझाऊँ श्रीमान् ?
डाक्टर : मुझे क्या मालूम ?
आशादेवी : अच्छा तो सुनो (निस्संकोच) मैं चाहती हूँ कि जिस तरह हमारे पाप एक है उसी तरह हमारा जीवन भी एक हो जाय। तुमने कभी मुझसे कहा था कि मेरे लिए तुम पहले पुरुष हो। उस समय मैं तुमसे घृणा करती थी...आज मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ। तुम मेरे लिये पहले पुरुष हो...यह सच है। जब तुम मेरे लिए अन्तिम पुरुष भी हो। मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ...{उनका हाथ पकड़ कर} तुम मेरे प्रियतम...
डाक्टर : हूँ...
आशादेवी : क्या सोच रहे हो {उनके कंधे पर हाथ रखती है} बोलो ?
डाक्टर : सोच रहा हूँ...दुनिया वही है या नहीं...जो कल थी। आज से दो महीने पहले थी।
आशादेवी : नहीं...वह नहीं है...आज से दस मिनट पहले जो दुनिया थी, वह नहीं है।
डाक्टर : पर हम लोग साथ रहेंगे कैसे ? {कुछ सोचने लगता है}
आशादेवी : हम लोग विवाह करेंगे...तुम भी अविवाहित हो और मैं भी...
डाक्टर : लोग क्या कहेंगे ?
आशादेवी : हँसी उड़ाएँगे...बदनामी करेंगे।
डाक्टर : तब ?
आशादेवी : तब क्या ? कुछ नहीं। हमारा अपना जीवन रहेगा। कोई क्या कहता है... इसकी चिन्ता हम लोग नहीं करेंगे। हम लोग तो सचमुच बुरे हैं...कहने वाले तो उसको भी बुरा कहते हैं...जो बुराई जानते ही नहीं...जैसे शर्माजी को। मेरे लिए वे इतने बदनाम हुए किसको पता है कि आज तक उन्होंने मेरी परछाई भी नहीं छुई।
डाक्टर : सचमुच ?
आशादेवी : आश्चर्य क्या है ?...मैं पहले कह चुकी हूँ, वे देवता हैं। यदि वे मनुष्य होते...तब तो मैं इतने नीचे नहीं गिरती। मैं चाहती ही रह गई कि वह एक बार मेरी ओर देखकर मुस्करा दे...या एक बार मेरी कोई उँगली भी दबा दें। उन्होंने न मालूम कितनी बार मेरा हाथ पकड़ा होगा। मैं...काँप उठती थी लेकिन उन पर कोई असर नहीं जैसे पत्थर के हाथ में मेरा हाथ हो। इसीलिए वे देवता हैं।
डाक्टर : हूँ...ऐसा है? सचमुच...देवता हैं। {जैसा कुछ सुनकर} आ रहे हैं...मैं जा रहा हूँ।

{डाक्टर का वेग से प्रस्थान}

आशादेवी : {इधर-उधर बेचैन होकर टहलती है} कभी कुर्सी पकड़ कर खड़ी होती है, तो कभी दरवाजा। कभी दिवाल पर सिर टेकती है। कमरे के बीच में {कुर्सी के सहारे खड़ी होकर} मुक्ति ? {सिर हिलाकर} नहीं मृत्यु ?

{उमाशंकर का प्रवेश}

उमाशंकर : कैसी तबियत हैं ?

आशादेवी : (मुस्कराकर) सब आपकी कृपा...

उमाशंकर : {संदेह से उसकी ओर देखते हैं} गर्मी अधिक तो नहीं मालूम होती ?

आशादेवी : (मीठे स्वर में) जी नहीं। अब अच्छा है।

{डाक्टर और देवकीनन्दन का प्रवेश}

डाक्टर : तो आप सचमुच उस बेचारे को बरखास्त करेंगे ?

उमाशंकर : डाक्टर साहब ! मैं कोई बात झूठ-मूठ नहीं कहता। इसकी आदत मुझे नहीं है। मुरारीसिंह का काम है लड़कों को पढ़ाना। चुनाव में आन्दोलन करना नहीं। मैं जानता हूँ उन्होंने मेरे लिए बड़ी चेष्टा की। पर मैं इसके लिए पुरस्कार नहीं दूँगा।

देवकीनन्दन : इस बार क्षमा तो कर सकते हैं।

उमाशंकर : हाँ, जो वह मेरी अपनी बुराई हो। सिद्धान्त की बुराई मैं नहीं सह सकता !

डाक्टर : पर...

उमाशंकर : {रोक कर चुप रहिए। इस बारे में मैं और कुछ कहना सुनना नहीं चाहता। मैंने कह दिया। कल मैं उन्हें बरखास्त करूँगा। आप लोग जाइए। मैं बहुत थक गया हूँ। बोलने की तबियत नहीं चाहती।

{डाक्टर देवकीनन्दन का प्रस्थान}

आशादेवी : डाक्टर साहब थोड़ी देर नीचे ठहरिये। {उमाशंकर की ओर देख कर} मुझे भी कुछ कहना है !

उमाशंकर : अब आज नहीं कल...

आशादेवी : आज ही...

उमाशंकर : आज नहीं मैं...

आशादेवी : मैं अब रुक नहीं सकती।

उमाशंकर : {संदेह से उसकी ओर देखते हुए} अब तो क्षमा

आशादेवी : जी नहीं...बिल्कुल नहीं। मरी जा रही हूँ। उस बोझ को मैं आज हलका करूँगी। {गहरी साँस लेती है}

उमाशंकर : अच्छा...कहो।

आशादेवी : इस तरह नहीं। {उमाशंकर का हाथ पकड़कर} यहाँ...इस तरह...इस कुर्सी पर बैठो। मैं जो कह रही हूँ...वह ऐसी बात नहीं है...जिसे तुम खड़े-खड़े सम्हाल सको। {उन्हें कुर्सी के पास लाकर} बैठो। मेरे देवता...आज मैं तुम्हारी दुनियाँ उलट दूँगी।

उमाशंकर : {कुर्सी पर बैठते हुए} तुम्हें हो क्या गया ? पागल हो रही हो क्या ?

आशादेवी : बिल्कुल नहीं आज तो अभी होश में आ रही हूँ। तीन महीने के पागलपन के बाद।

उमाशंकर : कहो भी क्या है ?

आशादेवी : {कुर्सी पर बैठते हुए उनका हाथ अपने हाथ में लेकर} तैयार हो जाओ सुनने के लिए।

उमाशंकर : मालूम होता है... कुछ कहना नहीं है।

आशादेवी : मनोहर की माँ... कैसे मरी थी...? (रुक कर) जानते हो ?

उमाशंकर : दो वर्ष तपेदिक से बीमार थी...

आशादेवी : पर वह तपेदिक से मरी नहीं।

उमाशंकर : (सन्देह से) तब ?

आशादेवी : {उनकी ओर एकटक देखती हुई} मैंने... उसे... विष दिया था।

उमाशंकर : (उठते हुए) ऐं ?

आशादेवी : {उनका हाथ खींचती हुई} बैठ कर... बैठ कर सब सुन लो तब...

उमाशंकर : (बैठते हुए) विष दिया था ?

आशादेवी : हाँ उसी में का बचा विष मैंने कल खा लिया था...

उमाशंकर : तो वह तपेदिक से नहीं मरी ? {आशा की ओर ध्यान से देखने लगते हैं}

आशादेवी : अभी नहीं... अभी मुझे दण्ड न दो... सुन लो सब... मेरे पापों का दण्ड हो नहीं सकता।

उमाशंकर : पर विष दिया क्यों ?

आशादेवी : तुम्हारे लिए, मैं तुम्हें प्रेम करती थी !

उमाशंकर : इसीलिए उसे विष दिया ?

आशादेवी : हाँ, मैं चाहती थी... मेरे प्रेम में कोई साझीदारी न बने। मैंने अपना हृदय निकाल कर तुम्हारे चरणों में रख दिया। पर तुमने उसका मान नहीं किया। जिस समय मैं तुम्हारे प्रेम के लिए... तुम्हारी मुस्कराहट के लिए... तुम्हारे स्पर्श के लिए या स्त्री अपने पुरुष से... जो कुछ... चाहती है... उसके लिए मरी जा रही थी... उस समय तुम मेरा सम्मान करते थे... मेरी... प्रशंसा करते थे। मेरे सामने तुम उस तरह जाते थे... जैसे... लोग... अदालत में जाते हैं।

उमाशंकर : बस अब अधिक नहीं। (सिर हिलाते हैं)

आशादेवी : अभी बहुत। जो चाहो दण्ड दो... पर सब सुनकर। मैं अपने पाप का पूरा दण्ड चाहती हूँ। तुम सो जाते थे... और मैं रात भर इस करवट से उस करवट... सोचती थी, अब आते हो... अब आते हो... बिल्ली की आहट भी तुम्हारे पैरों की आहट मालूम होती थी... मेरा हृदय काँपने लगता था... शरीर काँपने लगता था... एक-एक रोएँ खड़े हो जाते थे...। सिर से पसीना चल पड़ता था। {उसका स्वर काँपने लगता है।}

उमाशंकर : बस... बस करो...

आशादेवी : नहीं पहले मुझे कह लेने दो। कोई रात ऐसी नहीं कि मैं तुम्हारी चारपाई के पास घंटों खड़ी न रही हूँ... तुम्हारे पैताने अपना सर रख देती... जब कभी तुम्हारा पैर मेरे मुँह पर पड़ जाता था... मैं समझती थी वरदान मिल गया। पूजा सफल हो गई। कभी-कभी तुम्हारे पैर की उँगलियों पर आँख रखकर

पलकों से उन्हें दबाती थी। {पलकों को दबाती है...आँखें बन्द हो जाती हैं।}

उमाशंकर : तो तुमने मेरे लिए उसे विष दे दिया। मेरे बच्चे को अनाथ कर दिया। उसकी तस्वीर लेकर रोता रहता है।

आशादेवी : हाँ...मैंने समझा उसके मर जाने पर तुम्हें पा सकूँगी। पर...{एकाएक फर्श पर बैठ कर उनके पैरों पर अपना सिर रख देती है।}

उमाशंकर : {उसके सिर पर हाथ रखकर} उठो मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ...आज से मेरे बच्चे की तुम्हीं माँ हो। उठो...{झुककर उसे उठाते हैं।}

आशादेवी : {दो पग पीछे हटकर} उस योग्य मैं अब नहीं हूँ...मैं उस योग्य होती...उसके बाद मैंने जो पाप किया...हाय!

उमाशंकर : (चौंक कर) उसके बाद जो पाप किया?

आशादेवी : हाँ...डाक्टर से मैंने जहर लिया था...इसलिए कि वे तुम से कह न दें...उसे छिपाने के लिए मैंने उन्हें...अपनी पवित्रता अपना शरीर...स्त्री का जो सबसे बड़ा भरोसा है...वही...अपना चरित्र दे दिया। हत्या से कहीं भयंकर पाप...मैंने...डाक्टर के साथ...{हाथों से मुँह छिपाकर धरती पर सिर टेक देती है।}

आशादेवी : ऐं...डाक्टर के साथ?

{तेजी से उठकर बाहर जाते हैं। लालटेन लेकर अपने कमरे में प्रवेश करते हैं...और उसी क्षण हाथ में पिस्तौल लेकर निकलते हैं।आशादेवी सहसा बीच में दरवाजेपर आकर खड़ी हो जाती है।}

उमाशंकर : हट जाओ...हट जाओ...मेरे साथ विश्वासघात।

आशादेवी : {छाती आगे की ओर बढ़ाती हुई} पहले मुझे मारो।

उमाशंकर : कह रहा हूँ...जाने दो...नहीं तो...

आशादेवी : मैं कह रही हूँ...पहले मुझे मारो। उसी बेचारे ने विश्वासघात किया है...मैंने नहीं? विश्वासघात का दण्ड हत्या है तो पहले मुझे क्यों नहीं मारते?

उमाशंकर : तुम्हें नहीं मारूँगा।

आशादेवी : मुझे नहीं मारोगे और उसे मारोगे, क्यों? भगवान! तुम मेरी ओर देखो तो...

उमाशंकर : {उसकी ओर देखते हुए} कहो।

आशादेवी : हत्या करोगे?

उमाशंकर : हाँ...

आशादेवी : पर हत्या करने से भी बदला नहीं निकलेगा। मैं अब पवित्र नहीं हो सकती...अब तो मैं सदैव के लिए...तुमसे अलग...

उमाशंकर : क्यों?

आशादेवी : तुम मेरे उपास्यदेव हो...तुम्हें छूने का भी अधिकार मुझे अब नहीं...और फिर मैं डाक्टर को प्रेम करने लगी हूँ। मेरे लिए वह पहले पुरुष...

उमाशंकर : ऐं {पिस्तौल दूर फेंक देते} तुम उसे प्रेम करती हो? उस पापी को, जिसने तुम्हारा सतीत्व...

आशादेवी : अभी मेरे साथ सतीत्व का सवाल नहीं था...मैं अविवाहित हूँ...

उमाशंकर : {कुर्सी पर बैठते हुए} हूँ--कुर्सी पर सिर झुकाकर ऊपर छत की ओर देखने लगते हैं।

आशादेवी : {उनके पास जाकर} तुम चाहो तो हम दोनों का पाप धो सकतेहो तुम पवित्र हो...गंगा से भी बढ़कर...क्षना करो...आशीर्वाद दो। हम दोनों के हृदय से पाप निकल जाय और हम लोग साथ-साथ...हम दोनों का जीवन...एक...

उमाशंकर : तुम्हारा मतलब क्या है ?

आशादेवी : मैं डाक्टर के साथ रहूँगी...

उमाशंकर : किस तरह ?

आशादेवी : उनकी स्त्री बनकर। हम दोनों विवाह करेंगे। हम दोनों पाप में एक हुए थे। वह पाप मिट नहीं सकता...जब तक कि हम दोनों जीवन में एक न हो जायँ...पाप में...पुण्य में, सब में साथी...

उमाशंकर : (उद्वेष से आशा!)

आशादेवी : {काँपते हुए स्वर में} कहो देव!

उमाशंकर : {क्षण भर उसकी ओर देखकर...उनका मुँह लाल हो उठता है। आँखों से चमक निकलने लगती है} परः...मैं भी तुम्हें प्रेम...

आशादेवी : हे ईश्वर कैसा था वह प्रेम भगवान...? कैसा था ? जिसमें एक बार भी छाती नहीं धड़की। एकबार भी रोमांच नहीं हुआ, एक बार भी आँखें नहीं भीगीं। {एक टक उमाशंकर की ओर देखने लगती है।}

उमाशंकर : उसी का दण्ड दे रही हो ?

आशादेवी : दण्ड ? {कुछ सोचकर} तुम्हें ? {उनका हाथ पकड़कर} नहीं...वह न सोचो।

उमाशंकर : तब क्या सोचूँ। {निराश हो उठते}

आशादेवी : तुम्हें दण्ड...मैंने अपने इस जीवन का नाश किया है। किसी बहुत बड़ी आशा पर...उसके लिए...

उमाशंकर : वह क्या है ?

आशादेवी : दूसरे जन्म में तुम्हें पाना।

उमाशंकर : इस जन्म में छोड़कर ?

आशादेवी : यही तो मेरा त्याग है--मैं अपने देवता को अपवित्र नहीं करूँगी।

{ उमाशंकर उठकर बाहर छत पर जाते हैं। चुपचाप खड़े होकर आकाश की ओर देखने लगते हैं। आशा वही कुर्सी पर बैठ जाती है। }

आशादेवी : तो मैं जाती हूँ...

उमाशंकर : कहाँ ?

आशादेवी : अपने नये घर...अपने असली घर।

उमाशंकर : {लौटकर} कहाँ है असली घर ?

आशादेवी : डाक्टर के घर में।...इस देव मन्दिर में अब रहना...

उमाशंकर : {उसकी ओर देखते हुए} तो मैं अकेले रहूँगा ?

आशादेवी : (प्रसन्न होकर) हाँ देवता का स्वभाव है अकेले रहना...गिरोह बाँधकर तो भूत रहते हैं। उठकर उमाशंकर के पैरों पर अपना सिर रख देती है। क्षण भर उसी

हालत में उमाशंकर झुककर उसके सिर पर हाथ रखना चाहते हैं, पर फिर हाथ खींचकर खड़े हो जाते हैं। आशा उठकर धीरे-धीरे सीढ़ी से नीचे उतर जाती है, उमाशंकर कई बार सिर हिलाते हैं, उनकी आँखें बंद हो जाती हैं।

{ मनोहर का प्रवेश }

उमाशंकर : {मनोहर को गोद में उठाकर उसका मुँह चूमते हुए} मेरे बच्चे... {उसे छाती से लगाकर} आह! तो यह मेरी मुक्ति...

{परदा गिरता है। }

समाप्त

राजयोग

पात्र

नरेन्द्र

शत्रुसूदन

रघुवंश

गजराज

चम्पा, सिपाही, नौकर आदि।

पहला अंक

[रतनपुर के राजकुमार शत्रुसूदनसिंह का बँगला। यह बँगला सिविल लाइन्स में है। इसके आस-पास बड़े-बड़े वकीलों, बैरिस्टरों, सरकारी नौकरों और नई रोशनी के रईसों के बँगले बने हैं। बँगला दुमंजिला; तूतिये से रँगी हुई दीवारें, पालिश से चमकते हुए सागौन के किवाड़, शीशे की खिड़कियाँ, सामने बगीचा और बगीचे के बीचो-बीच सुन्दर लॉन सब तरह से इनकी श्रीवृद्धि कर रहे हैं। मनुष्य की आकांक्षा-निवृत्ति के लिए जिन-जिन बाहरी चीजों की जरूरत होती है, वे सभी इस बँगले के साथ लगी है। सामने सिमेंट की बनी चिकनी और चौड़ी सड़क, ईंटों की झाँझदार चहारदीवारी। बँगले से निकलकर सड़क पर आने के लिए जो फाटक बना है, वह लॉन के ठीक सामने है और वहीं से बँगले की निचली तह का सबसे बड़ा कमरा किवाड़ खुले रहने पर साफ देख पड़ता है।

कुआर का महीना है। घाम और बादल साथ-ही-साथ चल रहे हैं। शाम को प्रायः चार बज रहा है। नीचे के बड़े कमरे के, जो सड़क के ठीक सामने है, तीन किवाड़ खोलकर कोई अधेड़ पुरुष दरवाजों के सामने बारी-बारी से खड़ा होकर पीतल की छड़ में लगे हुए रंगीन पर्दों को समेट रहा है। इसका चौड़ा और ऊँचा मस्तक, ऐंठी हुई लम्बी मूछें, सिर पर जयपुरी तर्ज का मुरेठा, गेहुएँ रंग के चेहरे में बड़ी-बड़ी सुर्ख आँखें--आज राणा प्रताप का जमाना नहीं--नहीं तो इसकी मजबूत मुट्ठी में खुली सिरोही लचकती होती। इसका नाम गजराजसिंह है। गजराजसिंह बँगले की सीढ़ी से नीचे उतरकर लॉन की ओर बढ़ता है। बगीचे में कई आदमी काम में लगे हैं। कोई पौधों की जड़ गोड़कर उसमें खाद डाल रहा है, कोई पानी डाल रहा है। भड़कीली पोशाक में कई सिपाही बन्दूक में संगीन लगाये घूम रहे हैं।

राजकुमार शत्रुसूदनसिंह का कमरे की बगल का दरवाजा खोलकर इस कमरे में प्रवेश। कमरे की सजावट अँगरेजी ढंग पर हुई है। फर्श की जगह ऊनी रंगीन कालीन बिछी हुई है। कमरे के बीच में छोटी तिपाई और उसके चारों ओर गद्देदार कुर्सियाँ पड़ी हैं। सामने की दीवार में खूटियों की कतार पर जानवरों के सिर और उनके नीचे भड़कदार बाजारू चित्र बने हैं। दीवाल के बीच में ठीक सामने घड़ी लगी है, उसमें चार बज रहा है। राजकुमार की अवस्था प्रायः तीस वर्ष की है। एकहरा, गोरा, लम्बा शरीर, नुकीली नाक, बड़े-बड़े कान, लम्बी और चमकीली आँखें लेकिन धँसी हुई। लम्बे काले बाल। राजकुमार अभी सोकर ऊपर से नीचे उतर रहे हैं, और इसलिए अस्त-व्यस्त हैं। खद्दर की कमीज जिसमें गले के नीचे छाती का कुछ हिस्सा खुला देख पड़ता है, खद्दर की धोती और मखमली चट्टी पहने हैं।]

शत्रुसूदनसिंह : गजराज! (कमरे के नीचे वाले दरवाजे पर होकर दायाँ हाथ अपने सिर पर फेरने लगते हैं)

गजराज : (घूमकर तेजी से उनकी ओर बढ़ता हुआ) हाँ... सरकार...

{ शत्रुसूदन गम्भीर होकर कुछ सोचने लगते हैं। गजराज पास जाकर उनकी ओर देखता रहता है। }

शत्रुसूदन : दीवान साहब नहीं आये न? (सिर हिलाते हैं)

गजराज : (पीछे की ओर देखकर) न सरकार.......

शत्रुसूदन : हाँ कहो, चुप क्यों हो गये?

गजराज : (सहमकर) क्या कहूँ मैं ?

शत्रुसूदन : क्यों ? तुम्हारी आँखें कह रही हैं कि तुम कुछ कहना चाहते हो।

गजराज : नहीं तो सरकार...कुछ नहीं...मैं क्या... (चुप हो जाता है)

शत्रुसूदन : (चिढ़कर) तुम्हारा स्वभाव भी दिन-प्रति-दिन बनता जा रहा है। तुम्हें भी मेरी नजर बचाने की आदत पड़ गई है। जिधर देखता हूँ, सन्देह... (गजराज की ओर देखकर) मनुष्य जो बात छिपाकर रखता है, वह विष से भी भयंकर और छुरी से भी तेज होती है। समझे ? मुझे तो ऐसी आशा नहीं थी कि मैं तुम्हारे लिए भी बोझ हो जाऊँगा।

गजराज : (भय के स्वर में) सरकार की शपथ...जाते वक्त मालिक से मेरी भेंट नहीं हुई।

शत्रुसूदन : मेरी कसम (मुस्कराकर) गजराज, 'मेरी कसम' तुम लोगों के लिए बड़ी आसान हो गई है।

गजराज : सरकार... (निराश और उद्विग्न होकर उनकी ओर देखता है।)

शत्रुसूदन : इस तरह क्यों देख रहे हो ? मैंने तुम्हारा कुछ छीन तो नहीं लिया ? (पीछे की ओर घूमकर और दीवार की घड़ी में देखकर) अभी नहीं आये ? दो घंटे से भी ज्यादा हो रहा है, आश्चर्य है !

गजराज : हुजूर से कहकर नहीं गये ?

शत्रुसूदन : तुम्हारे 'सरकार' और 'हुजूर' के मारे तो और भी नाकों दम हो गया है। बात-बात में सरकार और हुजूर...सीधे क्यों नहीं बोलते ? कभी सरकार और हुजूर न कहना। मुझे अच्छा नहीं लगता।

गजराज : अपने अन्नदाता को...

शत्रुसूदन : अजी कौन किसका अन्नदाता है ? संसार स्वार्थ की धुरी पर घूम रहा है। मैं अपना काम स्वयं न कर तुमसे कराता हूँ। तुमसे सेवा लेकर अन्नदाता नहीं कहा जा सकता। वह तो तुम्हारी मिहनत, तुम्हारी मजदूरी है और तुम वह कहीं भी पा सकते हो।

गजराज : मालिक गये कब ?

शत्रुसूदन : फिर वही गलती। मनुष्य का मालिक और कोई नहीं हो सकता। वह तो स्वयं अपना मालिक होता है। मालिक नहीं, उन्हें दीवान साहब और मुझे राजा साहब कहा करो। हुजूर और सरकार कहना मत। हाँ, क्या पूछा ? ऐं दीवान साहब ...यही न ?

शत्रुसूदन : ऊपर सामनेवाले कमरे में बातें कर रहे थे। (दो कदम पीछे हटकर आरामकुर्सी पर बैठते हुए) इतने में ही (सड़क के किनारे फाटक की ओर हाथ उठाकर) यहाँ फाटक पर कोई आदमी आकर खड़ा हो गया। उसकी ओर देखकर कहने लगे,--कौन है...कौन है ?

{गजराज आगे बढ़कर किवाड़ पकड़कर खड़ा होता है। }

...जब तक मैं उधर देखूँ, पागल की तरह हाँफते हुए नीचे की ओर दौड़ पड़े...बूढ़े आदमी... (सिर पर हाथ रखकर) दरवाजे की चोट लगी ; सिर थामकर बैठ गये। मैं उठकर उनकी ओर बढ़ा, लेकिन वे उठकर तेजी से सीढ़ी के नीचे उतर गये। पुकारता ही रह गया, लेकिन सुने कौन ? जैसे आँधी में उड़ते हुए फाटक पर पहुँच गये।...उसके बाद (कुछ सोचकर) पता नहीं, किधर निकल गये। हाथ-पैर में दम तो है नहीं। लोग इतने दिन तक जीते क्यों रहते हैं। (गम्भीर

होकर) मालूम होता है इनकी जगह अब मुझे किसी और को रखना पड़ेगा। इनसे तो अब काम...

गजराज : जी (भय और सन्देह से उनकी ओर देखता है)

शत्रुसूदन : तुमसे राय नहीं पूछता (उसकी और ध्यान से देखते हुए) और न तो मैं उन्हें आज ही अलग कर रहा हूँ। सोच रहा हूँ... हाँ... उनकी अवस्था क्या होगी ?

गजराज : आज ही पूछा था, बोले... अस्सी साल।

शत्रुसूदन : (विस्मय में) अस्सी साल ? ऐं ! अच्छा अब कहो, इतना बुड्ढा आदमी... कोई उत्तरदायित्व का काम सँभाल सकता है ? घबड़ा क्यों रहे हो ? विचार करो शायद गद्दी पर बैठे-ही-बैठे किसी दिन चल बसें, तब ? (सिर हिलाते हुए) मैं अब उन्हें आराम देना चाहता हूँ। इसमें सन्देह नहीं, उनका शरीर...

गजराज : बड़ी मजबूत काठी थी सरकार... वज्र की बनी थी। मेरी उम्र के जब थे, तब अपनी आँख से देखा था (गर्दन टेढ़ी कर) जंगल में खेदा पड़ता था। तमाशा देखने के लिए बड़े सरकार मचान पर बैठ जाते थे और (वे जैसे कुछ याद कर रहा हो) तलवार निकालकर, चाहे बाघ पाँच हाथ लम्बा हो या सात हाथ, तलवार के एक ही हाथ... बस एक ही हाथ में (अपनी बाँह घुमाता है जैसे तलवार चला रहा हो) कमर से काटकर दो टुकड़े कर देते थे। ऐसा सधा हाथ था कि पाँच बरस में तीस बाघ गिरा दिये। ऊपर चौकी पर जो खाल बिछी है... इन्हीं ने मारा था, जिस पर शतरंज की चौकी रखी है... बड़े सरकार उसी पर पूजा करते थे।

शत्रुसूदन : तुम्हारा मुँह खुलना चाहिए, फिर तो तुम सिंहासन-बत्तीसी की पुतली हो जाते हो। जिस पर शतरंज की चौकी बिछी है, उसी पर बड़े सरकार पूजा करते थे, यह सब तुमसे कौन पूछता है ? क्यों ? (कुछ सोचने की मुद्रा में) आज सिनेमा जाना था। (बायें हाथ से सिर के बाल ठीक करते हुए) नरेन्द्र के गायब हो जाने से इनका दिमाग बिगड़ गया। गया कहाँ ? इतनी खोज भी हुई। (गम्भीर होकर) शायद दुनिया को पार कर गया। इनके कोई दूसरा लड़का तो नहीं है न ?

गजराज : जी नहीं... पहली शादी से... हाँ पहली शादी से दो लड़के हुए थे। दोनों मर गये। दुलहिन भी मर गई। दूसरी शादी बड़े सरकार के बहुत कहने पर की। पचास बरस के बाद नरेन्द्र बाबू हुए थे और आज पाँच बरस से उनका पता नहीं। (उदास होकर) कहाँ चले गये ? होते तो अब तक पता लगता... मालिक कई दिन तक कोट के उत्तर नदी में खोजते रहे।

शत्रुसूदन : फिर तुमने मालिक कहा ?

गजराज : सरकार, आदत.......

शत्रुसूदन : अच्छा तो अब सरकार भी... बस हुजूर भी कह दो... तुम्हारी आदत पूरी हो जाय। (मुँह बनाकर) सरकार... हुजूर... बात-बात में...

गजराज : मैं कह रहा था, सरकार अगर उनकी ओर से आँख फेरेंगे तो वे मर जायेंगे।

शत्रुसूदन : लेकिन सरकार ! आप क्या समझते हैं वे कभी मरेंगे नहीं ? आदमी पैदा होते हैं मरने ही के लिए न ? और फिर वे तो सैकड़ा पर पहुँच भी गये। और मैं उन्हें अलग भी करूँगा तो उनके गुजारे का प्रबन्ध करके। रियासत में ऐसा रिवाज नहीं है, नहीं तो मैं तो पुराने नौकरों को पेन्शन देना पसन्द करता। (फाटक

की ओर देखकर) देखो…देखो…वह आ रहे हैं। मालूम होता है, अब गिरे ; पैर धरती पर सीधे नहीं पड़ते। बढ़ जाओ …आगे बढ़ जाओ। हाथ पकड़ लो आगे बढ़कर, नहीं तो गिर पड़ेंगे। देखो…देखो,—जल्दी जाओ। सँभाल लो, नहीं तो… (गजराज लॉन की बगल की सड़क से होकर आगे बढ़ता है। शत्रुसूदन बाहर निकलकर बँगले की बरसाती में उतर आता है। बूढ़े दीवान रघुवंशसिंह गजराज के कन्धे पर हाथ रखकर हाँफने लगते हैं। रघुवंशसिंह की सफेद मूँछ, सफेद दाढ़ी और सिर के सफेद बाल, पूरा चार हाथ लम्बा चम्पे के रंग का गोरा शरीर, राजपूती ढंग की शेरवानी, पाजामा, इस बुढ़ापे में लटकती हुई सिरोही, उस बीते हुए राजपूत-जीवन की याद दिलाता है, जिसकी समाधि पर टाड साहब के फूल चढ़े थे।)

गजराज : पीठ पर लाद लूँ, सरकार…

रघुवंश : (गजराज के कन्धे पर से हाथ खींचकर) इसी हाथ से (दायाँ हाथ ऊपर उठाकर) शेर का शिकार करता था गजराज ! मेरे लिए मौत नहीं है। (स्वर काँपने लगता है) नहीं तो यह नौबत न आती। जिसके दो बच्चे मर गये और तीसरे का आज पाँच वर्ष से पता नहीं है। क्या हुआ ? कहाँ गया ? आओ चलो। जैसा किया होगा, पा रहा हूँ। शिकायत किसकी करूँ ? और किस लिए ? शिकायत करने से ही अब क्या होगा ? (सिरोही की मूँठ पकड़कर) तबीअत चाहती है, इसे कलेजे में…फिर सोचता हूँ, दूसरे जन्म में क्या होगा ? (बँगले की ओर बढ़ते हैं। गजराज सिर नीचे कर उनके पीछे चलता है। रघुवंशसिंह बँगले की बरसाती के भीतर घुसकर बँगले के सीढ़ी पर बैठ जाते हैं।)

शत्रुसूदन : (उनके पास जाकर) चलें भीतर…

रघुवंश : (बायें हाथ से अपनी आँख बन्द कर और दायाँ हाथ हिलाते हुए) ठहरिए थोड़ी देर सुस्ता लूँ (हाँफते हुए तेजी से साँस लेने लगते हैं)

शत्रुसूदन : (उनके सिर की ओर ध्यान से देखते हुए) अरे दीवान साहब ! आप के सिर से तो खून निकल रहा है।

रघुवंश : (धीमे स्वर में) होगा।

गजराज : नजदीक आकर देखता है।

गजराज : (चौंककर) खून ही तो है। (शत्रुसूदन की ओर देखते हुए) पानी लाऊँ ?

शत्रुसूदन : जाते क्यों नहीं ? या इतने के लिए कोई प्रस्ताव पास करना होगा ?

{ गजराज का प्रस्थान }

रघुवंश : ऊपर दरवाजे से धक्का लग गया। कहाँ जा रहे हो गजराज ? छत्री खून से नहीं डरता। (शत्रुसूदन की ओर देखते हुए) बुरे जमाने में पैदा हुआ था। दिल खोलकर खून के साथ खेल नहीं सका। दिल की बात दिल ही में रह गई।

शत्रुसूदन : आपको तकलीफ हो रही है !

रघुवंश : (उनकी ओर देखते हुए) कोई वश भी तो नहीं है सरकार…

शत्रुसूदन : आपको तकलीफ हो रही है !

शत्रुसूदन : मैं चाहता हूँ कि आपके निर्वाह का प्रबन्ध कर आपको इस काम से छुट्टी दे दूँ।

रघुवंश : लेकिन अभी नरेन्द्र का पता तो कहीं नहीं लगा। (शत्रुसूदन की ओर उद्वेग से देखने लगता है) तब कैसे मुझे छुट्टी...

शत्रुसूदन : लेकिन नरेन्द्र से इससे क्या मतलब ?

रघुवंश : मेरे बाद दीवान होने का हक उसी का है।

शत्रुसूदन : जी नहीं। कोई भी योग्य आदमी दीवान हो सकता है।

रघुवंश : कोई भी दूसरा आदमी हो सकता है, दीवान ? न राजकुमार! तुमको मालूम होगा, यह गद्दी पुश्तैनी है।

शत्रुसूदन : जी नहीं। इस जमाने में कोई नौकरी पुश्तैनी नहीं होती। दुनिया अब बदल गई।

रघुवंश : (उत्तेजित होकर उठते हुए) तीन सौ वर्षों से यह गद्दी मेरे खानदान में है। मेरे पास फरमान है--महाराज जीतसिंह का, महाराज विक्रमसिंह का, महाराज महेन्द्रसिंह का और बड़े सरकार का। आप इसे तोड़ेंगे क्यों ?

शत्रुसूदन : मैं इसे चोरी करना समझता हूँ। मैं इसे जरूरी नहीं समझता।

रघुवंश : क्यों आप इसे जरूरी नहीं समझते ? मेरे परदादा सामन्त राव चन्दन सिंह महाराज जीतसिंह की जान बचाने में मारे गये थे और उसी की यादगार में यह गद्दी उनके वंशधरों को मिली। खुद महारज जीतसिंह ने पुश्तैनी फरमान दिया और उसके बाद...

शत्रुसूदन : (हाथ उठाकर) चुप रहिए, मैं इतिहास सुनना नहीं चाहता...जिसमें सिद्धान्त की बुराई है...किस्सा कहने से (कुछ सोचकर) जो नरेन्द्र अपने बूढ़े बाप का नहीं हुआ...जो यह नहीं सोचता, आप मर रहे हैं...या...वह रियासत की कौन-सी भलाई कर सकेगा। उसके भरोसे...

{रघुवंश उत्तेजना में काँपने लगते हैं। शत्रुसूदनसिंह उनकी ओर रूखी नजर से देखते हैं। गजराज का प्रवेश। गजराज उन दोनों को उस स्थिति में देखकर सहम उठता है। लौटकर जाना चाहता है। }

रघुवंश : गजराज, छोटे सरकार ने मुझे रियासत से निकाल दिया।

शत्रुसूदन : रियासत से नहीं...नौकरी से आपको अलग करना...

रघुवंश : नौकरी से अलग कर देने का मतलब है रियासत से निकाल देना। जिस गद्दी पर मेरे बाप, दादा, परदादा, साठ बरस मुझे भी...साठ बरस (सिर हिलाकर) साठ...नये अफसर आज़ आते हैं--कल जाते हैं।

शत्रुसूदन : आपके गुजारे का प्रबन्ध मैं कर दूँगा।

रघुवंश : मेरे गुजारे का प्रबन्ध...हूँ, तो मुझे भीख देंगे...मेरे बुढ़ापे पर रहम कर...हूँ, न हुआ वह जमाना नहीं...तो यह पच्चासी बरस का बुड्ढा तीन पहर के भीतर रतनपुर का राजा होता। (राजकुमार की ओर देखकर) समझते हो ? (सिर हिलाकर) नहीं...अच्छा, अगर नरेन्द्र मिल जाय ?

शत्रुसूदन : मिल जाने पर भी नहीं--मैं नरेन्द्र का विश्वास नहीं कर सकता। और पुश्तैनी नौकरी भी ठीक नहीं। मैं तो सिद्धान्त के लिए......

रघुवंश : अँगरेजी, संस्कृत तो मैंने पढ़ी नहीं। इसलिए शायद सिद्धान्त मैं न समझ सकूँ। थोड़ी फारसी मौलवी से पढ़ी थी।...नरेन्द्र तो पढ़े है। इलाहाबाद की अँगरेजी की सब पढ़ाई खतम कर चुका। बी० ए० पास करने के बाद दो वर्ष कानून पढ़ता रहा।

शत्रुसूदन : मैं भी नरेन्द्र की योग्यता को मानता हूँ...लेकिन अब मैं यह रिवाज तोड़ देना चाहता हूँ।

रघुवंश : तो मैं अब नरेन्द्र की कोई फिक्र न करूँ।

शत्रुसूदन : क्यों ? आपके लड़के हैं...आपके बुढ़ापे में......

रघुवंश : ओह, लड़का और बुढ़ापे में ?...मैं उसे खोजता था अपनी ड्योढ़ी के लिए...लेकिन जब वही चली गई तब उसकी जरूरत नहीं। किसी जंगल में...किसी पहाड़ में... (दोनों हाथों की हथेली ऊपर कर) अब तो जिन्दगी भी आ गई। अच्छा शत्रुसूदन ! तो अब मैं जाऊँ न ?

शत्रुसूदन : कहाँ ?

रघुवंश : किसी जगह, जहाँ आदमी न हों। जहाँ मेरा मुँह कोई न देख सके और मैं भी किसी को न देखूँ।

{ गर्दन झुकाकर ऊपर देखने लगता है। }

शत्रुसूदन : लेकिन मैं आपके गुजारे के लिए तो......

रघुवंश : (पैर पटककर) सावधान...गुजारे का नाम फिर नहीं। (तेजी से सिरोही खींचकर) यह...यह...यह...(सिर हिलाकर) मेरा गुजारा इससे होगा...इससे। मेरा गुजारा इससे होगा शत्रुसूदन ! (वहीं धरती पर बैठकर हाँफने लगता है।)

शत्रुसूदन : (रघुवंश की ओर क्रोध से देखते हुए) गजराज, देख रहे हो न ? इनका दिमाग कितना बिगड़ गया है। मैं अब इससे अधिक सहन नहीं कर सकता। हत्या के बल खेत खाना मेरे बरदाश्त के बाहर हो रहा है। बोलते क्यों नहीं गजराज ?

{ गजराज सिर नीचे कर चुपचाप खड़ा रहता है। }

रघुवंश : क्या करोगे ? मुझे जलील करोगे...कैद करोगे ? हाँ कैद करोगे...यही न...यही...न...बस और क्या ? लेकिन जो बात सच है...वह...वह मिटा नहीं सकोगे। ठाकुर बिहारी सिंह की लड़की से नरेन्द्र की शादी पक्की हो चुकी थी। दोनों कालेज में सुना था साथ ही पढ़ते थे...शायद बातचीत भी...प्रेम भी...। लेकिन तुम राजा थे...तुम्हारे हाथ में, तुम्हारी जीभ में ताकत थी...तुमने पहली रानी के जीते ही ठाकुर साहब की लड़की से शादी कर ली। नरेन्द्र मारे शर्म के, मारे रंज के, कहीं चला गया। तुम्हें उसका संदेह है। मेरी गद्दी इसलिए तुम उसे नहीं दे सकते। राजपूत और सब हो सकता है, लेकिन नमकहराम और विश्वासघाती। (हाँफते हुए) खैर...अच्छा...अच्छा (सिरोही म्यान में रखकर) अच्छा तो जा रहा हूँ...रतनपुर नहीं। दुनिया बहुत बड़ी है। साढ़े तीन हाथ धरती बहुत मिलेगी। अपनी रियासत जाकर सँभालो या छोड़ दो। कौन जानता है, शायद रियासत के हक के बारे में भी पुश्तैनी बात न चलती हो। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।

{ रघुवंशसिंह का प्रस्थान। गजराज भी बिना कुछ कहे-सुने उनके पीछे-पीछे चलता है। शत्रुसूदन लौटकर कमरे में आराम कुर्सी पर बैठते हैं, बँगले के फाटक के बाहर होकर रघुवंशसिंह ज्योंही सड़क पर पहुँचते हैं, गजराज बढ़कर हाथ पकड़ लेता है। }

रघुवंश : क्या है रे !

गजराज : आपके साथ......

रघुवंश : कहाँ......?

गजराज : जहाँ कहीं आप चलें...। आपके साथ जंगल में...पहाड़ पर।

रघुवंश : (गम्भीर होकर) मेरी तरह तुम भी नमकहरामी करोगे?

गजराज : हे भगवान!

रघुवंश : (जैसे होश में आकर) क्या कहा?

गजराज : आप नमकहरामी कर रहे हैं?

रघुवंश : और नहीं तो क्या? अपने राजा की मर्जी के खिलाफ रियासत छोड़कर जा रहा हूँ...नमकहरामी नहीं तो और क्या है? इसीलिए न कि जहाँ दीवान की गद्दी पर रहा, वहाँ किसी का मातहत बनकर नहीं रहूँगा। तीन सौ वर्षों तक मर्यादा की जो रस्सी हमारे वंश के गले में हार की तरह रही...वही अब पैरों में बेड़ी की तरह रहेगी। मैं इसे सहन नहीं कर सकता...इसीलिए भाग रहा हूँ...दूर...दूर, जहाँ कोई न जाने कि बूढ़ा दीवान रघुवंशसिंह क्या हुआ, कहाँ गया? (आवेश में स्वर के साथ-ही-साथ उनका सारा शरीर काँपने लगता है।)

गजराज : मैं भी यहाँ नहीं रहूँगा। चौबीस वर्ष का पाप, चाहे यह भले ही नमकहरामी कही जाय। मेरा पाप...उसका बोझ रोज बढ़ता जा रहा है। मैं अब उसे सँभाल नहीं सकता।

रघुवंश : दूर हट कुत्ते (उसे हाथ से पीछे ठेलते हुए) लड़की की तरह रो रहा है। किसलिए रे!...अपने राजा को छोड़कर मेरे लिए? मेरा मोह (सिरोही की मूठ पकड़कर) यह आज शत्रुसूदन के गले के पार हो गई होती...लेकिन मैंने सोचा, उसकी देह में महाराज जीतसिंह का खून है, जिसके लिए मेरे दादा की जान गई। किसी ने पेड़ लगाया और मैं काट दूँ...इसीलिए हाथ फड़कता था, लेकिन मन कहता था, नहीं...नहीं। हाँ कभी नहीं। ऐसा भी क्या? उसी को छोड़कर तू मेरे साथ चलेगा? बोल। बोल। (सिर हिलाकर) बोलता क्यों नहीं रे? तू भी अपने को क्षत्री कहता है। तुमसे अच्छे तो जंगल के भील...जो अपने राजा के लिए...

{ तेजी से आगे बढ़ जाता है। गजराज वहीं कुछ देर तक सन्न होकर खड़ा रहता है। इधर-उधर चारों ओर देखता है, जैसे कोई रास्ता नहीं मिलता। फिर धीरे-धीरे बँगले की ओर बढ़ता है। }

शत्रुसूदन : अभी नींद नहीं खुली? पाँच बज रहा है। सिनेमा चलना है।

{ बगल के कमरे के किवाड़ खोलकर शत्रुसूदन की स्त्री चम्पा का प्रवेश। चम्पा के वेश में सादगी, धानी रंग की सादी साड़ी, पैर में कामदार जयपुरी जूता और बाँये हाथ में रिस्टवाच। }

वाह! मालूम हो रहा है, सेनेट हाल में परीक्षा देने जा रही है... (मुस्कराकर) क्यों? आज नींद गहरी लगी?

चम्पा : जी नहीं। सो नहीं रही थी। यहीं खड़ी-खड़ी सुन रही थी। बूढ़े दीवान का क्या होगा?

शत्रुसूदन : होगा क्या? वे इतने बूढ़े हो गये कि उन पर रियासत का काम छोड़ना (गर्दन टेढ़ी कर चम्पा की ओर देखने लगता है)

चम्पा : आखिर किसी को रखना तो पड़ेगा न?

शत्रुसूदन : अभी मैंने इस विषय पर विचार नहीं किया...और न तो इस समय इस बारे में कुछ सोचना चाहता हूँ। एक ही दिन में रियासत में गदर नहीं मच रहा है कि मैं...

चम्पा : स्वयं चलकर क्यों नहीं देखते ?

शत्रुसूदन : तुम्हें इन सब बातों से मतलब ?...रियासत के बारे में व्यवस्था पर विचार करने का काम स्त्री का नहीं है। (उसकी ओर देखते हुए) तुम्हारा काम है मेरी कल्पना को रंग कर सहस्रमुखी बना देना। दिन-भर के काम से थक कर जब मैं तुम्हारे पास आऊँ, अपने शीतल स्पर्श से मेरी थकावट को मिटा देना। जब मैं ऊब उठूँ जीवन से...अपने प्रेम का अमृत पिलाकर मुझे अमर बना देना। तुम अपना काम करो और मैं अपना......

चम्पा : भ्रम और मिथ्या की भाषा छोड़कर यदि यों कहें कि मेरा काम है रात को आपकी सेज पर और दिन को (कुछ सोचकर) कठपुतली की तरह आपके इशारे पर...आपकी मर्जी पर अपने को छोड़ देना...अपने शरीर को...अपने हृदय को और अपनी आत्मा को...

{ उठकर जाना चाहती है। }

शत्रुसूदन : (उठकर उसका हाथ पकड़ते हुए) रूठ गई ? इस समय मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। तुमको इतना निठुर नहीं होना चाहिए। मेरा भी मनुष्य का हृदय है और वह भी दुःख से जल रहा है। अगर मैं समझता...तुम मेरी स्त्री हो।

चम्पा : (रुककर) लेकिन आप जो चाहते हैं--उपदेश से शायद वह पूरा भी नहीं हो सकता। सती स्त्री के बारे में शास्त्रों की व्यवस्था मैं खूब जानती हूँ। उससे अधिक उपदेश आप नहीं दें सकते। लेकिन यदि मैं उसके योग्य हूँ तब तो। यह तो जो आप देख रहे हैं--मेरा अपना भूत...

शत्रुसूदन : तुम्हारा भूत ?

चम्पा : जी हाँ--मेरा भूत। केवल मेरा भूत और कुछ नहीं। केवल हँस देने से सब कुछ भूल नहीं सकता।

शत्रुसूदन : अच्छा चलो सिनेमा देखने। (दीवार पर घड़ी की ओर देखता है।)

चम्पा : कालेज के दिनों में मुझे इसका रोग था...लेकिन अब तो तबीअत भर गई।

शत्रुसूदन : तुमने टाकीज नहीं देखी। बड़ी अच्छी तसवीरें आई हैं।

चम्पा : हाँ, विज्ञापन देखा है। 'सेंट-परसेंट नाचने-गाने-वाली तसवीर'। लेकिन जीवन सेंट-परसेंट नाच और गाना हो तब तो ? (सिर हिलाकर) गँवारों को भड़काने के लिए, उन्हें पागल करने के लिए, कला के नाम पर यह व्यभिचार चल रहा है। स्वाभाविक मनुष्य की बोली सुन लेने...समझ लेने के बाद तसवीरों की बोली में कोई रस नहीं रह जाता। मैं तो चाहती हूँ, कोई मुझे मनुष्य का हृदय, उसकी आत्मा, दिखला देता। उसकी गन्दगी और उसका तर्क तो बहुत देख चुकी। इन चीजों से तबीअत ऊब गई है।

शत्रुसूदन : (सोचने की मुद्रा में) अच्छा तो तुम अपने को सती स्त्री नहीं समझतीं ?

चम्पा : (रूखे स्वर में) मैं अपने को धोखा नहीं दूँगी। मैं अपना हृदय जानती हूँ--उसमें कितना विकार है। कभी...हाँ, कभी नहीं। मैं उस आसन की कल्पना करने की धृष्टता नहीं कर सकती।

शत्रुसूदन : तुम्हारे लिए मैं सब कुछ छोड़ कर यहाँ पड़ा हूँ...तुम जानती हो। इतने पर भी यदि तुम्हारा स्वभाव...

चम्पा : मेरे लिए ? (कई बार सिर हिलाकर) हूँ, मेरे लिए ? हर्गिज नहीं...अपने लिए। बड़ी रानी की झिड़की से डरकर...उनके सतीत्व के तेज से झुलसकर और उससे भी भयंकर...

शत्रुसूदन : वह क्या ?

चम्पा : वही नरेन्द्र के विरक्त होकर निकल जाने की कहानी। पाँच वर्ष हो गये, (गम्भीर होकर) पता नहीं। मरना-जीना कोई नहीं जानता, लेकिन सन्देह सब किसी को है कि उन्होंने आत्महत्या कर ली--नहीं तो क्या अब तक पता न चलता ? अगर आपने पिताजी पर दबाव डालकर मुझसे शादी न कर ली होती, तो बूढ़े रघुवंश की दुनिया न बिगड़ती। कहीं इसी आवेश में वे भी अपना जीवन न छोड़ बैठें।

शत्रुसूदन : तुम नरेन्द्र को अब भी प्यार करती हो ?

चम्पा : इसका उत्तर तो मैं न दूँगी।

शत्रुसूदन : अच्छा, अगर तुम्हें मुझमें और नरेन्द्र में--हम दोनों में किसी एक को जहर देना हो तो किसको जहर दोगी ?

चम्पा : (निस्संकोच स्वर में) नरेन्द्र को।

शत्रुसूदन : क्यों ?

चम्पा : क्योंकि ऐसी ही शास्त्र की व्यवस्था है।

शत्रुसूदन : अच्छा तो तुम शास्त्र की व्यवस्था भी मानती हो ?

चम्पा : मैं उसे तोड़ने की आवश्यकता नहीं समझती।

शत्रुसूदन : ग्रेजुएट होने पर भी तुम्हारा इसमें विश्वास है ?

चम्पा : ग्रेजुएट होने से कोई स्वर्ग की सीढ़ी नहीं मिल जाती। वही हृदय रहता है और उसके विकार भी वही...कभी-कभी तो बढ़ जाते हैं। बुराई कौशल हो उठती है।

शत्रुसूदन : शिक्षा से अन्धविश्वास मिट जाते हैं।

चम्पा : शिक्षा से परख भी आ जाती है। किसी बड़े सिद्धान्त की रक्षा में यदि व्यक्ति का सर्वनाश भी हो जाय, तो कोई बात नहीं। शास्त्रों की मर्यादा और मेरे मन में जहाँ-कहीं द्वन्द्व चलता है, मैं सदैव अपने हृदय को लात मारती हूँ।

{ गम्भीर होकर सोचने लगती है। }

शत्रुसूदन : (गम्भीर होकर) मालूम होता है, मैं भी कुछ सोचने लगूँगा।

चम्पा : लेकिन इससे आपका कोई उपकार नहीं होगा। सोचने के लिए आप बनाये नहीं गए थे। आप जितना ही सोचेंगे--संसार की विभीषिका आपके सामने और भयंकर होती जायगी। आप सँभाल नहीं सकेंगे। संसार में जो कुछ भी सुन्दर और उपयोगी है, सब आपके लिए है...इन चीजों का संचय करते चलिए। आपका जीवन इसीलिए है--केवल इसीलिए।

शत्रुसूदन : यही क्यों ?

चम्पा : इसलिए कि आप सहिष्णु नहीं हैं। आप संसार को केवल अपनी ही दृष्टि से देखते हैं। आपका ही मापदण्ड सही है--यह धारणा आप छोड़ नहीं सकते।

शत्रुसूदन : (विरक्त होकर) तो तुम मुझे 'आप' कहोगी ? 'तुम' नहीं क्यों ?

{उसकी ओर एकटक देखने लगता है }

चम्पा : स्त्री के लिए पति ईश्वर है। आप नहीं जानते ? सधवा स्त्री के लिए तीर्थ और व्रत शास्त्रों में वर्जित है। पति ईश्वर है...पति भगवान् है। मैं आपको ईश्वर,

भगवान्, जो कुछ है--सब। आप मेरे मुँह से 'तुम' सुनने के लिए क्यों इस तरह लालायित हैं ?

शत्रुसूदन : पता नहीं क्यों, मेरा हृदय चाहता है।

चम्पा : लेकिन हृदय जो कुछ चाहता है, सब अच्छा नहीं। मनुष्य का सबसे बड़ा नरक अगर कहीं है, तो बस यही हृदय है। इसकी चाह आज इस ओर है तो कल उस ओर और इसी में मनुष्य की सारी जिन्दगी बीत जाती है। वह अपनी सीमा से बाहर कभी देख नहीं सकता। उसका सारा जीवन अपना कारागार सजाने में बीत जाता है।

{शत्रुसूदन बायें हाथ से अपनी आँखें बन्द कर अरामकुर्सी पर बैठ जाता है। चम्पा उसके समीप जाकर खड़ी हो जाती है। }

चम्पा : (शत्रुसूदन के सिर पर हाथ रखकर) आप किस चिन्ता में पड़ गरे ? कहिए, क्या आज्ञा है ? मुझे सब स्वीकार है।

शत्रुसूदन : (उसी तरह आँखें बन्द किए) नहीं चम्पा...

{चम्पा थोड़ी देर तक चुपचाप खड़ी रहती है। कभी शत्रुसूदन की ओर देखती है तो कभी बँगले के बाहर लॉन की ओर-सड़क की ओर। गजराज सिर नीचा किये चुपचाप लॉन में बैठा है। }

चम्पा : (शत्रुसूदन के सिर पर हाथ रखकर घड़ी की ओर देखती है) छः बज रहा है। चलिए चलें सिनेमा देखने।

शत्रुसूदन : (उठकर) नहीं आज नहीं... या शायद कभी नहीं।

{शत्रुसूदन बाहर निकलकर लॉन की ओर बढ़ते हैं। चम्पा खड़ी जैसे कुछ सोचने लगती है }

शत्रुसूदन : गजराज ! (गजराज उनकी ओर देखता है, उसकी आँखों से आँसू गिर रहे हैं) तुम रो रहे हो पुरुष होकर ?

गजराज : पापी जो हूँ सरकार !

शत्रुसूदन : पापी ? (बगीचे में काम करनेवालों से) तुम लोग अब जाकर आराम करो। अँधेरा हो चला, नित्य तुम लोगों का काम बन्द कराना पड़ता है--तुम लोगों पर छोड़ दिया जाय तो शायद तुम लोग रात-भर काम करते रहोगे। (कलाई की घड़ी देखकर) एक घंटा पहले तुम लोगों को काम छोड़ देना चाहिए था। (काम करनेवाले उठते हैं और धीरे-धीरे बँगले के पीछे निकल जाते हैं। शत्रुसूदन गजराज की ओर देखता है।)

गजराज : जी हाँ।

शत्रुसूदन : तुम पापी ?

गजराज : ऐसा पापी, जो धरती के पर्दे पर खोजने पर भी न मिले। मेरा पाप ! मालिक अगर कहीं डूब मरें तो मेरा पाप... मेरे ही पाप से नरेन्द्र बाबू गये--आज मालिक भी चले गये और शायद किसी दिन दुनिया चली जायगी।

शत्रुसूदन : पागल कैसा पाप ?

गजराज : जिस पाप से आपको भी चैन नहीं है। लेकिन मैं बतला नहीं सकता।

{ गजराज का प्रस्थान }

[शत्रुसूदन विस्मय से गजराज की ओर देखते हैं। फिर वहीं इधर-उधर लॉन पर टहलने लगते हैं। शाम हो रही है। डूबते हुए सूरज की लाली पेड़ों के पत्तों पर और आकाश पर देख पड़ती है।

शत्रुसूदन एकटक ऊपर आकाश की ओर देखने लगते हैं। नरेन्द्र सड़क के किनारे बँगले के फाटक पर आकर खड़ा होता है। रेशमी कुरता, रेशमी किनारे की एँड़ी तक धोती, कामदार जूता, बाँयें कंधे पर चाइना सिल्क की अलफी समेट कर रक्खी हुई, जो कि यों देखने पर चादर-सी मालूम हो रही है। दाढ़ी-मूँछ सफाई से बनी हुई। सिर पर बड़े-बड़े बाल, जो पीछे की ओर घूम पड़े हैं। भरा हुआ कान्तिमान चेहरा। उसकी आँखें कभी तो शत्रुसूदन की ओर घूमती हैं--तो कभी ठीक बँगले के नीचे के बड़े कमरे में चली जाती हैं, जहाँ चम्पा आरामकुर्सी पर बैठी हुई चिन्ता कर रही है। नरेन्द्र कई बार पान की पीक सड़क पर थूकता है। उसके ओठ पर पान का गाढ़ा चढ़ गया है।

शत्रुसूदन का ध्यान भंग होता है। गहरी साँस खींचकर वह सड़क की ओर देखता है। नरेन्द्र से उसकी चार आँखें होती हैं। नरेन्द्र की आँखें उस क्षण चमक उठती हैं और वह झुककर पान की पीक थूकने लगता है। शत्रुसूदन सड़क की ओर बढ़ता है। नरेन्द्र इस समय कमरे में बैठी हुई चम्पा की ओर देख रहा है }

शत्रुसूदन : (नरेन्द्र के पास पहुँचकर) किसे देख रहे हैं महोदय ?

नरेन्द्र : किसी को नहीं।

{ शत्रुसूदन की ओर इस तरह देखता है--जैसे सिंह देखता है अपने शिकार की ओर। शत्रुसूदन क्षण-भर के लिए स्तम्भित हो उठते हैं। }

शत्रुसूदन : आपको जाना कहाँ है ?

नरेन्द्र : (कुछ सोचते हुए) क्या कहा ?

शत्रुसूदन : (उद्विग्न होकर) मैं पूछता हूँ, आप कौन हैं ? क्या चाहते हैं ? आपको कहाँ जाना है ?

नरेन्द्र : (रूखे स्वर में) यह सब हमारे सम्प्रदाय में नहीं बतलाया जाता। (कन्धे पर से अलफी उठाकर झटकारता है। शत्रुसूदन चुपचाप उसकी ओर देखते हैं। अलफी के हट जाने से नरेन्द्र के बायें कंधे में लटकती हुई मखमली म्यान के भीतर लम्बी कटार देख पड़ती हैं। शत्रुसूदन मंत्रमुग्ध की तरह सब देखता है। नरेन्द्र अलफी पहन लेता है) समझे मेरा सम्प्रादाय ? मैंने हठयोग की साधना समाप्त कर दी है--इन दिनों राजयोग का अभ्यास कर रहा हूँ। उसके बाद कर्मयोग और तब ज्ञानयोग। (उसकी आँखें इतनी तेजी के साथ चमकती हैं कि शत्रुसूदन बीन से प्रभावित साँप की तरह हो जाता है और एकटक उसकी ओर देखने लगता है) इस तरह मत देखो, नहीं तो मेरी आँखों से बेहोश होकर गिर पड़ोगे ? योगियों के लिए अपना परिचय बतलाना वर्जित है। इसीलिए मैंने कहा कि यह सब हमारे सम्प्रदाय में नहीं बतलाया जाता।

शत्रुसूदन : (जैसे कुछ सोचकर) मैंने कई बार आपको भिन्न-भिन्न वेश में यहाँ खड़े होते देखा है।

नरेन्द्र : हाँ, सही है। राजयोग की परिपाटी के अनुसार मुझे दिन में तीन बार कपड़े बदलने पड़ते हैं। मैं जब कभी इधर से निकलता हूँ, इस जगह थोड़ी देर के लिए खड़ा हो जाता हूँ। (बँगले की ओर हाथ उठाकर) जिनका इतना वैभव है--वे बड़े दुखी हैं। सुख के लिए ही इतना सामान किया गया है। यह आलीशान बँगला; इसके भीतर की मेज, कुर्सियाँ, पलँग, मसहरियाँ, यह बगीचा, लॉन; लेकिन तब भी इसके भीतर के रहने वाले बड़े दुखी, हाँ बड़े दुखी...इन्हीं की दशा पर विचार करने के लिए मैं कभी-कभी खड़ा हो जाया

करता हूँ। योगी जगत् का अनुभव यों ही दूर से करता है...समीप से नहीं, इसमें लिप्त होकर नहीं।

शत्रुसूदन : आप यहीं शहर में रहते हैं ?

नरेन्द्र : मैंने तुमसे कह तो दिया कि योगी के विषय में इस तरह पूछ-ताछ अच्छी नहीं। तुम्हारा ही नाम राजकुमार शत्रुसूदनसिंह है ? (अलफी की जेब से चाँदी का पनडब्बा निकालकर पान खाते हुए, फिर जेब में कुछ टटोलते हुए) ऊँह, पता नहीं, सुर्ती की डिबिया कहाँ गई ? (सुर्ती की डिबिया, जो कि सोने की बनी है, निकालकर खोलता है--उसकी सुगंध हवा में मिल जाती है। शत्रुसूदन एक गहरी साँस लेकर सुगन्ध का आनन्द लेता है) (मुस्कराकर) राजकुमार, यह सुगन्ध योगी के अंश की है--तुम्हारे अंश की नहीं, लेकिन तुमने तो जैसे हर तरफ से योगी की चीज को अपनी बनाने का संकल्प कर लिया है। {गम्भीर होकर कुछ सोचने लगता है। राजकुमार चुपचाप सब कुछ भूलकर उसके मुँह की ओर देखने लगता है।}
हाँ, तो बतलाया नहीं। तुम्हारा ही नाम राजकुमार शत्रुसूदन सिंह है ?

शत्रुसूदन : जी हाँ...लेकिन...आपको कैसे मालूम...

नरेन्द्र : फिर वही प्रश्न ? मैं जो पूछता हूँ, उसका जवाब दो। मुझसे कुछ न पूछो। तुम्हारे लिए जो उपयोगी होगा, मैं स्वयं कह दूँगा। मेरी आँखें तुम देख रहे हो ?

शत्रुसूदन : जी हाँ...कितनी चमक है ?

नरेन्द्र : अच्छा, तो मेरी आँखों में चमक है ? अब देखो, (एकाएक सिर को पीछे फेकता है) देख रहे हो मेरी आँखें ?

शत्रुसूदन : जी नहीं। आँखों की जगह केवल गड्ढे देख पड़ते हैं।

नरेन्द्र : (मुस्कराकर) इसी तरह अन्धा बनकर मैं हिमालय पार कर गया। जहाँ पासपोर्ट की जरूरत पड़ती थी...मैं इसी तरह अन्धा हो जाता था। इस तरह मैं तिब्बत के पहाड़ों और जंगलों में घूमता रहा। (मुस्कराने लगता है) योगी तो शेर को वश में कर लेता है और तुम मनुष्य को अपनी इच्छानुसार नहीं चला सकते ?

शत्रुसूदन : बड़ी कृपा हो यदि भीतर चलें। आपसे बहुत-कुछ सुनने को जी चाहता है।

नरेन्द्र : किसी दूसरे दिन, सुखी रहो (जाना चाहता है)

शत्रुसूदन : महात्मन् ! हम लोग सचमुच दुखी हैं। आपके चलने से...मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।

नरेन्द्र : अच्छा, चलो।

{ नरेन्द्र फाटक के भीतर प्रवेश कर बँगले की ओर बढ़ता है। उसके पीछे शत्रुसूदन है। अँधेरा हो रहा है। गजराज बँगले के बरामदे और कमरे में बिजली की रोशनी जलाता है। चम्पा उसी तरह कुर्सी पर निश्चेष्ट बैठी है। नरेन्द्र कमरे में प्रवेश करता है। चम्पा उसे देखकर तेजी से भीतर चली जाती है। नरेन्द्र भीतर पहुँचकर कुर्सी पर बैठता है। राजकुमार उसकी कुर्सी के पास खड़ा होता है }

नरेन्द्र : {राजकुमार का हाथ पकड़कर बैठने का संकेत करते हुए} बैठिए। {शत्रुसूदन संकोच के साथ कुर्सी पर बैठते हैं।}

गजराज : (नरेन्द्र का पैर छूकर) महाराज !

नरेन्द्र : सुखी रहो।

शत्रुसूदन : गजराज, स्वामीजी को जलपान कराओ।

(गजराज का प्रस्थान)

नरेन्द्र : नहीं, नहीं, तुम जानते हो, मैं राजयोग की साधना कर रहा हूँ--तुम्हारे यहाँ का अन्न-जल स्वीकार नहीं कर सकता। तुम मेरे सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हो।

शत्रुसूदन : (संकोच से) यह कैसा महात्मन्!

नरेन्द्र : इसलिए कि तुम राजा हो और मैं राजयोग की साधना कर रहा हूँ। इसलिए तुम मेरे सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हो। {कुर्सी के इधर-उधर चारों ओर देखकर कमरे में फर्श की जगह जो रंगीन कालीन बिछा हुआ है, उसी पर पान की पीक थूक देता है। शत्रुसूदन उद्विगन्न हो उठता है।} राजकुमार, (मुस्कराते हुए) उद्विग्न क्यों हो उठे? यहाँ पीकदान नहीं था, इस कारण वाध्य होकर मुझे कालीन पर थूकना पड़ा। अगर मैं इसके लिए उठकर बाहर जाता तो मेरी राजयोग की साधना भंग हो जाती। हूँ, तो तुम मेरे सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हो न?

शत्रुसूदन : आप यह बार-बार क्यों कह रहे हैं?

नरेन्द्र : क्योंकि यही सत्य है। तुम मेरे सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हो। तुम नहीं जानते, लेकिन मैं जानता हूँ। क्यों, हो न? (हँसने लगता है) अच्छा तो महोदय, आप मेरे सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हैं, क्यों?

{अलफी के नीचे से खुली कटार निकालता है। शत्रुसूदन की ओर लक्ष्य कर उसे कई बार हिलाता है। शत्रुसूदन भय और संदेह से हिल उठता है।} डर रहे हो? अपने प्रतिद्वन्द्वी से डरना चाहिए! {राजकुमार नीचे की ओर देखने लगता है। नरेन्द्र अपनी कटार उसके गले पर रख देता है।}

{ तेजी से चम्पा का प्रवेश ।}

नरेन्द्र : {कटार उठाकर चम्पा की ओर देखते हुए} आप इस तरह घबड़ा क्यों उठीं? मैं हत्यारा नहीं। मैं तो केवल साधक हूँ। राजयोगी की कटार राजा के गले पर...यही तो साधना है, लेकिन हत्या करने के लिए नहीं, जीवन-दान के लिए। राजकुमार को आज नया जीवन मिला है।

{शत्रुसूदन उसी तरह सिर नीचे की ओर किये है। चम्पा पहले तो क्रोध से, फिर विस्मय और उद्वेग से, नरेन्द्र की ओर देखती है।}

{ परदा गिरता है }

दूसरा अंक

[गजराज उसी कमरे में कुसियों को उठाकर एक ओर दीवार से लगा कर रख रहा है। कभी-कभी रुक कर कमरे के ठीक बीच में खड़ा होकर बाहर, बँगले के बाहर, लॉन की ओर और सड़क की ओर देख रहा है, जैसे किसी की प्रतीक्षा में हो। बँगले के सामने जो कुछ भी देख पड़ता है, पूर्णमासी की रात होने के कारण चाँदनी में डूबा हुआ-सा है]

{ चम्पा का प्रवेश }

चम्पा : {कमरे को ध्यान से देखकर } क्या कर रहे हो जी ? कुर्सियों को उधर क्यों कर दिया ? कुछ-न-कुछ करना चाहिए। क्यों ? यही न ? जब जो मन में आ गया, करने लगे। अगर कोई आ जाय, तो इस कुर्सियों की दूकान को देखकर क्या कहेगा ? (आगे बढ़कर) सभी कुर्सियाँ एक सीध में, {सिर कई बार इधर-उधर घुमाती हुई} कहीं भी कोई कुर्सी न तो एक अंगुल आगे और न एक अंगुल पीछे...कुर्सियों की एक सीधी रेखा और उनके बीच में बराबर...हाँ, सब जगह बराबर अन्तर। {गजराज की ओर ध्यान से देखती हुई} तुम रेखागणित पढ़े हो ?

{गजराज ऐसी मुद्रा बनाता है, जिससे साफ मालूम हो रहा है कि चम्पा की बात न तो उसकी समझ में आई और न वह समझना ही चाहता है।खड़ा-खड़ा वह केवल कुर्सियों की ओर देखता रहता है।} बोलते क्यों नहीं ?

गजराज : क्या बोलूँ ? कोई कुर्सी टूटी तो नहीं है।

चम्पा : कौन कहता है कि टूटी है--मैंने तो नहीं कहा।

गजराज : तब किस लिए मैं पचास वर्ष के बाद पढ़ने जाऊँ ? कुर्सी बैठने से नहीं टूटती है और रखने से टूट जायगी ?

चम्पा : फिर वही बात। टूटने को मैंने नहीं कहा !

गजराज : तब क्या पढ़ने को कहा ?

चम्पा : (मुस्कराती हुई) रेखागणित...रेखागणित...समझे !

गजराज : हाँ...

चम्पा : क्या ? कहो तो सुनूँ।

गजराज : {चम्पा की ओर देखते हुए} रेखागनित...रेखागनित...रेखा (सोचकर) हाँ...गनित...रेखागनित

चम्पा : हैं...हैं...क्या कह रहे हो ?

गजराज : पढ़ तो रहा हूँ। जैसे मदरसे में मुन्सी लोग पढ़ाते हैं।

चम्पा : तुम तो रेखागनित-रेखागनित रट रहे हो।

गजराज : मुन्सी लोग तो ऐसे ही पढ़ाते हैं। सब लड़के एक कतार में खड़े हो जाते हैं और (हाथ हिलाकर) छड़ी लेकर मुन्सीजी कुर्सी पर बैठ जाते हैं। एक ही बात (सिर हिलाकर) इस तरह सभी लड़के जोर-जोर से कहते हैं--जहाँ कोई चुप हुआ कि मुन्सीजी कुर्सी पर बैठ जाते हैं। एक ही बात (सिर हिलाकर) इस तरह सभी लड़के जोर-जोर से कहते हैं--जहाँ कोई चुप हुआ कि मुन्सीजी की

छड़ी--वही हरी नागिन लपलप करती हुई उसकी हथेली पर और फिर पीठ पर सनासन पड़ने लगी। मैंने पढ़ना देखा है और उसी तरह पढ़ रहा हूँ।

चम्पा : नहीं...तुमने और पढ़ना भी देखा है। उस बार बाबूजी के साथ तुम कालेज में गये थे--जहाँ मैं पढ़ रही थी।

गजराज : कहाँ ? मुझे अच्छी तरह याद है। आप नहीं पढ़ रही थीं। नरेन्द्र बाबू भी नहीं पढ़ रहे थे। पढ़ तो रहे थे मास्टर साहब। कभी-कभी चश्मा हटाकर आप लोगों की ओर देखा करते थे। और सब लड़कियों के साथ आप आगे की कतार में दाईं ओर बैठी थीं। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा था कि मास्टर साहब की आँख फोड़ दूँ। बड़े घराने की लड़की की ओर इस तरह से देखना...मैंने तो ठाकुर साहब से कहा था। लड़के-लड़की सब एक साथ बैठे थे, मैं तो मारे लाज के वहाँ से हटकर दूसरी ओर चला गया। उसके बाद नरेन्द्र बाबू ने मुझे बहुत समझाया कि एक साथ पढ़ने में कोई बुराई नहीं है--लेकिन मेरे मन में यह बात नहीं जमी।

चम्पा : (गम्भीर होकर) तुमसे मैंने कई बार कहा।

गजराज : {जैसे कुछ याद कर} याद नहीं आया। अब कभी नहीं कहूँगा। नरेन्द्र बाबू का नाम कभी नहीं लूँगा। दुर्गा माई की दुहाई ! अब कभी नहीं--कभी नहीं।

चम्पा : {बात बदलने के अभिप्राय से} कुर्सियों को उठाकर वहाँ क्यों रख दिया ? इस तरह से तो कुर्सियाँ सिर्फ दूकान में रक्खी जाती हैं--किसी बड़े आदमी के कमरे में नहीं।

गजराज : {कमरे के बीच में खड़ा होकर} यहाँ मसहरियाँ पड़ेंगी।

चम्पा : (विस्मय से) किसके लिए ? इस गर्मी में !

गजराज : सरकार के लिए और स्वामीजी के लिए।

चम्पा : (सोचकर) सरकार के लिए भी यहीं ?

गजराज : मुझे ऐसा ही कहा गया है !

चम्पा : किसने कहा ?

गजराज : स्वामीजी ने।

चम्पा : खैर, स्वामीजी के लिए प्रबन्ध कर दो; लेकिन उनके...

गजराज : स्वामीजी ने उनके लिए भी कहा है, उनके सामने ही और उन्होंने भी मान लिया।

चम्पा : उन्होंने भी मान लिया इस गर्मी में यहाँ सोना ?

गजराज : {छत में लगे हुए पंखे की ओर दिखलाकर} बिजली का पंखा है। रात-भर चलता रहेगा।

चम्पा : एक बार और रात-भर पंखा चला था--आठ दिन तक चारपाई नहीं छूटी। डाक्टर ने कहा था, पंखे का असर पड़ गया। कमजोर आदमी को बहुत बचकर रहना चाहिए।

गजराज : स्वामीजी की बात...

चम्पा : स्वामीजी अपनी बात के लिए किसी को आग में नहीं न डाल देंगे। अच्छे स्वामीजी रहे। इतनी सुन्दर चाँदनी रात--सारी सृष्टि जैसे सुख और शान्ति से भर उठी है, बाहर साँय-साँय करती हुई निर्द्वन्द्व हवा चल रही है, सामने मौलसिरी के पेड़ पर कू-कू-कू से कोयल जैसे आकाश को हिला रही है, और

तुम्हारे स्वामीजी बन्द कमरे में सोना चाहते हैं। इस समय उन्हें किसी पर्वत की चोटी पर, किसी नदी के निर्जन किनारे पर, किसी घने जंगल के बीच में, चाँदनी बिछाकर और चाँदनी ओढ़कर, सो रहना चाहिए। इस कमरे में सोना और जहाँ तक मैं अनुमान करती हूँ, खिड़कियों और दरवाजों को बन्द कर {गजराज की ओर देखकर} तुम्हें विश्वास नहीं होता न ? देखना, यही होगा। अक्षर-अक्षर यही होगा; मैं कह तो रही हूँ, देख लेना, यही होगा। तुम्हारे सरकार प्राचीनता के विरोधी हैं। पुरानी सभी बातें उनके लिए बुरी हैं; उनमें कोई सार नहीं। तीर्थ और व्रत सब कुछ आडम्बर और ढकोसला है, स्वर्ग-नरक लोगों को ठगने के लिए ब्राह्मणों ने बनाया है। कर्मकांड बुद्धितत्त्व के प्रतिकूल है। रियासत में पुश्तैनी नौकरी न रहे। यह बात सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जो कुछ हो, नया हो, विलायत की नकल हो। घर पर राष्ट्रीयवादी बनने की नीयत से खद्दर पहन लेते हैं। साहब लोगों से मिलने के समय विलायती सूटकेस का ताला खुल जाता है--यह सब होते हुए भी तुम्हारे सरकार हृदय और मस्तिष्क के बच्चे हैं। कौतूहल या चमत्कार की कोई भी चीज उन्हें वश में कर लेती है। गंगाजल, चन्दन और प्राणायाम का नाम सुनते ही मुस्करा पड़ते हैं। शंख की ध्वनि इतनी कर्कश होती है कि अनायास कानों में उँगलियाँ {दोनों कानों में दोनों हाथ की कनिष्ठिका उँगली डालती है} और नाक सिकुड़कर एक अंगुल ऊपर उठ जाती है। सबसे बड़ा महात्मा या तपस्वी वह है, जो जादू जानता है, जो उनके अबोध हृदय को उत्तेजित कर उसकी बागडोर अपने हाथ में ले सकता है। {वहीं फर्श पर बैठ जाती है}

गजराज : {तेजी से एक कुर्सी उठाकर उसके पास रखते हुए} कुर्सी पर सरकार !

चम्पा : उन्होंने तुमको मना किया है न कि किसी को 'सरकार' न कहो ?

गजराज : हाँ......

चम्पा : तब ?

गजराज : बारह बरस की उमर से दरबार में नौकरी कर रहा हूँ। चौबीस बरस की आदत अब छूट नहीं सकती। मैंने कोशिश करके देख लिया। मुझसे न हो सकेगा। मैं क्या करूँ ? मुझे तो रतनपुर में कोई काम मिल जाता और यहाँ कोई इस जमाने का आदमी रखा जाता। जान मुसीबत में पड़ गई है। {घबरा उठता है}

चम्पा : गजराज, मैं तुम्हें कितना मानती हूँ, तुम नहीं जानते।

गजराज : {भर्राई हुई आवाज में} जानता क्यों नहीं ? उस बार मुझे बुखार आया था, आपने बराबर अपने हाथों से मुझे दवा पिलाई। वह नेकी मैं भूल नहीं सकता।

चम्पा : इतना ही नहीं जी ! तुम्हारे साथ रहने से बाबूजी का मरना मुझे नहीं मालूम होता---मुझे मालूम होता है कि मैं उनके साथ...

{ गजराज सिहर उठता है। उसका शरीर गनगना कर काँप जाता है। उसका मुख पहले तो लाल हो उठता है, फिर एकाएक पीला हो जाता है और घबराई हुई मुद्रा में बाहर निकल जाता है। चम्पा विस्मय से उसकी ओर देखती हुई उसके पीछे चल पड़ती है। गजराज सामने लॉन से होकर बढ़ता है। चम्पा झपटकर उसका हाथ पकड़ लेती है। }

चम्पा : तुम्हें हो क्या गया ? इस तरह भागे कहाँ जा रहे हो ?

गजराज : अभी नहीं। अभी नहीं। नहीं...नहीं। बतला नहीं सकता। नहीं। छोड़ दीजिए। छोड़ दीजिए, चौबीस बरस के बाद। पाप का फल मिलता है...पिंड नहीं छूटता है। मरना था मुझे, मर गये ठाकुर साहब।

चम्पा : (डाँटकर) चुप रहो। क्या बक रहे हो ? तबीअत अच्छी नहीं है, तो जाकर सो रहो। कौन कहता है कि तुमने पाप किया ? मैंने तो यह कुछ नहीं कहा, और क्या बतलाना चाहते हो ? यह भी मैं नहीं चाहती कि बतलाओ। रहते-रहते, विक्षुब्ध हो उठते हो !

गजराज : (सँभलकर) मुझसे कुछ पूछेंगी नहीं न ?

चम्पा : मैं नहीं समझती।

गजराज : कह दीजिए कि नहीं पूछेंगी।

चम्पा : सावधान होकर विचार करो, बिना पूछे कैसे चलेगा ?

गजराज : बस, इस समय मैं जो कहूँ, सुन लीजिए। आगे कुछ न पूछिए। मैं कुछ कहना चाहता हूँ।

चम्पा : अच्छा, कहो !

गजराज : मुझसे ठाकुर साहब और दुलहिनजी के बारे में कोई बात न कहा करें।

चम्पा : दुलहिन कौन ? अम्मा ?

गजराज : हाँ...वही...वही। उन्हीं के बारे में... उन्हीं के।

चम्पा : क्यों ?

गजराज : इसी का जवाब तो मैं नहीं दे सकता और इसीलिए भाग रहा हूँ, जिसमें कि फिर वह अवसर न पड़े।

चम्पा : हूँ,...उनके मरने का दुःख तुम्हें इतना अधिक है कि तुम उनकी चर्चा भी नहीं सुन सकते ? लेकिन संसार भावुक नहीं है गजराज !

गजराज : संसार के बारे में भी मैं बहुत नहीं जानता। और उनके मरने का भी मुझे दुःख नहीं। मरना तो सबको है। उससे तो कोई बचता नहीं। उनके मरने का तो मुझे सुख है, दुःख नहीं। लेकिन...

चम्पा : लेकिन हाँ... (उसकी ओर देखने लगती है)

गजराज : मालिक अगर डूब मरे तो वह पाप मेरे ही सिर...

चम्पा : मालिक कौन...दीवान साहब ? (सिर हिलाकर 'हाँ' का संकेत करता है) अच्छा तो अगर वह डूब मरे तो उसका पाप तुम्हारे सरकार के सिर...तुम्हारे क्यों ?

गजराज : यही तो मेरे ही सिर...मैं जानता हूँ। कह नहीं सकता। बस दो घड़ी में सब कुछ...चौबीस बरस बीत गये, लेकिन यह आग न बुझी; अब तो मेरे मरने ही पर... (चम्पा की ओर देखकर) जाओ रानी ! मुझे छोड़ दो...तुमको अब वह बात मालूम नहीं होगी।

चम्पा : लेकिन मैं तो तुमसे कुछ पूछती भी नहीं। इस तरह की बातों से तुम मेरी उत्सुकता बढ़ा रहे हो, लेकिन बतलाना नहीं चाहते। मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है गजराज ! (उदास होकर) मेरा दुःख भी तुम जानते हो। उस पर भी तुम मेरे साथ इतने कठोर...

गजराज : तुम्हारा दु:ख तो मैं खूब जानता हूँ। लेकिन उसका भी कारण मैं ही हूँ। मुझको दु:ख है, तुमको दु:ख है, सरकार को दु:ख है; और अगर नरेन्द्र बाबू और मालिक जीते हों, तो उन लोगों को भी दु:ख है, एक साथ इतने आदिमियों को दु:ख है, और सबके दु:ख का कारण मैं हूँ...मैं {उत्तेजित होकर सड़क की ओर बढ़ता है}

चम्पा : कहाँ जा रहे हो? हे ईश्वर! नहीं सुनते? कहे देती हूँ, सिर पटक दूँगी। पटक दूँगी सिर। सुनो गजराज!

गजराज : (लौटकर) कहिए। मैं अब ठहर नहीं सकता।

चम्पा : कहाँ जाओगे {उसका हाथ पकड़ लेती है}

गजराज : जहाँ भाग्य ले जाय।

चम्पा : क्यों?

गजराज : आप लोगों के साथ रहना ठीक नहीं। अभी तो दम है! मालिक की तरह बुढ़ापे में अगर जाना पड़ा, तो कहीं-न-कहीं रास्ते ही में कुत्ते-गीदड़ का पेट भरना होगा।

चम्पा : ओह! तो तुम इसीलिए आज उद्विग्न हो और सब के दु:ख का कारण बन रहे हो? {उसके मुँह की ओर ध्यान से देखने लगती है}

गजराज : इसीलिए नहीं। मैंने चौबीस बरस हुए, पाप किया था। उसी का यह सब फल है। चौबीस बरस से मैं दुनिया को धोखे में डाले हुए हूँ, और अपने आप भी धोखे में पड़ा हूँ।

चम्पा : ओह! तुम्हारी बात समझ में न आयेगी। खैर, वे गये कहाँ?

गजराज : स्वामीजी के साथ, शायद नदी-किनारे......

चम्पा : और तुम तमाशा देखते रहे?

गजराज : तमाशा क्या?

चम्पा : स्वामीजी कौन हैं? कहा नहीं जा सकता। अगर किसी तरह का धोखा करें?

गजराज : स्वामीजी धोखा करें?

चम्पा : क्यों तुम अभी अपने पाप में इतना विक्षुब्ध हो? स्वामीजी कोई शत्रु हों? बड़ी रानी के मायके के हों?

गजराज : (कुछ सोचकर) हाँ...हो सकता है। आदमी कब क्या नहीं कर देगा, कहा नहीं जा सकता। लेकिन बड़ी रानी क्या सरकार की बुराई करायेंगी? कभी नहीं। और फिर दुनिया विश्वास पर टिकी है। चलूँ बिस्तर लगा दूँ।

(प्रस्थान)

{चम्पा वही हरीं दूब पर इधर-उधर टहलने लगती है। नरेन्द्र सड़क की ओर से प्रवेश करता है। चम्पा को वहाँ टहलते देखकर क्षणभर रुक जाता है। थोड़ी देर के बाद मुँह से सीटी का स्वर निकालने लगता है। चम्पा का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। चाँदनी में उसकी आकृति साफ नहीं देख पड़ती। चम्पा ध्यान से उसकी ओर देखती हुई चुपचाप खड़ी रहती है। नरेन्द्र लौटकर फिर सड़क पर निकल जाता है।

गजराज इस समय तक कमरे में दो पलँग बिछा कर दोनों पर मसहरी लगा देता है। एक पलँग उस दरवाजा के पास बिछा है, जिससे होकर बँगले के भीतरी हिस्से और ऊपर की तह में जाने का रस्ता है, दूसरा पलँग उससे थोड़ी दूर कमरे के बीच में बिछा हुआ है। गजराज कमरे के दरवाजे लगाकर चम्पा के पास आता है। }

गजराज : जाइए न छत पर, अब ठंडा हो गया होगा।

चम्पा : और यहाँ ?

गजराज : यहाँ कोई बैठने की जगह नहीं है। और शायद अब स्वामीजी आ जायँ।

चम्पा : तुम जानते हो, मैं पर्दा तो करती नहीं, और आज शाम को टहलने नहीं गई, इस तरह वह काम भी हो जायगा। और इसके अतिरिक्त मैं स्वामीजी से कुछ बातें भी करना चाहती हूँ।

गजराज : स्वामीजी से बातें ? (विस्मय के स्वर में) ऐसा क्या ?

चम्पा : हाँ कहते चलो (गम्भीर होकर) चुप क्यों हो गये ? कहो न।

गजराज : नहीं, यह तो अच्छा नहीं होगा। रानी होकर साधू-संन्यासी से बातें करना--

चम्पा : गजराज !

गजराज : कहिए न ?

चम्पा : तुम किस पर सन्देह करते हो--रानी पर या संन्यासी पर ? बोलो !

गजराज : मुझे अच्छा नहीं लगता, और मैं यह होने भी न दूँगा।

चम्पा : क्यों ? इसमें बुराई क्या है ?

गजराज : स्वामी लोग स्त्रियों से बातें नहीं करते--उनकी ओर देखते नहीं।

चम्पा : स्त्रियाँ बाधिन होती हैं क्या ? या नागिन होती हैं जो कि स्वामी लोगों को खा जाती हैं या डँस लेती है ? यह तुम्हारा अपराध नहीं है गजराज ! ऐसी ही पुरुष-जाति है ! पुरुष का काम है स्त्री का अविश्वास करना और उसके हृदय को ठोकर मारकर अपमान और लांछन से भर देना।

{ शत्रुसूदन का प्रवेश }

शत्रुसूदन : कैसा अपमान और लांछन ! {सूखी आँखों से चम्पा को देखने लगता है}

चम्पा : {दो डग आगे बढ़कर} पुरुष का सबसे बड़ा पौरुष और गुण--स्त्री का अविश्वास करना, उसे सदैव सन्देह की दृष्टि से देखना, उसके आचरण पर पहरा बैठाना और अन्त में अपमान और लांछन से उसके हृदय को चूर-चूर कर देना।

{ गजराज का प्रस्थान }

शत्रुसूदन : यह सब तुम गजराज के सामने कह जाती हो। तुम्हें लज्जा नहीं मालूम होती ?

चम्पा : ज्वार के समय समुद्र की मर्यादा नहीं रहती। वह उफन कर ऊपर की ओर बढ़ता है। लोग कहते हैं, चन्द्रमा को छूने चला है।

शत्रुसूदन : अच्छा...

चम्पा : स्त्री का जन्म हुआ था पुरुष की धरोहर--उसका विष सुरक्षित रखने के लिए। अन्यथा वह अपने ही विष से जल मरता। जल मरता अपने विष से।

शत्रुसूदन : अगर ऐसा नहीं होता तब ?

चम्पा : स्त्री अपने पंख फैलाकर आकाश में उड़ती होती। (गंभीर होकर) उड़ती होती।

शत्रुसूदन : {उसके कंधे पर हाथ रखकर} किससे यह सब कह रही हो ?

चम्पा : अपने पति से, अपने मालिक से, अपने ईश्वर से, अपने शिव से, अपन ब्रह्मा से। जो मेरा है और जिसकी मैं हूँ, उससे ! मैं स्वामीजी से कुछ बातें करूँगी।

शत्रुसूदन : किस विषय की ?

चम्पा : अपने विषय की। मैं उनसे सम्मोहन मंत्र सीखूँगी।

शत्रुसूदन : मारण और उच्चाटन नहीं ?

चम्पा : वह तो सीख चुकी हूँ। वह तो स्त्री के रक्त के साथ पैदा होता है।

शत्रुसूदन : मेरी समझ में तो स्त्री के रक्त के साथ केवल सम्मोहन पैदा होता है।

चम्पा : आपकी समझ में, पुरुष की समझ में जो संसार का शासक है, जो और सब समझता है, लेकिन स्त्री का हृदय नहीं...उसकी समझ में जो स्त्री को नन्दन का पारिजात पुष्पगुच्छ कहता है, स्वर्ग का संगीत कहता है, जीवन का वसंत कहता है...जिसकी कल्पना और कला का चरम स्त्री का रूप है, लेकिन जब उस के मोह का उतार होता है, जिसे वह आत्मज्ञान समझता है, उस कमल, संगीत और वसन्त के एकाकार को कितना ठुकराता है और कितना कुचल देता है। {एकाएक चुप होकर आकाश की ओर देखने लगती है} हाँ, तो मैं स्वामीजी से बातें करूँगी। जरूर...नहीं, नहीं, मुझे रोको नहीं। मैं देखना चाहती हूँ कि...।

शत्रुसूदन : क्या देखना चाहती हो ?

चम्पा : यही कि स्वामीजी देवता हैं या राक्षस...

शत्रुसूदन : (विस्मय से) राक्षस...

चम्पा : मेरी तो यही धारणा है।

शत्रुसूदन : लेकिन इस धारणा का आधार ? देखता हूँ..तुम्हारा {एकाएक रुक जाता है}

चम्पा : स्वामीजी अभी यहाँ आये थे। {सड़क की ओर हाथ उठाकर} वहाँ कुछ देर खड़े रहे। मेरी ओर देखते रहे, उसके बाद लौटकर चले गये।

शत्रुसूदन : तो इससे क्या ? उनका देवत्व--

चम्पा : जी नहीं, मैं तो इसे ही उनका राक्षसत्व...

शत्रुसूदन : विचित्र स्त्री !

चम्पा : विचित्र नहीं। बिलकुल स्वाभाविक। इसी दुनिया की। (कुछ सोचकर) मुझे देखकर उनका इधर आने का साहस नहीं हुआ। योगी को भय है। उसका हृदय विकारहीन नहीं हुआ।

शत्रुसूदन : मान लो, यही बात है तो फिर बात करने की क्या जरूरत ?

चम्पा : समझने के लिए। सचाई के लिए।

शत्रुसूदन : उसकी जरूरत ?

चम्पा : अपनी जिज्ञासा-तृप्ति के लिए। मैं जानना चाहती हूँ, इसलिए।

शत्रुसूदन : लेकिन मैं कहता हूँ, इससे लाभ ? योगी के साथ तर्क करने की जरूरत ?

चम्पा : तर्क वास्तव में योगी से करना ही चाहिए। योगी का काम है तत्वदर्शी होना; और जो तत्त्वदर्शी होता है, उससे तर्क होता ही है। सैकड़ों-हजारों वर्षों केबाद नारी की जीभ अब खुलना चाहती है। स्त्री-शिक्षा--और साथ ही साथ उसके अधिकार--पर्वत फोड़कर नदी बाहर निकली है, समतल भूमि में वह रोकी नहीं जा सकती। अब तो स्त्री तर्क करेगी, प्रतिवाद करेगी और जरूरत पड़ेगी तो युद्ध करेगी। वह तो अब समझना चाहती है--अपने को, दूसरों को, जगत् को और इसीलिए वह पुरुष के साथ परीक्षा दे रही है। नहीं

तो फिर ऐसी क्या ? ज्वालामुखी भड़क उठा है। उसके हृदय की आग अब दबाई नहीं जा सकती।

{ गजराज का प्रवेश }

शत्रुसूदन : क्या है जी ?

गजराज : सरकार, मुझे अब छुट्टी मिल जाय।

शत्रुसूदन : (चौंकर) क्यों ?

गजराज : तबीअत घबरा उठी है। चालीस बरस हो गया नौकरी करते। अब तो कहीं दस बीघा खेत मिल जाय और एक जोड़ी बैल ! दस-बीस बरस की और जिन्दगी है, बीत जायगी।

शत्रुसूदन : मालूम होता है, दीवान साहब के चले जाने के कराण तुम यह तमाशा खड़ा कर रहे हो।

गजराज : नहीं सरकार, मालिक साठ वर्ष से नौकरी करते रहे और मुझे चालीस बरस हुआ। मेरी आँखों के सामने एक-एक दिन आये और निकल गये। जिस दिन दरबार में पहले-पहल हाजिर हुआ था--बारह बरस का था। लेकिन ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे अभी कल की बात है। मुझे मालूम होता है, जैसे सब कुछ देख रहा हूँ, आँख बन्द करने पर बड़े सरकार की सूरत सामने आ जाती है।

चम्पा : अच्छा हो, इन्हें छुट्टी दे दी जाय।

गजराज : हाँ सरकार, कोई नया आदमी आयेगा। समझदार होगा। इशारे पर काम करता रहेगा। दिन-रात में दस-बीस गलती रोज हो जाती हैं। कान से सुनाई भी कम पड़ रहा है और आँख की रोशनी अब जवाब दे रही है।

शत्रुसूदन : अच्छा, तुम जाओगे कहाँ ?

गजराज : (कुछ सोचकर) गाँव पर।

शत्रुसूदन : वहाँ तुम्हारा कोई है ?

गजराज : (सिर हिलाकर) है तो कोई नहीं। जब से नौकरी की, कभी वहाँ गया भी नहीं। घर भी, बहुत दिन हुए, मरम्मत न होने से गिर पड़ा।

शत्रुसूदन : तब कहाँ जाओगे ? किसके घर ?

गजराज : दीवारें गिर पड़ी होंगी। जमीन ऊँची हो गई होगी न। वहीं एक झोपड़ी डालूँगा। गाँववालों से सरपत और बाँस माँग लूँगा। दिन डूब जाने पर अँधेरा होगा। मैं झोपड़ी के दरवाजे पर बाहर चारपाई बिछाकर कहानी कहूँगा। लोग सुनेंगे। मेरी कहानी तो सरकार भी सुन चुके हैं और तारीफ कर चुके है।

शत्रुसूदन : और मरने पर क्या होगा गजराज ?

गजराज : मरने पर चाहे जो हो सरकार ! बिरादरीवाले दया करेंगे--फूँक देंगे या फेंक देंगे। जब तक घट में प्राण हैं, चाहे कोई रोये या हँसे। उसके बाद तो सरकार, सबकी गति एक है। राजा हो या रंक, अमीर हो या गरीब, उस दिन तो सब बराबर हैं।

शत्रुसूदन : दीवान साहब भी चले गये गजराज ? तुम भी जाओगे ?

गजराज : नये नौकर मिलेंगे सरकार...

शत्रुसूदन : तुमको हमारी चिन्ता न होगी ?

गजराज : होगी तो मैं भगवान् से आपकी भलाई के लिए मनाया करूँगा। साल में दशमी को भवानी की पूजा में आकर सरकार का दर्शन करूँगा।

शत्रुसूदन : नहीं। यह नहीं हो सकता। तुम्हारे न रहने पर तो मेरी हालत परकटे बाज की हो जायगी। जब से होश सँभाला, तुम्हारे साथ हूँ। बचपन में खेलने भी गया तो तुम्हारे ही साथ। जब तक पढ़ता रहा, तुम बराबर साथ रहे। कालेज के दिनों में मैं जिस किसी भी कमरे में बैठता था, तुम बाहर उसके दरवाजे की बगल में बैठे रहते थे। मैंने कई बार देखा था तुम्हें खिड़की से अपनी ओर देखते हुए। तुम बराबर मेरी चारपाई के पास नीचे फर्श पर सोते रहे हो। जब कभी नींद खुली, तुम्हें जागते ही पाया। मेरे बारे में तुमने आज तक कभी किसी दूसरे का विश्वास नहीं किया। इससे बढ़कर अपने सगे लड़के का भी......

गजराज : दुहाई सरकार की। {दोनों हाथ जोड़कर} चुप रहिए। अब कुछ न कहिए। मालूम हो रहा है जैसे छाती फट रही है। {जमीन पर बैठकर शत्रुसूदन के पैरों पर अपना सिर रखकर सिसक-सिसककर रोने लगता है और दोनों के बीच में कसकर उनकी टाँगें पकड़ लेता है। शत्रुसूदन भी वहीं बैठकर गजराज का सिर दोनों हाथों में पकड़कर उठाना चाहते हैं।}

चम्पा : {शत्रुसूदन की बगल में बैठकर} आपके जाने के बाद से ही इनकी तबीअत ऐसी है। इसी तरह विक्षिप्त होकर मुझसे भी न मालूम क्या कहते रहे हैं। चौबीस वर्ष पहले इन्होंने कोई पाप किया था। इतने दिनों बाद इनके मन में पश्चात्ताप पैदा हो रहा है! अभी कहते रहे हैं, दीवान साहब अगर डूब मरेंगे, तो उसका पाप इन्हीं के सिर लगेगा। मेरे दुःख का, आपके दुःख का, दीवान साहब के दुःख का और...सबके दुःख का यही कारण हैं। मुझे तो इनकी यह हालत देखकर बड़ी घबराहट हो रही है।

शत्रुसूदन : {उसको उठाने की कोशिश करते हुए} गजराज! गजराज! गजराज! अरे मालूम हो रहा है, इसे मूर्च्छा आई! {अपना पैर छुड़ाने का प्रयत्न करते हुए} इसे बहुत दिनों से कोई दुःख सता रहा है। ऐसा कई बार अनुभव हुआ। मैंने पूछा भी, लेकिन हँसकर इधर-उधर करता रहा! मैं इसकी सरलता पर इतना मुग्ध था कि कभी मैंने बहुत जोर देकर पूछा भी नहीं। मनुष्य का दुःख जब असह्य हो उठता है... {चम्पा की ओर एकाएक देखने लगता है}

चम्पा : इस तरह क्यों देख रहे हैं?

शत्रुसूदन : यही कि जब मनुष्य का दुःख असह्य हो उठता है।

चम्पा : हाँ, मैं जानती हूँ-- 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।'

शत्रुसूदन : मशीन की तरह काम करता था। मैं समझता था, बूढ़े के पास हृदय नहीं है। जितना बड़ा इसका हृदय था, उतना ही बड़ा इसका दुःख भी होगा। इसका दुःख भी एक समस्या है। न तो इसकी शादी हुई और न लड़के-बच्चे। अपने जीवन की इस स्वतन्त्रता से सदैव सन्तुष्ट रहता था। यह भी किसी अभाव का अनुभव करता है अथवा इसके भीतर भी कोई घाव छिपा पड़ा है। आज तक मुझे कभी इसकी धारणा भी नहीं हुई।

चम्पा : गाने के स्वर में--

कितनी दूर विकल चलकर ये, मेरे अश्रु अधीर।
आज चेतना-हीन गिर रहे, किस तटिनी के तीर।।

{गजराज के सिर पर धीरे-धीरे अपना हाथ फेरने लगती है} इसीलिए तो मैं बराबर कहती हूँ कि मनुष्य के हृदय का रहस्य समझा नहीं जा सकता। ऊपरी ठाट-बाट और बोली-बान सुनकर लोग भीतर का पता लगाना चाहते हैं। {अपनी छाती पर दोनों हाथ रखकर} इस आठ अंगुल की जगह में एक समुद्र भरा पड़ा है--कोई जानता ही नहीं।

शत्रुसूदन : {अपने दोनों हाथों की चार-चार उँगलियाँ मिलाकर चम्पा के हृदय पर रख कर} हाँ, आठ ही अंगुल तो है। {चम्पा की ओर देखने लगता है}

चम्पा : लेकिन उतने ही में एक समुद्र भरा पड़ा है।

शत्रुसूदन : इसीलिए तो इतना भयानक है।{ गजराज का सिर पकड़कर उठाना चाहता है} इसे यों होश नहीं आयेगा। यहीं बैठी रहो (पुकारने के स्वर में) सुदिनवाँ! रमुवाँ!

{बँगले की ओर एक साथ कई आवाजें होती हैं} हाँ, आया सरकार!

{ फीजी पोशाकवाले दो सिपाही बन्दूक में संगीन लगायें आगे बढ़ते हैं। }

शत्रुसूदन : {चम्पा की ओर देखकर} लेकिन इन सबका आना यहाँ ठीक नहीं होगा। {गजराज की ओर देखकर} पता नहीं , इसके मन में क्या हो ? (आगे बढ़ते हुए) स्मेलिंग साल्ट और एक्लिप्टस...हाँ नहीं, तुम लोग वहीं रहो। कोई जरूरत नहीं। सोफर से कह दो, मोटरठीक रक्खे। {चम्पा का हाथ पकड़कर} तुम रहीं रहो। शायद स्मेलिंग साल्ट या एक्लिप्टस से कुछ फायदा हो। अभी आया।

चम्पा : अकेले डर लगेगा।

शत्रुसूदन : ज्वालामुखी फूट पड़ने पर भी डर?

चम्पा : सब कुछ होते हुए भी स्त्री स्त्री रहेगी। मंच पर व्याख्यान देते समय तो वह निशुम्भ पुरुष के लिए चंडी बन जायेगी उसका हृदय फाड़कर उसका रक्त पीना चाहेगी ; लेकिन जब व्याख्यान समाप्त होने पर मोटर में बैठेगी तो फिर वही रति, रंभा, उर्वशी, तिलोत्तमा--वही ममता और मोह की बेहोशी। स्त्री का मार्ग तो भक्ति और त्याग का है--ज्ञान और अपहरण का नहीं।

शत्रुसूदन : तब ?

चम्पा : जाइए, लेकिन देर न कीजिएगा।

शत्रुसूदन : बेहोश गजराज भी जरूरत पड़ने पर तुम्हारी रक्षा में बाघ बन जायेगा। भूत-प्रेत तो तुम नहीं मानतीं। अभी दो घंटे रात बीती होगी।

चम्पा : मुझे इनकी चिन्ता है, और डर--

शत्रुसूदन : ऐसा बहुत होता है ; उसकी चिन्ता क्या ?

{ शत्रुसूदन का प्रस्थान। }

{ चम्पा गजराज के पास बैठकर उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगती है। कभी उसकी छाती पर हाथ रखती है, कभी उसके सिर पर। कभी उसका हाथ पकड़ कर उसकी उँगलियाँ खींचने लगती है। }

{ नरेन्द्र का प्रवेश। वह धीरे-धीरे गम्भीर चाल से चलकर वहाँ पहुँच जाता है जहाँ गजराज मूर्छित पड़ा है। चम्पा को उसके आने का पता नहीं चलता। वह उसी तरह गजराज की देह पर इधर-उधर हाथ रखकर उसे सचेत कर देना चाहती है। नरेन्द्र बड़ी देर तक ध्यान से यह सब देखता रहता है। नरेन्द्र, गजराज और चम्पा के चारों ओर घूमकर, कई जगह खड़ा होता है। चम्पा उसी तरह तन्मय होकर गजराज के शरीर के साथ खिलवाड़ कर रही है। नरेन्द्र, चम्पा के पीछे खड़ा

होकर, चुपचाप आकाश की ओर देखने लगता है। निर्मल आकाश में चन्द्रमा, तारों के असंख्य फूल। पहले तो उसके ओठ पर मुस्कराहट आती है; लेकिन क्षण-भर में ही उसकी मुद्रा बहुत गम्भीर हो उठती है। मुट्ठी बाँधकर दोनों हाथ कमर पर रख देता है। दोनों बाँहें त्रिभुज बनाती हुई; दोनों बगलों में अलफी की चौड़ी मुहरी के भीतर, उड़ने के समान चील के डैने की तरह, देख पड़ती हैं। बाएँ पैर पर जोर देकर नरेन्द्र बाईं ओर झुककर खड़ा होता है।

गजराज की साँस के साथ जैसे कुछ कराहने की-सी ध्वनि निकलती है। चम्पा जैसे कुछ सचेत होकर तेजी के साथ गजराज के सिर पर हाथ फेरने लगती है। नरेन्द्र वहीं से झुककर गजराज का ललाट दायें हाथ की उँगलियों से छू देता है। उसकी केहुनी से ऊपर का हिस्सा चम्पा के जूड़े से छू जाता है, और गजराज के सिर पर चम्पा के तेजी से घूमते हुए हाथ में नरेन्द्र की उँगलियाँ आ जाती हैं। चम्पा घबरा कर उठती है--उसके सिर के धक्के से नरेन्द्र का झुका हुआ हाथ ऊपर को उठ जाता है। चम्पा तेजी से बँगले की ओर बढ़ती है। }

नरेन्द्र : डरो न, मैं हूँ। इसे क्या हो गया?

चम्पा : {घूमकर नरेन्द्र की ओर देखती हुई} मूर्च्छा आ गई है। आप ही स्वामीजी हैं जो शाम को आए थे?

नरेन्द्र : तुम्हें देख नहीं पड़ता। रानी होने पर तो दृष्टि और तीव्र होनी चाहिए।

चम्पा : स्वामीजी, आप विरक्त हैं। दुनिया की नजर और है, और आपकी और। रानी हो जाने पर तो अन्धी हो जाना पड़ता है। आँखें चश्मा हो जाती हैं।

नरेन्द्र : इसे मूर्च्छा क्यों आ गई?

चम्पा : कौन जाने? चौबीस वर्ष पहले इन्होंने कोई पाप किया था। आज दीवान साहब के निराश होकर चले जाने पर...उस पाप की स्मृति इनके मन में जाग उठी है, पश्चात्ताप की आग जल उठी है। लेकिन यह पता नहीं चलता कि कैसा पाप है, क्या है।

नरेन्द्र : हूँ...{ चम्पा की ओर एकटक देखते हुए } अपनी प्रजा को प्रेम आपके हृदय में है। होना ही चाहिए।

{ चम्पा चुपचाप ध्यान से स्वामीजी की ओर देखती रहती है। स्वामी जी के मुँह पर चन्द्रमा की रोशनी पड़ रही है, उधर चम्पा के पीछे चन्द्रमा है इतने ध्यान से क्या देख रही हैं? चम्पा कुछ बोलती नहीं, चुपचाप नरेन्द्र की ओर देखती रहती है। नरेन्द्र बाएँ हाथ की उँगलियों से अपनी आँखें दबाकर थोड़ी देर तक खड़ा रहता है। चम्पा उसकी ओर देखती ही रहती है। }

चम्पा : आपका नाम क्या है स्वामीजी!

नरेन्द्र : {चम्पा की ओर देखते हुए} योगी अपना नाम नहीं बतलाते रानी! वे किसी का शासन नहीं मानते--न राजा का, न रानी का।

चम्पा : और अगर अपराध करें?

नरेन्द्र : योगी कभी-कभी अपने साथ अपराध कर बैठते हैं, प्रयोग के लिए--साधन के लिए। दूसरे किसी के साथ वे अपराध नहीं करते।{ गजराज की ओर संकेत कर} इसने कैसा पाप किया था!

चम्पा : यह तो कोई नहीं जानता। इनका कहना है, चौबीस वर्ष पहले इन्होंने पाप किया था और इनके पाप से मैं दुखी हूँ, सरकार दुखी हैं, दीवान रघुवंशसिंह दुखी हैं और उनके लड़के--अगर वे इस समय कहीं जीवित हों तो--वे भी दुखी हैं।

नरेन्द्र : (उत्सुक होकर) किसके लड़के?

चम्पा : दीवान रघुवंशसिंह के।

नरेन्द्र : उनका नाम क्या था ?

चम्पा : नरेन्द्र, हाँ (कुछ सोचकर) हाँ, यही नाम था।

नरेन्द्र : मालूम होता है, यह नाम आपके लिए बहुत अप्रिय है। नरेन्द्र—तीन अक्षर का नाम उच्चारण करना--आपकी जीभ लड़खड़ा उठी। कठिनता से किसी तरह इस नाम का उच्चारण आपसे हो सका। इतने जीव एक साथ दुखी हैं और इन सबके दुख का कारण यही {गजराज की ओर संकेत कर} यह बुड्ढा है। यही न ?

नरेन्द्र : (जैसे सोचने की मुद्रा में) हूँ--तो मतलब यह कि अगर किसी तरह इसका दु:ख मिटा दिया जाय, तो इन सब अभागों का दु:ख मिट जायेगा। मिट जायेगा न {चम्पा की ओर देखने लगता है। चम्पा सिर नीचे कर जमीन की ओर देखने लगती है} इधर देखो रानी! एक साथ तुम्हारी इतनी प्रजा दुखी है।

चम्पा : तो मैं क्या करूँ स्वामिन्...!

नरेन्द्र : वही जो माता का काम है। अपने हृदय को विशाल करो, शीतल करो और इन अभागों को उसी में जगह दो।

चम्पा : आप क्या कह रहे हैं?

नरेन्द्र : कोई नई बात नहीं। तुम्हारा स्थान तो जगदम्बा का स्थान है।

चम्पा : तो आप छायावाद में बोल रहे हैं।

नरेन्द्र : छायावाद में तो साहित्य के रोगी बोलते हैं और धर्म के अन्धे। मैं तो राजयोगी हूँ-राजा हूँ। छायावाद मेरे लिए नहीं है। नरेन्द्र को आपने कभी देखा था या नहीं? {चम्पा सन्देह से उसकी ओर देखती है} हाँ, कहिए।

चम्पा : इसका उत्तर देना...यह जानकर आप क्या करेंगे?

नरेन्द्र : अच्छा तो आपने उसे देखा था। शायद आपसे उसका कुछ अधिक अनिष्ट भी हुआ। इसलिए उसके संबंध में आप असमंजस में पड़ी हैं। क्यों, है यही बात न?

चम्पा : (रूखे स्वर में) नहीं...

नरेन्द्र : लेकिन स्वर क्यों बदल गया? मेरी ओर इतने ध्यान से क्यों देख रही हैं। अगर मैं भी इस तरह आपकी ओर देख लूँगा, तो आप बेहोश हो जायेंगी। मेरी आँखें आप सँभाल नहीं सकतीं--इस तरह न देखा कीजिए, खतरा है। मैं आपको सचेत कर देता हूँ।

चम्पा : हूँ, तब तो आप पूरे जादूगर हैं! योगी की सिद्धि तो आध्यात्मिक होती है, इस तरह की शारीरिक नहीं।

नरेन्द्र : देखता हूँ, आपकी जीभ बड़ी तेज है। जैसे योगी को आपने अपनी गोद में खेलाया हो। श्रीमतीजी, कालेजका तर्क यहाँ काम नहीं करेगा। शब्दों का ज्ञान बहुत काम नहीं आता।

{गजराज के समीप जाकर उसके सिर पर, छाती पर जाँघ पर, फिर पैर पर हाथ रखता है। चम्पा भी समीप जाकर देखने लगती है} इसके दोनों पैर एक में मिलाकर पकड़ो तो। {चम्पा गजराज के दोनों पैर मिलाकर दोनों हाथों से पकड़ती है। नरेन्द्र उसके दोनों हाथ पकड़कर कुछ आगे झुककर अपनी छाती पर रख लेता है} जोर से पकड़े रहना। अभी पैर बड़े जोरों से काँपने

लगेंगे। छूटने न पायें। {नरेन्द्र गहरी साँस लेने लगता है। उसकी छाती साँस खींचने के समय आगे को निकल जाती है और उसके साथ-ही-साथ गजराज के दोनों हाथ आगे-पीछे होने लगते हैं}

{स्ट्रेचर लिये हुए दो आदमियों के साथ शत्रुसूदन का प्रवेश। शत्रुसूदन यह सब देखकर अवाक् रह जाते हैं। उनके साथी स्ट्रेचर रख कर पीछे हटकर खड़े होते हैं। शत्रुसूदन चम्पा के पास आकर खड़े होते हैं। }

चम्पा : {शत्रुसूदन की ओर देखकर} इसे पकड़िए। जैसे मेरा हाथ टूटा जा रहा है।

{ शत्रुसूदन ज्योंही अपने हाथ बढ़ाता है, नरेन्द्र हिलाकर 'नहीं' संकेत करता है। शत्रुसूदन चुपचाप खड़ा हो जाता है। गजराज के पैर थर-थर-थर काँपने लगते है; साथ-ही-साथ चम्पा के हाथ भी जोरों से हिलने लगते हैं ; चम्पा नाक सिकोड़ लेती हैं, जैसे बड़ी तकलीफ हो रही हो। नरेन्द्र जोर से साँस लेने लगता है। उसके सिर से पसीना चल कर सब ओर से मुँह पर बहकर टप-टप चूने लगता है। चम्पा उसकी ओर देखती है। }

नरेन्द्र : बस छोड़ दो पैर {चम्पा पैर छोड़ देती है। नरेन्द्र उसके हाथ छोड़ देता है, जो कि झटके के साथ पृथ्वी पर गिरते हैं। } गजराज! गजराज! (गजराज उठता है) गजराज!

गजराज : जी सरकार...

नरेन्द्र : कैसी तबीयत है?

गजराज : { छाती पर हाथ रखकर } बड़ी गर्मी मालूम हो रही है।

नरेन्द्र : उठो, खड़े हो। {गजराज उठकर खड़ा होता है}

नरेन्द्र : यहाँ आओ। {गजराज उसके पास जाकर खड़ा होता है। नरेन्द्र उसकी छाती पर हाथ रखता है} यहाँ दर्द हो रहा है?

गजराज : हाँ महाराज--

नरेन्द्र : यह दर्द तुम्हें कितने दिनों से है?

{ गजराज सिर नीचे की ओर कर चुपचाप खड़ा रहता है। }

शत्रुसूदन : गजराज! बतला दो। स्वामीजी पूछ रहे हैं।

चम्पा : शायद कुछ विचार कर रहे हैं।

शत्रुसूदन : तुम लोग स्ट्रेचर लेकर जाओ।

{ उन दोनों आदमियों का स्ट्रेचर लेकर प्रस्थान }

नरेन्द्र : गजराज ! {गजराज उसी तरह सिर नीचे की ओर किये खड़ा रहता है।} हूँ, तो तुम अपनी बीमारी से प्रेम करते हो। उसे छोड़ नहीं सकते।

गजराज : { नरेन्द्र की ओर देखकर } महाराज, आज मुझे छोड़ दीजिए। किसी दूसरे दिन कह दूँगा।

नरेन्द्र : दूसरे दिन नहीं जी, आज मैं तुम्हारी बीमारी निकाल दूँगा।

गजराज : तब रहने दीजिये मुझे इसी तरह।

नरेन्द्र : लेकिन यह नहीं हो सकता। {चम्पा की ओर देखकर} योगी रोगी नहीं छोड़ सकता। योगी तो केवल संसार की व्याधि दूर करता है। यही उसका काम है। {दायें हाथ की मुट्ठी बाँधकर हिलाते हुए} तुम्हारा दु:ख मेरा दु:ख है, सारे संसार का दु:ख है। मैं उसे रहने नहीं दूँगा। इसीलिए पूछ रहा हूँ, तुम्हारा रोग कितना पुराना है? उसके अनुसार उपचार करूँगा! बोलो।

गजराज : मेरा रोग बहुत पुराना है महराज ! उसके लिए कोई दवा है ही नहीं।

नरेन्द्र : मैं फिर कहता हूँ, तुम अपने रोग से प्रेम कर रहे हो। आत्मा के ऊपर प्रकृति, चेतन के ऊपर जड़।

गजराज : नहीं समझा (गहरी साँस लेता है)

नरेन्द्र : तब तुम्हें वह भी समझाना पड़ेगा। आत्मा का रोग मनुष्य नहीं समझता; उसके लिए भी शारीरिक औषधियाँ खाता है। गजराज, मैं तुम्हारी व्याधि निकालूँगा।

गजराज : जो तबीयत हो, कीजिए महाराज। मुझसे कुछ न पूछिए।

शत्रुसूदन : क्यों गजराज? स्वामीजी तुम्हारे ही लिए...

गजराज : ठीक है सरकार, मेरे ही लिए। लेकिन मैं कुछ न बताऊँगा।

चम्पा : तो इसी तरह बीमार रहोगे?

गजराज : इसी तरह तो बहुत दिनों से हूँ। वैसे ही रहूँगा। {नरेन्द्र की ओर हाथ जोड़कर} रहने दीजिए ! महाराज! मुझे इसी तरह।

नरेन्द्र : रोगी का यही तो स्वभाव है। रोग पड़ा रहे, प्राण चला जाय; लेकिन रोग निकालने में कोई कष्ट न उठाना पड़े। यह सबका स्वभाव है गजराज, तुम्हारा ही नहीं। {शत्रुसूदन और चम्पा की ओर देखकर} ये लोग भी रोगी हैं। लेकिन इन लोगों के लिए अभी समय... लेकिन तुम्हारे लिए, तुम्हारा समय तो अब आ गया। अगर अब नहीं तो कभी नहीं। चले जाने पर मैं फिर कभी यहां आऊँगा या नहीं, कौन जाने? इसलिए कम-से-कम तुम्हें तो इसी समय स्वस्थ करना है। इधर देखो मेरी ओर...देखो। {गजराज नरेन्द्र की ओर देखता रहता है} इधर देखो, मेरी आँख की ओर, मेरी आँख की ओर {थोड़ी देर तक दोनों एक दूसरे की ओर देखते रहते हैं। चम्पा शत्रुसूदन के पास जाकर खड़ी होती है} कैसा मालूम हो रहा है गजराज?

गजराज : आँख में पानी आ रहा है महाराज!

नरेन्द्र : {पृथ्वी की ओर संकेत कर} अच्छा, तुम यहाँ लेट जाओ। मुँह सीधे आकाश की ओर रहे।

गजराज : (अनिच्छापूर्वक) महाराज!

शत्रुसूदन : हाँ, हाँ, लेट जाओ। डरते क्यों हो?

{गजराज आकाश की ओर देखता हुआ लेट रहता है। नरेन्द्र उसके दोनों पैरों को मिलाकर और दोनों हाथों को बगलों में सीधा कमर से लगाकर रख देता है।}

नरेन्द्र : चन्द्रमा की ओर देख रहे हो?

गजराज : हाँ।

{ चम्पा बड़े ध्यान से गजराज की ओर देखने लगती है! शत्रुसूदन अपना हाथ चम्पा के कंधे पर रख देता है। }

नरेन्द्र : चन्द्रमा की ओर नहीं, मेरी ओर देखो। मेरी आँखें साफ देख पड़ रही हैं न?

गजराज : जी...

नरेन्द्र : इसी तरह देखते रहो।

गजराज : कब तक?

नरेन्द्र : जब तक देख सको।

गजराज : इस तरह तो रात-भर देखता रह जाऊँगा।

नरेन्द्र : (हँसते हुए) रात-भर देखता रह जाऊँगा।

नरेन्द्र : (हँसते हुए) रात भर देख सकोगे?

गजराज : हाँ स्वामीजी, आप देखिए।

नरेन्द्र : {झुककर उसके सिर पर हाथ रखता है} तुम वीर हो, इसमें संदेह नहीं। आँख बन्द करो तो अब। {गजराज आँखें बन्द करता है। नरेन्द्र उसके चारों ओर दो-तीन बार घूमता है। फिर रुककर दोनों हाथों की उँगलियों को तेजी से हिलाकर अपने हाथ उसके सिर की ओर से उसके पैर की ओर ले जाता है। उसका हाथ उसके शरीर से केवल चार अंगुल के अन्तर पर ऊपर रहता है। कई बार उँगलियाँ हिलाकर अपने हाथ उसके सिर की ओर से पैर की ओर ले जाता है। मालूम होता है, जैसे कोई चीज उसके सिर से पैर की ओर उतार रहा है। गजराज की आँखें दोनों हाथों से छूकर} सो जाओ! खूब गाढ़ी नींद में सो जाओ। गाढ़ी नींद, गाढ़ी नींद। गजराज! गजराज!

गजराज : (धीमे स्वर में) हाँ।

नरेन्द्र : नींद आ रही है न?

गजराज : {और भी धीमे स्वर में} हाँ।

{नरेन्द्र फिर अपने दोनों हाथों की उँगलियों को हिलाकर उसके सिर की ओर से पैर की ओर ले जाता है। गजराज गहरी साँस लेने लगता है, जिससे मालूम होता है कि वह सो गया! नरेन्द्र दायें हाथ से उसका सिर, छाती, जाँघ और पैर छूता है। थोड़ी देर तक झुककर उसके मुँह की ओर देखता है। गजराज का सिर, जो सीधे ऊपर था; एक ओर बगल में झुक जाता है}

नरेन्द्र : गजराज! गजराज! गजराज! सो गया।

चम्पा : सो गये?

नरेन्द्र : हाँ, ऐसी गहरी नींद इसे शायद बहुत दिनों के बाद आई होगी।

चम्पा : देखूँ, सो गया है, {गजराज का हाथ पकड़ कर खींचती है।}

नरेन्द्र : इसकी साँस से नहीं मालूम होता। इस समय तो सूई चुभाने पर भी इसकी नींद नहीं खुलेगी!

शत्रुसूदन : (समीप जाकर) आपने इन्हें बिलकुल बेहोश कर दिया!

नरेन्द्र : बेहोश नहीं कर दिया जी--सुला दिया। छोड़ दो, रात-भर यहीं सोता रहे।

शत्रुसूदन : और अगर मर जाय!

नरेन्द्र : मर क्यों जाय?

शत्रुसूदन : शायद फिर होश न हो!

नरेन्द्र : लेकिन क्यों?

चम्पा : क्यों नहीं--

'जिन या वेदन निरमई, भला करेगो सोय!'

शत्रुसूदन : तुम्हारा संगीत और कवित्व ऐसे ही अवसर पर निकलता है।

नरेन्द्र : लेकिन उसके लिए उपयुक्त अवसर भी यही है। दु:खी जीव {गजराज की ओर संकेत कर} अपना दु:ख भूलकर असीम के साथ एक हो गया है। यही तो अवसर है संगीत और कवित्व का...अगर इनका उद्देश्य सचेत करना हो तो, आत्मा को मुक्त करना हो तो ; लेकिन अगर इनका अभिप्राय शराब की मस्ती लानी हो, तब तो फिर बात ही दूसरी है।

शत्रुसूदन : अब क्या होगा ?

नरेन्द्र : बच्चे की तरह घबड़ा क्यों रहे हो ? मेरी इससे कोई शत्रुता तो हैं नहीं कि मैं इसे मार डालूँगा। और फिर मार डालना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। इसकी बीमारी कैसे दूर की जाय ? इसमें तो सन्देह नहीं कि इसने कभी कोई-न-कोई बुराई की। उसका पश्चात्ताप इसे अब भी होता है। कैसी बुराई की, यह तो यह बतलायेगा नहीं, और जब तक कि बात प्रकट नहीं हो जाती...इसका पश्चात्ताप कम भी नहीं होगा।

चम्पा : यह तो नहीं बतलावेंगे।

नरेन्द्र : { चम्पा की ओर देखकर } मैं यहीं पूछता हूँ। देखो अभी बतलाता है या नहीं। मनुष्य अपने हृदय को कितना ही छिपाकर रक्खे, मेरी दृष्टि उसके भीतर चली जाएगी। कोई मनुष्य हो। कहो मैं तुम्हारे हृदय का चित्र रख दूँ।

चम्पा : लेकिन वह मिलेगा कहाँ ?

नरेन्द्र : तुम्हारे हृदय में से ; और केवल तुम्हारे ही नहीं, हर किसी के हृदय में से। तुम जितना समझ रही हो, मेरे लिए तुम्हारा हृदय उतना सुरक्षित और गुप्त नहीं है। {गजराज की ओर संकेत कर} देखो इसका हृदय। देखती हो, तुम्हारा या किसी भी स्त्री का हृदय इससे बड़ा हो नहीं सकता। जब यह मेरे वश में आ गया, तो तुम्हारी क्या बात ! {शत्रुसूदन की ओर ध्यान से देखने लगता है} क्यों राजकुमार, मैंने ठीक कहा या नहीं ?

शत्रुसूदन : {जैसे गहरे विचार में} हो सकता है।

नरेन्द्र : इतने गम्भीर होकर नहीं लड़के ! तुम्हें तो इस पर हँस पड़ना चाहिए। पुरुष का हृदय स्त्री के हृदय से सदैव बलवान होता है। स्त्री किस बात पर दम्भ करे। इस जमाने में स्त्री पुरुष की प्रतिहिंसा में खड़ी हो रही है। प्रकृति का बदला वह लेना चाहती है पुरुष से। उसकी आँखों में अधिक आँसू हैं--इसलिए कि उसके हृदय में अधिक गर्मी है--इसमें पुरुष का क्या अपराध ?

चम्पा : स्वामीजी का चले तो संसार से स्त्रियों का निर्वासन कर दें।

शत्रुसूदन : {चम्पा की ओर देखकर} चुप रहो ! {उसकी ओर घूरकर देखने लगता है}

नरेन्द्र : इस तरह का दबाव सदैव हानिकर होता है राजकुमार ! बात तो इन्होंने बिलकुल सच्ची कही। सचाई को दबाना ही तो पाप है। पाप की परिभाषा वही है जो असत्य की है।
{गजराज के सिर पर हाथ रखकर} गजराज ! गजराज ! गजराज !

गजराज : जी...

नरेन्द्र : देख रहे हो ?

{ दीवान रघुवंशसिंह उसी वेश में खुली तलवार लेकर प्रवेश करते हैं और जहाँ ये लोग हैं, उससे दस कदम पीछे चुपचाप खड़े हो जाते हैं। }

गजराज : हाँ, देख रहा हूँ।

चम्पा : होश हो गया क्या ?

नरेन्द्र : जो होश बराबर रहता था, वह बाहरी होश तो अभी होगा नहीं, जब तक मैं चाहूँगा नहीं, लेकिन यह भीतरी होश मैंने पैदा कर दिया है। मैं पूछता जाऊँगा और यह उत्तर देता जायेगा, और इस तरह मैं इसकी बीमारी... उसकी जड़ निकाल लूँगा। गजराज ? किसे देख रहे हो ?

गजराज : आपको।

चम्पा : आँख तो बन्द है।

नरेन्द्र : वह तो है ही!

चम्पा : तब देख कैसे रहे हैं ?

नरेन्द्र : वह बात इतनी सरल नहीं है कि बतलाई जा सके। चुपचाप सुनो। गजराज!

गजराज : जी...

नरेन्द्र : यहाँ और कौन-कौन लोग हैं ?

गजराज : स्वामीजी, रानी और मालिक!

नरेन्द्र : मालिक कौन जी ?

गजराज : दीवान रघुवंशसिंह।

नरेन्द्र : वह कहाँ हैं जी ? वह तो यहाँ नहीं हैं।

गजराज : हैं तो ?

नरेन्द्र : कहाँ हैं। ध्यान से देखो।

गजराज : देख लिया। अपने पीछे देखिए।

{ नरेन्द्र, शत्रुसूदन, चम्पा सब उसी ओर देखते हैं। रघुवश सिंह आगे बढ़ते हैं। }

रघुवंशसिंह : राजकुमार, मैं यह तलवार लिये गया। यह रतनपुर के दीवान की तलवार है। ले लो; जिसे गद्दी देना, यह तलवार भी दे देना। बड़े सरकार ने दी थी; तुम ले लो। {सिर से पगड़ी उतारकर} और इसे भी {तलवार और पगड़ी शत्रुसूदन के पास जमीन पर रख देता है। फिर गजराज के पास खड़ा होकर} गजराज! गजराज!

नरेन्द्र : {रघुवंशसिंह को संकेत से मना कर} गजराज!

गजराज : जी...हाँ।

नरेन्द्र : कैसी तबीयत है ?

गजराज : आसमान में उड़कर कहीं जा रहा हूँ। बड़ा अच्छा मालूम हो रहा है!

नरेन्द्र : अच्छा; यह बतला सकते हो--राजकुमार के पिता का नाम क्या था ?

गजराज : सुरेशसिंह।

नरेन्द्र : तुम्हारे कितने बच्चे हुए थे ?

गजराज : एक...

रघुवंश : हे भगवान! इसकी तो शादी हुई ही नहीं!

नरेन्द्र : गजराज, तुम्हारी शादी हुई थी ?

गजराज : नहीं।

नरेन्द्र : तब तुम्हें बच्चा कहाँ से हुआ ?

गजराज : एक लड़की हुई थी। दूसरे की स्त्री से। मेरा उससे बुरा सम्बन्ध हो गया।

नरेन्द्र : वह स्त्री अभी जीवित है ?

गजराज : मर गई।

नरेन्द्र : और वह लड़की·!

गजराज : वह तो है।

नरेन्द्र : कहाँ है वह इस समय ?

गजराज : यही है। यही खड़ी है। यही चम्पा ?

रघुवंश : झूठ कह रहा है !

{ चम्पा और शत्रुसूदन एक दूसरे की ओर देखने लगते हैं। }

नरेन्द्र : तुम यह बतला सकते हो गजराज, कि जिस स्त्री से चम्पा पैदा हुई थी, उसकी शादी किससे हुई थी ?

गजराज : ठाकुर बिहारीसिंह से।

चम्पा : अब कुछ न पूछिये स्वामीजी, अब कुछ न पूछिए। नहीं नहीं, कुछ न पूछिए।

शत्रुसूदन : क्यों ? जो सचाई है, खुल जाने दो। रोक क्यों रही हो ?

चम्पा : हर्गिज नहीं, मैं सुनना नहीं चाहती।

शत्रुसूदन : नहीं सुनना चाहती, तो कान बन्द कर लो या यहाँ से चली जाओ।

नरेन्द्र : अच्छा, मैं अब इसे होश में लाता हूँ। अब नहीं पूछूँगा। मैं तो इसके दुःख का कारण ढूँढ़ना चाहता था।

शत्रुसूदन : स्वामीजी, इसके दुःख का कारण यही है। आज ही घंटे-दो-घंटे पहले इसने {चम्पा की ओर संकेत कर } इससे कहा था कि मेरे, अपने, इसके, दीवान साहब के और नरेन्द्र के दुःख का कराण यही है ; इस गजराज के पाप का फल हम सब लोगों को एक ही साथ उठाना पड़ रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका यह कहना केवल इसी बात पर लागू हो सकता है। शाम को आपके आने से पहले मुझसे भी कह चुका था।

रघुवंश : एक पहर में ही यह सब हो गया। {नरेन्द्र की ओर देखकर} क्यों महाराज, गजराज का कहना सच हो सकता है ? मैं तो समझता हूँ, झूठ बोल रहा है।

नरेन्द्र : दीवान साहब ! झूठ बोलना तब होता है, जब आदमी अपने होश में रहकर अपने लाभ के विचार से कोई बात कहता है।इस समय यह झूठ तो नहीं बोल सकता। लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह बिलकुल सच बोल रहा है। जो बात इसे मालूम है, अभी घड़ी-दो-घड़ी पहले जिस बात को यह सत्य समझता था, वही कह रहा है। {चम्पा की ओर संकेत कर} इनके जन्म के सम्बन्ध में जो बात यह जानता है, कह रहा है। {चम्पा वहीं पृथ्वी पर बैठकर घुटनों में अपना सिर दबा लेती है} रानी, दुःख न मानना। अगर यह बात सत्य भी है, तो इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। अगर तुम्हें दुःख न हो तो मैं इससे और पूछूँ। देखूँ, क्या कहता है ; धीरज धरो। सत्य अगर यही है तो इसका सामना करो।

शत्रुसूदन : स्वामीजी, पाँच वर्ष से इस स्त्री के साथ मैं नरक में पड़ा हूँ। लाख प्रयत्न किये, इसे प्रसन्न नहीं कर सका। सिंहिनी के सामने हाथी के बच्चे की जो हालत होती है, वही हालत इसके साथ मेरी रही है। आह नरक ! घोर नरक !

रघुवंश : राजकुमार......

नरेन्द्र : राजकुमार! यह सृष्टि ईश्वर की है और इसका आधार है दया और अनुकम्पा। और तुम तो जैसे सत्य के फकीर बने हो। यह तो कहो, उस घोर नरक का स्वागत तुमने स्वयं किया था या यह स्त्री तुम्हें उसमें खींच ले गई? स्वार्थबुद्धि को छोड़कर न्याय से काम लेना। स्त्री रहते हुए तुमने इससे शादी क्यों की? जो बात इसमें तब थी, वही अब भी है।

शत्रुसूदन : वह बात अब नहीं है। कुल और वंश की मर्यादा एक ओर, और व्यभिचार से पैदा हुई लड़की दूसरी ओर--

नरेन्द्र : विवाह के समय तुमने कुल और वंश की मर्यादा का खयाल नहीं किया था; नहीं तो क्या जिस लड़की की हल्दी दूसरे के साथ हो गई थी, उससे तुम शादी कर लेते? देखो, इस नब्बे वर्ष के बुड्ढे {रघुवंश की ओर संकेत कर} की ओर देखो, इसकी दुनिया तुमने उजाड़ दी। इसके हृदय से पूछो, क्या कह रहा है? यह उसी पाप का प्रायश्चित है और अभी बहुत दिनों तक चलता रहेगा!

चम्पा : (उठकर) स्वामीजी, पूछिए गजराज से। मैं भी विचार करती हूँ, इसका कहना सच मालूम हो रहा है।

नरेन्द्र : (प्रसन्न होकर) ठीक, इस अभागे देश की स्त्रियों को साहस करना होगा। भगवती बनना होगा, नहीं तो उनकी यातना का अन्त नहीं। (गजराज के सिर पर हाथ रखकर) गजराज!

गजराज : (धीमे स्वर में) हाँ...

नरेन्द्र : चम्पा तुम्हारी लड़की है?

गजराज : हाँ...

नरेन्द्र : चम्पा तुम्हारी लड़की है?

गज़राज : हाँ...

नरेन्द्र : तुमने अब तक क्यों नहीं कहा?

गजराज : मारे लाज के--डर के।

नरेन्द्र : ठाकुर बिहारीसिंह को यह बात मालूम थी?

गजराज : हाँ...

नरेन्द्र : तुम्हारे पास इस बात का कोई सबूत है?

गजराज : हाँ...

नरेन्द्र : क्या है?

गजराज : दुलहिनजी की एक चिट्ठी। चम्पा की शादी के बाद उन्होंने मुझे बुलाया था। लेकिन मैं लाज से नहीं गया। फिर उन्होंने मुझे समझाने के लिए वह चिट्ठी लिखी थी।

नरेन्द्र : तुम पढ़ना जानते हो?

गजराज : थोड़ा-बहुत पढ़ लेता हूँ। उसी चिट्ठी को पढ़ने के लिए मैं सरकार से छः महीना हिन्दी पढ़ता रहा।

नरेन्द्र : तब फिर छः महीने के बाद तुमने पढ़ा?

गजराज : तब कैसे पढ़ी।

नरेन्द्र : तब भी ठीक-ठीक नहीं पढ़ सका?

गजराज : एक पड़ोसी से पढ़वाया था।

नरेन्द्र : {शत्रुसूदन की ओर देखकर} इसे अब होश में लाना चाहिए। नहीं तो इसके शरीर पर इसका बुरा असर पड़ेगा।

शत्रुसूदन : अभी नहीं। यह पूछिये, वह चिट्ठी कहाँ है ?

नरेन्द्र : वह चिट्ठी कहाँ है गजराज!

गजराज : बाईं टेंट में, चुनवटी के भीतर।

{ नरेन्द्र झुककर उसकी टेंट से चुनवटी निकाल लेता है। चुनवटी खोलकर लाल कपड़े में बँधी कागज की एक पुड़िया निकालता है। धीरे-धीरे पुड़िया खोलता है। अलफी में हाथ डालकर 'चोरबत्ती' निकालता है। बायें हाथ में चिट्ठी लेकर दायें हाथ से बत्ती इधर-उधर कागज पर घुमाता है। }

नरेन्द्र : हाँ, सबूत तो काफी है।

चम्पा : {आगे बढ़कर चिट्ठी ले लेती है} मैं पढ़ूँगी {नरेन्द्र रोशनी दिखाता है, चम्पा मन-ही-मन चिट्ठी पढ़ जाती है} अम्मा का लिखा है। तो मैं गजराज की लड़की हूँ, वह भी अधर्म की!

{ गजराज दो-तीन बार जमीन पर हाथ पटकता है। नरेन्द्र तेजी से उसके पास जाकर अपने दोनों हाथ, उँगलियों को हिलाते हुए, पैर की ओर से सिर की ओर फेरता है। पांच-सात बार हाथ घुमाने पर गजराज उठकर बैठ जाता है और चौंककर चारों ओर देखने लगता है }

चम्पा : {गजराज का हाथ पकड़ कर} मैं तुम्हारी लड़की हूँ ?

गजराज : (चौंककर) कौन कहता है ?

चम्पा : अभी तुमने कहा है!

गजराज : झूठ है, झूठ है, मैं नहीं—मैं नहीं...

चम्पा : (चिट्ठी दिखलाकर) और यह अम्मा की चिट्ठी है, जिसे तुम चुनवटी में रखे थे!

{ गजराज घबड़ाकर चारों ओर देखता है। फिर हाथों में मुँह छिपा लेता है। }

{परदा गिरता है}

तीसरा अंक

[वही कमरा। कुर्सियाँ उसी तरह दीवार के किनारे एक सीध में रक्खी हैं। चारपाई भी, जो कमरे के बीच में थी, उसी तरह बिछी पड़ी है। लेकिन वह चारपाई जो उस दरवाजे के पास थी, जिससे होकर भीतर और ऊपरी तह में जाने का रास्ता है, वहाँ से हटा दी गई है। सामने दीवार पर घड़ी में ग्यारह बज रहे हैं। केवल पाँच मिनट की देर है।

भीतरी दरवाजे से होकर नरेन्द्र का प्रवेश। वह सामने वाली दीवार पर लगे हुए चित्रों को बारी-बारी देखने लगता है। वह वही रेशमी अलफी पहने है। लेकिन इस समय उसके गले में जूही की एक मोटी माला है, जिसे बायें हाथ से उठाकर वह कभी-कभी सूँघ रहा है और उसके सिर पर नीले रंग की कामदार चादर साफे की तरह पड़ी है, जिसमें उसका बाँयाँ कान छिपा है और चादर का एक छोर बाँई ओर बगल से होकर पताका की तरह त्रिकोण बनाता हुआ नीचे को लटक रहा है। बिजली की रोशनी में उसका कामदार अंश हिलने के साथ ही चमक उठता है। वह एक चित्र के पास खड़ा होकर उसे ध्यान से देखने लगता है। दोनों हाथ उठाकर चित्र पकड़ता है। फिर उसे छोड़कर एक बार चारों ओर तेजी से दृष्टि दौड़ाकर कमरे में देखता है और वहाँ से हटकर घड़ी के ठीक नीचे आकर खड़ा होता है। वहीं दीवार से लगी हुई कुर्सी पर चढ़कर घड़ी खोलता है और उसकी बड़ी सुई ठीक बारह के अंक पर कर देता है! घड़ी बजने लगती है। नरेन्द्र वहीं कुर्सी पर खड़ा-खड़ा घड़ी की ओर देखता रहता है।

बाहर के दरवाजे से रघुवंशसिंह का प्रवेश। वह आगे बढ़कर नरेन्द्र जिस कुर्सी पर खड़ा है, उसके पास जाकर खड़ा होता है]

रघुवंश : घड़ी गलत है?

नरेन्द्र : (रघुवंश को देखकर) नहीं, मैंने पाँच मिनट बढ़ा दिया।

रघुवंश : पाँच मिनट सुस्त थी?

नरेन्द्र : सुस्त तो नहीं थी।

रघुवंश : तब क्यों?

नरेन्द्र : यह देखने के लिए कि घड़ी में पाँच मिनट बढ़ा या घटा देने से काल तो नहीं घट-बढ़ जाता?

{ रघुवंश जैसे कुछ गम्भीर होकर नरेन्द्र की ओर देखने लगता है। नरेन्द्र उतरकर चारपाई पर आकर लेटा रहता है। }

रघुवंश : (चारपाई के पास आकर) स्वामीजी!
{ नरेन्द्र चुप रहता है, कोई उत्तर नहीं देता। }
आप सुन नहीं रहे हैं?

नरेन्द्र : क्या कहा आपने?

रघुवंश : यही कि आप सुन नहीं रहे हैं?

नरेन्द्र : मैंने घड़ी की सुई इसलिए बढ़ा दी थी कि हम लोग काल की सीमा घड़ी की सुई के अनुसार निश्चित करते है; यह ठीक नहीं है। (घड़ी में देखकर) देखिए, उधर घड़ी में ग्यारह बजकर पाँच मिनट हो रहा है। आपके लिए तो

यही समय है। इधर मैंने अभी पाँच मिनट बढ़ा दिया है, तो मेरे लिए अभी ग्यारह बजा है। अगर कोई और भी घटाये-बढ़ाये हो तो समय कुछ और होगा। अब यह घटती-बढ़ती घड़ी में है, इस घटती-बढ़ती का प्रभाव काल पर तो पड़ता नहीं।

{ रघुवंश की ओर ध्यान से देखने लगता है। रघुवंश भी उसकी ओर देखते है--नरेन्द्र एकाएक चारपाई से उठकर एक कुर्सी उठाकर चारपाई के पास रख देता है, और रघुवंश का हाथ पकड़ लेता है। } आप बैठिए इस कुर्सी पर।

रघुवंश : {झटके से हाथ छुड़ाकर कई कदम पीछे हटकर} नहीं नहीं महाराज, ऐसा क्या ? आपसे कुर्सी उठवाकर उसपर बैठूँ ? (ऊपर हाथ उठाकर) वहाँ क्या जवाब दूँगा ?

नरेन्द्र : (असमंजस के स्वर में) आप वृद्ध हैं। आपके लिए कोई दोष नहीं होगा।

रघुवंश : वृद्ध तो हूँ--लेकिन माया के कुण्ड में जो हूँ ?

नरेन्द्र : लेकिन माया के कुण्ड में ही सारा जगत् है ! योगी, तपस्वी, पंडित, गृहस्थ, सब कोई। आप क्या समझते हैं कि मैं माया जीत चुका हूँ ? (अलफी पकड़कर) यह माया नहीं है ? (माला पकड़कर) यह माया नहीं है ? (पगड़ी छूकर) और यह भी तो माया है। {रघुवंश गंभीर होकर नरेन्द्र की ओर चुपचाप देखने लगता है} आप किस विचार में हैं ?

रघुवंश : स्वामीजी, मेरा एक लड़का था।

नरेन्द्र : जानता हूँ... सुन चुका हूँ। शत्रुसूदन ने सब कुछ कह दिया। चम्पा से उसकी शादी तय हो चुकी थी--दोनों ओर हल्दी भी हो गई थी।

रघुवंश : जी हाँ...

नरेन्द्र : (रघुवंश का हाथ पकड़कर) मैं कहता हूँ--बैठिए इस कुर्सी पर। बैठिए, और कुछ नहीं तो मेरा कहा तो मानना होगा आपको। {रघुवंश कुर्सी पर बैठता है, नरेन्द्र चारपाई पर लेटकर तकिया दुहरी कर सिर के नीचे रख लेता है} घड़ी-दो-घड़ी में यह संसार बदल गया। गजराज, चम्पा, शत्रुसूदन, मैं आप ; सब बदल गये। कोई भी वह नहीं रहा। गजराज है कहाँ...?

रघुवंश : वहीं बैठा है। बहुत कहा... उठता ही नहीं।

नरेन्द्र : समुद्र में डूब गया था। यह तो उसका पुनर्जन्म है। उसकी बीमारी निकल गई।

रघुवंश : बीमार तो वह नहीं था।

नरेन्द्र : (मुस्कराकर) उसकी बीमारी तो राजरोग थी। और वह भी इस बात को जानता था कि उसकी कोई दवा नहीं है। भय और सन्देह, पश्चात्ताप और प्रायश्चित की आग धीरे-धीरे सुलग रही थी। उसके हृदय उसकी आत्मा की गंगा के किनारे श्मशान था। उसकी तो मुक्ति हो गई। अब तक तो वह भागता रहा। उसकी अपनी ही छाया उसके लिए भूत थी। अब वह साहस के साथ खड़ा होगा। पापी अपना पाप छिपाने में अनेक पाप करता है ; और जब छिपाने का अवसर नहीं रहता, वह ऊपर देखता है--उसका बोझ हल्का हो जाता है और वह नई यात्रा आरम्भ करता है।

{रघुवंश की ओर ध्यान से देखते हुए} समझ रहे हैं कि नहीं आप ? न्याय कचहरी में नहीं होता। मनुष्य की अदालत जिसे दण्ड देती है, उसे सदैव के लिए अपराधी बना देती है। न्याय

तो वास्तव में होता है मनुष्य के हृदय में, और विचारक का काम करती है स्वत: उसकी आत्मा। दुनिया की अदालतें तो केवल अपराध बनाने के लिए बनी हैं। गजराज का न्याय उसकी आत्मा ने कर दिया। वह अब निर्दोष है।

रघुवंश : निर्दोष ? स्वामीजी !

नरेन्द्र : (उठकर बैठते हुए) जी हाँ--उसका प्रायश्चित भी हो गया।

रघुवंश : प्रायश्चित कब किया ?

नरेन्द्र : चौबीस वर्ष तक बराबर। कोई पता न पावे। भय, आशंका, सन्देह। सब किसी से डरना--किसी के सामने सिर न उठाना। यह (सिर हिलाकर) साधारण प्रायश्चित है ? इस प्रायश्चित का यज्ञ आज समाप्त भी हो गया। उसका पाप उसका न होकर आज सारे जगत् का हो गया।

रघुवंश : मुझे तो उस पर दया आ रही है।

नरेन्द्र : हर किसी को, जिसके पास मनुष्य का हृदय होगा, उस पर दया आयेगी।

रघुवंश : (उठकर) मैं तो जा रहा हूँ फिर समझाने। उसे दुनिया छोड़ दे, लेकिन मैं तो नहीं छोड़ सकता। बुराई से तो कोई नहीं बचा--अकेले भगवान् को छोड़कर।

{ रघुवंश का प्रस्थान। नरेन्द्र उठकर जिस चित्र को देर तक देखता रहा है, वहाँ जाकर फिर खड़ा होता है और उसे फिर ध्यान से देखने लगता है। अपने गले की माला निकालकर, जिस पीतल की कील में चित्र लगा है, उसी पर डाल देता है। माला चित्र के शीशे पर फैल जाती है। नरेन्द्र लौटकर चारपाई पर लेटा रहता है तथा माला और चित्र की ओर देखने लगता है।

भीतरवाले दरवाजे से चम्पा और उसके पीछे शत्रुसूदन का प्रवेश। }

चम्पा : { नरेन्द्र की ओर देखकर } तो मुझे सचमुच आत्महत्या करनी पड़ेगी ?

नरेन्द्र : (शत्रुसूदन की ओर देखते हुए) राजकुमार !

शत्रुसूदन : (सहमकर) देखिए, यही इसकी मनोवृत्ति है।

चम्पा : (गम्भीर होकर) मुझे--आत्महत्या तो करनी पड़ेगी।

नरेन्द्र : (मुस्कुराकर) लेकिन किसलिए ?

चम्पा : इस जीवन का अन्त करने के लिए--जिसके साथ लांछन, अपमान, अवहेलना और...

नरेन्द्र : और क्या ?

चम्पा : जो अपराध मेरा नहीं है, उसे मेरे सिर मढ़ना !

नरेन्द्र : (शत्रुसूदन की ओर देखते हुए) राजकुमार...

शत्रुसूदन : (सिर नीचे कर) जी...

नरेन्द्र : तुम...

शत्रुसूदन : इसके भीतर इसकी माता का रक्त है।

नरेन्द्र : (धीमे स्वर में) किसी--डाक्टर से आपरेशन कराकर निकलवा दो। बस, इतने ही में समस्या सुलझ जाती है।

शत्रुसूदन : (जैसे बहुत साहस कर) यह हँसी का अवसर नहीं है।

नरेन्द्र : (चौंककर उठते हुए) क्या बात ? कहीं ज्वालामुखी तो नहीं भड़क पड़ा, या भूडोल आ गया जिससे इस मकान के गिरने का सन्देह है ! मुझे तो हँसी करना ही है राजकुमार, तुम्हारी मुर्खता पर। इतनी बात तो तुम जानते ही होगे कि तुम्हारा दबाव मुझ पर नहीं है। रही इस स्त्री की बात, तुमने इससे शादी की है। तुम, गजराज और यह, तुम तीनों एक ही नाव में बैठे हो। बुद्धि से काम लो। नाव के साथ तुम भी डूब जाओगे। तुम्हारी बुद्धिमानी इसी में है कि नाव न डूबने पाये। और चम्पा, तुम भी अपना स्वभाव बदल दो। राजकुमार तुम्हारे स्वामी हैं, तुम्हें अपने व्यक्तित्व को इनके भीतर मिला देना चाहिए। तुम्हारी पृथक् सत्ता मिट जानी चाहिए।

शत्रुसूदन : स्वामीजी...

नरेन्द्र : हाँ।

शत्रुसूदन : चम्पा ने मेरे हृदय को बार-बार...

नरेन्द्र : हाँ कहो......

{ शत्रुसूदन एकाएक चुप होकर नीचे धरती की ओर देखने लगता है। चम्पा और नरेन्द्र की चार आँखें होती हैं ! }

नरेन्द्र : राजकुमार ! चम्पा और गजराज की परीक्षा हो चुकी, अब तो तुम्हारी...

शत्रुसूदन : लेकिन मेरी परीक्षा की जरूरत क्या है ? और न मैं इसके लिए तैयार हूँ।

नरेन्द्र : हूँ, तो तुम कायर हो (शत्रुसूदन की ओर देखकर) कायर...कायर...

शत्रुसूदन : ऐसी वीरता तो सिद्धान्त और संस्कार के प्रतिकूल है।

नरेन्द्र : कैसी वीरता ?

शत्रुसूदन : वही जिसे आप आदर्श समझते हैं !

नरेन्द्र : मैं जिसे आदर्श समझता हूँ, वह तुम्हारे घड़ी-दो-घड़ी का विनोद, दिलबहलाव नहीं, जिसे तुम नहीं देखते--जिसकी ओर से तुम्हारी आँखें बन्द हैं, जिसके लिए तुम अन्धे हो, लेकिन जो तुम्हारा आधार है।

शत्रुसूदन : मेरा आधार है--मेरा व्यक्तिगत संस्कार और मेरे वंश की मर्यादा।

नरेन्द्र : हर्गिज नहीं। तुम्हारा आधार है तुम्हारी मनुष्यता। तुम्हारी आत्मा भूखी है, उसे भोजन दो। घड़ी-भर के लिए अपनी आत्मा को चम्पा के शरीर में आने दो, और चम्पा की आत्मा को अपने शरीर में जाने दो ; और देखो व्यक्तिगत संस्कार और वंश की मर्यादा कहाँ रहती है।

शत्रुसूदन : लेकिन किसलिए ?

नरेन्द्र : अपनी मनुष्यता को जगाने के लिए, अपनी आत्मा को नीरोग और स्वस्थ बनाने के लिए। अगर अब भी न समझे तो मैं समझूँगा कि तुम्हारा संस्कार साबुन और सिगरेट का है ; कुर्ता, धोती और चट्टी का है। संस्कार का अर्थ है दानव का शासन और देवता की पूजा। दानव के श्रृंगार तो तुमने अपना संस्कार बना लिया है।

शत्रुसूदन : स्वामीजी...मैं योगी नहीं।

नरेन्द्र : लेकिन योगी मनुष्यता का लांछन नहीं है। तुम योगी नहीं हो, इसीलिए इतने दुखी हो। { उसकी ओर ध्यान से देखने लगता है }

शत्रुसूदन : (नीचे देखते हुए) मैंने इसलिए नहीं कहा कि आप रुष्ट हो जायँ।

नरेन्द्र : देखो इधर...

शत्रुसूदन : {नीचे की ओर देखते हुए} कहिए !

नरेन्द्र : इधर देखा भी...

शत्रुसूदन : मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि अपनी सिद्धियों का प्रयोग आप मुझ पर न करें।

नरेन्द्र : (कुछ सोचते हुए) राजकुमार, मैं तो चाहता था कि तुम भी साधक बन जाते।

शत्रुसूदन : और रतनपुर...?

नरेन्द्र : क्या मतलब ?

शत्रुसूदन : यही कि रियासत का काम कौन करता ?

नरेन्द्र : रियासत का काम भी तुम कुछ कर लेते हो ? मैं तो नहीं समझता...।

शत्रुसूदन : जरूर करता हूँ, अन्यथा शासन चल कैसे रहा है ?

नरेन्द्र : हूँ--अच्छा माना। यह तो कहो, रियासत में बाढ़ और दुर्भिक्ष से कितने आदमी इस वर्ष मरे हैं ? पिछले बारह महीनों में कितीन हत्याएँ और कितनी चोरियाँ हुई हैं ?

शत्रुसूदन : आफिस से पूछकर बतला सकूँगा।

नरेन्द्र : तब शासन आफिस के भरोसे चल रहा है। तुम्हारा हाथ तब माना जाता कि तुम प्रजा की जिन्दगी के उत्तरदायी रहते, कम-से-कम तुम्हें इस बात का तो पूरा पता होता कि बाढ़ और दुर्भिक्ष से तुम्हारी कितनी प्रजा मरी और कितनी हत्याएँ हुईं ? लेकिन तुमने तो अपने दीवान को इस बात कर निकाल दिया कि पुश्तैनी नौकरी तुम्हें सिद्धान्त के प्रतिकूल जँचती है। साठ वर्षों तक जिसने रियासत के प्रबन्ध में अपना व्यक्तित्व मिटा डाला--वह आज तुम्हारे लिए अयोग्य हो गया !

शत्रुसूदन : देखते नहीं हैं, वह कितने वृद्ध हो गये हैं ?

नरेन्द्र : बस वृद्ध होना ही उनकी अयोग्यता हो गई या कहीं कर्त्तृत्व-शक्ति में भी उन्होंने कमजोरी दिखलाई है ? राजा होने का अधिकार उसे है, जिसके मन में प्रजा का भाव हो, जो प्रजा के लिए कुछ कर सके ; और इस कसौटी पर दीवान रघुवंशसिंह को राजा होना चाहिए--न कि तुम्हें। तर्क मत करो, प्रतिवाद मत करो ; अपनी आत्मा से पूछो--मैं सच कह रहा हूँ या झूठ। तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, जो देवता है--उससे पूछो।

{चम्पा दीवार की ओर देखती है। चित्र के ऊपर माला देखकर तेजी से बढ़ती है और वहीं दीवार के पास रखी हुई कुर्सी पर चढ़कर माला उतार कर पहन लेती है। शत्रुसूदन उसकी ओर क्रोध से देखता है। नरेन्द्र का बाहरी दरवाजे से प्रस्थान }

शत्रुसूदन : माला पहनने की तबीआत चल गई !

चम्पा : मेरी तसवीर पर पड़ी थी।

शत्रुसूदन : वह तो मैंने देखा, और इन स्वामीजीने रक्खा था।

चम्पा : किसने रक्खा, यह तो मैं नहीं जानती। फूल की माला है, जूही के फूल इस गर्मी में कितने अलभ्य हैं ! {शत्रुसूदन के पास जाकर माला निकाल कर हाथों में लेती हुई } तुम्हें पहना दूँ ?

शत्रुसूदन : मुझे ? लेकिन तुम्हारी माला अब मेरे योग्य नहीं है। तुम इस लायक नहीं। पीछे हटो। कहे देता हूँ, मेरा शरीर न छूना!

चम्पा : यह ज्ञान उसी दिन क्यों नहीं हुआ ?

शत्रुसूदन : किस दिन ?

चम्पा : जिस दिन मुझसे विवाह किया। तब मैं पवित्र थी और आज अपवित्र हो गई हूँ ?

शत्रुसूदन : बहस मत करो। मैं तुम्हें ठाकुर बिहारीसिंह की लड़की समझता था--मुझे क्या मालूम था कि तुम्हारा रक्त अशुद्ध है। वह मेरे योग्य--मेरी वंश-मर्यादा के योग्य नहीं।

चम्पा : (माला को अपनी दाईं कलाई में कंकण की तरह लपेटकर) लेकिन मैं फिर पूछती हूँ, इसमें मेरा क्या अपराध है ?

शत्रुसूदन : माला के साथ खिलवाड़ कर लो, अपना शृंगार पूरा कर लो, तब पूछो।

चम्पा : (अपने सिर पर हाथ रखकर) मेरा शृंगार यह...यह सिन्दूर है, और यह तुम्हारा है। तुम्हारे पास इतना साहस तो है नहीं कि मुझे छोड़ दो। मुझे स्वतन्त्र कर दो। बड़ी रानी से असन्तुष्ट होकर मुझे पकड़ लाये और अब किसी और को पकड़ लाओगे। एक की जगह दो रानियाँ हुईं, अब तीन होंगी!

शत्रुसूदन : लेकिन तब यह दम्भ नहीं रह जायेगा।

चम्पा : (मुस्कुराकर) मैंने दम्भ तो कभी नहीं किया।

शत्रुसूदन : कभी नहीं ?

चम्पा : कभी नहीं। पाँच वर्ष बीत गये। कभी आपके पहले न भोजन किया, न शयन किया! आपसे कभी न तो किसी तरह का आग्रह किया और न कोई उपालम्भा आज्ञा भी जब हुई, जो हुई, जैसी हुई {एकाएक चुप हो जाती है}

शत्रुसूदन : हाँ, कहो।

चम्पा : (कंठ पर हाथ रखकर) शब्द यहाँ आकर रुक जाते हैं, बाहर निकलना नहीं चाहते।

{ वहीं फर्श पर बैठकर एकटक शत्रुसूदन की ओर देखने लगती है। }

शत्रुसूदन : (अवहेलना के स्वर में) तुम्हारे नेत्र मेरे पैरों की ओर रहे...हाँ...सही...है... लेकिन तुम्हारा हृदय... (अँगड़ाई लेता है)

चम्पा : (उसी तरह बैठी हुई) उसमें भी मेरा दोष नहीं। मैं कोशिश तो करती रही। अपनी ओर से मैंने कुछ उठा नहीं रखा।

शत्रुसूदन : (रूखे स्वर में) झूठ बोल रही है।

चम्पा : शायद...

शत्रुसूदन : शायद नहीं, सच। झूठ बोल...

चम्पा : अब बहुत हुआ...

शत्रुसूदन : बहुत हुआ ? तेरे हाथ जल पीना भी...

चम्पा : क्यों नहीं ? होटलों की मिस लोगों से भी मेरा...

शत्रुसूदन : (डाँटकर) चुप रहो। बेहया...

चम्पा : (उठकर बाहर जाती हुई) किस अपराध...

शत्रुसूदन : कहाँ चली ?

चम्पा : बाहर...
शत्रुसूदन : किस लिए ?
चम्पा : गजराज से पूछने...देखूँ !
शत्रुसूदन : क्या पूछने ?
चम्पा : अपना निर्वाह ! कैसे होगा ? किस तरह होगा ?
शत्रुसूदन : इसका मतलब ?
चम्पा : मैं इस नरक में तो नहीं रह सकती।
शत्रुसूदन : लेकिन गजराज कब का लखपती है ?
चम्पा : {उद्वेग के स्वर में सिर हिलाती हुई} लखपती नहीं......भिखारी सही। स्त्री के लिए दो ही जगहें हैं, पिता का घर या पति का घर......तीसरा घर न तो कहीं है, न बनाया जा सकता है ; इसके लिए साहस करना तो पाप और भ्रष्टाचार है। पुरुष कहीं भी रहे--आकाश, पाताल, मृत्युलोक--उसके लिए सभी रास्ते खुले हैं।
शत्रुसूदन : बन्द कर दो......
चम्पा : बन्द क्या कर दूँ ? मैं भी चल पड़ूँ उन्हीं रास्तों से...मैं क्यों रुकूँ ?
शत्रुसूदन : तुम्हें रोकता कौन है ?
चम्पा : तुम--तुम्हारी मर्यादा !
शत्रुसूदन : बिलकुल नहीं।
चम्पा : (उसकी ओर देखकर) सच कह रहे हो ?
शत्रुसूदन : कोई दिन था चम्पा, जब मैं तुम्हें अपने हृदय में रख लेना चाहता था !
चम्पा : लेकिन आज मैंने कौन-सा अपराध किया ?
शत्रुसूदन : पाँच वर्षों के भीतर तुमने कभी भी मुझे प्रेम से...
चम्पा : मैंने सदैव श्रद्धा और सम्मान के साथ आत्मसमर्पण किया था !
शत्रुसूदन : श्रद्धा और सम्मान के साथ ; लेकिन प्रेम के साथ नहीं।
चम्पा : मैं अपने को निर्दोष तो नहीं कह रही हूँ, लेकिन उसमें भी मेरा अपराध नहीं है। विवाह होने के पहले ही मेरा जीवन बिगड़ चुका था। यह अपराध मेरा नहीं--उन लोगों का था, जिन्होंने मुझे पढ़ने के लिए कालेज में भेज दिया--बाल-विवाह की कुरीतियों को मिटाने के लिए जिन्होंने आदर्श की वेदी पर मेरा बलिदान कर दिया। पढ़ाई के दिनों में ही (छाती पर हाथ रखकर) हृदय उलझ गया। स्त्री के जीवन में सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर बीस वर्ष तक--यह चार वर्षों का काल...तो सपने का होता है ; कल्पना का इन्द्रधनुष सहस्र रंगों में रँग उठता था। उन्हीं दिनों प्रलय की वह सुन्दर घड़ी आई। --(एकाएक चुप हो जाती है)
शत्रुसूदन : (गंभीर होकर) हाँ...तब ?
चम्पा : (उसकी ओर देखकर और दोनों हाथों की उँगलियाँ बालों में छिपाकर) तब...तब...तब मैं उनसे प्रेम करने लगी। यह सब कैसे हुआ, क्यों हुआ, मैं समझ न सकी। उनके साथ नित्य सिनेमा देखने जाया करती थी। रोशनी बुझ जाने पर पहले दर्जे में प्राय: केवल हम दोनों बैठे रहते थे। सिनेमा के

शत्रुसूदन : सचमुच ?

चम्पा : हाँ, लेकिन इसका श्रेय उनको है...मुझे नहीं।

शत्रुसूदन : {गंभीर होकर कुछ सोचने लगता है} लेकिन तुम्हें तो ऊँची शिक्षा मिली थी। तुमने इस बात को व्यक्त क्यों नहीं किया ?

चम्पा : यह पुरुष से हो सकता है ; लेकिन स्त्री से नहीं। पुरुष के लिए तो यह पौरुष हो उठता है ; लेकिन स्त्री का तो यह चिरन्तन पाप है। यह तो मेरा पाप था न ? इसीलिए मेरे जीवन ने उसके लिए आज्ञा नहीं दी। मैंने एक पत्र आपको लिखा, टिकट भी लगा दिया ; लेकिन डाकखाने में छोड़ नहीं सकी।

शत्रुसूदन : किसलिए ?

चम्पा : यही बतलाने के लिए कि मैं आपके योग्य नहीं थी।

शत्रुसूदन : हूँ--तब ? {चम्पा उसकी ओर चुपचाप एकटक देखने लगती है} लेकिन अब तो ?

चम्पा : बौद्धिक विकास के लिए यह युग प्रसिद्ध है। विश्वविद्यालय में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और व्यक्ति के आचरण पर जोर दिया जाता है।

शत्रुसूदन : आदर्श सदैव जीवन के प्रतिकूल है।

चम्पा : मैं आपके सम्मान और मर्याधा की रक्षा करना चाहती हूँ।

शत्रुसूदन : लेकिन अब तो यह हो नहीं सकता। तुम्हारे जन्म की कथा जानकर मैं तुम्हें स्त्री-रूप में तो रख नहीं सकता। आज दो-चार जानते हैं, कल दुनिया जान जायगी।

चम्पा : स्त्री-रूप में न सही।

शत्रुसूदन : तब किस रूप में ?

चम्पा : क्यों, राजमहल में कई दासियाँ हैं।

शत्रुसूदन : वाह ! स्त्री नहीं तो दासी। लेकिन लोग यह समझेंगे कैसे ? भगवान् रामचन्द्र को सीता का निर्वासन करना पड़ा था। लोकमत ऐसी चीज है।

चम्पा : मैं तो किसी रावण के साथ नहीं रही।

शत्रुसूदन : क्यों नरेन्द्र !

{ नरेन्द्र का सहसा प्रवेश }

नरेन्द्र : तो इस बेचारी का त्याग इसलिए नहीं होगा कि यह गजराज की बेटी है और वह भी प्रणाली-हीन बल्कि इसलिए कि यह नरेन्द्र के साथ थी।

शत्रुसूदन : स्वामीजी, चाहिए तो नहीं ; लेकिन वाध्य होकर मुझे कहना पड़ रहा है कि आप सीमा का अतिक्रमण कर रहे हैं।

नरेन्द्र : (अलफी उठाकर) इसीलिए तो इस वेश में, इस जीवन में, हूँ। मुझे भी कभी कोट-कमीज, शेरवानी-पाजामा का शौक था। {चम्पा की ओर देखता है, चम्पा धरती की ओर देखने लगती है}

शत्रुसूदन : कोट-कमीज, शेरवानी-पाजामे का क्या मतलब ?

नरेन्द्र : तुम्हारी सीमा ! तुमने राजयोगी को इतना बड़ा उपालम्भ... (कई बार सिर हिलाकर) तुम्हारे पास इतनी समझ भी नहीं है कि अगर मुझे सीमा के भीतर ही रहना होता, तो मैं योग की साधना में क्यों अपनी जिन्दगी...{एकाएक रुककर कुछ सोचने लगता है} राजकुमार मैं तुमसे अवस्था में भी छोटा हूँ, प्रयाग-विश्व-विद्यालय का एम० ए०, एल-एल० बी० हूँ। {हाथ घुमाकर

वृत्त बनाते हुए} मैं भी आज इसी तरह आलीशान इमारत में रहता। मेरी भी शादी हुई होती। मेरे हृदय में भी कवित्व, मेरी वाणी में भी संगीत, मेरी आँखों में में बिजली, मेरे हाथों में भी कौशल होता, मैं भी कभी पुरुषों की ईर्ष्या और स्त्रियों के प्रलोभन का कारण होता ; लेकिन इसीलिए...केवल सीमा को पार कर जाने के लिए मैंने इतना छोड़ दिया......इतना जिसकी कल्पना भी तुम्हें असह्य होगी..जिसकी धारणा भी तुम नहीं सँभाल सकते।

शत्रुसूदन : अपनी सीमा को पार कर जाना और संसार के व्यवहार की सीमा को पार कर जाना एक ही बात नहीं है।

नरेन्द्र : बिल्कुल एक ही बात है। संसार की सीमा तो अपनी सीमा के भीतर है। संसार की सत्ता तुम अपने से पृथक् समझते हो, लेकिन यह तुम्हारा भ्रम है।

शत्रुसूदन : भ्रम...

नरेन्द्र : हाँ, भ्रम। तुम्हारा सुख-दुख केवल तुम्हारा ही नहीं, सारे जगत् का है। अपनी सत्ता संसार की सत्ता में मिल जाने तो दो। समुद्र के एक घड़े जल में समुद्र का रूप न देखना चाहो, सारे समुद्र की ओर देखो।

शत्रुसूदन : उहँ, ज्ञान इस तरह होता नहीं......

नरेन्द्र : ज्ञान की ओर से मुँह फेर लेना अच्छा होता भी है। तुम्हारे ऐसे सपनों में मरने-जीने वालों के लिए यही अच्छा है। ज्ञान के मार्ग में पहले अशान्ति जो होती है। लेकिन यहाँ तो ज्ञान की कोई बात नहीं है शत्रुसूदन!

शत्रुसूदन : तब क्या है ?

नरेन्द्र : मैं तो इसे केवल आँख खोलकर चलना कहूँगा, जो सभी करना चाहते हैं। तुम भी यही करो।

शत्रुसूदन : (एकाएक कमरे में टहलते हुए) स्वामीजी...

नरेन्द्र : हाँ...

शत्रुसूदन : यह समय तो हर्गिज बहस का नहीं है।

नरेन्द्र : (मुस्कराते हुए) बहुत सुन्दर। मालूम होता है, अब दुनिया ऊपर को उठेगी। चम्पा, अब तो तुम्हारी समस्या सुलझ गई न ?

चम्पा : मेरी समस्या सुलझ गई ? कब स्वामीजी, और कहाँ ?

नरेन्द्र : राजकुमार (शत्रुसूदन की ओर देखकर) अब समझ गये। बहस व्यर्थ है। राजकुमार इस बात को मान गये।

शत्रुसूदन : तो...

नरेन्द्र : क्यों जी, अभी 'तो' लगा हुआ है ?

शत्रुसूदन : वह तो लगा ही रहेगा, भला कैसे न...

नरेन्द्र : {शत्रुसूदन के कन्धे पर हाथ रखकर} फिर प्रारम्भ करो...नवीन आरम्भ! नरेन्द्र, चम्पा, गजराज, बूढ़े दीवान, सब के साथ आरम्भ, नवीन आरम्भ! सब लोग गंगा-स्नान करने चलो, स्नान के बाद सबके साथ फिर नये सिरे से सम्बन्ध पैदा किया जाय।

शत्रुसूदन : नया सम्बन्ध पैदा किया जाय ? इसी जीवन में!

नरेन्द्र : हाँ, इसी जीवन में। यह जीवन भी नया किया जा सकता है।

शत्रुसूदन : वह कैसे ?

नरेन्द्र : इसके पिछले धब्बे धो दिये जायँ ; पिछली जंजीरें काटकर फेंक दी जायँ। यह अपने मन में मान लिया जाय कि हम लोगों का जन्म आज हो रहा है, हम पहले नहीं थे ; जो कुछ था, हमारा भूत था ; इस धरती पर हम आज उतरे हैं और आज ही से हम लोगों को अपनी यात्रा प्रारम्भ करनी है। इस तरह केवल गजराज और चम्पा के साथ ही नहीं, बल्कि बूढ़े दीवान और नरेन्द्र से भी तुम्हारा समझौता हो जायगा और इस प्रकार तुम राजपद के लिए उपयुक्त होगे।

चम्पा : दुनिया ऊपर उठे या न उठे ; लेकिन स्वर्ग तो नीचे आ रहा है।

शत्रुसूदन : (हँसते हुए) तुम... {उसकी ओर देखने लगता है}

चम्पा : लेकिन, अगर मैंने झूठ कहा हो तो उपनिषद्-काल के ऋषियों की तरह मेरा सिर कन्धे से उतर जाय। (सिर हिला कर) अभी गिरा तो नहीं।

नरेन्द्र : तो तुम तैयार हो नये प्रारम्भ के लिए ?

शत्रुसूदन : अच्छा तो होता, लेकिन...

चम्पा : लेकिन...स्वर्ग के रास्ते की सबसे बड़ी खाईं...

नरेन्द्र : (कुछ सोचकर) देखो...लेकिन तो भ्रम के साथ ही साथ विश्वास भी मिटा देता है, और जिस बुद्धि का दावा करता है, उसके साथ भी दूरी तक नहीं जा सकता।

चम्पा : बुद्धि का काम तो अब तक केवल सो जाना था--इसने चलना कब से प्रारम्भ कर दिया ?

नरेन्द्र : {चम्पा की ओर देखकर} तो तुम अब दार्शनिकता छोड़कर विनोद की ओर बढ़ रही हो ! क्यों, ठीक न ? परिवर्तन तो उपयोगी है।

चम्पा : मुझे इन दोनों चीजों में विशेष अन्तर नहीं देख पड़ता। {शत्रुसूदन की ओर संकेत कर} जब सरकार की मुझपर कृपा थी--पवित्रता और मर्यादा की कसौटी पर जब मैं चमक उठती थी तब तो मुझे दार्शनिकता सूझती थी ; और आज जब सब जगह से गिर पड़ी हूँ, मुझे विनोद...

नरेन्द्र : सब जगह से कैसे गिर पड़ी हो ?

चम्पा : सब जगह से गिर पड़ी हूँ स्वामीजी, इसीलिए हँसना चाहती हूँ ; और अब हँसूँगी अपने दंभ पर और संसार की समस्या पर। मेरा हृदय चीर दिया गया...जीवन की छुरी उसके आरपार हो गई। रक्त निष्फल न जाय, इसलिए मैं उसे पिचकारी में खींचकर शून्य के साथ होली खेलने जा रही हूँ।

{ माला अपने सिर पर रखती है, जो सामने की ओर भौंह से सटी हुई पीछे की ओर लटक रही है }

नरेन्द्र : {उसकी और ध्यान से देखते हुए} तुम्हारा मतलब क्या है चम्पा ?

चम्पा : मैं तो हँसना चाहती हूँ !

शत्रुसूदन : मैं तुम्हें मना नहीं करता। स्वामीजी, है संभव नया प्रारम्भ ?

चम्पा : प्रारम्भ नया हो या पुराना, स्त्री सदैव पुरुष का नाश करती रहेगी और पुरुष स्त्री का। यह विरोध चिरन्तन है--

सुनु मुनि कह पुरान स्रुति संता।
मोह बिपिन कर नारि बसन्ता ॥

अगर किसी स्त्री को लिखना होता, तो वह ठीक इसका उलटा लिखती। स्त्री का मोह पुरुष है और पुरुष का स्त्री।

नरेन्द्र : लेकिन तुम्हारे यह सब कहने का मतलब ? हाँ, कहो।

चम्पा : यही कि आपके साथ, दीवान साहब के साथ और गजराज के साथ भी नया प्रारम्भ...नया समझौता...हो सकता है ; लेकिन मेरे साथ...मेरे साथ न तो कोई नया प्रारम्भ हो सकता है और न नया समझौता !

नरेन्द्र : क्यों ?

चम्पा : इसीलिए कि मैं स्त्री हूँ, स्वामीजी !

नरेन्द्र : अच्छा तब !

चम्पा : किया है कभी किसी स्त्री ने भी समझौता ? हर-एक समझौते का उद्देश्य होता है...स्वार्थ और रक्षा...स्त्री का कोई स्वार्थ तो होता नहीं ; और जब से यह सृष्टि है, स्त्री की रक्षा भी कभी नहीं हुई। जब तक जूता नया रहता है, चमक निकलती रहती है ; तबीअत चाहती है, उसी को देखा करें। दिन में दो-चार बार साफ करनेकी जरूरत रहती है, लेकिन बस महीना-दो-महीना...उसके बाद कुछ दिन और पैरों से इधर-उधर कर पहन लेना और उसके बाद...यही हालत स्त्री की है। जब तक वह आँखों में चकाचौंध और धमनियों में बिजली पैदा कर सकती है, वह पहेली है, समस्या है, फूल है, स्वप्न है, अनन्त प्रेम और अनन्त सुख है ; लेकिन जब ज्वार उतार पर होता है, जब चन्द्रमा की क्षीण कला अमावस्या की ओर बढ़ती है, जब आनन्द लुप्त होने लगता है--उसका अस्थिपंजर...अपमान और अवहेलना...इसी तरह एक दिन उसकी कथा समाप्त हो जाती है। वह कहाँ थीं ? इसका पता भी पीछे नहीं चलता ; क्योंकि उसकी कोई अपनी जगह तो होती नहीं, जो सूनी देख पड़े।

शत्रुसूदन : सुनिएगा और व्याख्यान? कह सकेंगे आप कि किसी स्त्री के मुख से इससे अधिक विष निकल सकेगा?

नरेन्द्र : (मुस्कराकर) लेकिन इसे विष ही क्यों मान लिया जाय? विचार-विष हो सकता है और अमृत भी।

शत्रुसूदन : अच्छा, तो यह अमृत है?

नरेन्द्र : मैं तो समझता हूँ, यहाँ विष और अमृत दोनों मिल गये हैं। यहीं से नया प्रारम्भ होना चाहिए। समझौते की नींव पड़ गई।

शत्रुसूदन : तो आप व्यंग कर रहे हैं?

नरेन्द्र : चम्पा ने भी तो व्यंग ही किया था। अब तुम व्यंग कर दो। समझौता हुआ ही है।

{ गजराज का प्रवेश। गजराज की आकृति गम्भीर और कठोर हो रही है। वह आगे बढ़कर नरेन्द्र का पैर छूकर प्रणाम करता है और फिर लौट पड़ता है। }

नरेन्द्र : कहाँ जा रहे हो जी?

गजराज : (घूमकर) दीवान रघुवंशसिंह के साथ जा रहा हूँ। हम लोग साथ ही रहेंगे। {लौटकर फिर आगे बढ़ता है। चम्पा उसकी ओर देखने लगती है}

नरेन्द्र : सुनो तो, इतनी जल्दी क्यों कर रहे हो?

गजराज : देर हो रही है। पार जाने के लिए नाव नहीं मिलेगी। वह सड़क के आगे निकल गये हैं।

नरेन्द्र : कौन, दीवान साहब?

गजराज : हाँ...

नरेन्द्र : (शत्रुसूदन से) सचमुच बुड्ढे को छोड़ रहे हो जी?

शत्रुसूदन : मैंने तो उनको नहीं छोड़ा। वह स्वयं... (गजराज से) कहाँ तक गये होंगे जी?

गजराज : पुल तक गये होंगे।

शत्रुसूदन : अभी ठहरो। मैं उन्हें लिवा लाऊँ; शायद.. (प्रस्थान)

नरेन्द्र : गजराज, क्या होगा?

गजराज : होगा क्या स्वामीजी! जैसे दुनिया चलती रही है, चलेगी। (प्रस्थान)

{ नरेन्द्र चारपाई पर लेटकर आँखें बन्द कर लेता है। चम्पा कमरे में इधर-उदर टहलने लगती है। चारपाई के पास खड़ी होकर नरेन्द्र की ओर देखने लगती है। }

चम्पा : नींद आ रही है?

नरेन्द्र : नहीं तो!

चम्पा : आँखें बन्द हैं!

नरेन्द्र : हाँ...

चम्पा : आप चाहते क्या हैं, इसका ध्यान रखिए। रोज-रोज का झंझट मिट जाना चाहिए।

नरेन्द्र : जब तक जिन्दगी है, झंझट नहीं मिट सकता। {चम्पा की ओर देखने लगता है}

चम्पा : इसका मतलब कि नरक से छुट्टी नहीं मिलेगी?

नरेन्द्र : नरक तो तुम्हारे हृदय में है। उसे निकाल दो। अगर तुमने उससे प्रेम किया भी था, तो कोई बात नहीं...तुम्हें राजकुमार के सामने आत्मसमर्पण करना होगा।

चम्पा : इसलिए कि मैं स्त्री हूँ।

नरेन्द्र : हाँ, इसीलिए। स्त्री सदैव पुरुष की आश्रित रहेगी।

चम्पा : लेकिन यही तो मैं नहीं चाहती। मैं अकेले रहूँगी!

नरेन्द्र : कहाँ...

चम्पा : धरती में, आकाश में, पाताल में, जहाँ चाहूँगी वहाँ।

नरेन्द्र : लेकिन इस तरह तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकोगी।

चम्पा : लेकिन मेरे पास अब है ही क्या जिसकी कि रक्षा करनी पड़ेगी?

नरेन्द्र : तुम्हारे पास अब कुछ नहीं है?

चम्पा : कुछ नहीं, मैं मर चुकी। पाँच वर्ष पहले ही मर चुकी!

नरेन्द्र : (चारपाई पर बैठते हुए) तुम मर चुकी पाँच वर्ष पहले!

चम्पा : जी हाँ। आप जब सब कुछ जान गये। मैं अब भी अपना पहला प्रेम नहीं छोड़ सकी।

नरेन्द्र : लेकिन तुम्हारे उस प्रेमी को तुम्हारी चिन्ता नहीं है।

चम्पा : यह कैसे कहा जा सकता है?

नरेन्द्र : इसलिए कि वह तुम्हारे सामने है, तुम उसे देखती नहीं। तुम्हारी शिक्षा ने तुम्हारे मन में एक प्रकार का दुराग्रह, दुस्साहस, पैदा कर दिया है। शत्रुसूदन नें तुम्हारे साथ शादी कर गलती की थी, तुम उसी का बदला लेना चाहती हो। लेकिन इसमें तुम्हारा नाश हो रहा है। पुरुषों के आश्रय में स्त्रियों का रहना तुम्हारी समझ में उनकी अयोग्यता है, लेकिन प्रकृति बदली नहीं जा सकती। नारी-सुधार और नारी-समस्या के नाम पर स्त्री पुरुष नहीं बनाई जा सकती। {चम्पा उसकी ओर विस्मय और उद्वेग से देखती रहती है} क्या सोच रही हो?

चम्पा : तो तुम...

नरेन्द्र : हाँ मैं ही। मैंने यह वेश केवल इसीलिए बनाया है कि तुम्हें समझा दूँ, तुम्हारे रास्ते से हट जाऊँ... तुम नये उत्साह और जीवन-बल के साथ जीवन प्रारम्भ करो, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध किसी आध्यात्मिक आधार पर नहीं, नितांत भौतिक है। उसे और भी आकर्षक, संमोहक और विनाशात्मक बनाने के लिए आध्यात्मिक रंग चढ़ाया जाता है।

चम्पा : निष्ठुर... {उसकी आँखों से आँसू चल पड़ते हैं}

नरेन्द्र : क्योंकि इनमें मेरी और तुम्हारी दोनों की मुक्ति है न? मैं निष्ठुर जरूर हूँ; लेकिन मेरी कोमलता भी तुम्हारे दुःखों का अन्त नहीं कर सकती। राजकुमार के साथ रहने में अगर तुम्हारे लिए आत्म-बलिदान है... तो मेरे साथ रहने में तो आत्म-हत्या। दस-पाँच वर्ष का सुख-संभोग लालसाओं की निवृत्ति नहीं कर सकता। आग घी से नहीं--पानी से बुझाई जाती है। राजकुमार के साथ रहने पर तुम्हारी चेतना नहीं मारी जायेगी... तुम अपने भीतर सारे संसार की धड़कन का अनुभव करोगी। तुम्हारा जीवन केवल तुम्हारा न होकर सारे संसार का होगा! जिन्दगी उसी की होती है जो उसे छोड़ना जानता है।

चम्पा : आज शायद प्रलय का दिन है।

नरेन्द्र : प्रलय तो हो चुकी। अब तो फिर सृष्टि हो रही है। इसमें रुकावट न डालो। इसे होने दो। हाँ, होने दो। हमारा... हम सब लोगों का नया जन्म हो, नई परिस्थिति और नई जगह में हम लोग इस तरह मिलें, जैसे पहले-पहल मिल रहे हों। नारी-समस्या व्याख्यानों और प्रस्तावों से तब तक नहीं सुलझाई जा सकती, जब तक कि स्त्री स्वयं अपना हृदय न बदल ले... अपनी आँखों का आँसू और हृदय का उद्वेग रोककर अपने से ऊँचे न पहुँच जाय। {बैठकर उसके कंधे पर हाथ रखकर} बस इसी क्षण, तुम्हे अपना हृदय बदल लेना होगा... नहीं तो फिर तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं, और केवल तुम्हारा असंयम हम सबको ले डूबेगा! {अलग हटकर खड़ा होता है}।

चम्पा : (उसकी ओर देखकर) अच्छा, तो मैं क्या करूँ? {उसका स्वर टूट जाता है और उसकी आँखों से झर-झर-झर-झर आँसू गिरने लगते हैं, उसकी हिचकी बँध जाती है और वह एकाएक फर्श पर बैठकर, हाथों में अपना मुँह छिपाकर, पृथ्वी से सिर टेक देती है। नरेन्द्र अपनी आँखें स्थिर और कुछ तिरछी कर उसे देखने लगता है। क्षण भर बाद ही शत्रुसूदन प्रवेश करते हैं। शत्रुसूदन स्तम्भित होकर यह सब देखने लगते हैं। नरेन्द्र शत्रुसूदन की ओर देखता है, उसकी आँखें लाल हो रही हैं। }

शत्रुसूदन : स्वामी जी...

नरेन्द्र : राजकुमार, इसका दुःख {चम्पा की ओर संकेत कर} इसके एक-एक बूँद रक्त और इसकी एक-एक साँस में व्याप्त हो चुका है। यही अवसर है, तुम अपनी प्रवृत्तियों को रोककर आगे बढ़ो...इसे उठा लो, इसे क्षमा कर दो। केवल मनुष्य होने से काम नहीं चल सकता। देवता बनो...देवता। इसे उठा लो। इसकी सन्तप्त आत्मा को शान्ति दो, यही तुम्हारा काम है। तुम राजा हो और राजा का यही धर्म है।

{शत्रुसूदन आगे बढ़ता है। चम्पा को पकड़कर उठा लेता है। चम्पा अपने अंगों को शिथिल कर देती है, उसका सिर झुककर शत्रुसूदन के कन्धे पर आ जाता है। शत्रुसूदन अपना दायाँ हाथ उसके ललाट पर रखता है, जिसके भीतर उसकी आँखें छिप जाती हैं।}

नरेन्द्र : आज से मैं तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा राजकुमार! मेरा राजयोग आज समाप्त हो गया। आज मै फिर वही नरेन्द्र हूँ...

शत्रुसूदन : (चौंककर) अयँ! तो यहाँ भी मेरी पराज...

नरेन्द्र : {चम्पा सीधी खड़ी हो जाती है।}

नरेन्द्र : (मुस्कराते हुए) जी...{शत्रुसूदन बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेता है} हाँ, कहिए।

शत्रुसूदन : हाँ, मैं हार गया। अच्छा, अब मुझे क्षमा कर दो। तुम्हारा राजयोग सफल हुआ। बोलो, मुझे क्षमा करते हो या नहीं?

नरेन्द्र : क्षमा...राजकुमार एक बार नहीं, हजार बार तुम्हें क्षमा कर आज मैं फिर नरेन्द्र होता हूँ।

{ रघुवंशसिंह का प्रवेश, उनके पीछे गजराज है। }

रघुवंश : नरेन्द्र !

नरेन्द्र : जी हाँ...मैं ही।

{ रघुवंश शत्रुसूदन की ओर देखते हैं। }

शत्रुसूदन : मेरी भूल थी दीवान साहब! आपकी गद्दी पुश्तैनी है।

नरेन्द्र : लेकिन मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता। मैं तो...यहाँ राजयोग की समाप्ति...अब कर्मयोगी बनूँगा, और उसके बाद फिर ज्ञानयोग। (रघुवंशसिंह की ओर देखकर) बाबूजी, मैं अब अपने को बाँध नहीं सकता। आप समझते हैं, मुझे इससे दुःख है; लेकिन यह भ्रम है। मेरे सुख का...मेरे योग का... आज नया आरम्भ है।

शत्रुसूदन : तब तो तुमने मुझे क्षमा नहीं किया!

नरेन्द्र : यह कैसे?

शत्रुसूदन : मेरे यहाँ रहना नहीं चाहते।

नरेन्द्र : इसलिए कि मेरा जीवन केवल तुम्हारे लिए नहीं, सारे संसार के लिए है।

(गजराज का प्रवेश)

संसार मुझे अपनी ओर बुला रहा है और मैं अब जा रहा हूँ। गजराज तुमने क्या तय किया जी?

गजराज : हाँ...मैं तो...{कमरे में चारों ओर देखता है}

नरेन्द्र : {उसका हाथ पकड़कर} बाबूजी, राजकुमार और चम्पा तो यहीं रहेंगे। इन लोगों की सुलह हो गई और तुम...

गजराज : मैं तो यहाँ नहीं रह सकता। अब नौकरी नहीं...

{एक बार चम्पा की ओर देखकर शत्रुसूदन की ओर देखता है। }

नरेन्द्र : अच्छा हो, तुम भी मेरे साथ चलो। बाबूजी, आप किस दुःख में पड़ गये? राजकुमार आपका ख्याल करेंगे। राजकुमार! हो सकेगा या नहीं?

शत्रुसूदन : दीवान साहब...पिता की तरह...

नरेन्द्र : अब अधिक नहीं। मैं निश्चिन्त हूँ। चलो जी...नहीं ठहरो {अलफी, कामदार चादर, कटार और पान के डिब्बे को एक-एक कर चारपाई पर रखता है। जूता वहीं फर्श पर निकाल देता है।} इन चीजों की अब क्या जरूरत। राजयोग की चीजें राजा के साथ। कर्मयोग में तो दो गज के दो वस्त्र...इतने ही में काम चलता रहेगा!

{रघुवंश वहीं फर्श पर बैठ जाते हैं }

[शत्रुसूदन, चम्पा, रघुवंशसिंह सब देखते ही रह जाते है गजराज के साथ नरेन्द्र बँगले के बाहर चला जाता है]

इति शुभम्।

सिन्दूर की होली

पात्र

रजनीकान्त

मनोजशंकर

मुरारीलाल

माहिरअली

भगवन्तसिंह

हरनन्दनसिंह

चन्द्रकला

मनोरमा

डाक्टर

और

कुछ अन्य जन

पहला अंक

[बरसात का दिन। प्रायः एक पहर दिन चढ़ चुका है, लेकिन आकाश में घने बादल होने के कारण मालूम हो रहा है कि अभी सवेरा हो रहा है।

डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल का बँगला। बँगले में सामने की ओर एक बड़ा कमरा है, जिसमें अँगरेजी ढंग के एक-दूसरे से लगे हुए सामने की ओर दरवाजें हैं। दरवाजे सभी खुले हुए हैं और कमरे के बीच में एक बड़ी मेज के चारों ओर लकड़ी की कुर्सियाँ रक्खी हैं। मेज पर एक अँगरेजी अखबार, एक तश्तरी में पान, इलायची और उसके पास ही गोल्डफ्लेक सिगरेट का डिब्बा और दियासलाई पड़ी है। दूसरी ओर की दीवाल में दो आलमारियाँ हैं, जिनमें मोटी-मोटी पुरानी किताबें रक्खी हैं। किसी की जिल्द उखड़ गयी है, किसी की जिल्द का कपड़ा सड़ गया है और गन्दी दफ्ती देख पड़ती है। कमरे के सामने मेहराबदार गोसवारा है, जिसके खम्भों का सीमेन्ट कहीं -कहीं उखड़ गया है और भद्दी ईंटें देख पड़ती हैं। गोसवारे में दीवाल के किनारे बाँस की दो कुर्सियाँ रक्खी हैं। गोसवारे के दोनों ओर दो गोल कमरे हैं, जिनके एक-एक दरवाजे गोसवारे में हैं और एक-एक पीछे की ओर बड़े कमरे में। बड़े कमरे से बँगले के भीतरी भाग में जाने का रास्ता है। मुरारीलाल का मुंशी माहिरअली बाहर की ओर से कमरे में प्रवेश करता है। माहिरअली मेज पर की चीजें इधर-उधर करता है। अपने अँगोछे से कुर्सियों को इधर-उधर हटाकर झाड़ता है, और फिर उन्हें ठीक जगह पर लगा रहा है।]

(भीतर से मुरारीलाल का प्रवेश)

मुरारीलाल : कहाँ चले गये थे जी, साढ़े नौ हो रहा है। आज मुकदमे अधिक हैं। घंटे भर के बाद मुझे चला जाना पड़ेगा और तुम्हारा पता नहीं।
(आगे बढ़कर कुर्सी पर बैठता है और सिगरेट जलाकर पीने लगता है।)

माहिरअली : आये थे उनके भतीजे ...

मुरारीलाल : किसके भतीजे ?

माहिरअली : राय साहब भगवन्त सिंह के भतीजे... जो यहाँ वकील हैं! वही जो बातें हुई थीं परसों ...

मुरारीलाल : (उत्साह से) अच्छा! (सिर पर हाथ रखकर) आजकल बातें याद नहीं रहतीं। हाँ तो क्या तै रहा ? मनोज के विलायत जाने का खर्च इनसे वसूल कर लो ... इसी में तुम्हारी चालाकी है।

माहिरअली : तो वह तैयार भी हैं... लेकिन एक बात...

मुरारीलाल : बात क्या ?

माहिरअली : पट्टीदारी का झगड़ा है। उस दिन जो लड़का आप से मिलने आया था, जिसकी उम्र सत्रह-अठारह साल के करीब थी, उसके बाप को मरे अभी साल भर हो रहा है। अब उसे कमजोर और गरीब समझकर राय साहब उसका हक भी हड़प लेना चाहते हैं। बेचारा उस दिन रोने लगा था। एक ही खानदान और एक ही खून...

मुरारीलाल अच्छा तो इसमें तुम क्या कर सकते हो ? मैं खूब जानता हूँ, भगवन्त बड़ा जालिम है। लाखों रुपये, रैयत को लूट कर, जमा कर लिये हैं। अभी तक आनरेरी मजिस्ट्रेट था... इस साल राय साहब भी हो गया है। उधर का सारा

इलाका उसके रोब में है। जो चाहेगा, कर लेगा। तो फिर मैं क्यों न कुछ... [उसकी ओर देखने लगता है]।

माहिरअली : वह तो राजी है देने को। दस हजार लेकर तो वह अभी आ रहा है, लेकिन उस लड़के की जान जायगी। हुजूर को खुश कर लेने के बाद वह उसकी जान ले लेगा। पुलिस उसकी राय की है ही... इधर आपकी ओर से भी वह बेखौफ हो जायगा... देहात के लोग उसके दबाव में रहेंगे ही... इसलिए ...

मुरारीलाल : हाँ! क्या इसलिए?

माहिरअली : हुजूर, मुझे तो उस बदकिस्मत लड़के पर रहम हो रहा है।

मुरारीलाल : लेकिन इसमें हो ही क्या सकता है?

माहिरअली : उससे तो हुजूर जो कुछ कहेंगे मान जायगा ही। राय साहब को भी दबा कर सुलह करा दीजिए।

मुरारीलाल : (कुछ विरक्त होकर) अच्छा देखा जाएगा। मनोज को तो रुपया मिल गया होगा अब तक?

माहिरअली : मिल गया हो या आज मिल जाएगा।

मुरारीलाल : देखना, कहीं उसे मालूम न हो जाय।

माहिरअली : किसे... सरकार...?

मुरारीलाल : मनोजशंकर को... वह बात केवल तुम ही जानते हो।

माहिरअली : लेकिन आप यह बार-बार क्यों कहा करते हैं? उसमें भी तो मैं ही...

मुरारीलाल : मुझे उस बात का बड़ा दु:ख है। मनोज अगर जान जायगा कि उसके पिता ने मेरी ही वजह से आत्महत्या की थी... [चुप हो कर, जैसे किसी गहरी चिन्ता में पड़ जाता है] दस वर्ष का समय निकल गया... अभी तक तो बात छिपी हुई है। लेकिन अगर किसी दिन खुल गयी तो मेरे मुँह पर स्याही पुत जायगी और फिर मैं किसी काम का नहीं रहूँगा। (कुर्सी पर झुककर गहरी साँस खींचने लगता है)

माहिरअली : [कुछ रुखे स्वर में] हुजूर अगर मुझ पर शुबहा करते हों, तो मुझे जवाब दे दें।

मुरारीलाल : (एकाएक कुर्सी से उठकर माहिरअली का हाथ पकड़ते हुए) मैं तुम पर शुबहा करूँगा? तबीअत बेचैन हो जाती है तो कभी-कभी ऐसी बातें निकल जाती हैं। तुमको और मनोजशंकर को प्रसन्न रखने में अगर मेरा सब कुछ बिगड़ जाय, तब भी मुझे चिन्ता नहीं। हाँ, जरा भीतर जाकर चन्द्रकला से पूछो तो सवेरे की डाक में कोई जरूरी पत्र तो नहीं है?

[माहिरअली का प्रस्थान]

[मुरारीलाल कमरे में बेचैन होकर इधर-उधर टहलने लगते हैं। मुरारीलाल की अवस्था इस समय प्राय: चालीस वर्ष की है। गोरा और स्वस्थ शरीर, आँखें छोटी, लेकिन चमकती हुई और घने काले बाल, जो पीछे की ओर घूम पड़े हैं। दाढ़ी-मूँछ बनी हुई, कमीज, चौड़ी मुहरी का पाजामा और पंजाबी जूता पहने हैं। इस वेश में मुरारीलाल पूर्ण युवा मालूम हो रहे हैं।]

[चन्द्रकला के साथ माहिरअली का प्रवेश]

[चन्द्रकला मुरारीलाल की लड़की है। यों तो चन्द्रकला की अवस्था बीस वर्ष की हो चकी हैं, लेकिन उसकी आकृति से लड़कपन की सरलता झलकती है, जो उसकी सुन्दरता को और भी लुभावनी बना रही है। वह हल्के हरे रंग की रेशमी साड़ी पहने है, जिसके आँचर और किनारों पर जरी का काम बना है।]

मुरारीलाल : [माहिरअली की ओर देखकर] बाहर जाओ, शायद आ रहे हों...

[माहिरअली का प्रस्थान]

(चन्द्रकला की ओर ध्यान से देखते हुए) तुम्हारा चेहरा उतरा हुआ है। तबीयत ठीक है न?

चन्द्रकला : (मुस्कराने का प्रयत्न करती हुई) नहीं तो...

मुरारीलाल : (कुर्सी पर बैठते हुए) नहीं क्यों ? तुम उदास हो रही हो। कोई पत्र...? [एकटक उसकी ओर देखने लगता है]

चन्द्रकला : (कुछ सहम कर) लखनऊ से...उनकी बीमारी फिर उभड़ गयी थी। किसी दिन दो घण्टे से अधिक बेहोशी में रहे। (धरतीकीओर देखने लगती है)

मुरारीलाल : मनोज स्वयं अपनी बीमारी बढ़ा रहा है। यह अवस्था ही ऐसी होती है। पिछली बार गया था... नियम से न तो भोजन करता है और न नियम से सोता है। रात को लड़के होस्टल में सोते रहते हैं और वह कमरा बन्द कर पार्क में जाकर बाँसुरी बजाता है। इस तरह स्वास्थ्य तो बिगड़ेगा ही। (सोचने की मुद्रा में) उसका भाग्य तो मैं बदल नहीं सकता। अपनी ओर से तो मैंने ... दूसरे के लिए कोई कहाँ तक अपनी जान... न मालूम इस झंझट से कब छुट्टी मिलेगी।

[चन्द्रकला सन्देह और उद्वेग से उनकी ओर देखती है]

चन्द्रकला : लेकिन यह झंझट भी तो आपने स्वयं... नहीं तो उनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं।

मुरारीलाल : कैसी बात कर रही हो ? मैं क्या करता हूँ, इसकी आलोचना तुमको नहीं करनी चाहिए।

चन्द्रकला : मैंने कुछ कहा तो नहीं... कि...

मुरारीलाल : (हाथ हिलाकर) चुप रहो। कहा क्यों नहीं ? मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तुम्हें कैसे मालूम ? मेरे मित्र का लड़का है। मरने के समय उसने उसे मेरी गोद में डाल दिया था। इसीलिए मैं उसके लिए इतना चिन्तित रहता हूँ। जब तक वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जायगा, मेरा कर्त्तव्य उसके साथ यही रहेगा।

चन्द्रकला : अच्छा तो आप मुझे क्षमा करें...

मुरारीलाल : यह क्षमा तुम नहीं माँग रही हो। तुमको जो मैंने बी.ए. तक अँगरेजी पढ़ा दी, तुम्हारी वही पढ़ाई क्षमा माँग रही है। जाओ भीतर ... आजकल की शिक्षा में शब्दों का खिलवाड़ खूब सिखलाया जाता है।

[चन्द्रकला का प्रस्थान। मुरारीलाल तश्तरी से पान निकालकर मुँह में डालते हैं। माहिरअली का प्रवेश]

माहिरअली : आ गये। एक आदमी और हाथ में है।

मुरारीलाल : (जल्दी से उठकर) मैं भीतर जा रहा हूँ। रुपये लेकर भीतर चले आओ, उन लोगों को यहाँ बैठा कर। फिर मैं थोड़ी देर में यहाँ आ जाऊँगा।

माहिरअली : लेकिन मैं ...

मुरारीलाल : (भीतरी दरवाजे से) कोई बात नहीं, मैं तो फिर आ ही जाऊँगा।

(प्रस्थान)

(माहरिअली गोसवारे में जाकर खड़ा होता है। भगवन्तसिंह और हरनन्दन सिंह का प्रवेश)

भगवन्तसिंह : [माहिरअली का हाथ पकड़कर] साहब कहाँ हैं ?

माहिरअली : (रूखे स्वर में) भीतर हैं, चलिए बैठिए (कमरे के भीतर हाथ उठाकर संकेत करता है)

भगवन्तसिंह : (कातर होकर) आप नाखुश क्यों हो रहे हैं? मैं आपको भी खुश कर तब यहाँ से जाऊँगा। (उसका हाथ पकड़कर) चलिए आप भी भीतर...

माहिरअली : बैठिए आप लोग...

भगवन्तसिंह : बैठिए आप पहले (हरनन्दन की ओर देखते हुए) हाँ, आप भी बैठिए।

माहिरअली : आप बैठते क्यों नहीं साहब ? (कड़े शब्दों में) यहाँ का इन्तजाम हो जायगा। आप चुपचाप बैठिए (भगवन्त और हरनन्दन सहमकर बैठते हैं) हाँ कहिए, लाये हैं ?

भगवन्तसिंह : (हरनन्दन की ओर संकेत कर) हाँ लाया गया है साहब को... (माहिर की ओर देखता है)

माहिरअली : साहब लोग अपने हाथ से नहीं लेते (हाथ हिलाकर धरती की ओर संकेत करते हुए और उसी क्षण ऊपर हाथ उठाकर) यहाँ-वहाँ और जवाब देने को भी तो कुछ चाहिए। जिस दिन हिसाब होगा...उस दिन। उसी दिन के लिए अपने हाथ से नहीं लेते। ऊँह निकालते क्यों नहीं ? रखिए यहाँ इस मेज पर।

[भगवन्तसिंह कुछ सहमकर हरनन्दन को संकेत करता है। हरनन्दन कुर्सी से कुछ ऊपर उठते हुए कुरते के नीचे दोनों हाथ ले जाकर जैसे कोई गाँठ खोलता है और एक रूमाल, जिसके बीच में नोट बँधे हैं, मेज पर रखता है। भगवन्तसिंह रूमाल की गाँठ खोलकर मेज पर रखता है।]

भगवन्तसिंह : (माहिरअली की ओर संकुचित दृष्टि से देखते हुए) गिन लीजिए न...

माहिरअली : (भगवन्त की ओर तीव्र दृष्टि से देखते हुए) कहिए भी कितना है ? यहाँ चढ़ आने पर आप झूठ नहीं कह सकते। झूठ का रोजगार तो आप लोग देहातों में करते हैं। लगान वसूल करने के वक्त और बिरादरी में...

भगवन्तसिंह : साढ़े दस हजार...

माहिरअली : अच्छा तो पाँच सौ और...

हरनन्दन सिंह : (मुस्कराते हुए) पाँच सौ आपके लिए है।

माहिरअली : मेरे लिए ? पाँच सौ ?

हरनन्दन सिंह : जी हाँ, आपके लिए। (भगवन्त की ओर संकेत कर) आपने बाबू साहब को समझा क्या है ? इस कलेजे का आदमी इस जिले में नहीं। हाँ साहब ! अभी आपका कभी साबका नहीं पड़ा, नहीं तो आप बाबू साहब को समझ गये होते। इस जिले में कोई ऐसा अफसर नहीं है जो इनकी तबीअत न जानता हो। लाखों रुपया इन्होंने हाकिमों के लिए खर्च कर दिया।

(माहिरआली की ओर देखकर मुस्कराने लगता है)

माहिरअली : (कुछ सोचकर) अच्छा वह अलग कर दीजिए। (हरनन्दन पाँच नोट निकालकर अलग करता है)

भगवन्तसिंह : सौ-सौ के सौ। (हरनन्दन सिंह की ओर देखता है)

हरनन्दनसिंह : जी हाँ (माहिरअली की ओर देखकर) हाँ ले जाइए।

[माहिरअली अनिच्छापूर्वक पाँच नोट उठाकर अपनी जेब में रख लेता है और शेष नोट दोनों हाथों में पकड़कर जल्दी से भीतर निकल जाता है। ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे हाथ में आग लेकर भागा जा रहा हो।]

हरनन्दनसिंह : साहब से इसकी शिकायत करनी चाहिए। मालूम होता है, कहीं का नवाब है।

भगवन्तसिंह : (कुछ सोचकर) क्या कहा जायगा?

हरनन्दनसिंह : किससे?

भगवन्तसिंह : साहब से और किससे?

हरनन्दनसिंह : आप चुपचाप बैठे रहिएगा, मैं सब कह लूँगा। साल भर में इतनी तनख्वाह नहीं मिलती। अब क्या?

भगवन्तसिंह : तुम्हारा ही तो भरोसा है, नहीं तो अब तक तो वह लौंडा मेरी इज्ज़त बिगाड़ दिये होता। हाँ, यह तो कहा जायगा न कि (उसकी ओर ध्यान से देखकर) तुम उसके चचा हो... उसके बाप के मामा के लड़के हो और तुमको भी उसकी चाल-चलन पसन्द नहीं। क्यों, ठीक होगा न?

हरनन्दनसिंह : मेरे दो लड़के हैं... एक भी काम न आये, अगर आपके बारे में मेरे मन में कुछ भी कपट हो। रिश्तेदारी की परवाह मुझे नहीं है। बने थे... जब भाई साहब जीते थे, तब मुझे क्या दे दिया, तब अब बिगड़ जाने पर... जब अपने ही लिए कोई ठिकाना नहीं है, मुझे क्या दे देंगे?

भगवन्तसिंह : (मुस्कराकर) क्यों; तुम्हारा मकान उन्हीं की लकड़ी से बना था। (फिर मुस्कराता है)

हरनन्दनसिंह : आप भी... दो पेड़ शीशम की इतनी बात... उतनी लकड़ी तो आपने थाने के सिपाहियों को दे दी।

भगवन्तसिंह : दस्तावेज मैं फेर दूँगा। मैं समझूँगा, तुम मेरे सगे नातेदार हो। नातेदारी छूटना नहीं मालूम होगा... नहीं उस घर में, इस घर में सही। कोठी का कितना देना होगा?

हरनन्दनसिंह : आप से लेकर वही एक हजार दिया। (कुछ सोचकर) एक हजार होगा और सूद जो कुछ सौ-डेढ़-सौ और हो।

भगवन्तसिंह : इस बार चल कर डेढ़ हजार और ले लो... बँगले में सीमिंट और किवाड़ भी लगवा लो। हो जायगा सब इतने में...

हरनन्दनसिंह : अच्छी तरह से। सब कुछ हो जायगा इतने में। कोठी का हिसाब भी साफ हो जायगा और बँगले का काम भी खतम हो जायगा।

भगवन्तसिंह तुम्हारे यहाँ आता तो कुछ खिला दिया जाता। झगड़ा साफ हो जाता।

हरनन्दनसिंह : हाँ, हो सकता था। लेकिन आप नहीं जानते। वह अठारह बरस का लड़का चालाकी में आपसे कम नहीं है। इस बार तिलक में दुनिया को दिखाने के लिए कि मैं उसके शत्रु के साथ हूँ ... उस पर भी वह सम्बन्ध नहीं तोड़ता... मेरे लड़के के तिलक में आता है। वहाँ गया, पहर भर रात बीत जाने के बाद... जब तिलक की तैयारी हो रही थी...मैं तो यह समझे था कि नहीं आयेगा। वहाँ गया, लेकिन जल तक नहीं लिया... तिलक चढ़ने के समय इस तरह आँगन में गया, जैसे खुद घर का मालिक हो। (मुस्कराकर) मैं जाकर देखता हूँ, तो आँगन में बिछावन लगवा रहा है, आदमियों को जल्दी करने के लिए डाँट-फटकार रहा है... औरतों को इधर-उधर कर गोसवारे में पर्दे लगा

रहा है। उसका काम तो होता है भूत की तरह न ? बात-की-बात में सारा काम उसने ठीक कर दिया। रामनाथ को सब कपड़े अपने हाथ से पहनाये। आपके यहाँ आदमी जाकर लौट आया था। टोपी कहीं चली गयी थी। मैं इस चिन्ता में था कि काम कैसे चलेगा... उसे मालूम हुआ कि टोपी नहीं मिली है... अपना कामदार साफा उसके सिर में बाँध दिया, चादर और अपनी अँगूठी भी उसे दे दी।

(चुप होकर भगवन्तसिंह की ओर देखने लगता है)

भगवन्तसिंह : तो यदि वह नहीं गया होता, तो तुम्हारी इज्जत...

हरनन्दनसिंह : खैर, इज्जत बिगड़ती या न बिगड़ती... लेकिन उतनी शोभा तो नहीं होती। मेरे मन में तो आया था कि चल कर आपका पैर पकड़ लूँ और कहूँ कि उससे सुलह कर लीजिए।

भगवन्तसिंह : हूँ, तो अभी भतीजे का मोह बना हुआ है। मैं उससे सुलह करूँगा ? यही कहने के लिए कि मजबूर होकर उन्हें सुलह करनी पड़ी। मैं रगड़ कर मार डालूँगा। उसके बाप से पन्द्रह वर्ष बड़ा हूँ, इसलड़के के साथमैं सुलह करूँगा ? मेरा कोई लड़का हुआ होता तो उसकी उम्र का मेरा पोता होता। पट्टीदार और दाल तो गलाने की चीजें होती हैं। दाल गल जाने पर मीठी होती है और पट्टीदार गल जाने पर काबू में रहता है। अपनी जिन्दगी में दो लाख रुपये की जमीन मोल ली मैंने और एक लाख रुपये नकद जमा किया, उसकी मजाल कि वह मेरा जवाब दे ?

हरनन्दनसिंह : लड़कपन है। साल भर भी नहीं हुआ घर का मालिक मरा है। सोचता है कि हर गाँव में आपके खेवट में हिस्सेदार है, परते पर हली-हुकूमत उसे भी मिलनी चाहिए।

भगवन्तसिंह : यह दस हजार आज इसीलिए दिया है कि आने-दो-आने के पट्टीदारी को भी हली-हुकूमत मिले ? जंगल में दो शेर नहीं रहते। कहार मेरे यहाँ काम करते हैं, इसलिए उसके यहाँ भी करें ? दो दर्जा अँगरेजी पढ़ ली, अब कुएँ से पानी निकालने में लाज लगती है ? शादी-गमी में कहार काम करते हैं, मैं नहीं मना करता। अब वह भी बन्द कर दूँगा। बँटवारा करा ले। तुम तो उसके चचा हो। (भौंह टेढ़ी कर सिर हिलाते हुए) उसके बाप के ममेरे भाई हो, तुम्हारे यहाँ शुभ के अवसर पर गया, तुम्हारे लड़के का चढ़ावा था। तुम्हारे यहाँ उसने जल नहीं पिया। दस-बीस दूसरे आदमी तुम्हारे यहाँ भोजन कर गये और वह सगा नातेदार होकर उपवास करके चला गया। नातेदारी का मोह रखना हो तो उसी से लेकर मेरा रुपया लौटा दो, लेकिन वहाँ तो नमक-तेल का भी ठिकाना नहीं है और नहीं तो चुपचाप मुझसे लेकर औरों को दे डालो और जिस तरह से कहता हूँ...

हरनन्दनसिंह : (सहम कर) मैं तो सब तरह तैयार हूँ। मेरे यहाँ वह आयेगा नहीं... नहीं तो भोजन में... (एकाएक चुप हो जाता है)

भगवन्तसिंह : (हरनन्दनसिंह के कंधे पर हाथ रखकर धीमे स्वर में) कुछ नहीं, जिस दिन तुम उसे संखिया दे दो... उसी दिन... हाँ जी, उसी दिन तुम्हारे दरवाजे पर हाथी बँधवा दूँगा। दुनिया में सब कोई अपना-अपना देखता है।

(हरनन्दन का चेहरा पीला पड़ जाता है। मुरारीलाल का प्रवेश। भगवन्तसिंह और हरनन्दन कुर्सी छोड़कर उठते हैं।)

मुरारीलाल : (आगे बढ़ते हुए हाथ उठाकर) बैठे रहिए ! बैठे रहिए, (उन दोनों से बारी-बारी तनिक तनिक-सा हाथ मिलाकर कुर्सी पर बैठते हैं) राय साहब ! बैठिए आप। (हरनन्दन की ओर संकेत कर) आपका परिचय ?

भगवन्तसिंह : आप मेरे मामू के लड़के हैं।

मुरारीलाल : (कुर्सी से उतरते हुए) आप लोग बैठ जायँ (दोनों कुर्सियों पर बैठते हैं) आपके सगे मामू के लड़के हैं ... (हरनन्दन की ओर देखता है)।

भगवन्तसिंह : जी हुजूर, एक तरह से बिल्कुल सगे... मेरे एक चचेरे भाई के... जो केवल चार पीढ़ी का अलग... मेरे दादा और उसके दादा सगे भाई थे। मैं उसे अपने भाई की तरह मानता था और उसने भी कभी मुझे उत्तर नहीं दिया। (गहरी साँस खींचकर) दुर्भाग्य से पिछले साल वह एकाएक बीमार पड़कर मर गया... अवस्था में भी मुझसे पन्द्रह साल छोटा था... उसका मरना तो मेरे लिए (चुप होकर बड़े दु:ख से उनकी ओर देखने लगता है)।

मुरारीलाल : परिवार का योग्य व्यक्ति मरता है तो दु:ख होता ही है ! लेकिन कोई करे तो क्या करे ? संसार में कोई भी पूरे तौर पर सुखी तो रहने नहीं पाता। यही संसार की लीला है। अब उनके घर का काम कैसे चलता है ?

भगवन्तसिंह : (विरक्ति के स्वर में) एक लड़का है सत्रह-अठारह वर्ष का...

मुरारीलाल : अभी तो वह पढ़ता होगा ?

भगवन्तसिंह : जी नहीं... आपने उसे देखा होगा अदालत में...उसी ने मुझे परेशान कर दिया है। बराबर ठाटबाट के साथ रहता है... घर में खाने का भी ठिकाना नहीं है ! अँगरेजी फिसन बनाकर घूमता है...एक नम्बर का आवारा हो गया है।

मुरारीलाल : हाँ साहब ! रहता तो है बड़े ठाट से और उसकी शिकायत भी मैं सुन चुका हूँ। अभी (कुछ सोचकर) कई दिन हुए वहाँ के थानेदार कह रहे थे...दौरे में कानूनगो ने भी कहा था। (हरनन्दन की ओर देखकर) आप उसे समझा क्यों नहीं देते ? आप तो उसके सम्बन्धी हैं ?

भगवन्तसिंह : पूछ लें हुजूर इन्हीं से। यह तो उसके विरुद्ध नहीं कहेंगे ? मैं तो खैर इन दिनों उसका शत्रु हूँ। उसके बाप से मुझसे... सब लोग जानते हैं कैसे निभी... कभी किसी तरह की शिकायत हाकिमों तक नहीं पहुँची !

मुरारीलाल : (मुस्कराकर) लेकिन ... हाँ उसके बाप का नाम रमापति न था ?

हरनन्दनसिंह : जी...

मुरारीलाल : लेकिन उनसे भी तो आपसे नहीं पटी ? वह मुसम्मात वाला मामला जिसके वारिस वे थे, उनके और आपके बीच में हाईकोर्ट तक लड़ता गया, जिसमें वे मुसम्मात के वारिस करार दिये गये।

भगवन्तसिंह : (सहमकर) जी हाँ, वह तो हक का मामला था।

मुरारीलाल : (मुस्कराकर) आपको पहले नहीं मालूम था वारिस है कौन ? आप या वे ? क्यों ? आप लोग तो प्रतिष्ठित वंश के हैं। आप लोगों को तो आपस में ही समझ लेना चाहिए।

भगवन्तसिंह : (सहमकर) जी हाँ ...

मुरारीलाल : (हरनन्दन से) क्यों नहीं आप उस लड़के को समझा देते ?

हरनन्दनसिंह : (असमंजस के साथ) हुजूर, मैंने कोशिश तो की; लेकिन वह लड़का मानता नहीं। मैं तो इधर साल भर से उसके घर भी नहीं गया। मेरा विश्वास नहीं करता।

मुरारीलाल : (भगवन्तसिंह से) वह चाहता क्या है ?

भगवन्तसिंह : (कुछ सोचते हुए) वह... वह हुजूर ? गाँजा पीता है, आवारा हो गया है।

मुरारीलाल : बस ? उसने आपका क्या बिगाड़ा ? बड़े घरानों में ऐसे लड़के भी पैदा हो जाते हैं। लेकिन किसी तरह निबाहना ही पड़ता है। उसकी बुराई तो आपको छिपानी चाहिए। इसमें आपकी भी बुराई है।

हरनन्दनसिंह : हुजूर लगानबन्दी कर रहा है। बाजारों में कपड़े की होली जलाता है।

मुरारीलाल : इसकी फिक्र सरकार खुद कर लेगी।

भगवन्तसिंह : (घबराकर) सरकार मैं तो उजड़ रहा हूँ।

मुरारीलाल : लेकिन मैं नहीं समझता उसके गाँजा पीने से या लगान-बन्दी से आप क्यों उजड़ रहे हैं ?

भगवन्तसिंह : इस साल मेरा लगान नहीं वसूल हो सकता।

मुरारीलाल : और जमीन्दारान तो हैं ? अपनी वसूली भी उसने छोड़ दी है ?

भगवन्तसिंह : सरकार ... (रुककर) सिर्फ मेरा लगान बन्द कर रहा है।

मुरारीलाल : (कुछ सोचते हुए हरनन्दन को संकेत कर) आप कृपाकर बाहर तो जाइए। मैं (भगवन्तसिंह की ओर संकेत कर)आपसे बातें कर लूँ। (हरनन्दन का प्रस्थान) राय साहब !

भगवन्तसिंह : जी...

मुरारीलाल : वह लड़का है और आप बुड्ढे हुए ...

भगवन्तसिंह : जी...

मुरारीलाल : आप खुद विचार कर लीजिए।

भगवन्तसिंह : (भर्रायी हुई आवाज में) मेरी इज्जत बिगड़ गयी सरकार ! हली-हुकूमत सब बन्द है। अब या तो वह नहीं, या मैं नहीं ...

मुरारीलाल : (चौंक कर) आप खून करना चाहते हैं ?

भगवन्तसिंह : मैं चाहता हूँ ... उसका हाथ-पैर टूट जाय। उसे याद रहे...

मुरारीलाल : आप कहिए मैं उसे समझा दूँ, डरा दूँ, धमका दूँ। डर जायगा, आपके रास्ते में रोड़ा नहीं अटकायेगा।

भगवन्तसिंह : हुजूर ! (घबड़ाकर उनकी ओर देखने लगता है)

मुरारीलाल : परेशान न होइए। मुझे इतना मौका दीजिए कि मैं उसे समझा सकूँ।

भगवन्तसिंह : (काँपती हुई आवाज में) लेकिन हुजूर (घबड़ाकर उनकी ओर देखता है फिर धरती की ओर देखने लगता है)

मुरारीलाल : (चौंककर) क्या हो गया आपको ?

भगवन्तसिंह : (हाँफते हुए) अब क्या हो सकता है हुजूर ? (कातर दृष्टि से उनकी ओर देखता है)

मुरारीलाल : (तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए) अरे ! काँप क्यों रहे हो जी ? तुम्हारी तरह का व्यक्ति मेरे देखने में नहीं आया। नाहक उस लड़के की जान लेना क्यों चाहते हो ? तुम्हारे वंश में पैदा हुआ है। अभी उसके बाप को मरे साल भर हो रहा है...तुम्हारी तबीअत तो शैतान की... तुम समझौता करने को भी तैयार नहीं।

भगवन्तसिंह : हाय राम ! (उठकर उनके पैर पर गिरते हुए) अब क्या होगा सरकार ? अब तक तो जो होने को था, हो चुका होगा ?

मुरारीलाल : (चौंककर उठते हुए) क्या हो गया होगा ?

भगवन्तसिंह : अब तक तो वह मारा गया होगा...हुजूर...

मुरारीलाल : मारा गया होगा ? कैसे मारा गया होगा ? क्यों ?

भगवन्तसिंह : उस दिन हुजूर ने कहा था।

मुरारीलाल : मैंने कहा था ? क्या कहता है बेईमान ? मैंने कहा था पट्टीदारी के मामले में अपने भतीजे को मार डाल ? खून करने को मैंने कहा था ?

भगवन्तसिंह : (जोर से साँस लेकर) अब तो हो गया सरकार ! अब क्या होगा ! जो कुछ कहा जाय, मैं हाजिर हूँ।

मुरारीलाल : क्या हाजिर हो ?

भगवन्तसिंह : जितना आज दिया है, उतना और...

मुरारीलाल : (कुछ सोचकर) लेकिन...अच्छा, उतना ही नहीं, उससे चारगुना...चार गुना, इससे कम नहीं।

भगवन्तसिंह : उतना तैयार नहीं है... (उनकी ओर देखता है फिर एकाएक धरती पर बैठकर उनके पैर पकड़ लेता है)

मुरारीलाल : (उसे पैर से ठेलकर) उससे कम नहीं। धरती फोड़कर आकाश छेदकर...जहाँ से हो सके उससे कम नहीं। (कुछ सोचकर) बस चले जाओ। देखो यह होने न पाये। उस लड़के को चोट न लगे। सावधान ...बस...बस... हो नहीं सकता। मैंने उसी दिन उसे अदालत में देखा था...अगर वह मेरा लड़का हुआ होता...उसका वह सुन्दर स्वस्थ मुख, उसकी वह रतनार आँखें...एक बार किसी दिन यहाँ भी आया था...हाँ याद आ रहा है। नहीं उठो (भगवन्तसिंह उठता है) चले जाओ...निकल जाओ। उसे चोट न आये...खड़े क्यों हो ? जाते क्यों नहीं ?

{भगवन्तसिंह वहीं खड़ा होकर धरती की ओर देखता है। मुरारीलाल का मुख क्रोध और आशंका से लाल हो उठता है}

मुरारीलाल : पत्थर की तरह क्यों खड़ा है ?

भगवन्तसिंह : (टूटते हुए स्वर में) में आदमियों को कह आया था...अब तक तो वह मारा गया होगा।

मुरारीलाल : (दुःख से) ओह ! यह दूसरी मृत्यु ? दोनों एक-दूसरी से भयंकर ! (झुक कर मेज पर सिर रख देते हैं--फिर एकाएक खड़े होकर भगवन्तसिंह का हाथ पकड़कर) चले जाओ...मोटर से जाओ और अगर अभी तक वैसा न हुआ हो...कदाचित् ईश्वर ने बचा दिया हो तो...फिर नहीं जाता शैतान (क्रोध के आवेश में उनका सिर हिल उठता है। भगवन्त सिंह बाहर निकल जाता है। माहिरअली का भीतरी दरवाजे से प्रवेश)

माहिरअली : खाना तैयार है हुजूर

मुरारीलाल : (कुर्सी पर बैठकर पीछे की ओर सिर झुकाकर) माहिर...

माहिरअली : (उसके पास पहुँचकर) हुजूर...

मुरारीलाल : क्या होगा ? (गहरी साँस खींचता है)

माहिरअली : (विस्मय से) कोई तकलीफ है ? क्या हुआ सरकार...

मुरारीलाल : इस बदमाश ने उसे मरवा डाला !

माहिरअली : किसको ?...किसने ? कब; मैं तो नहीं जानता ...क्या ?

मुरारीलाल : इसी राय साहब ने...उस लड़के को, जो उस दिन यहाँ इसकी शिकायत लेकर आया था...जिसे मैंने डाँट दिया... जो अपनी सरलता में यह कह गया था-- 'अगर मैं मारा गया तो इसके उत्तरदायी हुजूर होंगे।' मैं देख रहा हूँ उसने सच कहा था।

माहिरअली : (सन्न होकर) मरवा डाला ? मरवा डाला ? अभी गिरफ्तार नहीं किया गया ? राय साहब है न, हाँ आनरेरी मजिस्ट्रेट है ...गिरफ्तार नहीं हुआ...होगा भी नहीं...रुपये होना चाहिए। खून छिपा लेना क्या है ? उसकी नयी औरत और बूढ़ी माँ का क्या होगा ? सरकार...उनकी जिन्दगी कैसे बीतेगी ? (फर्श पर बैठ जाता है)

मुरारीलाल : यही तो मैं भी सोच रहा हूँ...माहिर...

माहिरअली : मैंने तो आपसे तभी कहा था उसे मरवा डालेगा। तो उसे मरवा कर यहाँ आया ?

मुरारीलाल : उसे मारने के लिए बदमाशों को ठीक कर आया है। लेकिन शायद ईश्वर बचा ले।

माहिरअली : उसका उस दिन इस शैतान की कार्रवाइयों से घबड़ा कर साथ-ही-साथ हँसना और रोना मुझे तो नहीं भूल रहा है। कच्ची उमर में गिरस्ती का बोझा पड़ गया। हुज़ूर, इस शैतान के साथ उस लड़के का कोई सगा रिश्तेदार था...वह राय साहब से कर्ज ले चुका है। अपने कान से सुना मैंने उस शैतान के बच्चे को सिखलाते हुए कि कह देना साहब से कि तुम उस लौंडे के नातेदार हो...उसके वालिद के मामू के लड़के हो...तुम्हारा एतबार साहब को होगा...

मुरारीलाल : हूँ...जरूर ऐसी बात थी। उसके चेहरे से शैतानी टपक रही थी। और मालूम होता है, उसकी भी राय से वह मारा गया होगा। मनुष्य का स्वार्थ...इसके लिए आदमी क्या नहीं कर डालता ? (कमीज की आस्तीन समेट कर) इधर देखो मेरे रोयें फूल गये हैं...जैसे सिर में चक्कर आ रहा है...क्या समझते हो, अगर वह मारा गया तो उसमें मेरी वजह...

माहिरअली : मैंने पहले कहा था। वह आप ही की वजह से मारा गया होगा। कानून के डर से इस बेईमान की हिम्मत इतनी नहीं होती।

मुरारीलाल : (सँभलकर) मेरी वजह से नहीं माहिर ...! संसार में भलाई-बुराई का भाव अब नहीं है। आज इसने दस हजार दिया है। दस-दस रुपया देकर यह गवाहों को बिगाड़ देता। एक हज़ार भी नहीं खर्च होता और यह छूट जाता। आजकल का कानून ही ऐसा है इसमें सजा उसको नहीं दी जाती जो कि अपराध करता है..सजा तो केवल उसको होती हैजो अपराध छिपाना नहीं जानता। बस...यही कानून है।आज यह मुझसे कबूल कर गया कि उसके मरवाने का इन्तजाम वह कर आया है। अगर वह मारा गया और मैं चाहूँ भी कि इसे सजा दूँ तो सबूत नहीं मिलेगा। ऐसी हालत में मेरी तबीअत, मेरी अन्तरात्मा, कहेगी इसे दण्ड देने के लिए और कानून कहेगा छोड़ देने के लिए। मुझे मजबूर होकर कानून की बात माननी पड़ेगी और वह छूट जायेगा। हम लोग मनुष्य और उसके अधिकार की रक्षा के लिए कुर्सी पर नहीं बैठते... हम लोगों का तो काम है केवल कानून की रक्षा करना। यही बुराई है और इसीलिए यह सब हो रहा है। उससे रुपये लेकर मैंने कोई बुराई नहीं की। इसी तरह दस-पाँच बार देना पड़ जायेगा...उसकी गरमी स्वतः शान्त हो जायगी। चन्द्रकला को भेजना तो...

माहिरअली : लेकिन...खाना तो तैयार है।

मुरारीलाल : आज मैं भोजन नहीं करूँगा...मुझे इसका रंज है। क्या देख रहे हो? जाओ, इस तरह आज उपवास कर जाने से मुझे सन्तोष होगा। अधिक-से-अधिक यही सहानुभूति मैं उसके साथ दिखला सकता हूँ।

[माहिरअली का प्रस्थान। मुरारीलाल दीवाल की आलमारी खोल कर एक पुस्तक निकालते हैं। पुस्तक मेज पर रख उसके पन्ने इधर-उधर करने लगते हैं। कई पन्ने इधर-उधर उलट-पुलटकर पुस्तक को खुली मेज पर छोड़कर आलमारी से दूसरी पुस्तक निकालते हैं, उसके पन्ने भी जल्दी-जल्दी उलट कर देखने लगते हैं। थोड़ी देर तक मेज के किनारे खड़े होकर जैसे कुछ पढ़ते हैं, कभी-कभी अंगरेजी के अधूरे शब्द उनके मुँह से निकल पड़ते हैं। मुरारीलाल क्षण भर के लिए ऊपर छत की ओर देखते हैं। दूसरे ही क्षण पुस्तक उठाकर कमरे में फर्श पर फेंक देते हैं। पुस्तक के गिरने के साथ ही धाँय-की आवाज होती है, और वह कमरे के बाहर होकर गोसवारे से नीचे उतरकर, बायीं ओर मुड़कर, आड़ में हो जाते हैं।]

(माहिरअली और चन्द्रकला का प्रवेश)
(कमरे में चारों और देखकर) कहाँ हैं?
(चन्द्रकला इस ओर के गोल कमरे की ओर बढ़ती है और माहिरअली दूसरी ओर के गोल कमरे की ओर जाता है। मेज की ओर बढ़ता है) नहीं हैं न?

माहिरअली : नहीं। उन्हें अफसोस हो रहा है।

चन्द्रकला : (धीमें स्वर में गाने लगती है)
अब के सोचे न बनेगा, मालिक सीताराम हो...

(कई बार धीरे-धीरे यही एक पंक्ति गाती है। माहिरअली उसके मुँह की ओर देखने लगता है)

माहिरअली : आपको तो गाना...

चन्द्रकला : (जैसे गुनगुना कर) मेरे मन में आया था कि बाबू जी से कह दूँ कि वह बेचारा झूठ नहीं, बिल्कुल सच कह रहा है। उसका हँसकर उनसे बातें करना...उठ कर चला गया तो जैसे यह कमरा सूना हो गया। (गम्भीर होकर) यदि मैं पुरुष होती ...तब तो... (माहिरअली की ओर ध्यान से देखती हुई) हाँ, अगर मैं मर्द होती तो जरूर कह देती और देखती कि किस तरह यह कमीना रायसाहब...राक्षस की तरह तो वह दुष्ट देखता है। देखो तो बाहर... (आँख से बाहर की ओर संकेत करती है)

[माहिरअली का प्रस्थान। भीतरी दरवाजे से मनोरमा का प्रवेश। मनोरमा की अवस्था चन्द्रकला से दो साल कम है। शरीर उसका कुछ दुबला और अविकसित-सा है। बाल खुले, रुक्ष और अव्यवस्थित हैं। बायीं ओर से बालों की एक लट दायें कान से होकर सीधे आगे की ओर नीचे को लटक रही है। उसकी आँखें नितान्त चंचल और चमकती हुई हैं। भौंह के बाल इतने लम्बे हैं कि दोनों बगलों में दायीं और बायीं ओर घूमकर छोटे-बड़े कई वृत्त बना रहे हैं। उसके शरीर का रंग बिलकुल पछाहीं चम्पे का है। मनोरमा दोनों हाथों में एक चित्र लेकर ध्यान से देखती हुई मेज की ओर बढ़ती है।]

मनोरमा : लो यह भी बन गया!

चन्द्रकला : (चौंककर) बन गया? आज ही...

मनोरमा : (चित्र उसके सामने बढ़ाकर) देखो...इसलिए न तुम मुझे अनन्त काल तक रोकना चाहती थीं?

चन्द्रकला : लेकिन अब तो व्यर्थ है। अब तो शायद वह संसार में ही नहीं रहा।

मनोरमा : अरे क्या कह रही हो ?

चन्द्रकला : उस दुष्ट रायसाहब ने उसे मरवा डाला !

मनोरमा : (स्थिर आँखों से सामने दीवाल की ओर देखती हुई) मरवा डाला ? उसकी मुस्कराहट, उसकी हँसी पर भी उसे दया नहीं आयी ? अरे ! अभी तो वह फूल खिला भी न था। उसने भी कोई अपराध किया होगा ? उससे भी किसी का अपकार हो सकता है ? (चित्र की ओर देखती हुई) नहीं जी...नहीं...तुमने कहाँ सुना ?

चन्द्रकला : कहाँ बताऊँ ? उसने बाबूजी से स्वयं स्वीकार किया और इसीलिए दस हजार रुपया दे गया है।

मनोरमा : (गम्भीर होकर) अच्छा तो उसका मूल्य केवल दस हजार...मैंने ही उसे उस दिन अमूल्य समझ लिया और इसीलिए निष्प्रयोजन यह चित्र बनाने लगी...केवल अपनी कला की परीक्षा के लिए। कला के 'अमूल्य' के लिए संसार में जगह नहीं। तो अब इसे क्या करूँ ?

चन्द्रकला : मुझे दे दो...या अपने पास रक्खो..

मनोरमा : अपने पास ? यह आग ? और तुम्हारे पास भी नहीं...तुम क्या करोगी ?

चन्द्रकला : तब क्या होगा ?

मनोरमा : माहिर ने कहा था...(कुछ सोचकर) उसका विवाह हो चुका है न ?

चन्द्रकला : हाँ...लेकिन उसका नहीं होना चाहिए था।

मनोरमा : तो इस तरह तो मेरा विवाह भी नहीं होना चाहिए था।

चन्द्रकला : इसमें क्या सन्देह है ?

मनोरमा : लेकिन मेरे लिए तो सन्देह है। आठ वर्ष की थी तभी शादी हुई। दो वर्ष के बाद ही वह मर गये। तब से इधर आठ वर्ष बीत गये। (एकाएक चुप होकर चित्र ध्यान से देखने लगती है)

चन्द्रकला : तुम्हें अपने विधवा होने का दुःख नहीं है ?

मनोरमा : (विस्मय के स्वर में) दुःख... (गम्भीर होकर) जिस वस्तु का अनुभव हुआ ही नहीं...उस अभाव का दुःख क्या ?

चन्द्रकला : तुम कह क्या रही हो ?

मनोरमा : मैं ? (चुप होकर कुछ सोचने लगती है)

चन्द्रकला : हाँ, हाँ, तुमने मुझे स्तम्भित कर दिया।

मनोरमा : (मुस्कराकर) संसार तो ईश्वरमय है... फिर माया है कहाँ ?

चन्द्रकला : लेकिन ईश्वर और माया की बात कहाँ से आ पड़ी ? बात तो थी कि यह चित्र क्या होगा ?

मनोरमा : यह चित्र किसी प्रकार उसकी स्त्री के पास भेज देना चाहिए।

चन्द्रकला : लेकिन वह क्या करेगी ? अगर वह अशिक्षित हो...उसके भीतर कला की भावना न हो...

मनोरमा : कला की भावना किसके भीतर नहीं होती ? शिक्षा और कला का सम्बन्ध कुछ नहीं है। कला का आधार तो है विश्वास और शिक्षा का सन्देह। इन दोनों को एक ही साथ रख देना दो शत्रुओं को बाँध कर एक साथ...समुद्र में फेंक देना

है। यह काम माहिर से हो सकेगा। किसी तरह यह चित्र उसकी स्त्री के पास पहुँचना चाहिए।

चन्द्रकला : खूब कह रही हो। (सिर हिलाकर) चित्र बनवाया मैंने और भेज दूँ उसके पास?

मनोरमा : दान कर दो...अपनी तरफ से, उसे इसकी जरूरत है।

चन्द्रकला : दूसरा बना दो...

मनोरमा : लेकिन वह कैसे होगा?

चन्द्रकला : क्यों नहीं होगा? इसे भी तो तुम्हीं ने बनाया है?

मनोरमा : लेकिन इसका आधार तो साकार था...निराकार तो कला की वस्तु नहीं है न?

चन्द्रकला : (चित्र की ओर संकेत कर) इसी को देख कर...

मनोरमा : लेकिन... तो फिर वह चित्र न होकर फोटो हो जायेगा। यही भेज दो।

चन्द्रकला : उँह, तुम तो हठ कर रही हो! इसका उपयोग वह किस रूप में करेगी?

मनोरमा : (गम्भीर होकर उसकी ओर एकटक देखती हुई) दिन को इसकी पूजा करेगी और रात को अपने हृदय पर रख कर सो रहेगी।

चन्द्रकला : ओह! तुम्हारा व्यंग बड़ा निष्ठुर होता है। तुम्हारा हृदय इतना सूखा है, न मालूम उसमें कला की भावना कैसे जाग पड़ी?

मनोरमा : इसका मतलब कि कीचड़ में कमल नहीं उगना चाहिए। लेकिन जो स्वभाव है वह, कमल ताल के कीचड़ में उगेगा, लेकिन गंगा के बालू में नहीं। यही तो लोग नहीं समझते (गम्भीर होकर कुछ सोचने लगती हैं)।

चन्द्रकला : क्या सोच रही हो?

मनोरमा : यही, तुमने अभी कहा है कि मेरा व्यंग निष्ठुर होता है।

चन्द्रकला : मैं समझती हूँ, ऐसा ही। तुम उस अभागिनी स्त्री के साथ व्यंग कर रही हो...जिसका संसार आज सूना हो गया होगा।

मनोरमा : इसीलिए तो कहा कि चित्र भेज दो...वह फिर किसी अंश तक भर उठेगा। सहानुभूति शब्दों में नहीं व्यक्त हो सकती बहन! कुछ करना चाहिए। आग के निर्धूम हो जाने पर उसकी दाहक-शक्ति बढ़ जाती है...तुम धुएँ को आग समझ रही हो?

चन्द्रकला : इसका मतलब?

मनोरमा : यही कि तुम्हें उसके दुर्भाग्य का दुःख है, लेकिन (चित्र की ओर संकेत कर) तुम उसके लिए इतना त्याग भी नहीं कर सकती।

चन्द्रकला : लेकिन मैं तो इसे अपने कमरे में रखना चाहती थी...उस दिन की स्मृति में, उसका वह हँसना, उसकी रतनार आँखें...लम्बी-लम्बी, उसका वह उभरा हुआ मस्तक और उस पर काले बालों की दो-चार लटें पल भर में उसकी नजर कमरे में चारों ओर दौड़ गयी...उसका हँसना तो जैसे एक साथ जुही के असंख्य फूलों का बरस पड़ना था।

मनोरमा : तुम्हारा यह शब्द-चित्र तो मेरे इस रेखा चित्र से बढ़ जाता है।

चन्द्रकला : सो कैसे?

मनोरमा : जुही के फूलों की वर्षा तो मैं नहीं दिखा सकी।

चन्द्रकला : लेकिन मेरा चित्र कल्पना को जगा नहीं सकता और तुम्हारा तो उसे सहस्त्र मुखी कर देता है?

मनोरमा : मेरा ?

चन्द्रकला : हाँ, चित्र इतना सजीव मालूम हो रहा है (चित्र को ध्यान से देखकर) जैसे अभी हँस पड़ा है। एक दिन के लिए... घड़ी भर के लिए यहाँ आये क्यों ? जब इसी तरह चला जाना था। (चित्र को ध्यान से देखकर) चित्र का नाम क्या रक्खा है, तुमने 'यौवन के द्वार पर'। लेकिन इसका नाम होना चाहिए था 'मृत्यु के द्वार पर' (उसकी ओर निर्निमेष देखती हुई) कैसे बनेगा यह।

मनोरमा : चित्र में तो वह सदैव 'यौवन के द्वार पर' रहेगा। चित्र में तो वह मरा नहीं। लेकिन तुम तो इतनी विकल हो रही हो जैसे तुम उसके प्रेम में...

चन्द्रकला : तुम जानती हो मैं किसे प्रेम करती हूँ... प्रेम दो-चार से तो हो नहीं सकता और फिर अब प्रथम दर्शन में प्रेम का समय भी नहीं रहा। वह तो युग दूसरा था, जब हृदय का रस संचित रहता था और अनायास किसी ओर बह उठता था। अब तो व्यय की मात्रा संचय से अधिक हो गयी है। उसके साथ प्रेम की नहीं... विनोद की बात हो सकती थी... उसके साथ खिलवाड़ हो सकता था... तबीअत बहलायी जा सकती थी... (उसकी आँखों से आँसू चल पड़ते हैं)

मनोरमा : ऐं ! तुम तो रो रही हो ?

चन्द्रकला : (छाती पर हाथ रखकर) यहाँ दर्द हो रहा है.. साँस लेने को जी नहीं चाहता।

मनोरमा : झूठ तो नहीं कहोगी ? बोलो। मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ।

चन्द्रकला : अब, हाँ पूछो, अब किस अभिप्राय से झूठ कहूँगी... अब किस चीज को छिपाऊँगी और किसलिए ?

मनोरमा : मनोज बाबू से तुम्हारा चित्त टूट गया है क्या ?

चन्द्रकला : लेकिन उनसे मेरा चित्त लगा कब ?

मनोरमा : ऐं ! कभी नहीं ? तब तुमने क्यों कहा कि मैं जानती हूँ तुम किसे प्रेम करती हो ?

चन्द्रकला : लेकिन उस समय तो किसी प्रकार जीवन के साथ समझौता करना था... फिर तुमने सत्य की कसौटी जो रख दी। आज मैं भी विधवा हो गयी...

मनोरमा : छी... क्या बक रही हो ?

चन्द्रकला : तीक्ष्ण है न ? तब फिर सत्य के लिए.. क्यों ? सत्य तीक्ष्ण होता ही है।

मनोरमा : तुम्हें अपनी मर्यादा का भी ख्याल नहीं है ? मान लो यही बात है तो तुम्हें इस तरह रोना चाहिए ? कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ?

चन्द्रकला : कोई सुनेगा कैसे ? मैं किससे कहूँगी ? तुमने सुन लिया इसलिए कि मेरा सर्वस्व चले जाने पर सत्य, यह अन्तिम आधार भी जाने लगा। बस... इसीलिए... इसीलिए...

[एकाएक कुर्सी पर बैठकर चित्र से अपना मुँह ढक लेती है। मनोरमा उसके पास जाकर उसके सिर पर हाथ रखती है--धीरे-धीरे उसके बालों पर हाथ फेरने लगती है। मुरारीलाल का प्रवेश। चन्द्रकला जल्दी से उठती है, चित्र को मेज पर रखकर शीघ्रता से उनकी ओर देखकर भीतर निकल जाती है।]

मुरारीलाल : क्या हो गया जी इसे ? इसकी आँखें तो लाल हो रही हैं... जैसे रो रही थी। चन्द्रकला...! चन्द्रकला...!

मनोरमा : (संकोच के स्वर में) मैं अब यहाँ से जाना चाहती हूँ। इसी से उन्हें...

मुरारीलाल : (आगे बढ़कर कुर्सी पर बैठते हुए) तुम जाना चाहती हो ? तुम्हारा कहीं घर नहीं है न ?

मनोरमा : कहीं घर बनाऊँगी।

मुरारीलाल : तब यही घर क्या बुरा है ? (उसका हाथ पकड़ कर ध्यान से उसका मुख देखते हुए) तुम्हें यहाँ कोई कष्ट है ?

मनोरमा : संसार की सीधी भाषा में जिस चीज को लोग सुख समझते हैं वह तो मुझे यहीं दो महीनों से मिल रहा... समय पर स्वादिष्ट भोजन और सुख की नींद, सुन्दर वस्त्र...संसार का सुख तो इन्हीं वस्तुओं में सीमित है। (गम्भीर होकर) यह सब होते हुए भी तो यह आपका घर है। मुझे अपना घर बनाना है।

मुरारीलाल : (मुस्कराने का प्रयत्न कर) लेकिन मेरे घर को ही अपना घर समझ लेने में तुम्हें अड़चन क्या है ?

मनोरमा : कानून और कला का साथ नहीं हो सकता न ? (गम्भीर होकर) कानून दण्ड देगा, कला क्षमा करेगी। कानून सन्देह करेगा, कला विशवास ँग़ड्ढ्रँक + ल्वैं★{क्र हाथ खींच कर मेज की दूसरी ओर खड़ी होती है)।

मुरारीलाल : तुम्हारा हृदय प्रेम से नहीं...

मनोरमा : (होंठ पर उँगली रखकर) इसलिए कि मैं विधवा हूँ।

मुरारीलाल : लेकिन तुमने तो अपने प्रेमी का मुख भी नहीं देखा ? तुम्हें इसका कोई ज्ञान नहीं।

मनोरमा : इन आँखों से तो कभी नहीं देखा...लेकिन कल्पना की आँखों से नित्य देखती हूँ...नित्य। बीस वर्ष का स्वस्थ, सुन्दर, सम्मोहक शरीर, चन्द्रमा-सा मुख, कमल-सी आँखें, कमान-सी भौंहे, घने काले नीलम-से चमकीले बाल (आँख बन्द कर) वह स्वरूप इस समय मेरे सामने आ गया है, देखिए तो शायद आपको भी देख पड़ जाये।

मुरारीलाल : (अन्यमनस्क होकर) मुझे तो देख पड़ रहा है यह चित्र। यही तो नहीं है ? अरे! यह तो रजनीकान्त का चित्र है...उस लड़के का ओफ!

मनोरमा : (चित्र की ओर देखती हुई) अच्छा नहीं बना क्या ?

मुरारीलाल : बिलकुल वैसा ही...जैसा वह था वैसा ही...यह चित्र तुमने क्यों बनाया...किस लोभ से...? (मनोरमा की ओर देखता है) इस चित्र से तुमको क्या फायदा था ?

मनोरमा : कला की साधना अपने लाभ के विचार से नहीं होती। गुलाब खिल रहा था, वसंत आ रहा था, आधी रात को पूर्णमासी का चन्द्रमा धरती की ओर देख रहा था...उसे देखकर मेरी कल्पना और भावना उत्तेजित हो उठी...मैंने उसका चित्र बना दिया।

मुरारीलाल : तुम भी एक समस्या हो...

मनोरमा : यह आपको कैसे मालूम ?

मुरारीलाल : इसलिए कि मैं तुम्हें समझ नहीं पाता।

मनोरमा : लेकिन आप इसकी कोशिश क्यों करते हैं ?

मुरारीलाल : तो क्या न करूँ ?

मनोरमा : हर्गिज नहीं। आप ही सोचिए, दूसरों के दण्ड की व्यवस्था तो आप करते हैं। आपके दण्ड की व्यवस्था कौन करेगा ? और यह उचित भी नहीं है। कई दिनों

से आप इस तरह का संकेत कर रहे हैं। आप अपनी मर्यादा भूल रहे हैं। मैं विधवा हूँ। मेरे साथ परिहास का कोई अर्थ नहीं।

मुरारीलाल : मैं तो इसे केवल परिहास नहीं, सत्य बनाना चाहता था।

मनोरमा : सत्य का बना लेना इतना सरल होता तो फिर संसार से झूठ का नाम निकल जाता, या कम-से-कम शराबी की शराब, हत्यारे की हत्या, चोर की चोरी, यह सब कुछ सत्य हो उठता। इन चीजों की बुराई निकल जाती।

मुरारीलाल : अच्छा तो तुम कहाँ जाओगी ...? मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहता...तुम जा सकती हो।

मनोरमा : (मुस्कराकर) सत्य का सूत कच्चा था, कितनी जल्दी टूट गया ? (सिर हिलाकर) आप मुझे रोकेंगे, क्यों ?

मुरारीलाल : (कड़े स्वर में) मैं तुम को बुलाने भी नहीं गया था।

मनोरमा : आपकी लड़की ने मुझे बुलाया था... चित्रकला सीखने के लिए। मैं यहाँ मजदूरी करने आयी थी। इसमें आपकी कोई बड़ी अनुकम्पा नहीं है और अगर आपकी इच्छा हो तो मैं स्वीकार कर लूँगी कि मैं आपके यहाँ सम्मान के साथ रही, इसके लिए मैं आपकी कृतज्ञ हूँ। बस शायद अब आप प्रसन्न हो जायँगे। क्षमा कीजियेगा, पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषत: स्त्रियों के सम्बन्ध में, मृत्यु-शय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिए सबसे बड़ा लोभ हो जाती है।

मुरारीलाल : तुम चुप नहीं रहोगी ?

मनोरमा : भय की बात तो मैंने सीखी नहीं। लाल आँखों का असर अगर मेरे मन पर कुछ भी पड़ता तो अब तक तो मैं कभी की खो बैठी होती...अपना चरित्र, और अब तक ? नरक की सबसे निचली तह में पहुँच गयी होती। एक चित्र मैंने आपका बनाया है, एक चन्द्रकला का, एक मनोजबाबू का और चौथा चित्र यह है। (चित्र उठाकर) तीन चित्र आप लोग ले लीजिए। इसे मैं ले जाऊँगी।

मुरारीलाल : पता नहीं रजनीकान्त की इस समय क्या दशा होगी...जीता होगा या मर गया होगा ?

मनोरमा : उहँ, मेरे लिए क्या ? घड़ी भर के लिए यहाँ आकर मेरी कला को जगा गया...इतना सुन्दर चित्र अब तक मेरी कलम से नहीं बना। यही मेरा अन्तिम चित्र होगा।

मुरारीलाल : अन्तिम क्यों ?

मनोरमा : मैं हृषीकेश जाऊँगी...रंग और कलम गंगा में फेंक कर माला लूँगी।

मुरारीलाल : इसी अवस्था में ?

मनोरमा : और नहीं तो क्या मरने के समय, जब उँगलियाँ माला के साथ खिलवाड़ न कर सकेंगी...जब हाथ काँपने लगेगा तब ?

मुरारीलाल : चन्द्रकला को भेजो तो...नहीं मैं ही जाऊँगा।

[मुरारीलाल का भीतरी दरवाजे से प्रस्थान। मनोरमा इधर-उधर चित्र पर उँगली घुमाने लगती है। माहिरअली और मनोजशंकर का बातें करते हुए प्रवेश]

माहिरअली : न कहियेगा अभी...अभी आप सब नहीं जानते...मेरी तबीअत घबड़ा गयी है।

[माहिरअली बिस्तर और चमड़े का सूटकेस बायीं ओर की गोल कोठरी में लेकर चला जाता है। मनोजशंकर आगे बढ़कर मेज के पास कुर्सी पर बैठता है और मनोरमा के हाथ से चित्र लेकर देखने लगता है।]

मनोजशंकर : प्रसन्न तो हो ?

मनोरमा : मैं ?

मनोजशंकर : हाँ...तुम। यहाँ और कोई है ...जिससे पूछ रहा हूँ ? वाह कितना सुन्दर चित्र है ? (चित्र देखने में जैसे तन्मय हो जाता है। मनोरमा उसकी ओर देखती रहती है) यह चित्र बिल्कुल कल्पित है ?

मनोरमा : नहीं...एक लड़का यहाँ कई दिन हुए आया था। इसी परगने का कोई जमीन्दार था। उसके बाप को मरे अभी साल भर भी नहीं हुआ...और उसे भी जैसा कि सुनती हूँ, किसी राय साहब और आनरेरी मजिस्ट्रेट ने मरवा दिया।

मनोजशंकर : ओह ! माहिरअली इसी के सम्बन्ध में कह रहा था क्या ? (चित्र की ओर देखते हुए) मालूम होता है, अब हँस देगा। इतना सुन्दर और सरल 'यौवन के द्वार पर'...तुम्हारी यह भावना अभी नहीं मरी (एकाएक गम्भीर हो उठता है)

मनोरमा : आज से तुम्हारी परीक्षा थी न ?

मनोजशंकर : थी तो, लेकिन अब परीक्षा नहीं दूँगा।

मनोरमा : राजनीति का काम करना है क्या ?

मनोजशंकर : नहीं...

मनोरमा : तब...?

मनोजशंकर : बीमार हूँ।

[गहरी साँस लेता है। मुरारीलाल और चन्द्रकला का प्रवेश]

मुरारीलाल : मनोज तुम कहाँ ? परीक्षा नहीं दी ?

मनोजशंकर : जी नहीं ...

मुरारीलाल : क्यों ?

मनोजशंकर : कोई लाभ नहीं।

मुरारीलाल : रुपया नहीं मिला क्या ?

मनोजशंकर : मिला तो।

मुरारीलाल : तब ?

मनोजशंकर : रुपया मिला...इसीलिए परीक्षा छोड़कर चला आया।

मुरारीलाल : लेकिन मैं पूछता हूँ क्यों ? किसलिए ?

मनोजशंकर : लेकिन मैं...मैं कहता हूँ इसलिए कि अभी पन्द्रह दिन हुए मुझे चार सौ रुपये आपने भेजे थे। फिर दो सौ और क्यों भेज दिये ?

मुरारीलाल : तुम्हारे आराम के लिए !

मनोजशंकर : आपको केवल छः सौ रुपये वेतन मिलता है और छः सौ आपने मुझे भेज दिये। घर का काम कैसे चलेगा ?

मुरारीलाल : इसकी चिन्ता तुम्हें क्यों हो ?

मनोजशंकर : इस सन्देह में कि इस प्रकार आपके नैतिक पतन की सम्भावना है। अपना सारा वेतन मुझे देकर आप अनुचित रीति पर अपने लिए रुपया...।

मुरारीलाल : हो सकता है...लेकिन तुम्हारा क्या...?

मनोजशंकर : (चित्र उठाकर) आप कह सकते हैं, यदि यह मारा गया हो तो इसमें आपका अपराध किस अंश तक होगा ?

(तीव्र दृष्टि से उनकी ओर देखता है)

मुरारीलाल : (सन्देह से) तुम्हें क्या हो गया ?

मनोजशंकर : (गम्भीर होकर) आज पन्द्रह दिन से बाबूजी को बराबर स्पप्न में देखता हूँ। मेरा मानसिक रोग बढ़ गया है... (जोर से साँस लेकर) कलेजे में लौ उठकर जैसे आँख फोड़कर निकल जाना चाहती है। यही दशा रही तो मैं दस पाँच दिन भी नहीं जी सकता। मेरे मरने से आपका क्या लाभ होगा ? (मुरारीलाल की ओर ध्यान से देखने लगता है)

मुरारीलाल : मैं तुम्हें अपने पुत्र से किसी अंश में भी कम नहीं समझता; मैं तुम्हें मार डालना चाहता हूँ ? जिसके लिए चोरी करे वही कहे चोर ?

मनोजशंकर : दस वर्ष का समय निकल गया। आप रुपये के बल पर मुझे विनोद और ऐश्वर्य में अन्धा बना देना चाहते हैं; जिससे मैं आपसे न पूछूँ कि उन्होंने आत्महत्या क्यों की... बाबूजी ने आत्म हत्या क्यों की ? ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है यह रहस्य मुझसे दूर होता चला जा रहा है। लेकिन मेरे मन में, मेरी अन्तरात्मा में जो आग लगी है वह कितनी दारुण है, आप उसे देखना नहीं चाहते। इस तरह कब तक मेरे प्राण बचेंगे ?

[मुरारीलाल उद्वेग से उसकी ओर देखने लगते हैं। सामने की ओर से कई आदमी एक चिंड़ोला लेकर प्रवेश करते हैं और बँगले के बरामदे में उतार देते हैं। मुरारीलाल चौंककर देखते हैं और आगे बढ़ते हैं। बरामदे में पहुँच जाते हैं]

मुरारीलाल : ऐं! रजनीकान्त! अन्त में हो गया... मरवा ही डाला उस बदमाश ने ?

[चन्द्रकला जल्दी से लाश के पास जाती है। रजनीकान्त आँख खोल देता है और चन्द्रकला की ओर देखने लगता है। उसका सिर फट गया है, खून की धार सिर से होकर नीचे पैर तक चली गयी है, जिनमें कुरता-धोती रँग गयी है। चन्द्रकला क्षण भर उसकी ओर देखती है।]

चन्द्रकला : आह! अभी मुस्कराहट ?

[फिर रूमाल से अपना मुँह दबाती हुई भीतर चली जाती है। माहिरअली वहीं फर्श पर रजनीकान्त की लाश के पास बैठ जाता है।]

माहिरअली : आह! मार डाला! मार डाला बदमाशों ने, हडिड्याँ टूट गयी हैं। (मुरारीलाल झुककर रजनीकान्त की ओर देखने लगते हैं।)

दूसरा अंक

[बँगले के बरामदे में आगे की ओर कुर्सियाँ रक्खी हैं। बीच में सामने की ओर एक आराम कुर्सी है। उसके दोनों बगल से होकर चार काठ की कुर्सियाँ वृत्ताकार में रक्खी हुई हैं। संध्या हो रही है। मनोजशंकर बरामदे की बायीं ओर के गोल कमरे से निकलता है। सामने आकर बाहर की ओर देखता है। काशी सिल्क का कुरता और बंगाली तौर पर दायीं ओर से बायीं ओर को रेशमी चादर डाले है--धोती भी बंगाली ढंग की चुनकर नीचे की ओर लटकती हुई पहने है। पैर में पंजाबी जूते हैं। शरीर की गठन तो सुदृढ़ है, लेकिन उसकी आँखें नीचे को धँस रही हैं, जिससे उसकी चिन्ता का पता लगता है। वहीं खड़ा-खड़ा बाँसुरी बजाने लगता है। भीतर की ओर से मनोरमा का प्रवेश।]

मनोरमा : (बरामदे में आकर) मुझे भी सिखला दो।

मनोजशंकर : (घूमकर) किसलिए ?

मनोरमा : जानते हो, रात को मैं बहुत कम सो पाती हूँ...

मनोजशंकर : लेकिन क्यों ?

मनोरमा : लेकिन क्यों ?

मनोजशंकर मैंने तो कभी नहीं कहा कि तुम रात को न सोओ। कहा है कभी ?

मनोरमा : मुझे नींद नहीं आती। (गम्भीर हो उठती है)

मनोजशंकर : अच्छा तो फिर बाँसुरी बजाने से नींद आयेगी ? नींद की दवा तो सुन्दर रही !

मनरोमा : नींद नहीं आयेगी तो यों ही समय तो सुख से बीतेगा ?

मनोजशंकर : लेकिन यह तुम कैसे जानती हो कि बाँसुरी बजाने में सुख होता है। मेरा तो स्वास्थ्य इसी में बिगड़ गया। डाक्टर गये ?

मनोरमा : अभी नहीं...

मनोजशंकर : क्या कर रहे हैं... ?

मनोरमा : कर क्या रहे हैं...देह दबा रहे हैं... ?

मनोजशंकर : देह दबा रहे हैं ? (मुस्कराकर) तुम भी तो...

मनोरमा : परिहास समझ रहे हो ? चलकर देख लो ! कभी सिर पर हाथ रखते हैं, कभी छाती पर, कभी बाँह पर, कभी जाँघ पर, मैं तो समझती हूँ कि वह खिलवाड़ कर रहे हैं।

मनोजशंकर : वह उनके साथ खिलवाड़ कर रहे हैं और तुम मेरे साथ खिलवाड़ कर रही हो ? (मनोरमा धरती की ओर देखने लगती है) क्यों, इधर देखो ?

मनोरमा : (गम्भीर होकर) ठीक उसी तरह... जिस तरह वे खिलवाड़ कर रहे हैं ?

मनोजशंकर : नहीं...उनका खिलवाड़ घड़ी-दो-घड़ी...दिन-दो-दिन का है। लेकिन तुम्हारा तो शायद मेरे जीवन के साथ ही समाप्त होगा। उसका अन्त तो मेरा अन्त है न ?

मनोरमा : अभी केवल दो महीने हुए, तुमने मुझे देखा है जी...

मनोजशंकर : तो बस, दो ही महीने से यह खिलवाड़ भी प्रारम्भ कर रक्खा है तुमने...

मनोरमा : मैंने... ?

मनोजशंकर : हाँ तुमने।

मनोरमा : यदि मैं सीधे शब्दों में कह दूँ कि तुम झुठ कह रहे हो... तुम्हारे हृदय को चोट पहुँचेगी। लेकिन मैं यह चाहती नहीं। मैंने तुम्हारे साथ किसी तरह का खिलवाड़ नहीं किया। मैं तुम्हें चाहती हूँ...तुम्हारे साथ एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव मैं करती हूँ...लेकिन तुम जिस मोह में पड़ गये हो...वह तो भयंकर है।

मनोजशंकर : भयंकर है ?

मनोरमा : भयंकर है, भयंकर! चन्द्रकला उस लड़के पर इतनी रीझ गयी कि उसके लिए बीमार पड़ गयी। हम लोगों को अपने से महान् होना है मनोज ! तुम्हारे साहब भी मुझसे प्रेम करने लगे हैं--(गम्भीर होकर) दशाश्वमेध घाट पर भिक्षुकों में एक-एक टुकड़े के लिए द्वन्द्व चल पड़ता है... वे सभी भूखे रहते हैं... ज्ञान के लिए वहाँ लेशमात्र भी जगह नहीं है। उन्हीं भिक्षुकों की तरह हो गयी है तुम्हारी यह पुरुष जाति।

(मनोजशंकर उसकी ओर उद्विग्न होकर देखने लगता है।) इस तरह क्यों देख रहे हो, तुम्हीं कहो। (कुछ सोचकर) मैं विधवा हूँ... इस ज्वालामुखी को यदि मैं कुछ समय के लिए छिपा भी लूँ... तब भी मैं किसकी बनूँ ? तुम्हारी या डिप्टी साहब की ? जहाँ तक मेरी बात रही, मैं तो उन्हें जी भर घृणा करना चाहती हूँ और तुम्हें जी भर प्रेम...अगर तुम मेरे प्रेम का अर्थ समझ सको...मुझे उसका अवसर दो। मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी। कल मैं अवश्य चली जाऊँगी... इसका उत्तर तुम्हें आज देना होगा। (मनोजशंकर कुछ कहना चाहता है) ठहरो...इसका उत्तर इतना आसान नहीं है कि तुम इसी क्षण दे सको।

मनोजशंकर : लेकिन...

मनोरमा : तुम्हें अपनी जंजीरें तोड़ देनी होंगी। चन्द्रकला यह जानती थी कि महोदय मुरारीलाल उसका विवाह तुमसे करना चाहते हैं...लेकिन यह जानकर भी वह उस लड़के की सुन्दरता और सरलता पर अपने को खो बैठी। समाज में तो ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, जिससे उसका सम्बन्ध उससे हो सके। इसके अतिरिक्त उसका विवाह भी हो चुका है। यह सब जानकर, समझकर उसने अपना सर्वनाश किया है। उसके कल्याण और उसके रमणीत्व की मर्यादा का तो केवल एक रास्ता रह गया है और वह है उसका अविवाहित रहना। उसका विवाह तो अब व्यभिचार होगा...अगर वह सम्हली नहीं तो उसके एक नहीं अनेक व्यभिचारों का श्रीगणेश आज हो गया।

मनोजशंकर : (चौंककर) व्यभिचार ?

मनोरमा : आवेश क्यों ? शारीरिक व्यभिचार से कहीं भयंकर है मानसिक व्यभिचार। संसार की समस्याएँ...जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझायी जा सकतीं...वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उसका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा और प्रकृति के नाम पर हम निरन्तर पशुवृत्ति की ओर बढ़ें...तब तो न कोई चिन्ता न खेद...लेकिन तब कोई समस्या भी नहीं है और समाधान भी नहीं।

मनोजशंकर : (उद्वेग के स्वर में) तुम्हारी बातों में तो हृदय का रस कुछ भी नहीं है, मानो...लेकिन तुम्हारी तूलिका हृदय को हिलाती कैसे है ?

मनोरमा : (मुस्कराकर) इसलिए कि वह तूलिका होती है...उसके भीतर शरत् की चाँदनी होती है, वसंत का पवन होता है...ग्रीष्म का अनुताप होता है।

(कुछ सोचकर) हृदय का रस, दो सुन्दर शब्द, जिनका अर्थ होता है वासना, विकार, अपने पाप की प्रदर्शनी... (उसका हाथ पकड़ कर) आत्मा का...आत्मा का रस खोजो...मेरे लिए भी औरों के लिए भी... (चुप होकर उसकी ओर देखने लगती है--उसकी भौंह ऊपर को खिंच जाती है)

मनोजशंकर : (चुटकी से उसकी भौंह के घूमे हुए बाल पकड़-कर) खींच लूँ...रस बह जाय आत्मा का...

मनोरमा : आँखें फोड़ने पर भी नहीं जी। अन्धों से पूछो लँगड़ों और उनसे पूछो, जिनका शरीर गल रहा है, आत्मा का रस तुम्हें उनके पास मिलेगा। घृणा न रहे...बस प्रेम तुम्हारा है।

मनोजशंकर : उँह जाने दो। मैं नहीं समझूँगा।

मनोरमा : च...च...च...आज नहीं समझे, तो फिर चन्द्रकला की तरह तुम्हारे लिए भी कोई नहीं...कोई आशा नहीं... (मनोजशंकर बाँसुरी बजाने लगता है। मनोरमा थोड़ी देर तक उसकी ओर देखती रहती है) नहीं मानोगे ?

मनोजशंकर : इसमें भी बुराई है ?

मनोरमा : इसमें एक प्रकार का विष, एक प्रकार का नशा है।

मनोजशंकर : मैं तो अब बिना इसके जी नहीं सकता।

मनोरमा : विषाद का स्वर न बजाकर आनन्द का स्वर बजाया करो। सुई ले लेकर जीना अच्छा नहीं है जी!

मनोजशंकर : कहीं आनन्द है भी या यों ही।

मनोरमा : कहाँ आनन्द नहीं है ? चित्त-वृत्ति का निरोध योग है और यही आनन्द है। जो चाहते हो, वह न चाहो...आनन्द तुम्हारा है और तुम हो आनन्द के।

मनोजशंकर : मैं तो जीना नहीं चाहता।

मनोरमा : तब मरना चाहते हो यही न ? मरना न चाहो जीवन तुम्हारा है।

मनोजशंकर : तुम्हें समझ लेना कठिन है।

मनोरमा : डिप्टी साहब के लिए भी मैं समस्या हूँ, और तुम्हारे लिए भी। मैं क्या करूँ ? किसके-किसके लिए रोऊँ ? अपने लिए, तुम्हारे लिए, साहब के लिए अथवा चन्द्रकला के लिए ? चन्द्रकला की दवा के लिए डाक्टर आये हैं, हम मरीजों की दवा कौन करेगा ? चन्द्रकला का रोग असाध्य है, लेकिन हम तीनों का तो सांघातिक हो गया है।

मनोजशंकर : मेरा रोग तो तब तक अच्छा नहीं होगा, जब तक मैं जान न जाऊँ कि उन्होंने आत्महत्या क्यों की ?

मनोरमा : पुरुष का सबसे बड़ा रोग स्त्री है और स्त्री का सबसे बड़ा रोग है पुरुष। यह रोग तो मनुष्यता का है और शायद मनुष्यता के विकास के साथ-ही-साथ इसका भी विकास हुआ...हाँ...पहले इसकी कुछ विशेष अवस्था थी...लेकिन अब तो इस रोग का आक्रमण सभी अवस्थाओं में हो जाता है। इस चिरन्तन रोग के साथ तुम्हारा एक और रोग है। मैं समझती हूँ...कि...

मनोजशंकर : इसका सबका मतलब यही कि तुम मुझे अपने से दूर हटा देना चाहती हो।

मनोरमा : मैं तो तुम्हारा हाथ पकड़कर संसार में उतर पड़ना चाहती हूँ। संसार के लिए एक नया आदर्श पैदा करना चाहती हूँ और तुम चाहते हो कि मैं अपने आँचल से तुम्हारा गला बाँध दूँ और अपने साथ ही, तुम्हें भी ले डूबूँ। अगर तुम सचमुच मेरे शरीर पर ही नहीं रीझ गये हो...तुमने मेरा हृदय, मेरी

अन्तरात्मा को समझ लिया है, तो हाथ बढ़ाओ या लो (अपना हाथ बढ़ाती है) पकड़ लो। (मनोजशंकर मंत्रमुग्ध की तरह उसका हाथ पकड़ लेता है) तुम बाँसुरी बजाओगे। मैं चित्र बनाऊँगी (कुछ सोचकर) मैं विधवा हूँ और तुमको भी विधुर होना होगा। और इस प्रकार हमारा सम्मिलन आज एक जीवन का नहीं अनेक जीवन का हो गया। (मनोजशंकर चिन्तित होकर दूर आकाश की ओर देखने लगता है। मनोरमा उसका कंधा पकड़कर उसे जोर से हिला देती है) चिन्ता नहीं...नहीं...चिन्ता नहीं...हँस तो दो जीवन पर और जगत पर...

(मुरारीलाल का प्रवेश)

मुरारीलाल : (बनावटी स्वर में) तुम लोगों ने तो यहाँ नाटकघर बना दिया।

[मनोरमा कमरे के भीतर जाकर खड़ी हो जाती है। मुरारीलाल बरामदे में निकलकर आरामकुर्सी पर बैठते हैं। उनके चेहरे पर अस्वाभाविक उद्वेग है]

मनोजशंकर : क्या कहा आपने ?

मुरारीलाल : यही कि तुम लोगों ने यहाँ नाटकघर बना लिया है।

मनोजशंकर : शायद आप अभी नाटक देखकर आ रहे हैं ? उसी भावना से आपको भ्रम हो गया है।

मुरारीलाल : मैं नाटक देखकर आ रहा हूँ ?

मनोजशंकर : (रूखे स्वर में) सम्भवत:। वहाँ और क्या था ?

मुरारीलाल : मैं नाटक देखकर आ रहा हूँ जी, चन्द्रकला की धुकधुकी बन्द हुआ चाहती है।

मनोजशंकर : (हँसता हुआ) हा...हा...हा...हा...आप भी तो रहते-रहते सपना देखने लगते हैं।

मुरारीलाल : इस बार तो तुमने जैसे शिक्षा और संस्कार आदि से असहयोग कर लिया है। तुम तो ऐसे नहीं थे।

मनोजशंकर : अभी मेरा विकास हो रहा है।

मुरारीलाल : डाक्टर साहब को पता नहीं चल रहा है... उनको सन्देह है, कोई रोग का साफ लक्षण नहीं दीख पड़ता...वे डर रहे हैं, कहीं हृदय की गति न बन्द हो जाय। तुम तो उसे देखने भी नहीं गये और वह...

मनोजशंकर : मैं गया था। दस मिनट से अधिक उसके पैताने खड़ा रहा। उसने एक बार मेरी ओर देखा, फिर सिर के ऊपर तकिया रखकर करवट लेट गयी। मैं उसके इस व्यवहार को अपना अपमान क्यों न समझूँ ? आत्मघाती पिता के पुत्र के लिए संसार में सम्मान कहाँ...

(गम्भीर हो उठता है)

मुरारीलाल : (कमरे की ओर घूमकर) तुम्हारे पति को मरे कितने वर्ष हुए ?

मनोरमा : (वहीं से) मैंने उन्हें देखा नहीं था...विवाह की कोई भी स्मृति मेरे पास नहीं है।

मुरारीलाल : हम सभी लोग दुखी हैं।

मनोरमा : मुझे कोई दु:ख नहीं है।

मुरारीलाल : तुम स्त्री होकर यह कह रही हो ?

मनोरमा : पुरुष तो वैधव्य का अनुभव कभी नहीं करते ? इसलिए यह बात स्त्री ही कह भी सकेगी। और दूसरे मेरा जीवन पिताजी की, चाँद की तरह, चाँदनी की तरह, हंस की तरह, श्वेत दाढ़ी और मूँछ की छाया में रंग और कलम के साथ बीता है। मुझे उस तरह के किसी अभाव का अनुभव हुआ ही नहीं। जो मिला नहीं... उसका चला जाना... उसका सुख क्या है ? और दु:ख क्या है ?

मुरारीलाल : (कुछ सोचकर) तुमने रजनीकान्त का चित्र अपनी तबीअत से बनाया था ?

मनोरमा : रेखाचित्र तो मैंने स्वयं बना लिया। मेरा विचार था यहाँ से चले जाने पर उसमें रंग भरूँगी... लेकिन चन्द्रकला ने मुझे बहुत मजबूर कर उसे पूरा कराया है।

मुरारीलाल : चन्द्रकला ने ? मुझे उसके आहत होने का बड़ा दु:ख है... मेरा हृदय जानता है या भगवान जानते हैं।

मनोजशंकर : और उसी दु:ख में चन्द्रकला बीमार पड़ी है। आप जानते हैं, मैं मनुष्य की कमजोरियों का कितना निष्ठुर आलोचक हूँ... इसीलिए मैं उसकी बीमारी को नाटक समझ रहा हूँ।

मुरारीलाल : लेकिन मैं तो समझता हूँ... (एकाएक चुप हो जाता है)

मनोजशंकर : आपने देखा नहीं ? यहाँ जब उसकी लाश लाकर रखी गयी, वह किस तरह उसकी ओर आकर देखने लगी और किस तरह मुँह में रूमाल डालकर भाग गयी। यहाँ ठहरती तो रो पड़ती।

मुरारीलाल : (गहरी साँस लेकर) उसका हृदय बहुत कोमल है मनोज... ! उसका घाव देखकर घबड़ा उठी। उसी घबराहट में उसने तुम्हारा ख्याल नहीं किया... नहीं तो जिस दिन तुम्हारा पत्र मिला था उस दिन वह घबड़ा उठी थी।

मनोजशंकर : सम्भव है... ! मेरे कल्याण की भावना उसके हृदय में है... लेकिन...

मुरारीलाल : (सहमकर) लेकिन क्या ?

मनोजशंकर : जाने दीजिये। कुछ नहीं।

मुरारीलाल : नहीं नहीं ...कहो तो।

मनोजशंकर : वह बात आप से कही नहीं जा सकती।

(दो डग आगे बढ़कर बाहर देखने लगता है)

मुरारीलाल : लेकिन मैं तो उससे अधिक तुम्हीं को असावधान पा रहा हूँ। मनोरमा ! डाक्टर साहब को यहाँ तो भेजो।

(मनोरमा का प्रस्थान)

मनोजशंकर : मैं असावधान हूँ ?

मुरारीलाल : हाँ तुम ! तुम अच्छी तरह जानते हो कि मेरी भविष्य की आशा क्या है ? मैं तुम दोनों को किस रूप में देखना चाहता हूँ।

मनोजशंकर : वह तो मैं जानता हूँ। लेकिन केवल आपके चाहने से वह आशा पूरी नहीं हो जायगी। हम दोनों एक-दूसरे के कितने दूर हैं... इसका ध्यान भी तो आपको रखना होगा।

मुरारीलाल : लेकिन यह दूरी तुम्हारी ही बनायी हुई हो तो...

मनोजशंकर : नहीं... मैंने इस दूरी के लिए कोई ऐसा काम नहीं किया है... लेकिन मुझे इसका अधिकार भी तो है। अगर मैं अपने लिए यही उपयोगी समझूँ...

मुरारीलाल : तो इसे मैं अपना और तुम्हारा दोनों का दुर्भाग्य समझूँगा। अभी जो तुमने इस विधवा का हाथ पकड़ा था...इसका अर्थ क्या है ? मैं भी कभी तुम्हारी अवस्था का था। इन चीजों को मैं खूब समझता हूँ।

मनोजशंकर : (उद्वेग में) यह विधवा...यह विधवा आप नहीं जानते या शायद जानते भी हैं...अग्नि है हलाहल है, कोई भी पुरुष उसे छूकर या पीकर जी नहीं सकता। इसका हाथ मैंने इसलिए नहीं पकड़ा था कि मैं उसे स्त्री बनाऊँगा...इसका हाथ तो मैंने इसलिए पकड़ा था कि मैं जीवन भर अविवाहित रहूँगा। (बाँसुरी बजाता है। मुरारीलाल झपट कर कुर्सी से उठते हैं और उसके हाथ से बाँसुरी छीन लेते हैं। मनोजशंकर कई बार सिर हिलाकर गोसवारे के नीचे थूकता है।) इतनी जल्दी क्या पड़ी थी ?...मुँह से खून आ गया।

मुरारीलाल : मुझे गोली मार कर तुम बाँसुरी बजा रहे हो ? तुम...

मनोजशंकर : किसी को गोली मारना यदि वीरता है, तो गोली मार कर बाँसुरी बजाना तो वीरता से बढ़कर वीरता और महानता से बढ़कर महानता है। यदि यह मुझसे सम्भव हो सके, तब मैं समझूँगा कि मैं अपने से बड़ा हूँ...मनुष्य से बड़ा हूँ।

मुरारीलाल : मनुष्य से बड़ा तो केवल देवता होता है।

मनोजशंकर : हाँ, उस हालत में मैं केवल देवता हूँ।

मुरारीलाल : यह व्यंग्य करना तुमने कहाँ सीखा ?

मनोजशंकर : जीवन इस तरह की बातें नित्य सिखलाता है। बहुत-से लोग जीवन की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते...इसलिए, उपदेशक और दार्शनिक बनते हैं, लेकिन जो उसे सुनते हैं, समझते हैं, मेरी तरह शायद व्यंग करते हैं।

मुरारीलाल : तुम मेरा कुछ भी विचार नहीं करते ?

मनोजशंकर : यह कैसे ?

मुरारीलाल : तुम कहते हो कि तुम जीवन भर अविवाहित रहोगे! इतना ही नहीं, कितनी अनर्गल बातें तुम कह जाते हो। दस वर्ष का समय बीत गया। मेरा व्यवहार तुम्हारे साथ कैसा रहा, तुम स्वयं जानते हो।

मनोजशंकर : मेरा दुःख मेरी आत्मा में सब ओर से व्याप्त हो चुका है। यदि मैं व्यंग न करूँगा...तो मैं जीवित नहीं रह सकता। मुझे मरना होगा। आपकी यही इच्छा हो, तो कहिए मैं अपना रास्ता बदल दूँ।

मुरारीलाल : मैं तो अपना सब कुछ छोड़कर तुम्हें सुखी करना चाहता हूँ। यही करता रहा हूँ...यही करता रहूँगा। मेरी इच्छा यह न थी कि रजनीकान्त मारा जाय; लेकिन भगवन्त से रुपया ले लेना मैंने बुरा नहीं समझा। उसने दूसरों को लूटकर रुपया इकट्ठा किया है...यदि इसे लूटना भी माना जाय, तो उसे लूट लेना...मैंने बुरा नहीं समझा। इसके अतिरिक्त तुम्हारे विदेश जाने की समस्या भी हल हो जाती थी।

मनोजशंकर : (गम्भीर होकर) तो फिर रजनीकान्त की हत्या का प्रधान कारण मेरी विलायत-यात्रा है, जिसके लिए मैंने कभी इच्छा नहीं की...यहाँ तक कि मैंने कभी स्वप्न भी नहीं देखा। जीवन और शक्ति के उस लोक में मुझे क्या मिलता ? मैं वहाँ किस आशा से जाता ?

मुरारीलाल : तुम अपने को मृतक कह रहे हो ?

मनोजशंकर : अवश्य। मैं मृतक तो हूँ ही। मैं आत्मघाती पिता का पुत्र...किसी बड़े पद, किसी बड़ी मर्यादा के लिए मैं नहीं बनाया गया हूँ। जब तक मैं यह न जान

जाऊँ कि उन्होंने आत्महत्या क्यों की...क्यों की आत्महत्या उन्होंने...तब तक...

(एकाएक गम्भीर होकर कुछ सोचने लगता है)

मुरारीलाल : (उद्वेग के स्वर में) ओह ! मालूम हो जायगा...जल्दी क्या है। जिसके लिए...

मनोजशंकर : (काँपते हुए स्वर में) लेकिन हो जायगा कभी मालूम ? इसी में तो सन्देह है। उस समय मैं बारह वर्ष का था, आज बाईस वर्ष का हूँ ...एक युग पूरा होना चाहता है...एक नयी पीढ़ी आया चाहती है...लेकिन यह रहस्य उन्होंने आत्महत्या की क्यों...की क्यों ? अभी ज्यों-का-त्यों बना है। यदि मैं आज मर जाऊँ ?

मुरारीलाल : (जैसे सचेत होकर) तो क्या होगा ?

मनोजशंकर : यह गुप्त बोझ मेरी आत्मा को दबाये रहेगा ...इस जन्म में, दूसरे जन्म में, तीसरे जन्म में (स्वर के साथ-ही-साथ उसका शरीर काँपने लगता है)

मुरारीलाल : आत्महत्या उन्होंने की थी...यह तो मैं जानता हूँ...लेकिन क्यों ? किस लिए ? इस सम्बन्ध में तो मैं तुम्हें कोई विशेष बात नहीं बतला सकता।

मनोजशंकर : (चौंककर) आप ? आप अब भी छिपाना चाहते हैं ? तब तो शायद बाँसुरी की जगह मुझे पिस्तौल लेनी होगी।

[उसका मुख भयानक हो उठता है और उसका शरीर आँधी के समय पेड़ की तरह हिलने लगता है।]

मुरारीलाल : (भय और आवेश में) तुमसे किसी ने कुछ कह दिया क्या ? तुम मेरी ओर इस तरह क्यों देख रहे हो ? ईश्वर जानता है, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं। तुम व्यर्थ मुझ पर सन्देह कर रहे हो। वे मेरे मित्र थे। हम दोनों का सारा लड़कपन ...जवानी का दोपहर भी साथ ही बीता था। संसार जानता है, हम लोग दो शरीर एक प्राण थे।

[कभी मनोज की ओर तो कभी धरती की ओर देखते हैं। उनके मुख का रंग एकाएक बिगड़ कर लाल, और अन्त में काला हो जाता है। उनकी साँस वेग से चलने लगती है...जिससे उनकी छाती उठने और बैठने लगती है। बायें हाथ से अपनी आँखें मलने लगते हैं। मनोजशंकर क्षोभ और अवहेलना की दृष्टि से उनकी ओर देखता रहता है।]

मनोजशंकर : (कड़े शब्दों में) कहते चलिए...

मुरारीलाल : (कातर होकर) क्या कहूँ अब ?

मनोजशंकर : बस हो गया। अब कुछ कहना नहीं है ?

मुरारीलाल : (सँभलकर) नहीं...

मनोजशंकर : (उँगलियों को कड़ी कर बायाँ हाथ सिर पर रखता है। अँगूठे के नीचे उसका बायाँ कान इस तरह दब कर ऊपर को खिंच उठता है कि कान के नीचे का चमड़ा ऊपर को खिसकता हुआ-सा मालूम होता है। बायाँ हाथ बार-बार हिलाते हुए) सूत्र रूप में नहीं...व्याख्या रूप में। सूत्र-काल तो चला गया...अब तो व्याख्या काल है। घड़ी-दो-घड़ी की व्याख्या में दस वर्ष के सूत्र साफ हो जायेंगे...उनका अर्थ व्यक्त हो जायगा। बस कहते चलिए।

मुरारीलाल : तुमसे बड़ी आशा थी...इसलिए (उद्विग्न होकर उसकी ओर देखने लगता है)

मनोजशंकर : (क्षुब्ध होकर) आपकी आशाएँ वैसी ही रहें...कुछ और बढ़ जायँ। (उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखकर सिर हिलाते हुए) मुझे इस योग्य बना दीजिएगा कि

मैं आसानी के साथ उनका...आपकी आशाओं का बोझ उठा सकूँ। आप अपना उपकार कीजिए। चन्द्रकला के मन में कोई जगह नहीं बना सका...इसलिए नहीं कि मुझमें पुरुषत्व न था...या मुझमें वह कला, वह कौशल न था, जिससे एक और एक हजार चन्द्रकला आँचल पसार कर भीख माँगती हैं। मेरे पास केवल एक वस्तु न थी, रजनीकान्त की मुस्कान में जो जादू था, उसकी हँसी में जो कम्पन, जो मस्ती थी, उसकी अबोध आँखों में, उसके अबोध हृदय का जो आशापूर्ण प्रतिबिम्ब था वह मेरे पास न था, मेरी शिक्षा, संस्कार, सब ओर से मेरा संयम और बड़प्पन... बेकार साबित हुआ। मेरे मन में विषाद की आग जो जलती रही... इसलिए चन्द्रकला के लिए मुझमें कोई आशा न रही...उसने देख लिया मुझ में जो कुछ नीरस था। दूसरी ओर रजनीकान्त एक सुन्दर सपने की तरह (बाँसुरी हिलाकर) एक अधूरी तान की तरह उसके सामने आया और क्षण भर में वह जीत गया...मैं हार गया। मैं पराजित होकर भी जी रहा हूँ...जीने का मतलब मेरा यहाँ रहना इस वातावरण में... (मुस्कराकर) स्त्री के लिए ज्ञान और विद्या का कोई मूल्य नहीं है। (फिर मुस्कराकर) प्लेटो के प्रजातन्त्र में कवि को कोई स्थान नहीं मिला था...स्त्री के प्रेमतन्त्र में बुद्धि और ज्ञान को कोई स्थान नहीं मिला है।

मुरारीलाल : लेकिन, तुम्हारा उसके चरित्र पर इस तरह का दोष लगाना...

मनोजशंकर : किसके चरित्र पर... ?

मुरारीलाल : चन्द्रकला के।

मनोजशंकर : मैं नहीं समझता...

मुरारीलाल : तुम साफ कह रहे हो वह उसे प्रेम करने लगी। और कैसे कहा जाता है ?

मनोजशंकर : अच्छा...तब...

मुरारीलाल : तब यही कि तुम्हें यह कहने का अधिकार क्या है ? किसी के चरित्र पर इस तरह का आक्रमण...

मनोजशंकर : उहँ, इससे चरित्र का क्या सम्बन्ध ? अगर वह उसे प्रेम करने लगी, तो इस प्रकार उसका चरित्र और निखर गया। इसमें बुराई कहाँ है ?

मुरारीलाल : इसमें बुराई नहीं है ?

मनोजशंकर : बिल्कुल नहीं। प्रेम करना विशेषत: स्त्री के लिए कभी बुराई नहीं...स्त्री जाति की स्तुति केवल इसीलिए होती है कि वे प्रेम करती हैं...प्रेम के लिए ही उनका जन्म होता है...स्त्री-चरित्र की सबसे बड़ी विभूति, उनका सबसे बड़ा तत्त्व प्रेम माना गया है और उस पर भी यह तो उसका पहला प्रेम है। उसमें बुराई कहाँ है। प्रेम वकील से राय लेकर...जज से अधिकार-पत्र लेकर तो किया नहीं जाता। जो बात स्वत: स्वभाव है, प्रकृति है...वह तो चरित्र का गुण है, अवगुण नहीं।

मुरारीलाल : तुम तो मेरे दु:ख को सौगुना कर देना चाहते हो। ओह !

मनोजशंकर : सच कह देना भी अगर दु:ख का कारण हो तो...

मुरारीलाल : लेकिन इस सच के बिना भी तो काम चल जाता...

मनोजशंकर : लेकिन काम चल जाने में तो मेरा बहुत कम विश्वास है...मुझे तो घंटे-दो-घंटे प्रकाश मिल जाय...मैं सारी रात अँधेरे में काट लूँगा। (मुरारीलाल उसकी ओर देखने लगते हैं) हाँ कहिए वह बात।

[भीतर की ओर से डाक्टर का प्रवेश। मुरारीलाल उठकर खड़े होते हैं। मनोज तिरछी आँखों से डाक्टर की ओर देखने लगता है।]

डाक्टर : (मनोज की ओर देखकर) इस तरह आपकी आँखें कमजोर पड़ जायँगी। सदैव सीधे देखा कीजिए। (मनोज मुस्कराने लगता है)

मुरारीलाल : बैठिए। (दोनों कुर्सियों पर बैठते हैं) हाँ क्या हालत है ?

डाक्टर : अभी निश्चित नहीं कह सकता। इतना कह सकता हूँ कि अभी तक कोई शारीरिक लक्षण चिन्ता नहीं पैदा करता। वह बेचैन है...छाती और सिर से पसीना चल रहा है। ज्वर तो उसे है नहीं। ऐसी हालत में...हाँ हथेली और तलवे में जितनी चाहिए, गर्मी नहीं है...आँखों का रंग हर पल बदल रहा है...ओठ तो सूख गए हैं ही। नाड़ी की गति बहुत खराब नहीं है...लेकिन हृदय की धड़कन... (एकाएक चुप हो जाता है)

मुरारीलाल : (उत्सुक होकर) क्या...कहिए क्या हुआ...हृदय की धड़कन...

डाक्टर : मैंने तो आपसे कह दिया कि मुझे सन्देह है और तभी (कलाई की घड़ी देखकर) इतनी देर की देख-भाल के बाद भी मैं उसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सम्भवत: हृदय की धड़कन बन्द हो जाय।

मुरारीलाल : (घबड़ाकर कुर्सी से उठते हुए) हृदय की धड़कन बन्द हो जाय ?

डाक्टर : मैं खुद चिन्ता में पड़ गया हूँ

मुरारीलाल : (मनोज की ओर देखकर) सुनो जी...तुम्हारे लिए तो नाटक था न ?

(डाक्टर विस्मय से मनोज की ओर देखता है)

मनोजशंकर : डाक्टर साहब को यह नहीं मालूम कि किस परिस्थिति में और किस तरह उसे यह रोग हुआ। नहीं तो उनके लिए भी वह इतना भयंकर नहीं मालूम होता।

डाक्टर : (मुरारीलाल से) उसके नाड़ी-जाल में रक्त को उत्तेजित करने के लिए दवा भरनी होगी।

मनोजशंकर किस तरह ? सुई देकर...

डाक्टर : हाँ...

मनोजशंकर : इसका मतलब कि अब आप उसके भीतर रोग पैदा करना चाहते हैं। अब तक रोग रहा या नहीं, लेकिन अब जरूर हो जाना चाहिए। लेकिन मैं तो नहीं चाहूँगा कि उसके शरीर में व्यर्थ के लिए पीड़ा पैदा की जाय।

डाक्टर : (मुस्कराकर) अच्छा, बाँसुरी हाथ में है। कवि और गायक भावुक जीव होते हैं। आप सुई देना कैसे बरदाश्त कर सकेंगे ? लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि उसकी चिन्ता मुझे आपसे कम नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि आप उसके शरीर को कष्ट नहीं देंगे...चाहे वह मर जाय...लेकिन मैं उसे जिलाना चाहूँगा, चाहे उसके शरीर को कष्ट हो।

मनोजशंकर : आपको कैसे निश्चय हो गया... कि उसके हृदय की धड़कन बन्द हो रही है।

डाक्टर : लक्षण ऐसे ही हैं...

मनोजशंकर : दो तरह के रोगों के भी लक्षण कभी-कभी एक-से होते हैं।

डाक्टर : खैर, बहस पीछे कीजियेगा। उसे अच्छा हो लेने दीजिए...मेरे पास इतना समय नहीं है...और उसकी हालत भी अब चिन्ताजनक हो चुकी है। (मुरारीलाल से) पानी गरम कराइए।

मनोजशंकर : डाक्टर साहब, फीस जो कहिए दिला दी जाय, लेकिन उसे व्यर्थ में कष्ट न दीजिये।

डाक्टर : बड़े विचित्र आदमी हैं आप...आपने पहले ही दवा क्यो नहीं कर ली ? अच्छे फीस देने वाले रहे । रोगी मर जाय और मैं फीस लेकर चलता बनूँ (मुरारीलाल से) आप कौन हैं ?

मुरारीलाल : (असमंजस में) मेरे एक सम्बन्धी...

मनोजशंकर : डाक्टर साहब ! आप रोग के कारण का अनुसन्धान नहीं करते । रोग की कल्पना कर, दवा करते हैं । नतीजा यह होता है कि आप लोग संजीवनी लिए ही रहते हैं और मृत्यु-संख्या नित्य बढ़ती जा रही है । चन्द्रकला की चिन्ता आप न करें...मैं उसकी दवा कर लूँगा । घंटे भर के बाद आप इतना भी नहीं समझ सके कि उसका रोग शारीरिक नहीं मानसिक है । उसके मस्तिष्क के चेतन कीटाणु आकस्मिक आघात से सहसा क्षुब्ध हो उठे हैं । आप बार-बार हृदय की धड़कन बंद कर रहे हैं । (मुरारीलाल से) डाक्टर साहब की फीस अगर चार रुपया हो, तो कृपया चालीस देकर इन्हें बिदा कीजिए । मैं उसे दस मिनट में अच्छा कर देता हूँ । मुझे स्वयं उस तरह का रोग हो जाता है, हाथ-पैर में लकवा मार जाता है, जीभ ऐंट जाती है, आँखें अंधी हो जाती हैं (छाती पर हाथ रखकर) लूक उठकर सिर फोड़कर निकलने लगता है । डाक्टर साहब एक मिनट में स्वाभाविक नाड़ी की गति कितनी है ?

डाक्टर : (रुखे स्वर में) सत्तर से लेकर अस्सी-पचासी तक ।

मनोजशंकर : अधिक-से-अधिक कितनी है ?

डाक्टर : एक सौ तीस तक मौत हो जाती है ।

मनोजशंकर : एक बार एक मिनट में मेरी नाड़ी की गति एक सौ पैसठ हो गयी थी । मैं अभी जी रहा हूँ...

डाक्टर : (विस्मय से) और ताप कितना था...

मनोजशंकर : बिल्कुल स्वाभाविक--अट्ठानवे या उससे कुछ ऊपर । डाक्टर साहब, मानसिक बीमारियों में आप लोग कुछ नहीं कर सकते । बुरा न मानिएगा...इस विषय की जानकारी आपकी अंग्रेजी प्रणाली में अभी बहुत कम है । आप लोग प्रत्येक बीमारी की शारीरिक दवा करते हैं और शरीर को ही उसका कारण समझते हैं, जो कि अधिकांश बीमारियाँ मानसिक विक्षोभ के कारण होती हैं । आपकी समझ में चन्द्रकला का धड़कन बन्द हो रही है...मेरी समझ में एक आकस्मिक घटना के कारण उसकी ज्ञान-शिराओं में क्षोभ उत्पन्न हो गया है । आप यहीं रहिए, मैं उसे अभी टहलने के लिए शहर की ओर ले जा रहा हूँ ।

डाक्टर : लेकिन जब आप स्वत: बीमार हैं, तो दूसरे की दवा आप क्या करेंगे ?

मनोजशंकर : इसलिए कि मैं अपनी दवा स्वयं कर रहा हूँ और मुझे लाभ भी हुआ है । बीमारी तो मेरी अभी अच्छी नहीं हुई, लेकिन इतना निश्चय हो गया कि मैं अभी मरूँगा नहीं । डाक्टरों की चली होती, तो अब तक तो मैं कभी पंचतत्व को प्राप्त हो गया होता । मनुष्य को स्वस्थ रखने के लिए जीवन-बल उसके भीतर निरन्तर काम करता है...हम लोग बीमार पड़ते हैं मरने के लिए नहीं, बल्कि स्वस्थ होने के लिए । प्रकृति ने तो बीमारी के साथ जीवन का सम्बन्ध जोड़ा था...लेकिन आप लोग उसके साथ मृत्यु का सम्बन्ध जोड़ देते हैं और इसी में सब कुछ बिगड़ जाता है ।

[मुरारीलाल कुर्सी की बाँह पर झुककर आँख बन्द कर लेते हैं ।]

डाक्टर : अर्थात्, अब आप चिकित्सा की एक नयी प्रणाली बना रहे हैं ।

मनोजशंकर : जी नहीं...उसी पुरानी परिपाटी को फिर से जगा रहा हूँ। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में आज से कहीं अधिक स्वस्थ था...इसलिए कि तब डाक्टर न थे। मनुष्य था, और शक्ति और जीवन का केन्द्र प्रकृति थी। स्वास्थ्य के कृत्रिम साधनों और बोतल की दवाओं ने स्वास्थ्य की जड़ काट दी। स्वास्थ्य तो आप लोगों की आल्मारियों में बन्द हैं.. लेकिन यह बहुत दिन नहीं चलेगा। प्रकृति अपना बदला लेगी। प्रकृति के रास्ते पर लौट आना... नीरोग होना दोनों बराबर हैं।

डाक्टर : आपका आदर्श वही आदिम मनुष्य है, जो असभ्य था, नंगा रहना...

मनोजशंकर : आप अपने कपड़ों में भूल गये हैं...नहीं तो जिसे आप सभ्यता कहते हैं, उसके साथ-ही-साथ विकार और बुराइयाँ भी बढ़ी हैं।

डाक्टर : मैं समझता हूँ कि आप बहस करना जानते हैं। (मुरारीलाल से) आपने क्या निश्चय किया ?

मुरारीलाल : (जैसे नींद से उठकर) मैं...कुछ नहीं समझ पाता...मुझे कुछ भी नहीं सूझता।

डाक्टर : आपके पास इच्छा-शक्ति नहीं है। शब्दों का भ्रम जो पैदा कर सके, आप उसमें भूल जाते हैं, अपने को...

मुरारीलाल : जी हाँ, आप ठीक कह रहे हैं। जैसे मैं अपने साथ अन्याय कर रहा हूँ। न तो मेरा कोई अपना जीवन है और न अपना आदर्श। अदालत के काम से भी चित्त घबड़ा रहा है।

मनोजशंकर : (कुछ सोचकर) कुछ नहीं। डाक्टर साहब ! चन्द्रकला इस समय टहलने जा सकती है या नहीं ?

डाक्टर : मैं तो नहीं समझता कि वह पलँग से उठ भी सकती है ?

मनोजशंकर : ह:--ह:--ह:--ह: (हँसते हुए) कृपा कर आप लोग (बायीं ओर के गोल कमरे की ओर दिखलाकर) उस कमरे में चले जाइए। मैं उसे लेकर घूमने निकल जाऊँ, तो...

डाक्टर : क्यों ?

मनोजशंकर : यह आप नहीं समझेंगे। उसे दवा की नहीं, सहानुभूति और एकान्त की जरूरत है। सम्भव है आप लोगों को यहाँ देखकर उसके मन में फिर क्षोभ पैदा हो जाय। चुपचाप चले जाइए...उस कमरे में। मुझे भी प्रयोग कर लेने दीजिए। यहाँ देहातों में अधिकांश रोग पूजा-पाठ और तन्त्र-मन्त्र से अच्छे किये जाते हैं। इन चीजों का प्रभाव सीधा मस्तिष्क पर होता है...रोगी की इच्छा-शक्ति जाग जाती है और प्रकृति की शक्तियों को काम करने का अवसर मिलता है (प्रभाव के साथ) उठिए, चलिए आप लोग उस कमरे में... (मुरारीलाल डाक्टर का हाथ पकड़ कर उठते हैं और नीचे उतरकर दूसरी ओर निकल जाते हैं। मनोजशंकर भीतर चला जाता है। हरनन्दनसिंह बरामदे के सामने नीचे सहन पर आकर खड़ा होता है---इधर-उधर चारों ओर सिर घुमाकर देखता है---फिर निकल जाता है।)

मनोजशंकर : (बँगले के भीतरी भाग से) तुम्हारा सन्देह व्यर्थ है। कह तो रहा हूँ, कोई नहीं है। डाक्टर साहब तो सुई देने का प्रबन्ध कर रहे थे...लेकिन मैं यह स्वीकार न कर सका। तुम्हारे बाबूजी ? कलक्टर साहब के बँगले पर गये हैं। डाक्टर साहब क्यों बैठे रहेंगे ? वह भी चले गये, तभी...

[थोड़ी देर सन्नाटा रहता है। मनोजशंकर बीच वाले कमरे में आकर खड़ा होता है और स्वर के साथ बाँसुरी बजाने लगता है। मनोरमा और चन्द्रकला का प्रवेश। चन्द्रकला का चेहरा उतरा हुआ है और आँखें कुछ सूज गयी हैं।]

मनोजशंकर : इस तरह शरीर छोड़ देना चाहिए संसार में एक-से-एक बढ़कर दूसरे दुःख हैं।

चन्द्रकला : तुम मुझे क्षमा नहीं करोगे ?

मनोजशंकर : तुमने मेरा कोई अपराध नहीं किया।

चन्द्रकला : (धीमे स्वर में) मैं तुम्हें पहचान न सकी।

मनोजशंकर : लेकिन मुझे उसकी कोई शिकायत नहीं है। जो कभी मुझे थी... चलो आज नदी की ओर चलें घूमने...हमारे विरोध आज सदैव के लिए मिट जायें।

चन्द्रकला : कैसे विरोध ? (विस्मय और चिन्ता से उसकी ओर देखती है।)

मनोजशंकर : जो साधारणतः प्रकट तो कभी नहीं हुए, लेकिन जो हम दोनों की आत्मा में व्याप्त हो चुके थे और जिनके कारण हम लोग आज सदैव के लिए... (चन्द्रकला निराश होकर उसकी ओर देखती है। मनोजशंकर अपना हाथ उसके कंधे पर रख देता है) तुम्हारी आँखों में अभी सन्देह है...उसे मिटा डालो...निकाल डालो उसे...अभी कहा नहीं जा सकता कि तुम्हें कितने साहस और धीरज से काम लेना पड़ेगा ? (उसे एक हल्का धक्का देकर) जाओ कपड़े बदल आओ...शाम हो रही है। देर न हो। इस प्रकार क्यों देख रही हो...घड़ी-दो-घड़ी नहीं, दिन-दो-दिन नहीं, अगर इसी तरह खड़े होकर हम लोग जीवन भर कहते-सुनते चलें, तब भी वह अन्तर नहीं मिट सकता...वह तो स्वभाव और प्रकृति का अन्तर है...हमारे जीवन का आधार है।

[चन्द्रकला का प्रस्थान। मनोरमा इस समय कमरे के उस ओर की दीवाल पर उँगली से रेखाएँ खींच रही है।] दीवाल पर चित्र बनेंगे क्या ?

मनोरमा : (उसकी ओर घूमकर) बन सकते हैं। यह इतना महान चित्र, जिसे हम संसार कहते हैं, शून्य के आधार पर बना है। लेकिन मैं तो अब चित्र नहीं बनाऊँगी...वही चित्र मेरा अन्तिम...

मनोजशंकर : रजनीकान्त का...

मनोरमा : हाँ, (गम्भीर होकर सोचने लगती है)

मनोजशंकर : क्या सोच रही हो ?

मनोरमा : यही कि पुरुष के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है स्त्री को। स्त्री-जीवन का सबसे सुन्दर और सबसे कठोर सत्य यही है। स्त्री इसीलिए दुखी है और पुरुष इसी को स्त्री का अधिकार समझता है और इसीलिए पुरुष और स्त्री के अधिकारों की अलग-अलग पैमाइश हो रही है। अलग-अलग नक्शे बनाये जा रहे हैं, लेकिन यहाँ तो वे मिल जायेंगे। समस्या का एक और पहलू निकल आयेगा।

मनोजशंकर : तुम अपनी बात कहो...

मनोरमा : मैं तो कल हृषीकेश के लिए चल पड़ूँगी।

मनोजशंकर : अब किस लिए ?

मनोरमा : (विस्मय में) कोई नयी बात तो नहीं हुई जी !

मनोजशंकर : नयी बात नहीं हुई ? (उसकी ओर ध्यान से देखने लगता है)

मनोरमा : नहीं तो...केवल अपने को भूल जाने के लिए मैंने अब तक रंग और कलम से खिलवाड़ किया है...लेकिन मैं देखती हूँ कि मेरा हृदय धनी हुआ जा रहा

है...इतना धन मेरे किस काम आयेगा...इसलिए मुझे इसे निचोड़ कर सुखा डालना है। रंगों की पिटारी गंगा में फेंककर माला लेने में कल्याण है। अगर मैं अपने साथ न्याय करूँ, तो मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने निर्जीव चित्र के लिए मैं सदैव जीवन की कामना करती रही... उसके साथ मुझे एक प्रकार का सुख और सहवास मिला है। लेकिन मुझे इसका अधिकार कहाँ था ? मैं अपनी आत्मा बेचती रही हूँ, जो मैं पहले ही बेच चुकी थी और पूरा मूल्य भी ले लिया था।

मनोजशंकर : तुम तो कविता और दर्शन कह गयीं।

मनोरमा : हिन्दू विधवा से बढ़कर कविता और दर्शन कहीं नहीं मिलेगा।

मनोजशंकर : युग बदल गया। समाज अपना कलंक मिटा रहा है। अब विधवाएँ न रहेंगी।

मनोरमा : (विस्मय से) वैधव्य मिट जायेगा ?

मनोजशंकर : क्यों...विधवा...विवाह से...

मनोरमा : झूठ है...झूठ...

मनोजशंकर : क्यों ? आजकल हो रहा है...जो...

मनोरमा : विधवा-विवाह हो रहा है...लेकिन वैधव्य कहाँ मिट रहा है ? समाज इस आग को बुझा नहीं सकता, इसलिए उसे अपने छज्जे से उठाकर अपनी नींव में रख रहा है। तुम्हारे सुधारक, राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक, उपन्यासकार, नाटककार सभी विधवा के आँसुओं में बहते हुए देख पड़ रहे हैं। अपनी विशेषता मिटाकर संसार के साथ चलना चाहते हैं। वैधव्य तो मिटेगा नहीं ...तलाक का आगमन होगा। अभी तक तो केवल वैधव्य की समस्या थी...अब तलाक की समस्या भी आ रही है। तुम्हारे कहानी-लेखक इस समस्या को कला का आधार बना रहे हैं और इस प्रकार संयम और शासन को निकाल कर प्रवृत्तियों की बागडोर ढीली कर रहे हैं। उनका उद्देश्य अधिक-से-अधिक उपभोग है और इसी को वे अधिक-से-अधिक सुख समझ रहे हैं। लेकिन उपभोग सुख है ?

मनोजशंकर : उपभोग सुख न हो..लेकिन वैधव्य तो समाज का कलंक है...?

मनोरमा : किस तरह जी! यही तो समाज का आदर्श है! स्त्री और पुरुष का सम्मिलित जीवन, सुख-दुःख दोनों का... न तो कोई शंका, न सन्देह और न तलाक। किसी भी परिस्थिति में समझौता, और सामंजस्य। इस प्रकार समाज की स्थिति दृढ़ है। सम्भव है इसमें भी बुराई हो...लेकिन जीवन नितान्त भला कहाँ है ? विधवा-विवाह और तलाक, दो बुराइयों में से एक को पसन्द करना पड़ेगा नहीं तो दोनों बुराइयाँ तो समाज को निगल जायेंगी।

मनोजशंकर : विधवा-विवाह को भी तुम बुराई कह रही हो ? स्वयं विधवा होकर।

मनोरमा : च...च...च...(छाती पर हाथ रखकर) तुम्हारा आघात निर्दय हुआ मनोज... ! (उसकी ओर देखकर)...राक्षसी प्रहार...तुम इतना भी संयम नहीं कर सकते ? और तुम पुरुष हो...इतने छोटे हृदय और इतनी छोटी आत्मा के बल पर...

मनोजशंकर : (उद्विग्न होकर) कैसे

मनोरमा : तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो। मैं विधवा हूँ इसलिए मैं विधवा-विवाह के पक्ष में वोट दूँ ? यही न ? (उसकी ओर ध्यान से देखती हुई) लेकिन मैं यह न करूँगी। विधवाओं के उद्धार के नाम पर यह आन्दोलन पुरुषों ने उठाया है,

अपने उद्धार के लिए। किसी प्रकृत-विधवा से पूछो, जो अभी तक पुरुषों के विषैले वातावरण में न आयी हो...देखो उसकी दृष्टि पृथ्वी में गड़ जाती है या नहीं ? तुम्हारी समझ में विधवाएँ समाज के लिए कलंक है; मैं समझती हूँ, समाज की चेतना के लिए विधवाओं का होना आवश्यक है। तुम जीवन का, विशेषत: स्त्री के जीवन का, दूसरा पहलू भी समझते हो...देखते हो, उसके भीतर संकल्प है, साधना है, त्याग और तपस्या है...यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे समाज के लिए गौरव की चीज हैं...तुमने इसे कलंक कह दिया। (कुछ सोचकर) जितनी कोशिश इस आदर्श को मार डालने के लिए हो रही है, अगर उतनी ही कोशिश इसे जीवित रखने के लिए होती, तो तुम्हारा समाज और परिवार आज दूसरी चीज होता।

मनोजशंकर : तो अब मैं क्या समझूँ ?

मनोरमा : जो समझो...

मनोजशंकर : इसका अर्थ यह कि (उसकी ओर देखने लगता है)

मनोरमा : कहते क्यों नहीं ?

मनोजशंकर : तो उस समय सचमुच नाटक हो रहा था ?

मनोरमा : (कुछ सोचकर) ओह ! तुम अभी उसी भ्रम में पड़े हो !

मनोजशंकर : मैंने तो समझा कि...

मनोरमा : तुमने मेरा हाथ पकड़ा था, किसी आशा में...

मनोजशंकर : मैंने समझा था कि अविवाहित रहकर तुम्हारे साथ रहूँगा।

मनोरमा : लेकिन उसमें कोई ऐसी चीज नहीं है, जो तुम्हारे पुरुषत्व के अनुकूल हो। मेरे साथ तुम रहते अविवाहित रहकर...शब्द तो बड़े सुन्दर हैं, लेकिन इनका मतलब क्या है ? किसी विधवा के साथ कोई अविवाहित पुरुष (उसकी भौंहे ऊपर को कई बार खिंच उठती हैं) कल्पना और भावुकता। मनोजबाबू ! साहित्य की कल्पना में तो, कोई सन्देह नहीं यह सुन्दर चीज होगी...लेकिन जीवन की वास्तविकता में यह कितनी भयंकर !

मनोजशंकर : (उद्विग्न होकर) मुझे भी कुछ करना चाहिए...मैं क्या करूँ

मनोरमा : पुरुष हो...तुम्हारी अवस्था भी मुझसे अधिक है, शिक्षा भी तुम्हें ऊँची मिली है। तुम हर तरह से मुझसे योग्य हो...मुझसे क्यों पूछ रहे हो ? मेरे सामने तुम्हारा यह आत्म-समर्पण तुम्हारे लिए कितने अपमान की बात है...तुम्हारा पौरुष इतना कुंठित क्यों हो रहा है ? वादे सभी सच्चे नहीं होते...इसीलिए सावधान रहना पड़ता है। मैंने जब विचार किया, मुझे मालूम हो गया कि तुम मेरे मोह में इस तरह का संकल्प कर रहे हो। तुम्हारे मन में मेरे प्रति विकार बना रहेगा। (गले पर हाथ रखकर) अधिकांश शब्द यहीं से निकल पड़ते...उनका विश्वास करना...मुझसे न पूछो तुम्हें क्या करना है...अपने पुरुषत्व से पूछो। तुम्हारा अपना मोह चन्द्रकला के मोह से कम नहीं है। वह स्त्री है न ? इसलिए तुम से क्षमा चाहती है और तुम आत्म-ज्ञान का उपदेश दे रहे हो। उसे क्षमा कर दो। इस समय तुम्हारा प्रधान काम यही है।

मनोजशंकर : लेकिन किस तरह ?

मनोरमा : पहले यह स्वीकार कर लो कि तुम भी मोह में हो और वह भी मोह में है। न तुम उससे अच्छे हो और न वह तुमसे बुरी है (मनोजशंकर गम्भीर होकर सोचने लगता है) वह अपना मोह छिपा नहीं सकी। ऐसा अनुमान करना कि

वह रजनीकान्त को अपने पुरुष के रूप में प्रेम करने लगी है...ठीक नहीं है। उसके हृदय पर, उसकी हँसी और सरलता साथ-ही-साथ उसके सुन्दर शरीर का, मोहक प्रभाव पड़ा था, जो समय के साथ-ही-साथ स्वयं मिट भी जाता। लेकिन उसका घायल हो जाना और वह भी सांघातिक रूप में, जिसमें बहुत कुछ दोष उसके पैदा करने वाले मुरारीलाल महाशय का है...यह सब मिलकर पहाड़ हो उठा...वह सम्हाल नहीं सकी। बहुत कुछ बुराई तो मेरे चित्र से हुई। शिव ने जैसे विष पचा लिया, उसी तरह तुम भी इस बुराई को पचा लो...इससे तुम्हारा पुरुषत्व दमक उठेगा। मालूम होता है आ रही है। रास्ते में यह सब हो जाये...तुम लोग लौटो नये जीवन और नयी आशा के साथ।

[मनोजशंकर चुपचाप उसकी ओर देखने लगता है। चन्द्रकला दो कदम आगे बढ़कर रुक जाती है। मनोजशंकर घूमकर उसकी ओर देखता है।]

मनोजशंकर : (उखवते हुए शब्दों में) चलो...कब...की आयी हो ? आओ चलें। [आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेता है। दोनों उसी तरह हाथ पकड़े हुए बँगले के बाहर निकल जाते हैं। मुरारीलाल का प्रवेश।]

मुरारीलाल : तुम्हारा यहाँ आना मंगल हुआ। मैं अब बच जाऊँगा

मनोरमा : क्या ? {जैसे नींद एकाएक टूट गयी हो}

मुरारीलाल : तुमने वह कर दिया, जिसकी मुझे आशा नहीं थी। तुम देवी हो!

मनोरमा : आपने कुछ सुन लिया क्या ?

मुरारीलाल : कुछ नहीं, सब सुना है। दस वर्ष की आग शायद अब बुझेगी। तुम्हारा असली रूप मैंने आज देखा है।

मनोरमा : मैं अपनी प्रशंसा नहीं चाहती। मुझसे जिस किसी का जो उपकार हो जाये। विधवा जीवन तो केवल सेवा और उपकार का है।

मुरारीलाल : तुम सचमुच देवी हो।

मनोरमा : (क्षुब्ध होकर) चुप भी रहिए। इस प्रकार के विशेषण बहुत कुछ उपहास के लिए...मैं पूरी तरह से स्त्री...विधवा स्त्री बन सकूँ...जो हूँ, वह हो सकूँ, यही बहुत है।

मुरारीलाल : कल जाना तुम्हारा निश्चित रहा। कुछ और रुक जाओ। तुम्हारी मदद से शायद एक बार मैं ...

मनोरमा : जी नहीं। इस प्रकार मेरी शक्ति चली जायगी। हमारी सेवा जब होने को होगी, हो जायेगी। [मनोरमा का प्रस्थान। मुरारीलाल बाहर बरामदे में कुर्सी पर आकर बैठते हैं। माहिरअली का प्रवेश]

मुरारीलाल : क्या हाल है जी ?

माहिरअली : शायद बंच जाये (सिर पर हाथ रखकर) यही एक घाव तीन इंच लम्बा और आधे इंच चौड़ा है। उन सबने तो चाहा था जान से मार डालना। चौबीस निशान लाठी के कुल हैं।

मुरारीलाल : बहुत हैं। ऐसा काम करा दिया इसने।

माहिरअली : उसकी चोट देखकर मुझे चक्कर आने लगा, लेकिन उसके मुँह पर तब भी मुस्कराहट थी।

मुरारीलाल : मुस्कराहट थी!

माहिरअली : उस दिन की तरह नहीं...इतनी चोट और दर्द, लेकिन उसके सफेद दाँत अब भी जैसे निकल पड़ना...राय साहब मिलना चाहते हैं।

मुरारीलाल : अब ? हर्गिज नहीं। मैं बदनाम हो जाऊँगा...इस तरह, और मैं तो उसका मुँह देखना नहीं चाहता

माहिरअली : हरनन्दन कह रहे थे...आपने जो कहा था शायद चालीस हजार आ गया है। (मुरारीलाल गहरी चिन्ता में पड़ जाता है) मैंने तो कह दिया कि साहब ऐसे रुपयों पर लात मारते हैं।

मुरारीलाल : ऐं! कह दिया लात मारते हैं ? चालीस हजार...माहिर, मैं समझ नहीं पाता। कहो न इसमें कोई बुराई है ? ले लेने में, और वह भी एक लुटेरे और हत्यारे से! (माहिरअली उसकी ओर विस्मय से देखता है) जाओ हरनन्दन को धीरे से बुला तो लाओ। शायद झूठ! हाँ जाओ लिवा लाओ हरनन्दन को अकेले। समझते हो न ?

माहिरअली : मैं तो ऐसा नहीं कर सकता। उस बच्चे की हालत...अभी तक बेहोश है।

मुरारीलाल : इसका रुपया निगल जाना रजनीकान्त के लिए भी अच्छा होगा। (कुछ सोचकर) अच्छा अपने लिए नहीं...तुम्हारी ही बात सही...रजनीकान्त के लिए यह रुपया उससे ले लिया जाय। मरने की कोई सम्भावना है नहीं उसके...यह सारा रुपया उसे दिया जायेगा।

माहिरअली : मैं जाता हूँ...लेकिन मेरे राय में...मुमकिन है वह मर जाये।

मुरारीलाल : मरना होता तो...कल शाम की चोट से अब तक मर गया होता...मैं समझता हूँ इससे बढ़कर उस बेईमान को कोई दूसरी सजा दी नहीं जा सकती। तुम क्यों नहीं समझते ? इसी रुपये के बल पर वह आनरेरी मैजिस्ट्रेट हुआ--राय साहब हुआ...उसका जहर इसी तरह निकलेगा। मैंने सोच लिया, इनमें कोई बुराई नहीं है, तुम जाओ।

माहिरअली : मैं जाऊँगा...लेकिन इसका नतीजा...

मुरारीलाल : उसकी जान का खतरा तो नहीं है न ?

माहिरअली : वह चारों ओर से घेरकर मारा गया है। जान का खतरा हो सकता है। आज अदालत में छोटा-बड़ा, सब किसी ने उस बेईमान को गालियाँ दीं।

मुरारीलाल : ठीक है, उसको कई ओर से सजाएँ मिलें जाओ, खड़े क्या हो ?

[माहिरअली का प्रस्थान। मुरारीलाल भीतर जाता है।]

तीसरा अंक

[रात। यों तो रात अँधेरी है ही, आकाश में बादल होने के कारण भयंकर हो उठी है। बँगले के बरामदे में उसी तरह कुर्सियाँ पड़ी हैं। बायीं ओर की कोठरी के दरवाजे के पास बरामदे में फर्श पर एक लालटेन जल रही है। बड़े कमरे के किवाड़ उसी तरह खुले हैं, कमरे के एक भाग में बाहर की लालटेन का प्रकाश पहुँच रहा है, शेष कमरा अँधेरा है। माहिरअली चुपचाप बरामदे में आगे की ओर बैठा है। साँस भी ले रहा है या नहीं, पता नहीं चलता। भीतर की ओर से मनोरमा का प्रवेश। मनोरमा लालटेन के प्रकाश में आकर खड़ी होती है। क्षण भर के बाद बरामदे में निकलकर बाहर की ओर देखने लगती है।]

मनोरमा : ओह...! कितना अँधेरा है...आज की रात तो जैसे...माहिर! माहिर! अरे सो गये क्या?

माहिरअली : नहीं... सो नहीं रहा हूँ...

मनोरमा : क्या कर रहे हो? इस तरह बुलाने पर भी नहीं बोलते?

माहिरअली : आज की रात परलय है...किसी को बोलना नहीं चाहिए। यहीं बैठे-बैठे झपकी आ गयी...बड़ा डरावना सपना देखा है...अभी-अभी...दो काले आदमी (जोर से साँस लेकर) शैतान की तरह खौफकनाक (खम्भे की ओर हाथ उठाकर) इससे भी ऊँचे थे...हाँ इससे भी ऊँचे...काले, लम्बे-लम्बे दाँत ओठ के बाहर हो गये थे, बड़े-बड़े बाल (डर कर चारों ओर देखता है, हाथ उठाकर ऊपर से नीचे को धीरे-धीरे खींचता है) यहीं मेरे सामने उतर पड़े मेरा हाथ पकड़कर (बायाँ हाथ आगे की ओर बढ़ा देता है) खींचने लगे...मैं घबड़ाकर जाग पड़ा। मालूम हो रहा है जैसे इधर चारों ओर भूत घूम रहे हैं।

मनोरमा : हूँ...

माहिरअली : शायद उसे ले जाने के दूत आ गये हैं... चला भी गया होगा।

मनोरमा : क्या कह रहे हो?

माहिरअली : उसकी बोली बन्द हो गयी है। उस घर का चिराग आज बुझ रहा है...आज ही तक उसका दुनिया का नाता था।
[मनोरमा एकाएक नीचे उतरकर बाहर की ओर निकाल जाती हैं]
हाँ...हाँ क्या कर रही है?...उधर नहीं...उधर नहीं...इस अँधेरी में। डर जायेंगी...डर जायेंगी, कहा मानिए...डर जायेंगी। आप लोग तो कुछ मानती ही नहीं। उसे ले जाने के लिए दूत इधर से ही गये हैं... इधर से ही...लौटते वक्त झटके में पड़ जाना बुरा होता है ऐसे मौके पर...

मनोरमा : मेरे लिए कौन रोने वाला है माहिर...!

माहिरअली : [उठ कर उसकी ओर बढ़ते हुए] कहाँ गयीं...किधर गयीं ...आईए...बोलतीं क्यों नहीं?

मनोरमा : कहो न! यहीं हूँ।

माहिरअली : आप डरती नहीं हैं?

मनोरमा : नहीं...किसलिए डरूँ? मैं भला...मुझे जिन्दगी लेकर क्या करना है?

माहिरअली : वह देखिए, आसमान की ओर लूक फूटा है। ओह! कितना बड़ा...कितना बड़ा...सारा आसमान उजला हो गया। मालूम हो रहा है मर गया। लौट चलिए...लौट चलिए...आह! आह!

मनोरमा : क्यों शोर कर रहे हो जी?

माहिरअली : उन सबके लौटते वक्त आप रास्ते में पड़ जायेंगी।

मनोरमा : अच्छा, तो अगर मेरी उन सबसे भेंट हो जायेगी, तो मैं उसे जाने न दूँगी...पकड़कर रख लूँगी।

माहिरअली : किसे?

मनोरमा : उसी रजनीकान्त को...

माहिरअली : उसको किस तरह? मर जाने वाले को कभी किसी ने पकड़ कर रक्खा?

मनोरमा : देखो तंग न करो। जाओ, मुझे यहीं खुले आकाश के नीचे रहने दो। मुझे कुछ नहीं होगा, तुम न डरो।

माहिरअली : अच्छा, आप यहीं रहिए तो मैं जाकर बैठूँ...आगे न बढ़िएगा...आगे बढ़ने में...

[माहिरअली लौटकर बरामदे में खम्भे के पास बैठता है। बाहर की ओर से मनोजशंकर और चन्द्रकला का प्रवेश। चन्द्रकला आगे बढ़कर कुर्सी पर बैठ जाती है। मनोजशंकर खड़ा होकर माहिरअली की ओर देखने लगता है। आगे बढ़कर लालटेन उठाता है और उसे माहिरअली के मुँह के सामने कर देता है।]

मनोजशंकर : अरे! तुम रो क्यों रहे हो?

माहिरअली : (घुटनों में अपना मुँह छिपा लेता है) रोशनी...नहीं...न...हीं...

मनोजशंकर : (लालटेन अलग रखते हुए) लेकिन तुम रो क्यों रहे हो?

माहिरअली : दुनिया किस्मत को रोती है...मैं भी रो रहा हूँ।

चन्द्रकला : सीधे क्यों नहीं कहते...क्या बात है?

माहिरअली : (चन्द्रकला की ओर देखते हुए) इधर रायसाहब भगवन्त सिंह ने चालीस हजार दिया है...साहब को, उधर अस्पताल से खबर आयी है कि उसकी हालत खराब हो गयी। मौत के वक्त का बयान लेने फौरन आइए। किसी तरह नोटों का पुलिंदा (गोल कमरे की ओर हाथ उठाकर) भीतर फेंककर चले गये हैं। सीधा-टेढ़ा यही है और इसी पर मैं रो रहा हूँ।

[चन्द्रकला घबड़ाकर उठती है। तेजी से साँस लेकर कई बार सिर हिलाती है—फिर वहीं एकाएक बैठकर ऊपर छत की ओर देखने लगती है।]

मनोजशंकर : (सन्न होकर धरती की ओर देखते हुए) चालीस और दस पचास हजार उसकी मृत्यु का मुआवजा तो ले लिया गया...अब कानून और व्यवस्था का अभिनय होगा। माहिर!

माहिरअली : जी...

मनोजशंकर : तुम कब से इनकी नौकरी में हो?

माहिरअली : पन्द्रह साल हो गये। मथुरा से मुरादाबाद गये, फैजाबाद गये, गाजीपुर गये और इधर यहाँ हैं...आप तो जानते ही हैं।

मनोजशंकर : हूँ...तुम्हारी तबीअत इस नौकरी से कभी...

माहिरअली : अब तक? मैं कभी चला गया होता। लेकिन मैं जा नहीं सकता। मैंने...मैं अपना हाथ जो कटा चुका हूँ...उस डर से...उसी डर से अब तक...

मनोजशंकर : कैसा हाथ कटा चुके हो?

माहिरअली : लेकिन कह देने पर तो फाँसी पड़ जाऊँगा।

मनोजशंकर : फाँसी पड़ जाओगे ?

माहिरअली : जी हाँ...साहब तो यही कहते हैं और इसीलिए (मनोजशंकर की ओर देखकर) दस वर्ष बीत गये, अभी किसी को पता नहीं चला कि मैंने...

मनोजशंकर : कहो, यहाँ कोई नहीं है !

माहिरअली : आप हैं न ! आप ही से तो... (सहम कर सहसा चुप हो जाता है)

मनोजशंकर : माहिर ! तुमने तो मुझे सन्देह में...आज सबेरे जो तुमने कहा था उनमें कुछ और...

माहिरअली : नहीं...नहीं...कोई शुबहा नहीं...मैंने कभी...

मनोजशंकर : लेकिन तुम इस तरह काँप क्यों रहे हो ?

माहिरअली : (कातर स्वर में) लेकिन कह देने पर मेरी जान नहीं बच सकती ! मैं फाँसी पड़ूँगा।

चन्द्रकला : ओह ! इस समय आप लोग चुप रहें। सब किसी की जान आज ही क्यों जाये ? जिसे मरना था वह तो मरा ही।

मनोजशंकर : चन्द्रकला ! शान्त रहो। सारा संसार मरता है। एक ओर मृत्यु हो रही है...दूसरी ओर जन्म हो रहा है। यह कोई नयी बात नहीं है। माहिरअली क्या कह रहा है ? जीवन का रहस्य उसमें है...उसे सुनो।

[चन्द्रकला उद्विग्न होकर उठती है और भीतर चली जाती है।]

कहाँ जा रही हो ? सुनो !

चन्द्रकला : नहीं...मैं जा रही हूँ...अब सो रहूँ।

मनोजशंकर : ऐं...तुम्हें नींद आयेगी ?

चन्द्रकला : यह न पूछो ! नींद ऐसी आये जो कभी टूटे न।

[वेग से प्रस्थान]

मनोजशंकर : माहिर ! कह दो, मैं किसी से नहीं कहूँगा।

माहिरअलीं : आपसे...[घबड़ाकर उसकी ओर देखता है]

मनोजशंकर : तुम मेरा विश्वास नहीं करते ?

माहिरअली : इस बारे में...इस बारे में...

मनोजशंकर : तुम इतने घबड़ा क्यों गये हो ? और इस तरह काँप क्यों रहे हो ?

माहिरअली : यह कयामत की रात है ! आज दुनिया का निशान मिट जायेगा।

मनोजशंकर : देखो ! कयामत की रात तो रोज आती है। रजनीकान्त के लिए आज ही कयामत की रात थी। कल सम्भव है मेरे लिए हो या तुम्हारे लिए हो। लेकिन उसमें घबड़ाने की कोई बात नहीं।

माहिरअली : मैं अस्पताल जा रहा हूँ !

मनोजशंकर : क्यों ?

माहिरअली : देखने के लिये एक बार और आखिरी बार...

मनोजशंकर : पता नहीं उस तरह के कितने रजनीकान्त आज मरेंगे...

तुम यों इस तरह...

माहिरअली : मैंने एक सपना देखा था कि मुझे पकड़ने के लिए दो दूत, दो शैतान आये थे। मेरी बाँह पकड़ने लगे...मैं घबड़ाकर जाग गया।

[धरती की ओर देखने लगता है]

मनोजशंकर : तो तुम नहीं कहोगे ?

माहिरअली : कह दूँगा। कहकर एक बार फाँसी पड़ जा ना रोज की फाँसी से अच्छा है। लेकिन उसे देखना भी है...चलिए आप भी अस्पताल। रास्ते में सब कह दूँगा।

[चन्द्रकला का प्रवेश। चन्द्रकला नीले रंग की कामदार साड़ी और सोने का चन्द्रहार पहने है। मनोज उसकी ओर विस्मय से देखता है]

चन्द्रकला : इतने ध्यान से क्यों देख रहे हो?

मनोजशंकर : चलोगी अस्पताल ?

चन्द्रकला : घंटे भर से ऊपर वहाँ रहे हैं...अब किसलिए ?

मनोजशंकर : तब तो उसके मरने की सम्भावना न थी...

चन्द्रकला : अब मैं जाकर जिला तो दूँगी नहीं ? अगर वह सम्भव होता ! जाओ देख आओ।

मनोजशंकर : मालूम होता है उतना समझाना व्यर्थ हो गया।

चन्द्रकला : (गम्भीर होकर) जाओ, जाते क्यों नहीं ? समझाने का अभी बहुत समय है। मैं आज नहीं मर जाऊँगी।

मनोरमा : (उसके समीप जाकर) वाह ! क्या कहना है ? मैं तुम्हें इसी रूप में देखना चाहती थी ? चित्र बनँवाते समय तुमने शृंगार क्यों न किया ?

चन्द्रकला : तब ? [गम्भीर होकर मनोरमा का हाथ पकड़ लेती है]

मनोरमा : हाँ, कहो तब ?

चन्द्रकला : तब तो मैं पार्वती की तरह मृत्युञ्जय के लिए तपस्या कर रही थी।

मनोरमा : [उसकी ओर ध्यान से देखकर] तुम्हारा चित्त शान्त है न ?

चन्द्रकला : प्रशान्त महासागर की तरह। अब लहरें न उठेंगी। वह चित्र कहाँ रक्खा है ? देना तो।

मनोरमा : वह चित्र...वह...रजनीकान्त का...?

चन्द्रकला : हाँ।

मनोरमा : शायद तुमने सुना होगा उसकी हालत...

चन्द्रकला : हाँ, सुन चुकी हूँ...उनकी तैयारी हो चुकी। अब मैं भी तैयार हो जाऊँ...

मनोरमा : किसलिए ? [उसकी ओर ध्यान से देखने लगती है]

चन्द्रकला : क्यों...

मनोरमा : लेकिन तुम्हारी आँखें...

चन्द्रकला : (आँखें मलकर) मेरी आँखें; दिखायी तो पड़ रहा है मुझे...

मनोरमा : इतनी चमक क्यों रही हैं ?

[चन्द्रकला क्षण भर के लिए ऊपर छत की ओर देखने लगती है। उसके मुँह पर एक प्रकार का अस्वाभाविक साहस और तेज खेलने लगता है। मनोरमा उसकी ओर मन्त्र-मुग्ध की तरह देखने लगती है।]

चन्द्रकला : (मुस्कराकर) उद्विग्न क्यों हो रही हो ?

मनोरमा : मुझे भय है कि तुम...

चन्द्रकला : किस तरह का...

मनोरमा : शायद तुम अपना सर्वनाश करना चाहती हो।

चन्द्रकला : वह तो हो चुका...

मनोरमा : ओह! तो तुम्हारा मनोज बाबू से समझौता नहीं हो सका? तुम अब भी उसी मोह में...

चन्द्रकला : बस...कहना मत फिर। मेरे आत्मज्ञान को तुम मोह कह रही हो? मैं जिसकी थी हो चुकी। और समझौता कैसा? आग और पानी का समझौता कैसा? मनोज सब तरह से योग्य हैं, लेकिन उनके भीतर एक प्रकार का सन्देह, एक प्रकार का अन्धकार है, जो मैं समझ नहीं सकती। वे स्वयं अपना विश्वास नहीं कर सकते। प्रयत्न उन्होंने भी किया और मैंने भी, लेकिन हम दोनों असफल रहे।

मनोरमा : हूँ...लेकिन यह अँगरेजी...विदेशी भावावेश...प्रथम दर्शन का प्रेम हमारे देश में चल नहीं सकता।

चन्द्रकला : राम और सीता का, दुष्यन्त और शकुन्तला का, नल और दमयन्ती का, अज और इन्दुमती का प्रेम प्रथम दर्शन में ही हुआ था। स्त्री का हृदय सर्वत्र एक है; क्या पूर्व क्या पश्चिम, क्या देश क्या विदेश। लेकिन मैं इस तरह अपनी सफाई न दूँगी। सम्भव है मेरा यह काम स्त्री-जीवन और समाज के विधान के नितान्त प्रतिकूल हो...लेकिन अब तो मैं कर चुकी। इसका मुझे दुःख नहीं है और न मैं इसके लिए पश्चात्ताप करूँगी।

मनोरमा : बहन! मैं...

चन्द्रकला : कहो...मैं सुनना चाहती हूँ...जो कुछ भी कहो...

मनोरमा : मुझे सन्देह है, तुम विचार नहीं कर रही हो?

चन्द्रकला : मनोरमा, तुम्हारा आदर्श मेरे सामने है। तुम आठ वर्ष की अवस्था में विधवा हुई थी और मैं आज बीस वर्ष की अवस्था में विधवा हो रही हूँ। तुम्हारा निभ गया और मेरा नहीं निभेगा?

मनोरमा : (ओंठ पर ऊँगली रखकर) लेकिन मेरा विवाह भी हो चुका था।

चन्द्रकला : तो विवाह तो मेरा भी हो गया। हजार-दो-हजार आदमी भोजन न कर सके, दस-बीस बार शंख न बजा, थोड़े-से मन्त्र और श्लोक न पढ़े गए। यही न?

मनोरमा : तब विवाह कैसे हुआ?

चन्द्रकला : (मुस्कराकर) विवाह की कई प्रणालियाँ हैं। हमारे ही यहाँ पहले प्रचलित थीं ...अब जरूर रुक गयी हैं, लेकिन...खैर मेरा तो हो गया जी। जीवन में चिन्ता करने को बहुत कुछ है, एक यह भी रहेगा।

मनोरमा : बहन, सावधान होने की जरूरत है...

चन्द्रकला : [उसे दोनों हाथों से पकड़कर] मनोरमा! मैं तो विचार करना जानती ही न थी। तुम्हीं ने तो सिखलाया और अब अधीर क्यों हो रही हो? तुम्हारा आदर्श क्यों केवल तुम्हारा रहे...मेरा भी हो। मुझे भी उसी आदर्श में जाने दो।

मनोरमा : मेरा आदर्श तो वैधव्य है, जो अपने बस की बात नहीं, लेकिन तुम क्यों अपना जीवन बिगाड़ रही हो? मैं यही तो नहीं समझ पाती।

चन्द्रकला : इधर देखो! मजबूरी मेरे लिए भी है। तुम्हारी मजबूरी पहले सामाजिक और फिर मानसिक हुई, मेरी मजबूरी प्रारम्भ में ही मानसिक हो गई। तुम इस विचार में पड़ गई हो कि मेरा निर्वाह कैसे होगा। रोटी और कपड़े के प्रश्न को लेकर स्त्रीत्व की मर्यादा बिगड़ गई। हमारा...स्त्रियों का निर्माण भी उन्हीं

उपकरणों से हुआ है, जिनसे पुरुषों का हुआ है; लेकिन तब भी हम पुरुषों की गुलामी में सदैव से चली आ रही हैं। हमारे भीतर कभी सन्देह नहीं पैदा हुआ; ऐसा क्यों है ? पुरुष के चार हाथ की सेज में ही हमारा संसार सीमित है। पुरुष ने स्त्री की कमजोरी को उसका गुण बना दिया और वह उसी प्रशंसा में सदैव के लिए आत्मसमर्पण कर बैठी। दूसरों की रक्षा में हम अपनी रक्षा नहीं कर सकीं। [चुप होकर वेग से साँस लेने लगती है। दोनों हाथों से सिर पकड़कर कुर्सी पर नीचे की ओर लटक जाती है। मनोरमा उसके पीछे जाकर उसका सिर सँभालती है]

छोड़ दो...शरीर और मन की इसी कमजोरी के कारण हम संसार के उन्मुक्त वातावरण से खींच कर दीवालों के घेरे में...डाल दी गयीं।

मनोरमा : ठहर जाओ। तुम्हारी छाती बड़े जोर से धड़क रही है। और...और साँस भी तेज हो गई है। नहीं नहीं...अभी नहीं, ठहरो।

चन्द्रकला : (एकाएक कुर्सी से उठ कर)इस दुर्बलता को आज निकालना होगा। मेरे हृदय में वह हँसी गड़ गई है। मुझे रोना नहीं है।

[अँगड़ाई लेकर बरामदे के नीचे उतर जाती है]

मनोरमा : (आगे बढ़ती हुई) कहाँ जा रही हो इस अँधेरे में ?

चन्द्रकला : सूर्य को बुलाने...दीपक से तो यह अँधेरा नहीं मिटेगा। चलोगी तुम भी...चलो न, चलें ?

मनोरमा : अरे ! तुम्हें उन्माद हो रहा है क्या ?

चन्द्रकला : छि...उन्माद क्यों होगा मेरे भीतर आज चिरन्तन नारीत्व का उदय हुआ है। मेरी चेतना आज मेरे चारों ओर फैल रही है और तुम कहती हो मुझे उन्माद हो रहा है। मैं आज अपने पैरों पर खड़ी हो रही हूँ...मुझे किसी दूसरे पुरुष की सहायता की जरूरत नहीं। रोटी और वस्त्र...मेरी शिक्षा इतनी हो चुकी है कि मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगी। कोई चिन्ता नहीं है। मेरा वैधव्य अमर रहे।

मनोरमा : (कातर होकर) हाथ जोड़ती हूँ...यहाँ आओ। नहीं तो मैं रोने लगूँगी।

चन्द्रकला : तुम रोने लगोगी...किसलिए ? तुम्हें भी कुछ चाहिए क्या ? बाबूजी के पचास हजार में से चाहिए तो आने दो...

[आगे बढ़कर बरामदे में जाती हुई] इच्छा थी, इस अन्धकार में अपने अभिसार को चल दूँ...लेकिन नहीं; मैं तुम्हारे पास रहूँगी...तुम न रोओ। हम लोग अगर अपना रोना बन्द कर सकें तो फिर हमारी मुक्ति हो जाय। मनोज मेरी ओर इस तरह देख रहे थे मानो चोर की ओर देख रहे हों। लेकिन मैं नहीं जानती कि मैंने चोरी कब की ?

[कुर्सी पर बैठकर सिर के ऊपर से साड़ी हटा देती है] ओह ! बड़ी गर्मी है। पानी भी नहीं बरसता।

मनोरमा : [उसकी ओर ध्यान से देखती हुई] अरे !

चन्द्रकला : (धीमे स्वर में) क्या है ?

मनोरमा : तुम्हारे सिर पर सिन्दूर कैसा ?

चन्द्रकला : मेरा विवाह जो हुआ है...

मनोरमा : कहाँ...?

चन्द्रकला : अस्पताल में...

मनोरमा : अस्पताल में ? अरे !

चन्द्रकला : क्या 'अरे'-'अरे' कर रही हो...इसमें विस्मय क्या है ? मेरा प्रेमी वहाँ था...तुम जानती हो। यह मेरी सुहागरात है...कितनी सूनी...लेकिन कितनी व्यापक। इसका अंत नहीं है। मेरा पुरुष मुझे अपनी गुलामी में न रख सका...मुझे सदैव के लिए स्वतन्त्र कर गया। मुझे जो अवसर कभी न मिलता, वह मिल गया। {मुस्कराकर} इस तरह विस्मय से क्यों देख रही हो ?

मनोरमा : मुझे तो काठ मार गया।

चन्द्रकला : लेकिन क्यों ? मेरा सिन्दूर देखकर ? उन्हीं के हाथ से लगा है। [सिर पर दोनों हाथ रखकर धरती की ओर देखने लगती है]

मनोरमा : वे तो बराबर बेशोश रहे हैं।

चन्द्रकला : हाँ...

मनोरमा : तब...

चन्द्रकला : अगर वे बेहोश न होते, तब तो शायद यह सम्भव न होता।

मनोरमा : लेकिन यह हुआ भी कैसे ? यह भी तो...

चन्द्रकला : (गम्भीर होकर धीमे स्वर में) मैं अपने साथ सिन्दूर लेती गयी थी। सरकारी अस्पताल की हालत तो तुम जानती हो, जैसा प्रबन्ध रहता है...रोशनी का, और-और चीजों का। पास में एक लालटेन रक्खी थी, कोई कम्पाउण्डर उठा ले गया। मुझे मौका मिल गया; उनके हाथ पर सिन्दूर रखकर मैंने लगा लिया। देखती नहीं हो, कैसी सिन्दूर की होली खेली गयी है ?

मनोरमा : ओह !...

चन्द्रकला : क्यों व्यर्थ की चिन्ता कर रही हो।!

मनोरमा : तुम्हारी भावुकता...

चन्द्रकला : जैसे मैंने कोई विचारहीन काम किया है।

(कई बार सिर हिलाती है)

मनोरमा : मैं तो...

चन्द्रकला : व्यर्थ की बहस न करो बहन...

मनोरमा : लेकिन...

चन्द्रकला : (क्षुब्ध होकर) फिर लेकिन...तुम्हारा लेकिन मेरा विश्वास नहीं डिगा सकता। और यदि तुम न मानोगी, तो मुझे कहना पड़ेगा कि तुम्हारा विधवापन निरर्थक है, लेकिन मेरा सार्थक...

मनोरमा : हाय बहन। क्यों मुझे अपमानित कर रही हो ?

चन्द्रकला : ईश्वर जानता है, मैं सच्चे मन और सच्ची आत्मा से कह रही हूँ।

मनोरमा : सच्चे मन और सच्ची आत्मा से ?

चन्द्रकला : हाँ...

मनोरमा : तुम क्षोभ में...यह...

चन्द्रकला : मैं बिल्कुल शान्त और प्रसन्न चित्त से...

मनोरमा : उँह जाने दो...

चन्द्रकला : तुम्हारे मन में मेरे प्रति सन्देह रह जायगा। सुनो मैं क्या समझती हूँ ! नहीं तो तुम...

मनोरमा : तुम्हारा चित्त स्थिर नहीं है...इस समय चुप रहो।

चन्द्रकला : चुप तो मुझे रहना है ही। भविष्य में मैं इस विषय पर व्याख्यान न दूँगी। यह रस मेरी आत्मा में भर गया है...यही मेरा सन्तोष है। पुरुष बली है--सब तरह से बली रहेगा...मैं द्वन्द्व में विश्वास नहीं करती। स्त्री ने स्वयं अपना नरक बनाया है...पुरुष उसके लिए दोषी नहीं है...हमने कभी अपनी आत्मा की पुकार नहीं सुनी। (कुछ सोचकर) बहन ! तुम्हारा विधवापन तो रूढ़ियों का विधवापन है, वेदमंत्रों का और ब्रह्मभोज का...जिस पुरुष को तुमने देखा नहीं...जिसकी कोई धारणा तुम्हें नहीं है, जिसकी कोई स्मृति तुम्हारी आत्मा को हिला नहीं सकी...उसका वैधव्य कैसा है ? तुम स्वयं सोच लो। मेरा वैधव्य...वह निर्विकार मुस्कराहट, यौवन और पुरुषत्व के विकास की वह स्वर्गीय आशा...मैं कल्पना करती हूँ पच्चीस वर्ष की अवस्था में वह शरीर और वह हृदय कैसा होता...(कुछ सोचकर) इसीलिए कहती हूँ कि मेरा वैधव्य सार्थक है।

[मनोरमा उद्विग्न हो उठती है। उसके मुँह पर विषाद और विस्मय के दृश्य आने लगते हैं। कभी तो धरती की ओर और कभी छत की ओर देखने लगती है। आँखें दीवाल की ओर गड़ाकर कई बार सिर हिलाती है। चन्द्रकला की ओर तीखी आँखों से देखती हुई एकाएक बाहर निकल जाती है। चन्द्रकला उठती है। साड़ी का आँचल कई बार हिलाती है--गर्दन टेढ़ी कर कई बार इधर-उधर देखती है। बरामदे में आगे बढ़कर बाहर की ओर देखती है और एक साँस लेकर भीतर चली जाती है। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहता है। दायें हाथ में शीशा लेकर चन्द्रकला का प्रवेश। चन्द्रकला आगे बढ़कर बायें हाथ से लालटेन उठाकर अपने मुँह के सीध में कर लेती है और शीशे में अपना मुँह देखने लगती है। मनोरमा का प्रवेश।]

मनोरमा : (गंभीर मुद्रा में) आज तुम भावना और विक्षोभ की आँधी में उड़ रही हो। इस समय मेरे शब्द हल्के पड़ेंगे...नहीं तो मैं कह देती कि इस समय तुम्हारा यह शीशा देखना...जिस चीज को तुम आत्मज्ञान और चिरन्तन नारीत्व का उदय कह रही हो, वह नहीं है। तुम्हारा वैधव्य तो अमर रहे और तुम अपने ही रूप पर रीझती भी रहो, यह क्या है ?

चन्द्रकला : (उस पर लालटेन का प्रकाश डालती हुई) क्यों...

मनोरमा : तुम्हारा वैधव्य तुम्हारा है...वह तुम्हारा स्वर्ग हो सकता है, लेकिन उसमें समाज की, संसार की क्या आशा है ? वेदमंत्र, हवन, शंखध्वनि, जिनके साथ तुम्हारा समझौता नहीं हो सकता...सामाजिक संस्कारों के लिए मुहर का काम करते हैं। विवाह हो गया, इसकी सूचना और साक्षी का काम करते हैं। तुम अभी जो मुझ पर और सामाजिक रूढ़ियों पर विष उगलती रही हो, उसके मूल में तुम्हारा विक्षोभ और तुम्हारी नयी शिक्षा है, तुम उन पर रीझ गई और आज मरने पर तुम विधवा हो गयी, मैं विधवा हुई थी। एक बार मेरे किसी दूसरे वैधव्य की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि अब फिर कभी मेरे विवाह के नाम पर वेदमन्त्र, शंखध्वनि, ब्रह्मभोज का अवसर नहीं आयेगा, लेकिन तुम जो उनके मोह में पड़ गयीं, केवल एक बार देखकर ...तुम क्या समझती हो ? वैसी हँसी, मुस्कराहट; शरीर की सुन्दरता और उसका विकास, आँखों की बिजली और बालों का उन्माद उस कोटि का (चारों ओर हाथ उठाकर) इतने बड़े संसार में दूसरा न होगा ? और तुम्हारी दानशील प्रवृत्ति वहाँ भी न उलझ जायगी ? मेरे साथ वेदमन्त्रों और शंखध्वनि का

सवाल था, इसलिए मैं एक बार विधवा हुई, लेकिन तुम्हारे साथ तो अनेक बार विधवा होने की सम्भावना है। भावुकता और विक्षोभ के अवसर पर निकले हुए शब्द संस्कारों की मर्यादा इस तरह नहीं मिटा सकते और इसलिए कि आदर्श उनका आधार नहीं होता, परीक्षा की आँच में ठहर भी नहीं सकते। अभी तक कुशल है। अराजकता...सम्भव है कुछ समय के लिए व्यवस्था मिटा दे...लेकिन स्वतः व्यवस्था नहीं हो सकती। स्वतन्त्र स्त्रीत्व, आज दिन के नये विचार, जो संसार को एकदम स्वर्ग बना देना चाहते हैं उनमें से एक है, लेकिन इस नये स्वर्ग की कल्पना के मूल में कोई आदर्श नहीं है, हाँ प्रवृत्तियों की घुड़दौड़ के लिए यह काफी मैदान दे सकेगा।

चन्द्रकला : बस रहने भी दो...

मनोरमा : क्यों सुन लो...तबीअत नहीं चाहती ?

चन्द्रकला : (उसकी ओर देखती हुई) यह न समझना कि मैं केवल शीशे में अपना सिन्दूर और सौन्दर्य देखती रही हूँ।

मनोरमा : अच्छा...

चन्द्रकला : मेरा व्यक्तित्व, मेरी अपनी इच्छा और प्रवृत्ति...

मनोरमा : क्या मतलब ?

चन्द्रकला : शास्त्र और संस्कार मेरा मत है...मेरी आत्मा को जो स्वीकार...बस और कुछ नहीं...

मनोरमा : हूँ...लेकिन आत्मा...(कुछ सोचकर) हाँ जी आत्मा अँगरेजी अर्थ में या संस्कृत...

चन्द्रकला : क्यों ? (उसकी ओर देखने लगती है)

मनोरमा : (हाथ हिलाकर) मैं पूछती हूँ, आत्मा तुम किस अर्थ में कह रही हो, अँगरेजी मतलब में या जो मतलब अपने यहाँ माना जाता है।

चन्द्रकला : मैं तो...(चुप हो जाती है)

मनोरमा : अँगरेजी में आत्मा की भावना अनादि की नहीं है...उनके लिए तो पचास-साठ वर्ष के जीवन में ही आत्मा कभी-कभी दस-पाँच बार मरकर जी उठती है या वे बुद्धि-बल से आत्मा को जब तबीअत चाहती हैं बदल दिया करते-हैं; लेकिन हमारे यहाँ आत्मा के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ नहीं होता...हमारे यहाँ तो आत्मा अनादि और अनन्त है, आजकल के...जिन लोगों को अँगरेजी की ऊँची शिक्षा मिल गयी है...हमारे यहाँ वे भी आत्मा को खिलौना बना रहे हैं। वे भी कहने लगे हैं कि अपनी पुरानी आत्मा को मार डालो...बदल डालो, नहीं तो कल्याण नहीं। तुम भी शायद उसी तरह...

चन्द्रकला : (घबड़ाकर) चुप भी रहो...

मनोरमा : आ गया समझ में...

चन्द्रकला : मैं समझना नहीं चाहती...नहीं...मुझे न समझाओ। मैं समझूँगी नहीं।

मनोरमा : लेकिन यह तो...

चन्द्रकला : (कड़े शब्दों में) मैंने कहा दिया चुप रहो...

मनोरमा : हूँ...

चन्द्रकला : [उसकी ओर देखकर सिर हिलाती है] अब जब कभी भाग्य से फिर भेंट होगी तब समझा जायगा। भगवन्त के पचास हजार के लिए प्रायश्चित कौन

करेगा ? साथ-ही-साथ वह भी हो जायगा। [कुर्सी में गिरकर चुप हो जाती है। मनोरमा उसके पास जाकर खड़ी होती है। बाहर मोटर आने की आवाज होती है। चन्द्रकला चौंककर उठती है और अपने सिर को साड़ी से अच्छी तरह ढँक लेती है। मनोरमा हटकर भीतरी कमरे में चली जाती है। मुरारीलाल का प्रवेश। मुरारीलाल का चेहरा उतरा हुआ और आँखें कठोर हो रही हैं]

मुरारीलाल : (चारों ओर घूरकर देखते हुए) चन्द्रकला! [चन्द्रकला धरती की ओर देख रही है। मुरारीलाल कुर्सी आगे की ओर खींचकर बैठते हैं और उसकी ओर आँख गड़ाकर देखने लगते हैं] नहीं सुनायी पड़ता ?

चन्द्रकला : {उसी तरह धरती की ओर देखती हुई} जी...

मुरारीलाल : शाम को गयी थी अस्पताल में ? (जोर से) बोलती क्यों नहीं ?

चन्द्रकला : (धीमें स्वर में) जी...

मुरारीलाल : (क्रोध में) बस एक शब्द 'जी'। मेरे सामने लाज आ रही है और भरे अस्पताल में उसके सिर पर हाथ रखने में, उसके तलवों को सहलाने में लाज नहीं आयी थी ? दुनिया जान गयी कि मेरी लड़की अस्पताल में एक मारे हुए लड़के की सहानुभूति में वहाँ तक खिंच गयी थी...। मैं कल किस मुँह से कचहरी जाऊँगा ? मुमकिन है कलक्टर सुनें तो समझें कि मैं...{रुककर उसकी ओर देखने लगता है। चन्द्रकला वहाँ से जाना चाहती है} कहाँ चली ? ठहर जा। मैं हर्गिज ऐसी बातें बर्दाश्त नहीं कर सकता। अपनी मर्यादा इस तरह मिट्टी में मिलने नहीं दूँगा। अस्पताल क्यों गयी थी ? किसकी आज्ञा से ?

चन्द्रकला : घूमने गयी थी...

मुरारीलाल : (घूरकर) सारा दिन स्वाँग किये रही और शाम को घूमने गयी अस्पताल में ? [चन्द्रकला तेजी से भीतर निकल जाती है] सुन...सुन...नहीं सुनायी पड़ता ? अच्छा [उठकर भीतर जाना चाहते हैं...बड़े कमरे में प्रवेश करते हैं]

मनोरमा : (कमरे के भीतर) कहाँ इस तरह दौड़े जा रहे हो ?

मुरारीलाल : उससे पूछने कि...

मनोरमा : शान्त हो जाईए...क्रोध को शान्त कीजिए तब...नहीं तो कोई और अनर्थ निश्चित है।

मुरारीलाल : कोई और अनर्थ ? ऐं! तुम अँधेरे में क्यों खड़ी हो ?

मनोरमा : चलें बाहर...मैं कहती हूँ...सुन लें तब...क्रोध की उत्तेजना में वहाँ जाना ठीक नहीं।

मुरारीलाल : अच्छा चलो। सिर में बड़ा दर्द है और शायद ज्वर भी हो गया है

मनोरमा : आपको ?

मुरारीलाल : हाँ...

मनोरमा : आज का सारा दिन और रात को भी दस बज रहे हैं...इसी तरह झंझट और उत्तेजना में...

मुरारीलाल : [बरामदे में कुर्सी पर बैठते हुए] हाँ...कहो...

मनोरमा : [बरामदे में आगे की ओर खड़ी होकर] उनका चित्त स्थिर नहीं है। मुझे तो सन्देह है कि अगर वे उत्तेजित की जायँगी, तो बड़ा अनर्थ होगा।

मुरारीलाल : हिश...अनर्थ होगा। मैं इतना कच्चा नहीं हूँ और अगर अनर्थ भी होगा...तो क्या ? जैसे और सब सह रहा हूँ...उतना और...

मनोरमा : उनके मस्तिष्क में विक्षोभ हो गया है। वे कहीं पागल न हो जायँ।

मुरारीलाल : पागल हो जाना इतना आसान नहीं है। नहीं तो मैं कभी का ही पागल हो गया होता। उसके लिए जितना दु:ख मुझे है... अभी बयान लेते वक्त...

मनोरमा : (उत्सुक होकर) क्या हुआ... हैं अभी या...

मुरारीलाल : नहीं। प्राय: एक घंटा हो रहा है... मरे... मुझे उसका कितना दु:ख है, ईश्वर जानता है। और यह लड़की...

[क्रोध में ऊँची साँस लेने लगते हैं]

मनोरमा : यह दु:ख की रात है ही। सब किसी को दुख है। आज क्रोध न कीजिए। आज तो रात बीतना ही नहीं चाहती। बयान क्या रहा ?

मुरारीलाल : दिन भर बेहोश रहा... उसे होश हुआ तो थोड़ी देर के लिए रात को... नहीं तो बयान उसी समय ले लिया गया होता।

मनोरमा : बयान है क्या ?

मुरारीलाल : उसने किसी मारने वाले का नाम नहीं बताया है।

मनोरमा : क्यों ?

मुरारीलाल : न मालूम। मैं तो हैरान हो गया। जीता रहता तो बड़ा आदमी होता, इसमें सन्देह नहीं [जेब से एक कागज निकाल कर] 'मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैं राजनीकान्त बल्द रमापतिसिंह... का रहने वाला हूँ। ता० पाँच सितम्बर दिन रविवार को दो घंटा दिन रहते मैं अपना धान, जो कि बाग नम्बर १३१ के पश्चिम आराजी नं० १३३ में रोपा गया है, देखने गया। एक भद्र व्यक्ति, जो वकालत करते हैं मुझसे बातें करने लगे; इतने में ही पीछे से एक साथ मुझपर चार लाठियाँ पड़ीं। मैं घबड़ाकर घूम पड़ा। जो महोदय मुझे बातों में फँसाए हुए थे, उछल कर कई कदम पीछे हट गये और बोल उठे– 'मार डालो, अब क्या देखते हो।' मैंने देखा, आठ आदमी लाठियों के साथ खड़े हैं, एक ही साथ आठ लाठियाँ ऊपर उठीं और मुझ पर गिरीं। मैं वहीं गिर पड़ा। गिरने पर मुझे कितनी लाठियाँ लगीं, कह नहीं सकता।'

प्रश्न : तुमने किसी को पहचाना ?

उत्तर : सबको...

प्रश्न : नाम बतलाओ...

उत्तर : नाम बतलाना मैं नहीं चाहता। मेरे परिवार में केवल दो स्त्रियाँ हैं... कोई बच्चा भी नहीं है। मेरे परिवार की सारी आशाएँ मेरे साथ जा रही हैं। मैं नहीं चाहता कि दूसरों की आशाएँ भी अपने साथ लेता जाऊँ। [मनोरमा की ओर देखते हुए] इसके बाद ही मैंने उसके मुँह की ओर देखा... उसकी आँखें बन्द हो गयीं और मुँह पर मुस्कराहट आ गयी। डाक्टर ने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ा और कह दिया कि नाड़ी बन्द हो गयी। [कुर्सी की बाँह पर झुक जाता है]

[मनोज और माहिरअली का प्रवेश। माहिर बरामदे के नीचे खड़ा है। मनोज आगे बढ़कर मुरारीलाल की कुर्सी के सामने खड़ा होता है]

मनोजशंकर : तो उन्होंने आत्महत्या नहीं की... आपने उन्हें मरवा डाला ?

मुरारीलाल : [चौंककर कुर्सी से उठते हुए सन्न होकरमनोज की ओर देखने लगता है] मैंने ? कौन कहता है ?

मनोजशंकर : आपने ! आपने उन्हें मरवा डाला। सबूत चाहिए तो माहिर खड़ा है, खून करने में उसने भी आपकी मदद की थी।

मुरारीलाल : (साहस के साथ) माहिर...तुमने...

माहिरअली : रजनीकान्त के खून से, वह सूखा हुआ पेड़, उस खून का सूखा हुआ पेड़ हरा हो गया।

मनोजशंकर : याद कीजिए...वह रात...दस वर्ष बीत गये। आपने अपने मित्र को भाँग पिलाकर नाव से नदी में ठेल दिया था। केवल आठ हजार रुपया पचा लेने के लिए। आप उस समय भी डिप्टी कलक्टर थे। और माहिर आपका तब भी मुंशी था। उसी रुपये से आपने यह मोटर ली थी और एक बँगला गाँव पर बनवाया था।

[मुरारीलाल कुर्सी पर गिर पड़ते हैं। मनोरमा वहाँ बैठ जाती है। मनोजशंकर आगे बढ़कर मुरारीलाल का दायाँ हाथ, जो कुर्सी से नीचे की ओर लटक गया है, उसे सँभालकर कुर्सी पर रखता है।]

मुरारीलाल : मनोज! [धीमे स्वर में और हाँफते हुए] मैं बराबर प्रायश्चित करता रहा हूँ। तुम्हें मैंने अपनी सारी चिन्ताओं का...तुम जानते हो मेरा व्यवहार जैसा तुम्हारे साथ...मेरी इच्छा थी कि चन्द्रकला से तुम्हारी...मैं सब ओर से अभागा था।

मनोजशंकर : आपने स्वीकार कर लिया। मेरी आत्मा का बोझ उतर गया। अब मैं आत्मघाती पिता का पुत्र नहीं हूँ। (उत्साह से) ओह! मैं क्या था। इसी चिन्ता में मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया, मानसिक बीमारी हो गयी। बराबर रात को मैं उन्हें स्वप्न में देखता था और सारा दिन उसी स्वप्न की भावना में पड़ा रहता था। पढ़ाई में भी कभी मेरी तबीअत नहीं लगी...किसी तरह विषय तैयार कर परीक्षा पास करता गया। यही बात अगर पहले मालूम होती, आज से पाँच-सात वर्ष पहले...तो मेरा जीवन इतना, मीरस न होता।

मुरारीलाल : मनोज! मैं अपना सब कुछ तुम्हें दे रहा हूँ...मुझे क्षमा कर दो। एक लड़की थी, वह भी नहीं सँभल सकी।

मनोजशंकर : (प्रसन्न होकर) नहीं...नहीं...अब मुझे प्रसन्न चित्त और नीरोग आत्मा के साथ संसार में जाने दीजिए। मैं अपने लिए स्थान खोज लूँगा। आपसे कुछ लेना...आपकी प्रत्येक वस्तु में, आपकी किसी भी स्मृति में...उस खून के धब्बे लगे हैं।

मुरारीलाल : (उठकर) नहीं जी...कोई भी बुराई प्रायश्चित से मिट जाती है। मेरा प्रायश्चित पूरा हो गया। संसार में स्थान खोजने न निकलो। इसी स्थान को भर दो। चन्द्रकला का विवाह तुम्हारे साथ हो जाय...बाँसुरी बजाते हुए सुख से रहोगे। तुम्हें किसी तरह का अभाव नहीं रहेगा, मेरे पास इतनी सम्पति है कि...

[मनोजशंकर विचार में पड़ जाता है। चन्द्रकला का प्रवेश। चन्द्रकला वही कामदार साड़ी और चन्द्रहार पहने है। इस समय उसका सिर खुला है। साड़ी से केवल पीछे की ओर जूड़ा ढँका है। मनोजशंकर उसकी ओर देखकर जैसे काँप जाता है, उसके सिर को आगे बढ़कर देखता है, फिर पीछे हटकर दीवाल के सहारे खड़ा होता है। मुरारीलाल उसको देखकर पहले तो क्रोध में लाल हो उठते हैं फिर सिर थामकर कुर्सी पर बैठ जाते हैं।]

मुरारीलाल : चन्द्रकला

चन्द्रकला : जी हाँ, कहिए जो कुछ मन में आये। उस बारतो मैं संकोच में कह नहीं सकी। लेकिन अब संकोच छोड़ना होगा मुझे...अपनी मर्यादा के भीतर जो कुछ चाहें मुझसे पूछ लें आज...

मुरारीलाल : मेरी मर्यादा तो तुमने बिगाड़ दी और मुझे कहीं का नहीं छोड़ा।

चन्द्रकला : लेकिन मैं तो सदैव आपके लिए प्रायश्चित्त करती रही हूँ। (मनोजशंकर की ओर हाथ उठाकर) इनके बाप की हत्या आपसे हुई और उसका बदला ये लेते रहे मुझसे, बार-बार मुझे ठोकर मारकर। अस्पताल में मैं गयी थी, जैसा कि आप देख रहे हैं... मेरे सिर पर...यह सिन्दूर...उस पचास हजार का प्रायश्चित्त है। आपने मुझे पैदा किया था...मैं विश्वास करती हूँ मेरा कोई भी काम ऐसा नहीं हुआ है...जो कि आपके लिए...

[चुप होकर धरती की ओर देखने लगती है। मनोरमा वहीं खड़ी होकर खम्भे पर सिर रख देती है। मनोज कुरते के नीचे से बाँसुरी निकालकर ओठ पर रखता है]

मुरारीलाल : (रुँधे कण्ठ से) तुम इस समय बाँसुरी बजाओगे ? इस समय ?

मनोजशंकर : बजा दूँ, आप लोगों को नींद आ जाय।

मुरारीलाल : मेरा सर्वनाश हो गया और तुम व्यंग कर रहे हो ?

मनोजशंकर : प्रतिफल मिलता है न ? मेरा और रजनीकान्त का सर्वनाश भी तो..

मुरारीलाल : तुम सब मिलकर उसका फल देना चाहते हो ?

मनोजशंकर : हम लोगों ने इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। संचित कर्म जो चाहते हैं करा डालते हैं...इसमें हम में से किसी का दोष नहीं है।

मुरारीलाल : चन्द्रकला।

चन्द्रकला : जी...

मुरारीलाल : अब क्या होगा ?

चन्द्रकला : आपने कृपाकर मुझे शिक्षा इतनी दे दी है कि मैं अपना निर्वाह कर सकूँ...

मुरारीलाल : तुम यहाँ रहना भी नहीं चाहतीं ?

चन्द्रकला : नहीं। यहाँ रहने पर मैं आपके लिए आपकी मर्यादा के लिए कलंक रहूँगी और यहाँ से हट जाने पर...और फिर पिता के घर में रहना अब उचित भी नहीं...

माहिरअली : (नीचे से) मैंने सपना देखा था मैं कहता था न कि आज कयामत की रात है।

मनोजशंकर मनोरमा : [दोनों साथ बोल उठते हैं] हाँ...

*

आधीरात

पात्र-परिचय

पुरुष

प्रकाशचन्द्र

राघवशरण

राधाचरण

*

नारी

मायावती

पहला अंक

[दो घड़ी रा त जा चुकी है । पूर्णिमा का चाँद क्षितिज के ऊपर की ओर उठ रहा है । पच्छिमी हवा के साथ बादल के उजले टुकड़े उड़ते हुए भागे जा रहे हैं और जब कभी वे चाँद के नीचे से होकर निकलते हैं, जान पड़ता है--जैसे चाँद दौड़ने लगा। चाँदनी रह-रह कर तेज और धीमी पड़ रही है । कोई छोटा, लेकिन घना छायादार पेड़, जिसकी डाल-पत्ती मिल कर प्राय: एक पूरा वृत्त बना रही है । पेड़ के सामने कुछ दूरी पर एक मकान, जिसके ऊपर का भाग तो चाँदनी में दीख पड़ता है, लेकिन नीचे का सारा भाग पेड़ की छाया में छिप रहा है, इसलिए कि चाँद अभी पेड़ की आड़ में है । मकान और पेड़ के बीच धरती पेड़ की छाया में छिप रही है, जिसके दोनों ओर चाँदनी है । मकान की छत पर कोई स्त्री सफेद साड़ी पहने इधर-उधर देखने लगती है ।

बातें करते हुए प्रकाशचन्द्र और राघवशरण का प्रवेश । राघवशरण पेड़ से कुछ आगे बढ़ कर धरती पर बैठ जाता है ।]

प्रकाशचन्द्र : (झुककर हाथ पकड़ते हुए) यहीं...?

राघवशरण : (झुँझलाकर) छोड़ो भी...

प्रकाशचन्द्र : (मीठे स्वर में) जी... {मकान की ओर हाथ उठा कर} चलें वहाँ और नहीं तो इसी चाँदनी में... यहाँ अँधेरे में...

राघवशरण : बैठो भी...नहीं तो तुम {आगे की ओर हाथ उठा कर} वहाँ चाँदनी में बैठो।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन अँधेरे में...

राघवशरण : मेरे लिए अँधेरा स्वाभाविक है । वह उसी तरह का है, जैसी मेरी आत्मा है । तुम साहित्यकार हो... कलाकार हो, कवि हो, लेखक हो ! तुम्हारी आत्मा प्रकाशित है, तुम्हें चाँदनी चाहिए, फूल चाहिए। संसार में जितना सुन्दर है, जितना सुख, सौंदर्य और आनन्द का है, केवल तुम्हारे हिस्से का होना चाहिए। तुम वहाँ चाँदनी में बैठो। वह केवल तुम्हारे लिए है, केवल तुम्हारे लिए...

प्रकाशचन्द्र : जी, शायद आप मुझे लिखने न देंगे।

राघवशरण : मैं चाहता तो यही हूँ तुम न लिखो...हाँ, न लिखो। तुम्हारा लिखना, जान बूझ कर वह जो बुरा है उसे सुन्दर और आकर्षक बनाना, अपने मरण और नरक को अमरत्व और स्वर्ग समझना...तुम नहीं मानते, आज दिन जिसे हम सभ्य कहते हैं...उस सभ्य संसार में जितनी बुराइयाँ फैली हैं...उनका कारण तुम्हारा साहित्य और तुम्हारी कला है । तुम्हारी ही नहीं, तुम्हारे साथी सभी कवियों, सभी उपन्यासकारों, सभी नाटककारों की। आजकल के उन सभी कलम चलाने वालों की, जिन्हें तुम लोग रचयिता कहते हो, निर्माता कहते हो, स्रष्टा...और यहाँ तक कि ईश्वर भी कह बैठते हो । लेकिन, सचाई...अजी सचाई तो बस यही है कि तुम सभी शराब के नशे में झूम रहे

हो और अपने साथ ही दुनियाँ को झुकाना चाहते हो। अभी-अभी तुमने कला को योगमाया कह दिया। तुम्हारा दंभ कितना उग्र है। बैठो बैठो वहाँ...वहाँ चाँदनी में बैठो। बैठते क्यों नहीं जी !

प्रकाशचन्द्र : {उसके सामने चाँदनी में बैठ कर} जी, कहते चलें ! कलाकार के सामने संसार का सुन्दर और संमोहक रूप है, आपके सामने वीभत्स और भयानक। आप अपने विचारों में जीवित रहें, मुझे अपने विचारों में जीने दें। मैं कला को योगमाया कहता हूँ...निर्माता की वह संमोहिका शक्ति, जिसमें संसार अपने को भूल जाता है...अपने सुख-दु:ख को अपने संकट-बंधन को। आत्मा अपनी स्वाभाविक दशा आनन्द को प्राप्त होती है; कला की बुराई-भलाई पर विचार करना सूर्य और चन्द्रमा, पृथ्वी और जल की बुराई भलाई पर विचार करना है। मुझे इस बात की तनिक भी लालसा नहीं है कि आप मेरा सम्मान करें। लेकिन, जब कभी मेरी कला आपकी आत्मा को अभिभूत करे...

राघवशरण : (एकाएक उठ कर) चुप भी रहो। तुम्हारी कला और तुम्हारी आत्मा का उन्माद और अवसाद मेरी आत्मा को अभिभूत करे...आत्मा इसके लिए नहीं है। इसके लिए नहीं है कि उसका विवेक और प्रकाश कम कर दिया जाय, उसे मोह और अंधकार में ढकेल दिया जाय। तुम लोगों ने उस पर इतना रंग चढ़ा दिया है कि वह कुरूप हो गई। तुम तो जरा-सी बात पर रोने और हँसने वाले, अपनी कामना और लालसा के दास हो; कला के नाम पर चाहे जो कुछ भी कर डालो, लेकिन आत्मा के नाम पर कुछ न करना। (विद्रूप-हँसी हँस कर) कुछ तो तुम लोग अपनी प्रेमिका के लिए लिखते हो, कुछ अपने लिए, कुछ अपने मित्रों और संबंधियों के लिए, संसार का सामूहिक रूप तुम्हारी कल्पना पर नहीं चढ़ता। क्यों, है ठीक या नहीं ?

प्रकाशचन्द्र : संभव है, हो ! मैं इतना सोच नहीं पाता और न मैं सोचना चाहता हूँ।

राघवशरण : क्यों ?

प्रकाशचन्द्र : जी...मैं क्या करूँ ? लिखना तो मुझे होता है ! नहीं तो, मेरे भीतर जो बोझ बढ़ जाता है, उसी से दब कर मर जाऊँ।

राघवशरण : अपना बोझ दूसरों पर डाल देते हो ? लेकिन इसमें तो विश्व-कल्याण नहीं है। महादेव ने तो संसार का विष पी लिया और तुम अपना विष नहीं पचा पाते।

प्रकाशचन्द्र : (हँसते हुए) जी, तो मैं लिखता हूँ...अपना विष ! ऐं !

राघवशरण : तुम जिन चरित्रों का निर्माण करते हो, जिन भावों और विचारों पर उनकी रचना करते हो, सब तुम्हारे मन के हैं; तुम्हारे पास जो नहीं है, जो तुम्हें चाहिए, जीवन में तो उसे पा नहीं सकते, कल्पना से अपनी उस कमी को पूरा करना चाहते हो। उँह, अपने को मार न डालो। तुम्हारा मरना तुम्हारा जीना होगा, और इस तरह का जीना तुम्हारा मरना है। शब्दों और भावों की आँधी तो तुम पैदा कर लेते हो, तुम्हारी इस शक्ति का मैं कायल हूँ... लेकिन...

प्रकाशचन्द्र : लेकिन क्या ?

राघवशरण : यही कि जीवन... (कुछ सोच कर) जीवन की अनुभूति तुम्हारे पास है कहाँ ?...और वह तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि तुम्हारा जीवन मिट नहीं जाता। अपनी सत्ता मिटा डालो। अपने को विश्व में लय हो जाने दो। तब तुम अपनी सिद्धि को पहुँच सकोगे। तुम्हारी समस्या तुम्हारे 'व्यक्ति' की नहीं, तुम्हारे विश्व की होनी चाहिए।

प्रकाशचन्द्र : हूँ...तब...

राघवशरण : और यहाँ तुम्हारी समस्या तुम्हारी बेड़ी बन रही है। उसे काट डालो।

{ उठ कर अँधेरे में टहलने लगता है। }

प्रकाशचन्द्र : मेरी कोई अपनी समस्या तो...

राघवशरण : नहीं है ?

प्रकाशचन्द्र : हाँ...

राघवशरण : है जी...

प्रकाशचन्द्र : लेकिन...

राघवशरण : इस लेकिन से काम नहीं चलता! और अब मुझे फिर कभी यहाँ आना न होगा। शायद अब की गया फिर न आऊँ। लेकिन तुम्हें बन्धन में छोड़ जाना भी... (उसके समीप जाकर) तुम अपना बन्धन काट न डालो। अपनी समस्या छोड़ दो और फिर चाहे तुम अपने को रचयिता कहो या निर्माता। मैं सब मान लूँगा।

प्रकाशचंद्र : व्यक्ति की समस्या छूटेगी कैसे ?

राघवशरण : फिर व्यक्ति रचयिता होगा कैसे ? व्यक्ति को अपनी समस्या छोड़नी होगी। तभी, वह विश्व-समस्या का अधिकारी होगा।

प्रकाशचंद्र : आप चाहते क्या हैं ?

राघवशरण : मैं...?

प्रकाशचंद्र : जी।

राघवशरण : मैं चाहता हूँ तुम्हें स्वतंत्र करना।

प्रकाशचंद्र : अच्छा...!

राघवशरण : जानते हो यह लड़की कौन है ?

प्रकाशचंद्र : कौन ?

राघवशरण : यही जो तुम्हारे साथ रहती है ? {प्रकाशचन्द्र चुप होकर उसकी ओर देखने लगता है} यही तुम्हारी समस्या है। यह तुम्हारी अपनी समस्या है। संसार का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। इससे छुट्टी ले लो। उसके बाद तुम जो कुछ भी लिखोगे, सुन्दर होगा।

प्रकाशचंद्र : वह मेरे साथ पाँच वर्ष से है। उससे विवाह भी...

राघवशरण : तुम्हारा विवाह ?

प्रकाशचंद्र : हाँ...

राघवशरण : मूर्ख...कला का सबसे बड़ा शत्रु है विवाह ! तुमने विवाह कर लिया... उससे...

प्रकाशचंद्र : उसमें कोई बुराई है ?

राघवशरण : उसमें बुराई होती तो कोई बात नहीं। किसमें बुराई नहीं है ? बुरा है उसका इतिहास...।

प्रकाशचंद्र : संभव है।

राघवशरण : इतनी उदासी के साथ ?

प्रकाशचंद्र : मैं उसे छोड़ नहीं सकता। मेरा रहना कैसे हो सकेगा अकेले ? इस तरह कौन रह सकेगा।

राघवशरण : तुम...मैं; जिस किसी को अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर विश्व में लय होना होगा।

प्रकाशचंद्र : मैं इस जीवट का कदाचित् हूँ नहीं। उसके हृदय में मुझे तो कोई विकार नहीं देख पड़ा।

राघवशरण : मैंने कहा तो, उसका इतिहास बुरा है। उसने जो कुछ पहले किया, अब भी कर सकती है। उसे अवसर मिलना चाहिए।

प्रकाशचंद्र : क्या हुआ उससे ऐसा...?

राघवशरण: उसने एक ही साथ दो पुरुषों से प्रेम किया और अन्त में दोनों के नाश का कारण बनी।

प्रकाशचन्द्र : तब...!

राघवशरण : एक तो मारा गया, और दूसरे को काले-पानी की सजा हुई, बीस वर्ष की !

प्रकाशचंद्र : दोनों ही मूर्ख थे, नहीं तो...

राघवशरण : ऐसा नहीं जी, दोनों बैरिस्टर थे। दोनों की शिक्षा विलायत में हुई थी। यह घटना सन् उन्नीस सौ की है। वह समय अंग्रेजी चमक-दमक का मध्याह्न था, जब यहाँ के विद्यार्थी कालेज से निकल कर विलायत जाने और वहाँ से लौटने पर करोड़पति बन जाने का सपना देखा करते थे। अंग्रेजी चमक-दमक का वह मोह तो अब न रहा। उन दिनों इस देश की आत्मा में लालसा का जो ज्वार उठा था, अब असंतोष में बदल गया है।

{ एकाएक चुप हो कर इधर-उधर टहलने लगता है। प्रकाशचंद्र अपनी जगह पर खड़ा हो कर चाँद की ओर देखने लगता है, जो अब पेड़ के ऊपर आ गया है। चाँदनी पूरे मकान पर पड़ रही है। वह स्त्री, जो मकान की छत पर थी, वहाँ नहीं है। पेड़ के सामने मकान में तीन दरवाजे हैं, जो बंद हैं। राघवशरण प्रकाशचंद्र के पास आ कर खड़ा होता है और उसके मुँह की ओर ध्यान से देखने लगता है। दोनों के मुँह पर चाँदनी पड़ रही है। प्रकाशचन्द्र की अवस्था प्रायः पचीस की है। उसकी दाढ़ी-मूँछ सब बनी हुई है। गोरा, लंबा, इकहरा शरीर। सिर के लंबे बाल घूम कर कंधे तक आ गये हैं। लम्बी पतली नाक और पतले ओठ, सब कुछ मिल कर उसके चेहरे पर कोमलता का आभास पैदा कर रहे हैं। राघवशरण की अवस्था यों तो प्रकाशचन्द्र से बहुत अधिक

नहीं मालूम होती, किन्तु उसके सिर के आधे से अधिक बाल सफेद हो गये हैं। रंग साँवला है, शरीर के मांसल होने से गंदुमी हो रहा है। आँखें काली और दृष्टि तेज है। }

प्रकाशचन्द्र : {उसकी ओर देख कर आग्रह के स्वर में} जी नहीं चाहता कुछ सुनने को। संदेह हो रहा है कहीं... (छाती पर हाथ रख कर) उद्वेग न पैदा हो जाय!

राघवशरण : इसी हृदय और आत्मा के बल पर तुम लेखक को 'रचयिता' और उसकी कला को 'योगमाया' कहते हो? उस का इतिहास तुम्हारे भीतर भय पैदा कर रहा है। चाहते तो हो उसके साथ रहना...किन्तु उसके सत्य से इस प्रकार भाग रहे हो?

प्रकाशचन्द्र : उसका सत्य तो उसके हृदय और उसकी आत्मा की चीज है। जब वह मेरी ओर देखती है, मेरे हाथ में जब उसका हाथ होता है, मेरे कंधे पर जब वह अपना सिर रख देती है, उसकी एक-एक साँस से निकल कर उसका सत्य आकाश में फैल जाता है और तब मैं अपने चारो ओर जिधर देखता हूँ, उस का सत्य देख पड़ता है।

राघवशरण : संभवतः तुम्हारा इतिहास भी वैसा ही है, जैसा कि उसका है।

प्रकाशचन्द्र : उसका सत्य तो उसके हृदय और उसकी आत्मा की चीज है। जब वह मेरी ओर देखती है, मेरे हाथ में जब उसका हाथ होता है, मेरे कंधे पर जब वह अपना सिर रख देती है, उसकी एक-एक साँस से निकल कर उस का सत्य आकाश में फैल जाता है और तब मैं अपने चारो ओर जिधर देखता हूँ, उस का सत्य देख पड़तां हैं।

राघवशरण : संभवतः तुम्हारा इतिहास भी वैसा ही है, जैसा कि उसका है।

प्रकाशचन्द्र : जी नहीं, एक ही साथ मेरी दो प्रेमिकाएँ नहीं रहीं और न मेरे कारण उनका नाश हुआ। उनमें से न तो कोई मारी गई और न किसी को काले-पानी की सजा हुई।

राघवशरण : संभव है, बिल्कुल ऐसा न हुआ हो, लेकिन कुछ इस तरह का है, इसमें तो संदेह नहीं। कदाचित् तुम समझते हो कि मैं तुम्हारा इतिहास नहीं जानता। लेकिन ऐसा नहीं है। मैं तुम्हारा इतिहास भी जानता हूँ। तुम लेखक हो और अच्छे लेखक हो, इसमें संदेह नहीं। लेकिन तुम अच्छे व्यक्ति भी हो, यह मैं नहीं कह सकता। इसलिए तो कहता हूँ...अपने इस व्यक्तित्व को मिटा कर विश्व-व्यक्तित्व स्वीकार कर लो। उसके प्रति जो तुम्हारी यह क्षमा है...पापी के प्रति जो तुम्हारी यह सहानुभूति है, जिसे शायद तुम अपना गौरव समझो, उसका कारण तुम्हारा अपना इतिहास है। उसे क्षमा कर तुम अपने को क्षमा करते हो। {उसकी ओर ध्यान से देखने लगता है। प्रकाशचंद्र सिर पर हाथ रख कर नीचे की ओर देखने लगता है} शायद अब तुम समझ गये कि मैं तुम्हारा इतिहास जानता हूँ। लेकिन इसमें लज्जा की बात नहीं है। मनुष्य से ऐसी बातें हुआ करती हैं। जरूरत है केवल सुधार की। जो बिगड़ गया, उसे बनाना होगा। जो बन्द है, उसे रास्ता देना होगा।

प्रकाशचंद्र : जी, विधान की बातें सब के लिए नहीं होतीं। कम से कम मेरे लिए तो नहीं है। संसार के लिए या अपने लिए आप जो समझें, मैं अपना रक्त जला कर प्रकाश कर रहा हूँ, लिखते समय मेरी आत्मा किसी चाहना में रहती है, मेरे हृदय में कैसी ज्वाला लहक उठती है, इसे आप नहीं समझते। कोई नहीं समझा। कोई कहता है...अच्छा लिखा, कोई कहता है...बुरा लिखा। मैं विचारों और भावों का पागल, संसार का विधान नहीं जानता और न जानना चाहता हूँ। रही जीवन की बात, सो मुझे उसी रूप में जीना है, जिस रूप में मेरी लेखनी चलती रहे और शायद जिस दशा में मैं हूँ, वह मेरे लिए सबसे अधिक अनुकूल है। मेरा क्या बिगड़ गया? उसे तो मैं अपना पुनर्जन्म समझता हूँ। आप जानते हैं मेरा इतिहास और उसका इतिहास। आप नैयायिक बुद्धि से उस पर विचार करें। मुझे तो यह सब भूल जाना है।

राघवशरण : उससे लाभ...?

प्रकाशचंद्र : लाभ में विश्वास नहीं...

राघवशरण : और हानि में?

प्रकाशचंद्र : आत्मा के आन्दोलन में लाभ और हानि दोनों ही एक हैं। सम्भव है, उसका इतिहास बुरा हो, सम्भव है, मेरा इतिहास भी बुरा हो। दस-बीस वर्षों का इतिहास जीवन के अनन्त प्रवाह में कौन खोजे और कहाँ खोजे?

राघवशरण : हूँ...तो संसार जिस धुरी पर, विधान और व्यवस्था के जिस आधार पर स्थिर है, उसमें तुम्हारा विश्वास नहीं। प्रवृत्तिवाद और संदेह वाद जो तुम लोगों ने पश्चिम से सीखा है, तुम्हारे लिए सब से बड़ा अध्यात्म हो रहा है। तुम समझते हो, वह तुम्हें प्रेम कर रही है, लेकिन यह सम्भव नहीं।

प्रकाशचंद्र : सो क्यों?

राघवशरण : इसलिए कि यह अंग्रेजी पढ़ी लड़की, जो अपने बाप के साथ विलायत गयी थी, अपने बाप के वहीं मर जाने पर अपने दो बैरिस्टर मित्रों के साथ देश लौटी, अंग्रेज लड़कियों की नकल पर दोनों के साथ खिलवाड़ करती रही! उन अभागों ने समझा कि वह उनको प्रेम कर रही है। वे आपस में प्रतिद्वंद्वी बन बैठे। (पेड़ की ओर हाथ उठा कर) यहीं, इसी पेड़ के नीचे, उसने रिवाल्वर चलाया था (कनपटी पर हाथ रख कर) ठीक यहाँ गोली लगी। वह मरा और वह काले पानी गया। अभी हाल में सम्राट की राजगद्दी की खुशी में जो कुछ कैदी छूटे हैं, उनमें वह भी छूट कर आ गया है!

प्रकाशचन्द्र : (उद्वेग के स्वर में) आ गया है छूट कर?

राघवशरण : हाँ... (पेड़ की ओर हाथ उठा कर) देखा नहीं दोपहर को वहाँ। जिसको तुमने पागल बनाया था, वह जो अभी शाम को नदी के किनारे पर लेटा हुआ था।

प्रकाशचन्द्र : मैं तो उसे कई बार यहाँ बैठे देख चुका हूँ।

राघवशरण : हाँ, उसे लौटे दो महीने हुए। दिन में एक बार यहाँ आता है।

प्रकाशचन्द्र : उसके घर कोई नहीं है?

राघवशरण : (मकान की ओर हाथ उठाकर) यह घर उसी का है। इस लड़की से उसकी शादी हो गई थी और उसी अधिकार से वह इस घर में है {प्रकाशचंद्र वहीं धरती पर बैठ कर घुटनों पर सिर रख देता है} इसीलिए तो कह रहा हूँ, विधान मानना होगा। निवृत्ति का स्थान प्रवृत्ति के बहुत ऊपर है। व्यक्ति का कल्याण इसी में है कि वह संयम करे। शास्त्र तो पुराने हो गये, लेकिन सिद्धांत अभी नये हैं।

{राघवशरण टहलता हुआ कुछ दूर निकल जाता है। मकान का दरवाजा खुलता है। भीतर से रोशनी निकल कर बाहर कुछ दूर तक फैल जाती है। सफेद साड़ी पहने एक स्त्री निकलती है, जो प्रकाशचन्द्र के पास आकर खड़ी होती है। थोड़ी देर तक वह उसकी ओर देखती रहती है--फिर वहीं बैठ कर उसके कंधे पर हाथ रख देती है। }

प्रकाशचंद्र : कौन ? मायावती {फिर उसी तरह घुटनों पर सर रख देता है}

मायावती : जी, तबियत कैसी है ? अभी कुछ सोचना ठीक नहीं है। बीमारी फिर बढ़ जायेगी।

{प्रकाशचन्द्र **उसके** मुँह की ओर ध्यान से देखने लगता है}

कोई चिन्ता है क्या ?

प्रकाशचन्द्र : {उसकी और ध्यान से देखता हुआ} माया...

मायावती : जी...

{ प्रकाशचन्द्र फिर उसी तरह घुटनों पर सिर रख देता है। मायावती थोड़ी देर तक उसके पास चुपचाप बैठी रहती है। राघवशरण एक ओर से घूमता हुआ वहाँ आकर खड़ा होता है। दूर पर कोई बाँसुरी बजाने लगता है, जिसका स्वर क्रमश: ऊँचा होता जाता है। }

राघवशरण : {प्रकाशचंद्र के सिर पर हाथ रख कर} चलो जी...चलो, वह सुनो, बाँसुरी बज रही है।

मायावती : बजानेवाला...कौन...

राघवशरण : तुमने उसे देखा है...उसकी बाँसुरी सुनी है। तुम्हारे लिए वह अपरिचित नहीं है।

मायावती : संभव है, वह मेरा परिचित हो। प्रश्न तो यह है कि मेरे परिचितों में वह कौन है ? साथ ही साथ, आपके शब्द तो व्यंग्य के मालूम होते हैं।

राघवशरण : यह तो स्वभाव है। मुझे जो कुछ कहना होता है साफ कहता हूँ।

मायावती : आपका यह स्वभाव औरों के लिए घातक हो सकता है।

राघवशरण : विशेषत: तुम्हारे लिए...

मायावती : मेरे लिए नहीं...आपका स्वभाव मैं बहुत दिनों से जानती हूँ। मुझे इस बात की जरूरत नहीं मालूम हुई कि {प्रकाशचंद्र की ओर संकेत कर} इन्हें भी सावधान कर दूँ। मेरा और आपका जीवन प्राय: एक सा रहा है। हम दोनों उपदेशक हैं। हम दोनों दार्शनिक हैं। जिन्दगी की बिजली वज्र का आघात हम दोनों ने बर्दाश्त किया है। हम दोनों ही क्रूर हैं। {प्रकाशचंद्र की ओर

संकेत कर} इनकी बात दूसरी है। इनका हृदय, इनकी आत्मा, इनका शरीर सब कुछ कोमल है। संसार न तो इनके लिए है और न ये संसार के लिए हैं। संसार का दिलबहलाव इनसे हो सकता है...होता है...आपका...मेरा... सब किसी का, बस यही इनकी जरूरत है, आपके लिए मेरे लिए...सब किसी के लिए। आप इनसे सावधान रहें। इनको आघात न लगे। जिस अंश में ये संसार के हैं, उसी अंश में आपके हैं और उसी अंश में मेरे भी हैं।

राघवशरण : {गंभीर मुद्रा में उसकी ओर देखता हुआ} यह आशा तो मुझे न थी।

मायावती : क्या?

राघवशरण : यही कि किसी स्त्री के मुख से मुझे इतना बड़ा व्याख्यान सुनना होगा!

मायावती : मुझे भी आशा न थी।

राघवशरण : कैसी आशा...?

मायावती : यही कि मुझे किसी पुरुष के मुख से उसका इतना आत्मज्ञान सुनना होगा।

{प्रकाशचन्द्र उठकर एक ओर को चल देता है}

राघवशरण : इस खेल का यहीं अन्त कर दो। इसी में भलाई है।

मायावती : किसकी...

राघवशरण : तुम्हारी...

मायावती : हर्गिज नहीं। आपकी। आप अपनी ओर देखिये। आप कितने बड़े भ्रम में पड़ गए हैं। आप सझमते होंगे...

राघवशरण : क्या?

मायावती : वह देखिए कहाँ जा रहे हैं? उन्हें सम्हालिए। मेरा और आपका समझौता तो हो ही जायगा। इसमें इतनी जल्दी क्या है? मैं यह तो नहीं कहती कि मैंने उनकी सब ओर से भलाई की है। लेकिन उन्हें जो इतनी कीर्ति मिली है, उसका कारण...

राघवशरण : उसका कारण बहुत कुछ तुम हो, यही न? लेकिन, अखबारी कीर्ति और सामाजिक कीर्ति में बहुत कुछ अन्तर है।

मायावती : जिस चीज को आप सामाजिक कीर्ति कहते हैं, उसका सम्बन्ध इस युग में चालीस-पचास वर्ष की जिंदगी से है। लेकिन आज जो अखबारी कीर्ति है, वह अक्षय और अमर है। एक के लिए दूसरी को छोड़ना पड़ता है।

राघवशरण : इन दोनों का समन्वय किया जा सकता है।

मायावती : जी हाँ, सोने को लुट जाने के भय से कोयले में रखा जा सकता है। कोई बुराई नहीं। लेकिन सोना है नहीं इसके लिए। जब कभी वह कोयले से अलग किया जाएगा, उसके लुट जाने का भय पैदा हो जाएगा।

राघवशरण : लेकिन वह लौट आया?

मायावती : कौन?

राघवशरण : वही कालेपानी का मुलजिम...

मायावती : जानती हूँ...

राघवशरण : यह बाँसुरी उसी की बज रही है।

मायावती : हाँ...है उन्हीं की...

राघवशरण : वहाँ नदी के किनारे बजा रहा है। उस एकान्त में...जहाँ मनुष्य नहीं हैं। (ऊपर हाथ उठा कर) ये असंख्य नक्षत्र और चन्द्रमा। आगे नदी बह रही है। उसके चारों ओर एक दम सुनसान सन्नाटा है। वह अपराधी इस आज की लुभावनी प्रकृति का राजा बन बैठा है। और तुम...

मायावती : मैं क्या .

राघवशरण : तुम यहाँ हो ?

मायावती : तब...?

राघवशरण : तुम्हारा उससे विवाह जो हुआ था ?

मायावती : कभी नहीं। कोई पुरुष पैदा नहीं हुआ, जिसके साथ मेरा...{सिर हिला कर आवेश के स्वर में} मेरा विवाह होता !

राघवशरण : तुमने तो इसी अवस्था में तीन-तीन विवाह किये ?

मायावती : (हँसती हुई) जी नहीं। इस देश में विवाह का जो आदर्श है...स्त्री-पुरुष का, दो जीवन और दो आत्माओं का, मिल कर एक हो जाना... उनकी व्यक्तिगत भिन्नता का नाश, और एक सम्मिलित व्यक्तित्व का उदय, इसका अवसर मुझे नहीं मिला। मेरा विवाह तो अंग्रेजी ढंग का हुआ था, जिसमें संदेह है, डाईवोर्स है, पुरुष के प्रति प्रतिहिंसा है। जिसके मूल में ही यह भावना है कि बच्चे न पैदा हों, किसी तरह का बंधन न हो। {पेड़ की ओर हाथ उठा कर} उस हत्या के बाद मुझे होश हुआ। लेकिन अब तो रास्ता नहीं था न ? जिनके यहाँ मुर्दे कयामत तक कब्र में पड़े रहेंगे और कयामत के बाद जगाये जायेंगे और तब उनका हिसाब होगा...वे जो चाहें करें। वे बहुत कुछ बुरा-भला कर सकते हैं, उनके लिए कोई जल्दी नहीं है। लेकिन हमारी तो क्षण-भर की चूक का फल हमें जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है। हमारी आशा है कहाँ ? हमारी मुक्ति होगी कब ?

{एकाएक चुप होकर वहीं धरती पर लेट रहती है। राघवशरण उसकी ओर थोड़ी देर तक देखता रहता है। मायावती करवट घूमकर दाईं बाँह से अपना मुँह घेर लेती है। बाँसुरी उसी तन्मयता के साथ बज रही है। राघवशरण ऊपर आकाश की ओर देखने लगता है।}

राघवशरण : तो कदाचित् मैं भ्रम में था। पश्चात्ताप अगर है...

मायावती : {उसी तरह लेटी हुई} जी नहीं, मेरे लिए उसका अवसर नहीं है।

राघवशरण : तब...

मायावती : जो हो...

राघवशरण : ऐं...

मायावती : मुझे धोखा हुआ। अब मुझे अपनी बुद्धि का विश्वास नहीं है। स्त्री की बुद्धि का भरोसा तो... (चुप हो रहती है।)।

राघवशरण : सरकार स्त्रियों को पृथक अधिकार दे रही है। व्यवस्थापिका सभाओं में पुरुषों के साथ-साथ विधान और व्यवस्था का काम उन्हें दिया जा रहा है। इस युग के मनोवैज्ञानिक स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में अधिक बुद्धिमती और क्रियाशील कह रहे हैं।

मायावती : नये युग के इन नये प्रयोगों का परिणाम अच्छा नहीं होगा ? मेरे लिए तो अच्छा नहीं हुआ। विलायत में मैं उन दिनों पाँच वर्ष तक स्त्री संघ की सदस्या रही। उन नये विचारों का तूफान लेकर जो मैं इस देश में आई...यहाँ का दाम्पत्य जीवन मुझे गुलामी, मूर्खता और जातिहीनता का परिचायक प्रतीत होगा। मैंने चाहा यहाँ स्त्रियों के लिए आदर्श बनना। अपनी स्वतंत्रता की धुन में नयी सभ्यता और नयी रोशनी की चमक-दमक नें, आज अनुभव हो रहा है, में अंधी हो गयी थी। पुरुष और स्त्री का द्वन्द्व, समानता का अधिकार पश्चिम की हवा है। यह हवा यहाँ पहुँच कर हमारे दाम्पत्य, हमारे सामाजिक जीवन की सब से बड़ी समस्या हो रही है।

राघवशरण : इतना समझ कर प्रकाश से विवाह करने की क्या जरूरत थी ?

मायावती : इसका जवाब मेरे पास तो नहीं है।

राघवशरण : कुछ तो कहना होगा!

मायावती : जी, यही तो बुराई है। स्त्री पुरुष को क्यों चाहती है ? इस विषय पर तर्क नहीं किया जा सकता। अपनी सफाई मैं यों दूँगी...मैंने उन्हें अपने पुरुष के रूप में नहीं ग्रहण किया।

राघवशरण : तब...

मायावती : मुझे किसी साथी की जरूरत थी। पुरुष की नहीं। जिस योग्य मैं नहीं थी, वह मैं करती कैसे ? इस बार तो मैं सचेत थी। मुझे जरूरत थी कि मैं अपना नाश कर डालूँ। अपनी स्वतंत्रता का, अपनी नयी सभ्यता और दंभ का। मुझे जरूरत थी पुरुष की, जो पुरुष होते हुए भी पुरुष न हो। जिसके साथ शारीरिक सुख-भोग और रसमय जीवन की आशंका न हो। जिसकी इतनी चिंता करनी पड़े कि उससे कुछ लेने, माँगने या आग्रह करने का अवसर ही न मिले। संतोष है, मुझे वह मिल गया। सेवा करना मैं चाहती थी, कर रही हूँ। स्त्री को अवसर मिल सके कि वह पुरुष की सेवा करे। संसार जब इन नये प्रयोगों से ऊब जायेगा, इस प्रयोग की ओर झुकेगा।

राघवशरण : अच्छा हो तुम इस बात का प्रचार करो।

मायावती : जी नहीं, जो प्रकृति है, प्रचार उसका नहीं किया जा सकता और न होना चाहिये। यों तो प्रकृति के नाम पर आज के सभी प्रचार प्रकृति के विरुद्ध हो रहे हैं। (एकाएक उठ कर खड़ी होती हुई) वह गये कहाँ ?

राघवशरण : होंगे कहीं...इतनी घबराहट की क्या जरूरत है ?

मायावती : यही तो इन दिनों मेरी जिन्दगी है। न मालूम क्यों मुझे इस बात की आशंका हो उठती है कि कहीं उनकी कोई बुराई न हो जाय। (मुस्कराकर) मैं साल के

सभी व्रत रखती हूँ, जो यहाँ स्त्रियाँ रखती हैं। जिस बात को मैं पहले अंध-विश्वास और मूर्खता समझती थी, अब उनकी सचाई का अनुभव कर रही हूँ। स्त्री पुरुष की मंगल-कामना से व्रत रखती है...निर्जल, निराहार कभी-कभी दो दिन बीत जाते हैं। इसका आध्यात्मिक और मनौवैज्ञानिक प्रभाव पुरुष पर पड़ता है, इसमें संदेह नहीं। साथ ही प्रवृत्तियों का संयम भी होता है।

राघवशरण : इसका मतलब यह है कि तुम कुछ नहीं हो, जो मैं समझता था।

मायावती : ऐसा तो नहीं। मैं तो वह सब कुछ हूँ, जो आप समझते थे। {राघवशरण संदेह से उसकी ओर देखता है।} कदाचित् आप को संदेह या विस्मय हो रहा है। मुझसे जो कुछ हो गया...मेरा हो गया। उसमें मैं छूट तो नहीं सकती न? इस जीवन में तो नहीं। इसलिए मैं वह सब कुछ हूँ, जो कि आप समझते थे। आप समझते हैं, सुधार से सब कुछ हो सकता है...पैबंद से काम चल जाय...कपड़ा नया नहीं होता। मैं तो पुनर्निर्माण और पुनर्जन्म चाहती हूँ। सुधार इस जीवन का नहीं उस आने वाले जीवन का करना होगा और मैं यही कर रही हूँ। अपनी आत्मा से, अपने हृदय से उन सभी संस्कारों को निकाल रही हूँ, निकालना चाहती हूँ जिनका मोह इस जन्म में इतना प्रबल रहा है। मेरी इच्छा है, मैं जिस समय मरने लगूँ, केवल एक अपढ़, गँवार हिन्दू स्त्री रहूँ।

राघवशरण : तो कदाचित् तुम स्त्री-शिक्षा का भी विरोध करती हो।

मायावती : बिलकुल शिक्षा का नहीं। उसके परिणाम और उसकी प्रणाली का।

राघवशरण : हूँ...

मायावती : जी...जिन दिनों मैं इतिहास पढ़ती थी...एलिजाबेथ का चरित्र मेरे लिए विस्मय और आदर्श का उपादान हो रहा था...जोसेफाइन मेरे लिए एक सुन्दर पहेली...सुन्दर समस्या थी। यूरोप के नारी-सुधार-आंदोलन में जिन स्त्रियों ने भाग लिया था, उन्हें मैं देवी समझती थी। लेकिन क्या सभी कहीं आत्म-वंचना और दंभ, स्वतंत्रता के नाम पर वासना की अभितृप्ति नहीं थी? जो चीज एलिजाबेथ के चरित्र की विभूति समझी जाती है, असल में उस मायाविनी का सबसे बड़ा कलंक भी वही है। उसके कौमार्य का अर्थ क्या था? ब्रह्मचर्य या व्यभिचार?

राघवशरण : इस प्रकार उत्तेजित न हो उठो!

मायावती : चाहती तो यही हूँ। लेकिन अपने को रोक नहीं पाती। {छाती पर हाथ रख कर} बाढ़ आई है। बाँध अगर न टूटा, तो इधर का सब डूब जाएगा! इस शिक्षा से मेरा स्त्रीत्व तो बिगड़ गया...लेकिन मिला क्या?

राघवशरण : कुछ नहीं?

मायावती : कुछ नहीं। रक्त की उत्तेजना को, जवानी की वासना और उन्माद की अंग्रेजी पढ़ी सभी लड़कियों की तरह मैंने भी नारी-स्वतंत्रता और नारी-समस्या कह कर दुनिया को हिला देना चाहा था।

राघवशरण : लेकिन, अब तो तुम्हें उसका पछतावा है।

मायावती : लेकिन इससे होता क्या है ? इस पछतावे का अब फल क्या ? पछतावा पाप धो डालता है, यह तो ईसाइयों की बाइबिल है। सब कुछ करके अपने खुदा से माफी माँगते है, उनके खुदा का लड़का उन्हें माफ करा भी देता है। हमारी नियति तो क्षमा नहीं करती। उसका विधान तो दंड है...इस जन्म के लिए उस जन्म में, उस जन्म के लिए इस जन्म में। पूर्वजन्म के कार्मों के अनुसार हमें फिर जन्म लेकर उसका भोग भोगना पड़ता है। यही तो हमारा वैज्ञानिक सत्य है।

राघवशरण : हाँ।

मायावती : तब आप किस चिंता में पड़े हैं... (हँसती हुई) कयामत तक मुझे कब्र में नहीं रहना है। मैं जहाँ हूँ, वहीं रहूँगी। न मालूम कितनी बार पैदा होना है... माला की असंख्य मनियों में अगर एक फूट गई, दूसरी लगा दी जाएगी। (सिर हिला कर) है ठीक न ? {राघवशरण गंभीर होकर कुछ सोचने लगता है} तो आप विचार करने लगे। आप ने अपना सुधार किया है, आप समझते हैं, आप का पाप धुल गया। लेकिन मैं ऐसा नहीं समझती। जो बिगड़ गये, उनकी आशा न कीजिये...जो आनेवाले हैं उनसे सावधान रहिये...वे न बिगड़ें। मुझे या आपको इस जीवन में मुक्ति नहीं मिल सकती।

राघवशरण : संभवतः

मायावती : संदेह है...

राघवशरण : क्यों ?

मायावती : ऐसा नियम नहीं...

राघवशरण : क्यों ?

मायावती : इसलिए कि हम कयामत तक कब्र में सोने वाले नहीं है !

राघवशरण : (हँसते हुए) वाह तुमने तो...

मायावती : (गंभीर होकर) जी...

राघवशरण : तो शायद तुम जीत जाओगी। सामाजिक मर्यादा और विश्व-विधान के उस पार तुम्हारा व्यक्तित्व पहुँच जायेगा।

मायावती : इस जीत और हार का मोह व्यर्थ है। सामाजिक मर्यादा : विश्व-विधान ऐसी चीजें नहीं हैं, जो तोड़ी जायँ। व्यक्तित्व का विकास इनके भीतर हो, यही अच्छा है। लेकिन अगर कोई इसे तोड़ दे। वह बुरा भी हो सकता है...भला भी हो सकता है...यह तो परिस्थिति पर निर्भर है। मनुष्य मजबूर होकर कभी ऐसी बातें कर बैठता हैं जो साधारणतः उससे नहीं होनी चाहिये। मनुष्यता की यह विडम्बना धार्मिक संस्कारों से मिट सकती है। अपनी ही भलाई, अपनी ही रक्षा के लिए मनुष्य ने अपने लिए बंधन बनाया था। मैंने तोड़ तो दिया, लेकिन समाज और संस्कार के बंधन मैं उपयोगी समझती हूँ।

{धरती पर बैठ कर आकाश की ओर देखने लगती है। राघवशरण कुछ देर तक खड़ा रहता है फिर एक ओर निकल जाता है। उसके चले जाने पर मायावती आकाश की ओर मुँह कर वहीं लेट रहती हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में उसका शीशफूल और नाक की कील चमक उठती है। उसकी अवस्था शारीरिक दुर्बलता के कारण अधिक मालूम हो रही है, लेकिन तब भी उसकी जवानी का उतार नहीं कहा जा सकता। उसका पीला कोमल शरीर आकर्षक और मोह का उद्दीपक अब भी है। लम्बी बड़ी आँखें, उनके नीचे पतली रेखा उसकी चिंता प्रकट कर रही हैं। वह चुप-चाप आकाश की ओर देखती रहती है। प्रकाशचंद्र का प्रवेश। वह उसके पास जाकर खड़ा होता है और उसके मुँह की ओर देखने लगता है। दोनों उसी दशा में थोड़ी देर तक देखते रहते हैं। }

मायावती : (उसी तरह लेटी हुई) कहाँ गये थे ? {प्रकाशचन्द्र चुप रहता है} बोलो भी ? {प्रकाशचन्द्र एक ओर, जिधर बाँसुरी बज रही है, हाथ उठाकर संकेत करता है} किसलिए ?

प्रकाशचन्द्र : (चिंता के स्वर में) जिधर बाँसुरी बज रही है।

मायावती : नदी किनारे...?

प्रकाशचन्द्र : हाँ...

मायावती : अकेले ?

प्रकाशचंद्र : हाँ...

मायावती : डरे नहीं ?

प्रकाशचंद्र : नहीं।

{थोड़ी देर तक फिर दोनों चुप रहते हैं। }

मायावती : उद्विग्न देख पड़ते हो !

प्रकाशचंद्र : संभव है।

मायावती : (चौंककर उठती हुई) ऐं ! हुआ क्या जी ? {उसके कंधे पर हाथ रख कर} विरक्त न होना मुझ से। तुम्हारे ही सहारे पर जीवन चल रहा है। नहीं तो अब तक तो...

प्रकाशचन्द्र : तुमने मुझे धोखा दिया। मुझे क्या पता कि तुम विवाहित हो। और तुम्हारे कारण...

मायावती : (गंभीर मुद्रा में) मैंने तुमसे कभी कोई इच्छा नहीं प्रकट की। पाँच वर्ष बीत गये...तुमने मुझे कभी कुछ दिया ? कुछ भी ? तुम्हारी सेवा में ही मुझे जो कुछ मिला हो...चाहे जितना सुख और संतोष। मुझे इतने का भी अधिकार नहीं था क्या ?

प्रकाशचन्द्र : जानती हो यह बाँसुरी कौन बजा रहा है ? वहाँ नदी किनारे ? {मायावती धरती को ओर देखती हुई चुप रहती है} बोलो भी ? संदेह का आघात मेरा हृदय नहीं सह सकता !

मायावती : तुम से झूठ न बोलूँगी।

प्रकाशचंद्र : अच्छा तब...

मायावती : इस समय नहीं। कल सबेरे पूछ लेना। वह कौन है ? उसकी परिभाषा के लिए मुझे शब्द खोज़ने पड़ेंगे।

प्रकाशचन्द्र : तुमने मुझसे कहा क्यों नहीं ?

मायावती : मैं यह समझती थी और अब भी समझती हूँ कि संसार की छोटी बातें तुम्हें न छू सकेंगी। तुम स्वर्ग के वज्र हो, जो कभी-कभी धरती छू लेता है। तुम्हारी इच्छा निष्काम है, क्योंकि तुम रचयिता हो, तुम्हारी कल्पना सजीव और सत्य चरित्रों का निर्माण कर सजीव और सत्य जगत् का निर्माण करती है। मैंने जो कुछ भी किया हो, क्या उसका स्थान तुम्हारी कल्पना में नहीं है ?

{ प्रकाशचंद्र चुप होकर आकाश की ओर देखने लगता है। मायावती उसकी छाती पर अपना सिर रख देती है। प्रकाशचंद्र की दोनों बाहें उसके कंधे से होती हुई उसकी पीठ पर आ जाती हैं। }

{ पर्दा गिरता है }

दूसरा अंक

*

[वही मकान जिसके सामने के तीन दरवाजे खुले हैं मकान के आगे की ओर एक ही बड़ा कमरा या दालान है जिसमें ये तीन दरवाजे लगे हैं। कमरे में विशेष आडम्बर की कोई चीज नहीं है। नीचे पूरे कमरे में एक दरी बिछी है। बीच वाले दरवाजे के ठीक सामने एक रंगीन छोटा कालीन और उस पर पिछली दीवार की ओर एक छोटी मसनद, एक ओर काठ की एक चिकनी चौकी, जिसकी लम्बाई प्राय: डेढ़ हाथ और चौड़ाई एक हाथ है। चौकी के ऊपर कुछ लिखे हुए पन्ने इधर-उधर पड़े हैं। कई पन्ने पीछे की ओर और कई आगे फर्श पर गिरे पड़े हैं। पिछली दीवार में मकान के भीतर जाने का दरवाजा है जो बाईं ओर कोने के पास है। वही रात है। बादल निकल गये हैं। चाँदनी और निखर गई है। चौकी के पीछे काठ की दीवार पर दीपक जल रहा है, जिसकी लौ हवा की चाल के अनुसार घट बढ़ रही है। कमरे में इस समय कोई नहीं हैं।

बाहर की ओर से राघवशरण का प्रवेश। राघवशरण बीच वाले दरवाजे से भीतर आकर कालीन के पास खड़ा होता है। एक ओर घूमकर दीवट के पास पहुँचता है और दीपक की बत्ती बढ़ाता है, रोशनी बढ़ जाती है। कमरे में ध्यान से इधर-उधर देखता है। उसके चेहरे से विस्मय और सन्देह की रेखा प्रकट होती है। कमरा पार करता हुआ पिछले दरवाजे से भीतर निकल आता है। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहता है।

मायावती और राघवशरण भीतर दरवाजे से प्रवेश करते हैं। मायावती कमरे के सामने, बाहर निकल कर, ऊपर आकाश की ओर देखती है।]

राघवशरण : क्या देख रही हो ?

मायावती : रात कितनी बीत गई।

राघवशरण : तुम्हारे पास घड़ी है।

मायावती : थी तो...

राघवशरण : क्या हुई...?

मायावती : फेंक दी...

राघवशरण : क्यों ?

मायावती : (गंभीर होकर) घड़ी से जीवन की स्वाभाविकता बिगड़ जाती थी। समय की बिल्कुल सही जानकारी व्यर्थ है। जिन लोगों ने संसार को एक बड़ा कारखाना बना लिया है, उनके लिए यह जरूरी है, सब के लिए नहीं। यहाँ आइये। {राघवशरण उसके पास जाकर खड़ा होता है। मायावती आकाश की ओर हाथ उठा कर संकेत करती है} देख रहे हैं, वह छोटे-छोटे तारे, जो एक-दूसरे के बिल्कुल पास होने के कारण खिले हुए फूल के एक गुच्छे की तरह हो गये हैं,

{दूसरी ओर हाथ उठा कर} और तारों की वह हीन रेखा, रात को घड़ी का काम इन दोनों से चल जाता है। दिन के लिए तो सूर्य है ही। प्रकृति की घड़ी से समय का काम चल जाता है। कल-पुर्जों की घड़ी एक तो बनती बिगड़ती रहती है, इसके अलावा...इसके अलावा वह मौलिक बुद्धि का नाश कर मन को नीरस कर देती है। आज कल जिस चीज को सभ्यता कहते हैं, वह कितनी नीरस है? {गंभीर होकर सोचने लगती है}

राघवशरण : सन्देह हो रहा है तुम करना क्या चाहती हो?

मायावती : मैं...

राघवशरण : हाँ...तुम!

मायावती : आत्महत्या! जानती हूँ इस प्रकार मैं मुक्त तो न हो सकूँगी। मेरा बोझ और अधिक बढ़ जायगा। लेकिन यह जीवन शायद इसीलिए था। आपने अभी देखा है उन्हें। उनकी बीमारी कुछ समझ में तो आती नहीं। रोग का शारीरिक लक्षण तो कोई है नहीं।

राघवशरण : नहीं।

मायावती : लेकिन वह बीमार हैं। क्षण भर में ही उनका मरने लगना...इतनी बेचैनी...मन को कुछ भी आघात पहुँचा...नाड़ी की गति साधारणतः दूनी हो गयी, हाथ-पैर ठंडे हो गये, अब-तब की नौबत आ गयी, यह है क्या?

राघवशरण : इसके लिए तुम क्या कर सकती हो?

मायावती : लेकिन यह बीमारी यहीं आने पर उनको होने लगी। {पेड़ की ओर हाथ उठा कर} विशेषतः उस पेड़ के नीचे...उस जगह जब कभी जा पड़ते हैं, दौरा आ जाता है। इस समय तो अवस्था प्रायः सुधर गयी है। दो घंटा पहले तो ऐसा मालूम होता था, अब न बचेंगे।

राघवशरण : मानसिक बीमारियाँ ऐसी ही होती हैं।

मायावती : इनकी बीमारी और इस पेड़, इसकी आस-पास की धरती और मुझसे विशेष सम्बन्ध है, कदाचित् सभी मानसिक बीमारियों में कोई न कोई ऐसी ही परिस्थिति होती होगी।

राघवशरण : (विस्मय के स्वर से) ऐं, तुम्हारा मतलब...?

मायावती : इसी पेड़ के नीचे वह घटना जो हुई थी! (गंभीर होकर) शायद वह यहीं इसी पेड़ पर है। {चुप हो जाती है और पेड़ की ओर स्थिर दृष्टि से देखने लगती है}

राघवशरण : ओह! तो तुम पुनर्जन्म के साथ ही साथ प्रेतात्मा में भी विश्वास करती हो।

मायावती : यही तो समस्या है। अभी तक इसी का निश्चय नहीं कर सकी। पुनर्जन्म तो वैज्ञानिक सत्य है ही...प्रेतात्माओं के सम्बन्ध में (कुछ सोचती हुई) भी सर ओलिवर लाज सरीखे प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने बहुत कुछ कह दिया है। कदाचित् सभी मानसिक बीमारियों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रेत से है।

राघवशरण : छिः, इस युग में यह भावना...

मायावती : (उद्वेग के स्वर में) तो आप प्रेत की सत्ता से इन्कार करते हैं।

राघवशरण : जरूर...

मायावती : तब तो आप नास्तिक हैं।

राघवशरण : अरे! ईश्वर और प्रेत दोनों एक ही हैं क्या?

मायावती : देखिये, भावनातोदोनोंहीकीएक है।इस युग में जो नास्तिक हैं, वे प्रेत हर्गिज नहीं मानते।

राघवशरण : लेकिन वे, जो सभ्य हैं, प्रेत नहीं मानते।

मायावती : हाँ, लेकिन वे, जो सभ्य हैं, ईश्वर भी नहीं मानते। संसार अब तक जो मानता आया है, उसे न मानना ही तो सभ्यता है। आज कल मानना या न मानना तो शब्दों पर निर्भर है, जिसे मैं सीधे शब्दों में आत्म-वंचना या अपने तईं धोखा देना कह सकती हूँ। भूत न मानने वाले आज के सभ्य मनुष्य कितना अधिक भूत से डरते हैं, अँधेरी रात में घर से सौ गज दूर जाना उनसे अकेले नहीं हो सकता...हवा की आहट भी उनके लिए खतरे की घंटी हो जाती है। लेकिन वह जो भूत मानते थे, उनके पास भूत की दवा भी थी। वे बातों के बड़े और आत्मा के छोटे न थे। (आवेश के स्वर में) श्मशान के भीतर, आधी रात को, अँधेरी रात में मुर्दे की छाती पर बैठ कर शक्ति की आराधना करने वाले, सम्भव है, मूर्ख रहे हों, लेकिन कौन कह सकता है कि इस प्रकार प्रकृति में जो भीषण है, उसके ऊपर उनको विजय नहीं मिलती थी, उनका व्यक्तित्व मनोविकारों के ऊपर नहीं उठ जाता था? जिस चीज की धारणा हमारे पास नहीं है, वह सब गलत है, यह कैसे कहा जाय? अदालतों में न्याय करने वाले और तर्क करने वाले शिक्षालयों में पढ़ने वाले और पढ़ाने वाले, मनुष्य हैं? अगर हैं तो इनका व्यक्तित्व कहाँ है?

राघवशरण : अच्छा तो तुम समझती हो कि वही...

मायावती : जी हाँ, मैं समझ रही हूँ उसकी अकाल मृत्यु हुई थी। वह प्रेत होकर मेरा ध्वंस कर रहा है। उसकी लालसा उसके साथ जो गयी।

{ऊपर से कोई आवाज आती है। मायावती चौंक पड़ती है और दौड़ती हुई भीतर चली जाती है। राघवशरण भी तेजी से उसके पीछे जाता है। }

मायावती : (नेपथ्य में) कोई सपना देख रहे थे क्या? इस प्रकार चिल्ला क्यों पड़े?

प्रकाशचन्द्र : (टूटे हुए शब्दों में) हाँ...मालूम...हु...आ...जै...से कोई...

राघवशरण : चित्त शान्त करो। तुम्हें क्या मालूम हुआ? इस तरह जोर से साँस क्यों ले रहे हो? शान्त हो शान्त। इस तरह चारों ओर देख क्यों रहे हो? यहाँ कोई दूसरा नहीं है। हम लोग हैं...हम लोग!

मायावती : (भय के स्वर में) देखिये...देखिये...किस...तरह देख रहे हैं?

राघवशरण : प्रकाशचन्द्र! प्रकाश! प्रकाश! इधर देखो, इधर देखो मेरी ओर, मेरी ओर। उस पेड़ की ओर क्यों देख रहे हो?

प्रकाशचंद्र : वहीं...वहीं...वहीं...

राघवशरण : हाँ...हाँ...कहो!

प्रकाशचन्द्र : पानी...पानी...माया, पानी देना।

{थोड़ी देर तक सन्नाटा रहता है}

मायावती : लो पानी...यह ग्लास है। बार-बार उधर क्यों देख रहे हो? लो न पानी।

राघवशरण : उठो तो, उठो...मेरा हाथ पकड़ कर। अरे, इस तरह काँप क्यों रहे हो जी? उस पेड़ पर ऐसा क्या है कि तुम्हारी नजर उसी पर अड़ गई है।

प्रकाशचन्द्र : मैं सो गया था। मालूम हुआ जैसे कोई आदमी यहाँ चारपाई पर आगे आकर बैठ गया। मैं इस तरह पड़ा था कि...यहाँ यह जगह है न...यहाँ बैठ कर मेरे मुँह के पास झुक कर कहने लगा। नहीं जाओगे तुम यहाँ से...भाग जाओ। भाग जाओ। इस स्त्री को छोड़ कर भागो, नहीं तो तुम्हारी छाती चीर कर कलेजा निकाल लूँगा, इस तरह न मालूम और क्या-क्या कहता रहा। ओह! उसके मुँह से ऐसी दुर्गन्धि निकल रही थी, सिर में चक्कर आने लगा। घबरा कर मेरी आँखें खुल गईं।

राघवशरण : इस तरह काँप क्यों रहे हो?

प्रकाशचंद्र : यहाँ बैठिये, इस तरह मुझे पकड़ कर। मैं डर गया हूँ, डर गया हूँ।

राघवशरण : इस तरह न?

प्रकाशचन्द्र : हाँ, माया! यह दबाना जैसे खोपड़ी फूट रही है। हाँ...धीरे...से, नहीं ...जोर...से...जोर से और जोर से...

राघवशरण : अच्छा, तब क्या हुआ?

प्रकाशचन्द्र : तब, पकड़ लीजिये, मेरे रोयें फूट रहे हैं।

राघवशरण : इस तरह...

प्रकाशचंद्र : हाँ!

राघवशरण : कहो तब...

प्रकाशचंद्र : आँख खुली। कोई भयानक काला आदमी यहाँ बैठा था...इस जगह, उसका एक हाथ तो आगे यहाँ, दूसरा घूम कर यहाँ था...मेरी छाती उसके दोनों हाथों के बीच में आ गई थी...झुक कर मेरे मुँह की ओर देखता था ओह, उसकी काली लम्बी नाक मेरी नाक के बिलकुल पास थी, साँस से तो उसकी जैसे ऊपर से दुर्गन्धि की आँधी आ रही थी। उसके दो दाँत यहाँ तक ओठ के बाहर बरछे की तरह निकल गये थे और ओठों से जैसे खून चू रहा था। उसके बाल की लटें बँध गई थीं...कुछ तो आगे की ओर और कुछ बगलों में लटक रही थीं। ओह!

राघवशरण : हाँ...हाँ, इस तरह काँपने की क्या जरूरत है। डरो मत...हम लोग हैं, कोई बात नहीं।

प्रकाशचन्द्र : यों तो मैं कभी किसी देवता की पूजा नहीं करता। लेकिन उस समय अकस्मात् मेरे मुँह से ओम् जयशिव जयशिव निकल पड़ा। वह भयानक मूर्ति एकाएक आसमान में उठ गई। सीधी खड़ी मनुष्य की भयानक मूर्ति,

जिसकी दोनों बाहें फैली हुई पेड़ तक उठती चली गईं। मुझे तो अब भी वहाँ...उन दोनों डालों के बीच में वह मूर्ति जैसे खड़ी दीखती है।

राघवशरण : नहीं जी, कुछ नहीं, केवल भ्रम। तुम इस फेर में पड़ गये?

प्रकाशचन्द्र : मैं नहीं जानता क्या है? लेकिन मेरा अनुभव...

राघवशरण : हाँ...

प्रकाशचन्द्र : मैं सोया नहीं था। मैंने अपनी आँख से देखा, ओह!

मायावती : प्रतिहिंसा...मरने पर प्रेत होकर भी प्रतिहिंसा...

प्रकाशचन्द्र : प्रतिहिंसा...वहाँ किसी को कुछ नहीं देख पड़ता?

राघवशरण : नहीं जी, कहीं कुछ नहीं है। तुम्हारे दिमाग पर असर पड़ गया है।

{ नेपथ्य में सन्नाटा हो जाता है। पेड़ के पास आकर राधाचरण खड़ा होता है। }

राधाचरण : मैं यह नहीं मानता कि मैंने कोई विश्वासघात किया। विश्वासघात तुम दोनों ने किया, तुमने और माया ने...

{पेड़ की डाल हिलने लगती है} नहीं। सुनो! मैं जानता हूँ, इस समय तुम्हारी शक्ति मुझसे बढ़ गई है। लेकिन मैं डरता नहीं। भय न दिखाना मुझे। मैं रात को दो महीनों से नदी के किनारे सोता हूँ...तुम कई बार मुझे तंग भी कर चुके। और शायद मेरी ताकत का पता भी तुम्हें चल गया होगा। बुराई तुमने की थी। क्या कहा? नहीं। अरे भाई शायद तुम भूल रहे हो। हाँ, यह क्या? नहीं मानोगे। अच्छा देखो, मैं तुम्हें अभी बाँध लेता हूँ। अब कहो? छोड़ दूँ। अच्छा लो छोड़ तो देता हूँ लेकिन कभी अवसर पाकर धोखा न कर बैठना। जेन को देखने कभी नहीं गये थे? तुम तो जा सकते हो? तुम्हारे लिये पासपोर्ट की जरूरत न होगी कुछ काल के लिए यह जगह छोड़ दो। उसे देख आओ। वही जो कुछ समय के लिए हम लोग लीवरपूल गये थे वहाँ होटल में जो लड़की हम लोगों का खाना लाती थी। कभी-कभी चोरी से तुमको गुलाब के फूल दिया करती थी। जिसे मैनेजर ने एक बार पीटा था कि बिना उसकी आज्ञा वह तुमसे प्रेम करने लगी थी। (हँसता हुआ) जाओगे उसके पास न? {थोड़ी देर तक सन्नाटा रहता है। राधाचरण दोनों हाथों से पेड़ का तना पकड़ लेता है। पेड़ की कई डालें हिल उठती हैं} नहीं जा सकते?...क्यों? क्या, तुम भी स्वतन्त्र नहीं हो? अब देखा। समझता था, पहले से बली होगे। भोजन और जल बिना तुम्हारी यह दशा हुई? इस रूप में भी भूख और प्यास का अनुभव होता है? तुम्हें तो कोई रोक नहीं? अन्न और जल सब कहीं है। हूँ...तो तुम्हारे लिए भी रोक है। अच्छा तब...तो तुम तभी पा सकते हो जब तुम्हें कोई दे...कोई मनुष्य जब तुम्हारे निमित्त अन्न और जल की व्यवस्था करे। नहीं तो तुम्हें भूख-प्यास से मरना होगा?...वाह मर भी नहीं सकते। केवल उस अभाव का उस दुःख का अनुभव करना होता है।

{प्रकाशचन्द्र और मायावती का प्रवेश। प्रकाशचन्द्र कालीन पर बैठ कर चौकी पर लिखे हुए कागजों को बटोरने लगता है। कभी-कभी रुक कर मन ही मन कुछ पढ़ता जाता है। उसके चेहरे से उदासी और व्यग्रता प्रकट होती है। }

मायावती : (उसके पास बैठ कर) न हो यहीं सो रहो।

प्रकाशचन्द्र : अब...

मायावती : हाँ...हाँ...अभी आधी रात हुई है।

प्रकाशचन्द्र : नहीं! नींद नहीं आती। कुछ लिखूँगा!

मायावती : इस समय...आधी रात को?

प्रकाशचन्द्र : मैं जब बीमार पड़ता हूँ, तभी लिखने को जी चाहता है।

राघवशरण : वही दोनों। हाँ, वही...चलोगे वहाँ तुम। नहीं, नहीं। इसे क्यों सताओगे? उसका क्या अपराध है? वह कुछ जानता भी नहीं। मुझसे कई बार मिल चुका है, मैं तो उस पर दया करना चाहता हूँ। ओह! तो तुम उसे सता रहे हो।

मायावती : कमजोरी में?

राधाचरण : अभी-अभी तुमने उसकी साँस बन्द कर दी थी।

प्रकाशचन्द्र : शरीर के शिथिल हो जाने पर कल्पना जाग उठती है।

राधाचरण : लेकिन यह अन्याय है।

मायावती : तो तुम मुझे सचमुच छोड़ दोगे?

राधाचरण : यहाँ क्या हुआ, वह जानता भी तो नहीं?

प्रकाशचन्द्र : मैं यहाँ जी नहीं सकता?

मायावती : {उसके गले में हाथ डालकर} हम दोनों साथ ही मरते। साथ ही मरेंगे।

राधाचरण : उसकी कल्पना इतनी सजीव है, उसकी भावना इतनी सरस है कि मायावती ऐसी स्त्री का जादू उस पर असर कर जाय, उसके लिए स्वाभाविक हो उठता है। अच्छा तो...

प्रकाशचन्द्र : तुम सचमुच मुझे प्रेम करती हो?

{माया झुककर उसके पैर पर अपना सिर रख देती है। और सिसक-सिसक कर रोने लगती है।}

राधाचरण : तो तुम किसी प्रतिहिंसा में उसे कष्ट नहीं दे रहे हो। ऐं, किसी मनुष्य के संसर्ग में रहना चाहते हो और तुम्हें वही पसन्द पड़ा है।

प्रकाशचन्द्र : {उसके सिर पर हाथ रखकर} अगर तुम मुझे प्रेम करती थीं तो...(चुप हो जाता है)

राधाचरण : लेकिन वह तो तुम्हारे अन्न-जल की व्यवस्था नहीं कर सकता।

मायावती : तो क्या?

राधाचरण : इसलिए कि वह अपनी ही व्यवस्था नहीं कर सकता और फिर उसे यह मालूम भी कैसे होगा कि उसे कोई प्रेत दुःख दे रहा है?

प्रकाशचन्द्र : अगर तुम मुझे प्रेम करती थीं तो...(गम्भीर होकर) पाँच वर्ष बीत गया, लेकिन...

मायावती : लेकिन तुमने कभी कोई इच्छा प्रकट नहीं की...

राधाचरण : तुम इस स्त्री को...मायावती को क्यों छोड़ रहे हो?

प्रकाशचन्द्र : इसलिए कि तुम्हारे भीतर कभी वह इच्छा पैदा नहीं हुई जिसका आकर्षण मेरे मन, मेरे शरीर पर पहुँचता। यों तो तुमने मेरे साथ विवाह भी किया था।

राधाचरण : तो उस पर असर नहीं होता ?

मायावती : मैंने... किसी शारीरिक सुख के लिए नहीं... केवल तुम्हारे साथ रहने के लिए विवाह किया था। तुम्हारी सेवा में अपने को भूल जाने का विचार मेरा था। मैं समझती थी इस प्रकार मेरा स्त्रीत्व बिल्कुल निष्फल न जायगा। (कुछ सोचने लगती है)

राधाचरण : वह स्त्री भी एक समस्या है। न तो तुम उसे उस जीवन में अपने वश में कर सके और न इस जीवन में। तुम्हारे लिए वह सदैव अजेय रही। मेरे लिए पूछ रहे हो ? मैंने तो उसे क्षमा कर दिया। वह यहीं मेरे ही घर में एक दूसरे पुरुष के साथ रह रही है लेकिन मैं उसके लिए कोई भी अड़चन पैदा करना नहीं चाहता। मैं हत्यारा जो हूँ। मुझे स्त्री और घर की जरूरत नहीं है। मैं इस योग्य नहीं हूँ कि किसी मनुष्य के संसार में रह सकूँ।

मायावती : क्या सोच रहे हो ?

प्रकाशचन्द्र : यही कि मैं क्या करूँ ? {एक दूसरे की ओर देखने लगते हैं}

राधाचरण : देखो, मैं यहाँ न तो उसके लिए आया और न इस घर के लिए। मैं तो केवल इसलिए आया कि यह जगह {दो कदम पीछे हटकर} यहीं तुम्हें गोली लगी थी... देख लूँ। यह पेड़ देख लूँ। साथ ही लड़कपन में सुना था कि जो स्वाभाविक मृत्यु से नहीं मरते... जिनकी अकाल मृत्यु होती है, वे भूत होकर वहीं कहीं रहते हैं जहाँ कि उनकी मृत्यु होती है। काले पानी में मेरी आँखों के सामने यह पेड़, यह धरती और तुम्हारा यहाँ गिरकर छटपटाना आ जाया करता था। वहाँ का अंग्रेज अफसर मेरी अंग्रेजी का कायल था। मेरा काम था कैदियों के काम का हिसाब रखना। लिखते ही लिखते मैं कभी-कभी इन्हीं विचारों में डूब जाता था... वह हँस कर कहता था अपनी प्रेमिका की याद कर रहे हो ?

मायावती : (ऊँची साँस ले कर) तुम्हारा काम तो वही है जो ईश्वर का है। उसने अपनी माया का जगत् बना दिया। तुम भी अपना बना रहे हो। उसकी कोई अपनी इच्छा नहीं है, उसका कोई अपना व्यक्तित्व नहीं है, तुम भी अपनी इच्छा, अपना व्यक्तित्व मिटा डालो। वह अपने संसार में सर्वत्र सम-रूप से व्यक्त हैं... तुम भी अपने जगत् में व्यक्त हो उठो। तुम्हें और क्या चाहिये ?

{प्रकाशचन्द्र किसी गहरी चिन्ता में पड़ जाता है। मायावती नीचे की ओर देखने लगती है।}

राधाचरण : मेरे घर में परदादा की लिखी तन्त्र की एक पुस्तक थी। उसके बारे में घरवाले कहते थे कि उसमें ऐसी बातें लिखी थीं जिनसे प्रेत को वश में किया जा सकता था, पृथ्वी से धन निकाला जा सकता था। कोई कितनी ही दूरी पर हो उसको सन्देश भेजा जा सकता था और जिस किसी से भी इच्छित कार्य कराया जा सकता था। लड़कपन में इस पुस्तक के लिए... उसकी जानकारी

के लिए...तो मैं बड़ा उत्सुक था। उसके विचित्र चमत्कार मेरे मन में बैठ गये थे। लेकिन उस समय तो उसे छूने का भी अवसर मुझे नहीं था। लोगों की यह धारणा थी कि उसे छू देने वाला भी बीमार पड़ जायगा।

प्रकाशचन्द्र : तो मैं यहीं क्यों रहूँ? तुम्हारे साथ किसी तरह का विशेष सम्बन्ध क्यों रहे?

मायावती : छोड़ सकते हो यहाँ का रहना और मुझे भी। मैं तो केवल तुम्हारी सेवा, तुम्हारे उद्देश्य में तुम्हारी सहायिका रूप में रहना चाहती थी। जिस दिन तुम अपनी मनुष्यता छोड़ कर देवत्व की ओर बढ़ो, मैं स्वतः छूट जाऊँगी। इसके लिए कोई आयोजन नहीं करना पड़ेगा।

{प्रकाशचन्द्र ऊपर की ओर मुँह करके लेट रहता है। मायावती उसके दोनों पैर अपनी गोद में रखकर धीरे-धीरे दबाने लगती है।}

राधाचरण : मैं ज्यों-ज्यों अंग्रेजी पढ़ता गया, उस पुस्तक के विषय में मेरे विचार बदलते गये। विलायत में तो जब कभी उस पुस्तक की याद पड़ती थी, मैं अपनी मूर्खता पर मुस्करा पड़ता था। मेरी बुद्धि कहती थी वह पुस्तक और उसके सम्बन्ध की सभी बातें नितान्त असत्य हैं... असम्भव... हो नहीं सकता.. लेकिन मेरे मन में उसके प्रति कौतूहल किसी न किसी रूप में बराबर बना रहा।

प्रकाशचन्द्र : (उसी तरह लेटे हुए) माया...

मायावती : हाँ...

प्रकाशचन्द्र : मुझे ऐसा...

मायावती : हाँ, कहो...

प्रकाशचन्द्र : मुझे मालूम होता है, जैसे मेरा सारा जीवन भ्रम और संदेह का है। {एकाएक चुप हो जाता है}

मैंने जब यह मकान बनवाया, पुराने घर की और सब चीजें तो पड़ोसियों में बाँट दीं, केवल वह पुस्तक...

मायावती : कहो न!

प्रकाशचन्द्र : लिख तो मैं बहुत कुछ जाता हूँ, कभी-कभी अपने लिखने पर...अपनी सफलता पर विस्मय भी होता है, लेकिन मानता शायद मैं कुछ नहीं। वास्तव में, न तो मेरा कोई बड़ा उद्देश्य है और न मैं अपने प्रति ही ईमानदार हूँ।

राधाचरण : एक पंडित था। झाड़-फूँक का काम भी कुछ करता था। इस पुस्तक को माँगता ही रह गया। मैंने उसे दे देने को कहा भी, लेकिन तब भी उसका मोह मैं नहीं छोड़ सका और कोई झूठा बहाना निकाल कर बात टाल गया। लेकिन मैं सभ्य आदमी, उस तरह की पुस्तक अपने घर में तो रख नहीं सकता था। शायद कभी कोई मित्र देख लेता और मेरी हँसी होती। इसलिए {एक ओर आगे बढ़ कर} यहीं जो गढ़ा है, इसी जगह काठ की पिटारी में बन्द करके मैंने गाड़ दिया।

मायावती : जीवन में ऐसी विषमताएँ प्रायः आ ही जाती हैं। इसके विकास की कोई निश्चित सड़क नहीं है। सम्भव है...

प्रकाशचन्द्र : क्या ?

मायावती : मनुष्य के भीतर-बाहर सब कहीं ऐसी बातें हैं। जिनका न होना...लेकिन वे हो जाया करती हैं। कदाचित्... (चुप हो जाती)।

राधाचरण : अब की बार जब वहाँ से लौट कर आया।

प्रकाशचंद्र : तब मनुष्य की आशा क्या है ?

मायावती : ईश्वर का विश्वास। मनुष्य अपने को उसके भरोसे छोड़ दे।

राधाचरण : यहाँ आया, तब उस पुस्तक की याद आई।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन इस ओर प्रवृत्ति जो नहीं होती...

मायावती : विशेषतः इस युग में।अबतो मनुष्य का सब से बड़ा बल सबसे बड़ा भरोसा संदेह हो रहा है।

राधाचरण : इतने दिनों का कौतूहल एकाएक जाग उठा।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन...

मायावती : हाँ...

प्रकाशचंद्र : यही कि ऐसा है क्यों ? क्या मनुष्य का स्वभाव, बदल गया।

मायावती : यह तो है ही। संस्कार बदल जाने से स्वभाव तो बदल ही जाता है। मनुष्य का संस्कार जब तक नहीं बिगड़ता, उससे कोई बुराई होती नहीं। इस स्वतन्त्र युग के वायुमंडल में मनुष्य के सभी बन्धन टूट गये। बँधन टूट जाने पर पशु जैसी मनमानी करने लगता है, मनुष्य भी वही कर रहा है और उसी का नाम है शिक्षा, सभ्यता और स्वतन्त्रता।

राधाचरण : इधर दो महीने मेरे उसी पुस्तक के अभ्यास में बीत गये। मैं तुम्हें देख रहा हूँ। तुम्हारी बातें सुन रहा हूँ।

प्रकाशचन्द्र : तब...

मायावती : उँह, तुम इस चिन्ता में न पड़ो !

प्रकाशचन्द्र : मैंने कहा तो...मैं अपने प्रति भी ईमानदार नहीं रहा।

मायावती : मैं तो नहीं समझती...

प्रकाशचन्द्र : मैंने भी विवाह किया था...

मायावती : ऐं...

प्रकाशचन्द्र : हाँ जी उस समय मैं बहुत छोटा था...बचपन में...

{राधाचरण वहीं पेड़ के पास बैठ जाता है। पेड़ की कई डालें एक साथ हिल पड़ती हैं। }

मायावती : और स्त्री...

प्रकाशचन्द्र : अभी जीवित है। मैं कल्पना में जैसी स्त्री चाहता, वैसी नहीं गँवार, कुरूप... लेकिन अब...

मायावती : हाँ...

प्रकाशचन्द्र : हम दोनों का परिचय किसी बुरे मुहूर्त्त में हुआ था...

मायावती : शायद...

प्रकाशचंद्र : अन्त में हम लोग सुखी नहीं हो सके...

मायावती : मैं तो सुखी रही...इससे अधिक मैं कुछ और चाहती ही नहीं थी।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन (मुसकरा कर) मेरी तो गंगा के किनारे भी प्यास न बुझी ! मैं इसे अपना सुख कहूँ या दुख...?

मायावती : लेकिन इसके लिये कोई रोक तो नहीं थी।

प्रकाशचन्द्र : मेरी आत्मा में कभी उस तरह का आन्दोलन नहीं हुआ, तुम्हारे साथ रहते हुए भी जैसे मैं निर्वासित रहा। मेरा वह सारा अभाव, मेरी वह सभी अतृप्ति फूट कर मेरे साहित्य में बह गई है और (कुछ सोचकर) कदाचित राघवशरण का कहना सच है कि मैंने अपने नरक को अमरत्व और स्वर्ग बना लिया है। मेरा यह दंभ कि कला...जिसका मतलब मेरी अपनी कला से था...योगमाया है सचमुच उग्र है।

मायावती : लेकिन वह उतना न होना...हम दोनों का साथ रह कर बच निकलना हमारे जीवन, हमारी आशा के लिये महान् नहीं हुआ है ? (उत्तेजना में) हम उससे बड़े नहीं हुए जो उस दशा में रहते ? मन की चाह का मर जाना वही हुए जो उस दशा में रहते ? मन का चाह का मर जाना ही तो...

प्रकाशचन्द्र : क्या है ?

मायावती : विकार का बंधन टूट जाय, हमारी मनुष्यता की कमी मिट जाय, उसके बाद देवत्व हमारे लिये है।

प्रकाशचन्द्र : मायाविनी स्त्री...{उनकी ओर ध्यान से देखने लगता है}

मायावती : (मुसकरा कर) पुरुष अब अपना विष नहीं सम्हाल सकता। अच्छा तो आने दो, स्त्री उसे पीकर तुम्हें मरने से बचा लेगी। और शायद अब तुम्हारी बीमारी भी छूट जाएगी ?

प्रकाशचन्द्र : मेरी बीमारी...हूँ...(गंभीर होकर) यही तुम्हारी देन है। तुमने दिया भी तो यही।

मायावती : मेरे पास और था ही क्या ? मैं तुम्हें यहाँ तक लिवा लाई...पत्नीत्व के सुख के लिए नहीं...उसका अधिकार मुझे नहीं था। जिसके कारण एक पुरुष की हत्या हुई और दूसरे को कालेपानी की सजा...वह पत्नीत्व की कल्पना...कैसे करती ? मुझे तो अपने लिए एक प्रयोग करना था और उसी लिए तुम्हें...

प्रकाशचन्द्र : प्रयोग करने के लिए मुझे...और कोई नहीं मिला ?

मायावती : तुम्हारी तबियत का, तुम्हारी प्रकृति का नहीं मिला...और किसे अवकाश था ?

प्रकाशचन्द्र : लेकिन तुमने यह कैसे समझ लिया कि मुझे अवकाश था ?

मायावती : तुम स्वयं चले आये। मैंने तुम्हारे ऊपर कोई आकर्षण नहीं किया था। तुम अपनी अपढ़, गँवार, कुरूप स्त्री से असंतुष्ट रहे। तुम कल्पना में निरन्तर कोई सुन्दर, शिक्षित, संस्कृत-स्त्री चाहते थे, जिसके साथ तुम रहते; जिसके साथ वायु सेवन के बहाने मैदान में, नदी किनारे, पर्वत पर घूमते; इसमें मेरा नहीं तुम्हारी प्रकृति का दोष है। {गम्भीर स्वर में हाथ हिला कर और गर्दन घुमाकर} मैं अपने लिए...अपने प्रयोग के लिए जैसा चाहती थी...ठीक वैसे तुम मिले।

प्रकाशचन्द्र : ओह, विश्वासघात...।

मायावती : बिलकुल नहीं...।

प्रकाशचन्द्र : तुम यहाँ तक गिर गई हो?

मायावती : कहाँ तक जी?

प्रकाशचन्द्र : तुमने जान बूझकर मेरे साथ धोखा किया और तुम्हें इसका पश्चात्ताप भी नहीं है! तुम्हारी आत्मा यहाँ तक...।

मायावती : हाँ...हाँ, आत्मा का नाम न लेना...।

प्रकाशचन्द्र : {उद्वेग के स्वर में सिर हिलाता हुआ} क्यों नहीं...क्यों...नहीं क्यों?

मायावती : (गंभीर होकर) इस...लिए कि वह इतनी हलकी चीज नहीं है। जिस चीज की तुम मुझसे आशा करते थे और शायद जिसके लिए तुम्हें निराश होना पड़ा, वह तुम्हारी आत्मा की नहीं...तुम्हारे रक्तमांस की थी। तुम विचारों में जितने सुन्दर हो...अगर तुम में उतनी भयंकर वासना न होती, अगर तुम भी वही नहीं चाहते, जो कोई भी पुरुष जवानी में चाहता है, तो तुम देवता होते {एकाएक चुप हो जाती है} और मैं इसी आशा में थी।

प्रकाशचन्द्र : कैसी आशा...जिसे...

मायावती : यही कि तुम्हारे भीतर पुरुषत्व देखूँगी!

प्रकाशचन्द्र : वह तो शायद तुमने देख लिया?

मायावती : हाँ देख तो लिया और मुझे निराश होना पड़ा। इधर पाँच वर्ष तक जिस मोह-स्वप्न में पड़ी थी, वह एकाएक टूट गया लेकिन... (कुछ सोचती हुई) मुझे कोई चिंता नहीं। मेरा प्रयोग पूरा हो गया। परिणाम निकल गया और इसी की जरूरत थी।

प्रकाशचन्द्र : अच्छा हाँ, मैं भी सुनलूँ वह परिणाम, जिसके लिए तुमने मेरा जीवन बिगाड़ दिया।

मायावती : छी:, रो क्यों रहे हो? तुम्हारी आत्मा का विस्तार होना चाहिए था आकाश की तरह, और उसकी गंभीरता समुद्र के समान। तुम जीवन की कल्पना और उसकी अनुभूति करते हो, संसार के सामने तो तुम्हारा यह दावा है कि तुम जीवन के रहस्य समझ चुके हो और अब औरों को समझा रहे हो...संसार की अंधी आँखों में अनुभूति का प्रकाश भर रहे हो और रो रहे हो केवल अपने जीवन के लिए। अपने जीवन को मिटा देते, कम से कम संसार से तुम्हारी जो

भिन्नता है उसे मिटा देते और तुम इस बात के अधिकारी होते तो सृष्टि के समानांतर तुम्हारी सृष्टि भी चलती रहे। और फिर तुम्हारा जीवन बिगड़ा भी कहाँ ? लालसा की पूर्ति तो मृत्यु है।

प्रकाशचन्द्र : और तुम्हारे प्रयोग का परिणाम!

मायावती : (मुसकरा कर) सुनोगे!

प्रकाशचन्द्र : बस कहती चलो...!

मायावती : (सिर हिला कर) समझोगे नहीं।

प्रकाशचन्द्र : संभव है। लेकिन तुम्हारे शब्द के साथ जो वज्र चल रहा है, उससे मेरे संदेह और भ्रम का पर्वत तो ढह जाएगा।

मायावती : {उसकी ओर ध्यान से देखती हुई} पुरुषत्व की रक्षा पुरुष के नहीं {आगे की ओर सिर बढ़ा कर} स्त्री के आधीन है। हम इसीलिए पैदा हुई थी...हमें पैदा करने में प्रकृति का यही मतलब है।

प्रकाशचन्द्र : {चौंककर खड़ा होता हुआ} तो तुमने मेरे पुरुष की रक्षा की है ? ऐं...!

मायावती : (मुसकरा कर) इसमें भी संदेह है!

प्रकाशचन्द्र : (कुछ सोचता हुआ) नहीं...तुम्हारा कहना कदाचित्...

मायावती : नहीं जी...यह तुम्हारा नहीं, मेरा काम था कि तुम्हारा...मैं सावधान रही...जहाँ कहीं पुरुषत्व का पतन होगा, उसकी जिम्मेदारी किसी न किसी रूप में स्त्री पर होगी। शायद तुम समझते हो मैंने तुम्हें प्रेम नहीं किया, तुम्हारे साथ शुष्क विनोद करती रही।

प्रकाशचन्द्र : संभव है बिलकुल ऐसा न हो, लेकिन तुम अपनी नीरस सेवा को, बीमारी में कभी-कभी सारी रात मेरी चारपाई पर बैठे रहने को प्रेम कह रही हो ?

मायावती : अच्छा तो मैं अपने साथ तुम्हें भी न ले डूबी। मैंने बुरा किया...यही न। यह तर्क का विषय नहीं है। नए विचारों और इस युग की उच्छृङ्खलता में मैं संस्कार-भ्रष्ट हो चुकी थी...उसी संस्कार को फिर से जिलाने के लिए मैंने तुम्हारा साथ किया था। स्त्रीत्व का आदर्श और विकास अपनी भिन्नता मिटा कर पुरुष में लय हो जाना है। इसी आदर्श की प्राप्ति के लिए मैंने यह आध्यात्मिक प्रयोग किया था। अगर तुम सोचो तो, पहले से बुरे नहीं हुए...जो थे अब भी हो, या कुछ अंशों में उससे भी महान् हो गए हो। खतरे के दिन निकल गए। अगर चाहो पूर्ण पुरुष पूर्ण योगी हो सकते हो। प्रकृति के उन्माद का रुक जाना...मृत्यु का रुक जाना है!

प्रकाशचन्द्र : (गंभीर होकर) माया...मैं चरित्रों का निर्माण करता था और समझता था कि मेरे चरित्र सत्य और स्वाभाविक हैं। लेकिन, जब मैं तुम्हें नहीं समझ सका, तो कहाँ तक मेरे चरित्र...तुमने मुझे बचा लिया, इसमें संदेह नहीं और मैं अब न लिखूँगा।

मायावती : (मुसकरा कर) ऐसा नहीं। अब तो तुम इस योग्य हुए हो कि और लिखो। जिस अंश तक तुम सत्य और स्वाभाविक थे, उसी अंश तक तुम्हारे अब तक

के कल्पित चरित्र भी सत्य और स्वाभाविक हैं। तुम्हारी क्षमता अगर तुम अपने को समझ जाओ तो अब और बढ़ गई। तुम्हारी लेखनी से शक्ति और सौंदर्य का उद्बोधन होगा, उससे संसार चकित हो उठेगा।

प्रकाशचन्द्र : तो मुझे अब क्या करना होगा ?

मायावती : मुझसे पूछ रहे हो ? मृग की तरह मृगमद खोजेगे क्या ? वह तो तुम्हारे पास है अपने को भूलकर विश्वमय हो उठो। तुम्हारे रचयिता होने में किसे संदेह होगा, अपने बंधनों को तोड़ दो अपनी सीमाओं को पार कर जाओ। इस देश को उनकी जरूरत नहीं है, जो पश्चिम के प्रवृत्तिवादियों की नकल कर वासना और विकार की प्रदर्शनी खोल रहे हैं। जरूरत है उनकी जो अपनी आत्मा अपने जीवन के साथ प्रयोग कर विश्वात्मा और विश्व-जीवन का रहस्य खोल सकें, जो हमारी उस शक्ति उस सौंदर्य को जीवित करें, जो मर चुका है या मर रहा है, जो हमारी चेतना को जगा कर हमारे जीवन और जगत् को रसमय करें।

{प्रकाशचन्द्र गंभीर होकर उसकी ओर देखने लगता है}

प्रकाशचन्द्र : (विस्मय के स्वर में) तुम वही हो या नहीं !

मायावती : (हँसती हुई) हम लोग वही कभी नहीं रहते। पाँच वर्ष पहले हम लोग क्या थे और आज क्या ? हमारे भीतर परिवर्तन का अज्ञात चक्र निरंतर चलता रहता है। हम लोग चाहते तो नहीं, लेकिन हम नियति के खिलौने इससे बच नहीं सकते।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन तुम्हारा यह प्रयोग बिना विवाह के भी तो चल जाता ?

मायावती : नहीं तुम परदेशी की तरह मेरे साथ रहते। तुम्हारी आत्मा का मेरी आत्मा के साथ सान्निध्य न हो पाता। तुम मुझसे सदैव सावधान रहते, सचेत रहते। तुमं अपने को मुझे उस तरह न सौंप देते जिस तरह तुमने सौंप दिया। पुरुष की सावधानी विद्रोह पैदा करती है, लेकिन स्त्री की सावधानी उस बंधन को, जिस में विश्व की दो भिन्न समस्याएँ, दो भिन्न विधान, जिनकी सृष्टि एक दूसरे के विरोधी उपकरणों से होती है, मिल कर एक हो जाते हैं, और भी दृढ़ करती है। सावधानी स्त्री के लिए है पुरुष के लिए नहीं।

प्रकाशचन्द्र : (कुछ सोचता हुआ) तो...

मायावती : हाँ...

प्रकाशचन्द्र : तुम्हारा प्रयोग पूरा हो गया। अब तो तुम्हें मेरी जरूरत न होगी।

मायावती : तुम्हारी जरूरत तो मुझे जीवन भर रहती लेकिन, इस बीच में इतनी बातें हो गईं। तुम सावधान हो गए और अब उस दशा में...

प्रकाशचन्द्र : क्या ?

मायावती : हम लोग अब एक साथ नहीं रह सकते। हमारा विवेक कहेगा कि कोई हर्ज नहीं। सब कुछ समझ जाने पर साथ रहना कोई बुरा नहीं है। यह तो एक प्रकार का संयम, एक प्रकार की साधना होगी...लेकिन हमारी मनुष्यता हमें

बेचैन करती रहेगी। हम दोनों का इतिहास कुछ ऐसा है...तुम तो अपना व्यक्तित्व मिटा कर संसार के विराट जीवन और विराट व्यक्तित्व में मिल जाओगे। तुम्हारा इतिहास भी छूट जायगा। लेकिन मेरा इतिहास! मेरे लिए तो अब कोई आशा नहीं?

प्रकाशचन्द्र : तो मैं कल यहाँ से चला जाऊँ न!

मायावती : मुझे छोड़ कर!

प्रकाशचंद्र : किया क्या जाय? और अब...

मायावती : तुम्हारे मन में मेरे प्रति कोई विकार तो...

प्रकाशचंद्र : विकार तो संसार के साथ है। निर्विकार की कल्पना मैं नहीं करता।

मायावती : तो तुम मुझे क्षमा नहीं करोगे?

प्रकाशचंद्र : शब्दों का विश्वास अगर तुम कर सको तो मैं तुम्हें क्षमा कर दूँ। लेकिन, किस बात के लिए? तुमने कोई बुराई नहीं की।

मायावती : शायद! मेरे भीतर जैसे कोई प्रेरित कर रहा है कि मैं तुमसे क्षमा माँग लूँ। स्त्री पुरुष से क्षमा माँग ले, कदाचित् ऐसा ही विधान है।

{प्रकाशचन्द्र उसकी ओर ध्यान से देखने लगता है। मायावती खड़ी होती हैं और कुछ सोचती हुई कमरे में इधर-उधर टहलने लगती हैं। राधाचरण, पेड़ के नीचे, उठकर थोड़ी देर चुपचाप खड़ा रहता है। पेड़ की डाल हिलने लगती है। राधाचरण मकान की ओर चल पड़ता है और कमरे के नीचे प्रकाशचन्द्र के ठीक सामने आ जाता है। }

प्रकाशचंद्र : (भय के स्वर में) आ गया...आ गया वही...वही {उठकर भागना चाहता है। राधाचरण कमरे के भीतर प्रवेश करता है। मायावती घूम कर उसकी ओर देखती है। प्रकाशचन्द्र थोड़ी दूर पर भय से काँपता हुआ बैठ जाता है। मायावती तेजी से उसके पास पहुँचती है। }

राधाचरण : दूर हट स्त्री, छूना मत उसे।

मायावती : तुमने तो मुझ से कहा था कि तुम यहाँ कभी न आओगी।

राधाचरण : तो मैं तुम्हारे लिए नहीं...तुम्हारे इस रोगी के लिए आया हूँ। तुम्हारे लिए प्रायश्चित इसे करना पड़ रहा है। इसका अपराध?

मायावती : और मेरा अपराध! तुम कालेपानी से लौटने पर जिस दिन यहाँ आये, उसी दिन मैंने तुम से कहा था कि तुम अपना मकान ले लो। मैं कहीं और चली जाऊँगी। उस दिन तो...

राधाचरण : सो तो ठीक है। लेकिन मैं आज भी तुमसे मकान लेने नहीं आया हूँ, और न मैं उन रुपयों के लिए कुछ कहता हूँ...मैंने अपना सब कुछ तुम्हें दिया था फिर लौटाने के लिये नहीं। मैं तुम से किसी तरह का कोई हिसाब नहीं माँगता।

मायावती : तब...

राधाचरण : मुझे अपने मित्र के लिए इस पेड़ तक आना होगा। कभी यहाँ रहना होगा। {प्रकाशचंद्र की ओर संकेत करके} आज तो इस रोगी को मैं अच्छा कर देता

हूँ । लेकिन, इसका यहाँ रहना ठीक नहीं है ।जबमेरे मित्र को अवसर मिलेगा, जब कभी उससे भेंट हो जाएगी, यह बीमार पड़ जाएगा ।

मायावती : मैंने तो नहीं कहा था कि तुम अपने मित्र की हत्या करो ।

राधाचरण : तुम ने तो मुझ से यह भी नहीं कहा था कि मैं तुम से प्रेम करूँ । प्राय: ऐसी बातें हो जाया करती हैं...जिनका न होना अच्छा होता । इसी तरह प्रेम भी हो गया और वह हत्या भी हो गई । जो...हो गया तर्क से नहीं मिट सकता । उसका फल भोगना चाहिए तुम्हें और मुझे...उसके लिए प्रायश्चित करना चाहिये तुम्हें और मुझे {प्रकाशचन्द्र की ओर संकेत कर} लेकिन इसने क्या अपराध किया ? यह क्यों उसका फल भोगे ?

मायावती : इसका उत्तर अपने मित्र से, अपने प्रेत से पूछो ?

राधाचरण : पूछ लिया है और इसीलिए तो यहाँ आया हूँ कि इसे बचा लूँ । और तुम... तुम अपना फल भोगने के लिए, अपने प्रायश्चित के लिए तैयार रहो ! ज्ञान की बातें कर्मफल नहीं रोक सकतीं ।

{मायावती धरती की ओर देखने लगती है । राधाचरण प्रकाशचंद्र के सिर पर हाथ रखता है उसका कंधा पकड़ कर हिलाने लगता है} इसे तो...मूर्छा...{राधाचरण उसके शरीर पर इधर-उधर हाथ फेरता है । थोड़ी देर के बाद कुछ अर्थहीन और बेमेल शब्दों का उच्चारण करता है । थोड़ी देर तक काँपता रहता है} प्रकाशचन्द्र...! प्रकाशचंद्र आँखें खोलता है और भय से उसकी ओर देखता है) डरो न इस तरह न देखो...मुझे नहीं पहचान रहे हो क्या ? तुम मेरी बाँसुरी सुन चुके हो । {बाँसुरी बजाने लगता है । प्रकाशचंद्र सचेत होकर बैठ जाता है । राघवशरण का प्रवेश ।}

प्रकाशचंद्र : आपको नहीं...मनुष्य की उस भयानक मूर्ति को...

राधाचरण : उसे कभी और भी देख चुके हो ?

प्रकाशचंद्र : आज ही रात को ऊपर सोया था...वह भयानक मूर्ति...ओह ?

राधाचरण : इस तरह डरने की जरूरत नहीं है । वह सामने जो पेड़ है, देख रहे हो ?

प्रकाशचंद्र : हाँ...

राधाचरण : उसी पेड़ के नीचे एक मनुष्य की हत्या हुई थी ।

प्रकाशचंद्र : जानता हूँ...

राधाचरण : (विस्मय में) जानते हो ? {राघवशरण और मायावती की ओर बारी-बारी से देख कर} इस युग में सभ्यता और बुद्धि के नाम पर कुछ बातें अंधविश्वास कह कर छोड़ दी गई हैं--प्रेतात्माओं की सत्ता अब नहीं मानी जाती । इसका परिणाम यह हुआ है, कि मनुष्य का जीवन-बल तो गिरता जा ही रहा है उसके नैतिक बंधन भी टूट गये हैं । हत्या साधारण और सुगम हो गई है । कानून से बचने का उपाय हो, फिर तो हत्या में कोई अड़चन नहीं, लेकिन इसका एक ईश्वरीय विधान भी है । जो मारा जाता है, जिसकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं होती, देह छूट जाने पर भी उसके दैहिक संस्कार नहीं छूटते; प्रेत रूप में उसे इसी धरती पर अपने उन्हीं संबन्धियों के संसर्ग में रहना पड़ता है ।

प्रकाशचंद्र : तो मैं क्यों...

राधाचरण : अब वह तुम्हें प्रभावित नहीं करेगा। मैं इस यत्न में हूँ।

राघवशरण : कभी नहीं। यह तो एक प्रकार का मानसिक विकार है।

राधाचरण : इसके भीतर तुम्हें ईश्वरीय न्याय नहीं देख पड़ता ! तुम सभ्य लोग जो इस मानसिक विकार को नहीं मानते...मानसिक बीमारियों के शिकार भी तुम्हीं होते हो, तुम भी उस फल से...उस प्रायश्चित से नहीं बचते। स्थूल जगत् के आगे किस चीज की सत्ता तुम मानते हो...ईश्वर भी तो अब तुम्हारे लिए संदेह...तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल जो चीज नहीं होती उसे तुम झट अस्वीकार कर देते हो और तर्क में जीत जाते हो; लेकिन तुम्हारा तर्क सत्य नहीं मिटाएगा, प्रकाश !

प्रकाशचंद्र : जी...

राधाचरण : अब तुम बीमार नहीं पड़ोगे। इस स्त्री का संसर्ग छोड़ देना।

मायावती : तुम्हारा प्रेत इस स्त्री को क्यों नहीं...

राधाचरण : यह स्त्री फल तो भोग लेगी लेकिन अपने प्रेत को नहीं मानेगी। पाँच वर्ष के भीतर इसने कभी उसके निमित्त एक बूँदजल भी...{राधाचरण का प्रस्थान}

{ राघवशरण, प्रकाशचन्द्र और मायावती कौतूहल और उद्वेग में एक दूसरे की ओर देखने लगते हैं।}

{पर्दा गिरता है}

तीसरा अंक

[वही मकान। वही कमरा। कमरे में सभी चीजें उसी तरह ज्यों-की-त्यों पड़ी हैं। दीपक उसी तरह धीमी लौ से जल रहा है। चाँद मकान के पीछे की ओर चला गया है और इसलिए सामने के पेड़ पर तो चाँदनी पड़ रही है, लेकिन पेड़ और मकान के बीच की धरती पर अँधेरी छाई हुई है। ध्यान से देखने पर किसी तरह किसी चीज का आभास मालूम पड़ता है। प्रकाशचन्द्र काठ की चौकी पर कुछ लिख रहा है। दीपक का प्रकाश मंद पड़ता जा रहा है, लेकिन वह इतना तल्लीन है, उसकी लेखनी इतने वेग से चल रही है कि उसे दीपक की, और साथ ही सारे बाहरी जगत् का जैसे कोई ध्यान ही नहीं है। उसकी आकृति पर कभी तो गंभीरता और कभी मुसकुराहट-सी व्यक्त होती है।लिखते ही लिखते लेखनी के ऊपरी भाग पर सिर टेक कर जैसे कुछ सोचने लगता है। मायावती का प्रवेश। वह उसके पास जा कर खड़ी होती है। प्रकाशचन्द्र उसी तरह निश्चेष्ट बैठा है। थोड़ी देर तक कमरे में सन्नाटा रहता है। मायावती झुक कर जैसे उसके सिर पर हाथ रखना चाहती है, लेकिन फिर सम्हल कर खड़ी हो जाती है।]

मायावती : बस एक पहर रात बाकी है और अब न सोने का मतलब है बीमार पड़ना।

प्रकाशचन्द्र : तो मेरी चिन्ता अभी तुम न छोड़ोगी ? {उसकी ओर एकटक देखने लगता है}

मायावती : (मुसकुराकर) आज ही की रात तो। कल तो शायद...

प्रकाशचन्द्र : और आज ही की रात मुझे लिखना भी था। कल तो शायद...{चौकी पर झुक कर लिखे हुए पन्नों को इधर-उधर करके देखने लगता है।}

मायावती : तो तुम्हारा लिखना क्यों बन्द होगा ?

प्रकाशचन्द्र : मुझे मनुष्य जो बनना है, माया ! यह सब क्यों हुआ ? इसीलिए न कि मेरी मनुष्यता...

मायावती : अच्छा...

प्रकाशचन्द्र : कुछ नहीं...कुछ नहीं...कुछ नहीं। जो लौट ही न सकता...जो बीत गया, उसके लिए अब...

मायावती : आज ही की रात...{गंभीर होकर कुछ सोचने लगती है।}

प्रकाशचन्द्र : {संदेह से उसकी ओर देखता हुआ} तुम्हारा स्वर भारी क्यो हो रहा है ?

मायावती : मेरा बोझ जो बढ़ गया है। आज की रात...कल तो अब तक...

प्रकाशचन्द्र : क्या होगा ?

मायावती : मेरा दूसरा जन्म...और तुम्हारी चिन्ता शायद दूसरे जन्म में भी बनी रहेगी। (मुसकराती हुई) तुम समझते हो तुम्हारी बीमारी का कारण मैं रही। हो सकता है और कदाचित् ऐसा है भी। लेकिन, मेरा प्रयोग...मेरा जो कुछ बिगड़ चुका था उसका सुधार...मेरी सिद्धि तो मुझे मिल गयी।

प्रकाशचन्द्र : (उद्वेग के स्वर में) तुम करना क्या चाहती हो ?

मायावती : कुछ विशेष नहीं... (हँसती हुई) वही जो हो जाना चाहिए था और जिसका हो जाना...{एकाएक चुप होकर दरवाजे के बाहर निकल कर पेड़ और आकाश की ओर देखने लगती है।}

प्रकाशचन्द्र : तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो...इसमें सन्देह नहीं।

मायावती : {आकाश की ओर देखती हुई} रात कितनी होगी ? अब तो शायद एक पहर भीं नहीं है। वह कहानी याद है ?

प्रकाशचन्द्र : कौन-सी ?

मायावती : वही, जहाँ रानी डूबी थी...कमल का फूल खिल गया। राजा उसे तोड़ने के लिए ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा, कमल अथाह जल की ओर खिसकता गया। अन्त में राजा भी डूब गया और फिर वहाँ एक की जगह दो फूल हो गये ? (हँसने लगती है।)

प्रकाशचन्द्र : (गंभीर मुद्रा में) तुम पागल तो नहीं हो रही हो ?

मायावती : (हँसती हुई) उस फूल की...उस फूल की...कल्पना करो न ? मेरे पागलपन में क्या है !

प्रकाशचन्द्र : हूँ...उस फूल की या तुम्हारे प्रयोग की...?

मायावती : उस फूल में और मेरे प्रयोग में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही चीज हैं, एक ही चीज...मेरा प्रयोग भी तो उसी तरह का, उसी लिए था।

प्रकाशचन्द्र : किस तरह का...?

मायावती : जैसा वह फूल था। उसका अभाव मिट गया और मेरा भी...

प्रकाशचंद्र : तुम्हारा अभाव भी मिट गया। किस तरह ?

मायवती : (हँसती हुई) तुम से विवाह जो किया था मैंने, और किस तरह...

प्रकाशचन्द्र : ओह ! तो तुम उस विनोद को, उस खिलवाड़ को विवाह कहती हो। उस ईश्वर से भी तो डरो। तुम्हारा यह छल, तुम्हारी यह वंचना वह तो जानता है। उससे तो कुछ छिपा नहीं।

मायावती : हाँ, वह जानता है। और उसी के केवल उसी के भरोसे तो मैं कह रही हूँ कि मैंने तुमसे विवाह किया था।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन तुम्हारा विवाह पहले भी तो हो चुका था।

मायावती : नहीं...नहीं...वह तो एक तरह का ठेका था, जो कभी भी तोड़ा जा सकता था। विवाह जिसके टूटने का भय नहीं...जिसमें सारी जिन्दगी और सारे जगत् को बाँध लेने की क्षमता है, वह तो केवल तुम्हारे साथ हुआ था। तुम उसे अस्वीकार क्यों कर रहे हो ? मेरे दूसरे जन्म की जो आशा है...जिसके सहारे मुझे इस जीवन से छुट्टी लेनी है...उसे न तोड़ो, प्रभु ! यह तो जानते हो कि इस जन्म के संस्कारों के अनुरूप ही मेरा दूसरा जन्म होगा। यही मेरा सब से बड़ा संस्कार है। अगर यही छीन लोगे (सिर हिलाती हुई) हाँ, अगर यही छीन लोगे, तो मेरी दरिद्रता कितनी भयावह होगी और मेरे उस दूसरे जन्म का आधार भी क्या होगा ?

{उसका शरीर काँपने लगता है। वह झुककर दरवाजे के पास दीवार पर सिर रख देती है}

प्रकाशचन्द्र : माया!

{माया उसी तरह निश्चेष्ट खड़ी रहती है} इधर आओ! मैं तुम्हें जितना ही समझना चाहता हूँ--तुम्हारा रहस्य मेरे लिए उतना ही गूढ़ होता जा रहा है। प्रलय और सृष्टि, जीवन और मरण, प्रकाश और अन्धकार, प्रेम और घृणा, जैसे सब कुछ एक हो रहा है। तुमने मुझे किस भूलभूलैया में डाल दिया, माया!

{माया फिर भी उसी तरह खड़ी रहती है}

इधर देखो। तुम्हारे दूसरे जीवनका आधार, तुम्हारी इस जन्म की आशा बनी रहे। मुझ से जो कुछ चाहो, ले लो। मैंने तुमसे विवाह किया था--तुम मेरी स्त्री हो।

मायावती : (टूटते हुए शब्दों में) तो यह...आ...ज...की... रात...

प्रकाशचन्द्र : क्या?

मायावती : आज की रात मेरी सुहागरात है न?

प्रकाशचन्द्र : अगर तुम चाहो...?

मायावती : (गंभीर होकर) आशीर्वाद दो, मेरा यह अधिकार आज की तरह सदैव बना रहे।

प्रकाशचन्द्र : अच्छा...

मायावती : (कुछ सोचती हुई) आज की रात...कल तो...

प्रकाशचन्द्र : अब कल...

मायावती : (हँसती हुई) कुछ नहीं। कल फिर सूर्य निकलेगा इतना ही निष्ठुर, इतना ही दाहक या कुछ समय और शीतल...

प्रकाशचंद्र : तुम रह-रह कर...

मायावती : {आकाश की ओर देखती हुई} तारे सभी रहेंगे या कोई डूब जाएगा?

प्रकाशचन्द्र : तुम मुझे...

मायावती : (जैसे होश में आकर) लोग कहते हैं कि...

प्रकाशचन्द्र : क्या कहते हैं लोग?

मायावती : मनुष्य का जन्म केवल दुःख उठानेके लिए होता है, और जब उसके सुख के दिन आते हैं, तब तो वह बुला लिया जाता है।

प्रकाशचन्द्र : (उद्वेग के स्वर में) तुम यह सब कह क्या रही हो?

मायावती : मैं नहीं कह रही हूँ। संसार में यही होता आया है। सब किसी का यही अनुभव है।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन आज ही क्यों रहस्य तुम्हारे भीतर जाग पड़ा है?

मायावती : आज ही तो मेरी सुहागरात है? मेरे भीतर मेरा संसार अँगड़ाई ले रहा है। आज की रात...और कल...। (हँसती हुई) तो तुम जैसे मुझ पर संदेह कर रहे हो?

प्रकाशचन्द्र : तुम्हारा लक्ष्य क्या है, तुम्हारे शब्द जैसे किसी निराशा में...

मायावती : स्त्री के लक्ष्य पर भी किसी पुरुष ने विचार किया है ? (सिर हिलाती हुई) नहीं ...नहीं पुरुष कभी इतना सदय नहीं हुआ। स्त्री को या तो उसने रोते हुए देखा या हँसते हुए...स्त्री की कभी कोई अपनी समस्या हुई ही नहीं, तो फिर उसका अपना लक्ष्य क्या होता ?

प्रकाशचन्द्र : लेकिन तुम्हें जिस बात का पश्चात्ताप है, जिसे तुम अपना सब कुछ बिगड़ जाना...अपना ध्वंस समझती हो, उसका कारण भी तो तुम्हारी अपनी समस्या थी...।

मायावती : हुआ तो ऐसा ही...लेकिन कारण तुम्हारे पुरुष-समाज की वह मनोवृत्ति थी जिसमें स्त्री के लिए न तो कोई अधिकार था और न कोई कर्तव्य। इसी की...इसी की प्रतिक्रिया में मेरा सब कुछ बिगड़ गया और पता नहीं अभी और कितनी स्त्रियों का बिगड़ेगा...(हँसती हुई) और कुछ नहीं, तुम लोग इतना अधिकार भी तो हमारा छोड़ देते, जिसमें हमें तुम्हारी सेवा का...केवल सेवा का, अवसर भी मिलता।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन वह तो किसी ने नहीं छीना...

मायावती : (बात काट कर) वाह ! कितनी सफाई से कहे देते हो ! (सिर हिलाती हुई) वह अवसर, वह विश्वास, जिसमें हमारी आत्मा तुम्हारे चारों ओर चक्कर काटती होती, दूसरी चीज है और वह, जहाँ तुम्हारा संकेत, तुम्हारी धमकी, तुम्हारी डाँट-फटकार आ पड़े, दूसरी चीज है।

प्रकाशचन्द्र : (गंभीर होकर) संभवत:। {मसनद के सहारे वहीं कालीन पर लेट रहता है और इधर-उधर करवट बदल कर देह मरोड़ने लगता है।}

मायावती : (उसके पास जाती हुई) देर तक बैठे रह गए। देह दुख रही है। {बैठ कर उसका पैर मलने लगती है}

प्रकाशचन्द्र : (पैर खींचता हुआ) ना...

मायावती : (आग्रह के स्वर में) क्यों जी...?

प्रकाशचन्द्र : रहने दो।

मायावती : (मुसकराती हुई) तब तो तुमने मेरा वह अधिकार छीन लिया न ?

{प्रकाशचन्द्र करवट बदल कर मसनद में मुँह छिपा लेता है। मायावती वहीं बैठी रहती है। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहता है। बाहरी दरवाजे से राघवशरण का प्रवेश। राघवशरण पल भर में कमरे में चारों ओर दृष्टि फेरता है फिर धीरे से आगे बढ़ कर मायावती का हाथ पकड़ कर बाहर चलने का संकेत करता है। मायावती उठती है और उसके साथ धीरे से बाहर निकल जाती है। प्रकाशचन्द्र उसी तरह पड़ा है। राघवशरण और मायावती बाहर निकल कर एक ओर खड़े रहते हैं। }

राघवशरण : अपनी माया समेट लो ?

मायावती : किस लिए ?

राघवशरण : उसकी रक्षा के लिए। अन्यथा, वह बच नहीं सकता। उसमें स्वत: इतना साहस और इतना विवेक तो है नहीं। नहीं तो...

मायावती : (गंभीर स्वर में) नहीं तो...अच्छा...

राघवशरण : प्रेम के मूल में ही कल्याण की भावना होनी चाहिए।

मायावती : यही तो आप नहीं समझ सके।

राघवशरण : क्या ?

मायावती : मैंने न तो उन्हें कभी प्रेम किया और न करूँगी ?

राघवशरण : (विस्मय के स्वर में) तव...?

मायावती : और उनके साहस और विवेक का भी आपको पता नहीं। आप तर्क में उन्हें हरा देते हैं लेकिन विवेक का सम्बन्ध तर्क से नहीं, आचरण से है। और आज जब यह नाटक समाप्त हो रहा है, जब यह कहानी रुकना चाहती है, मुझे कहना पड़ता है, आपके विवेक और साहस का दंभ व्यर्थ है। आप स्वयं इतने बुरे रहे हैं कि दूसरों को उपदेश देने का आपको कोई अधिकार नहीं है। आपका साहस और आपका विवेक मैं तो जानती हूँ न ? और कोई जाने या न जाने।

राघवशरण : (असमंजस के स्वर में) मैं स्वयं बुरा रहा ?

मायावती : (गंभीर स्वर में) जी हाँ। आप बुरे रहे हैं बुरे...और जितने बुरे आप रहे हैं...आपने आदर्श का जो ढोंग बना रक्खा था... (मुसकरा कर) आप की यह सारी चिन्ता उनके लिए तो नहीं...मेरे लिए थीं। आपसे मैं तो सावधान रही...लेकिन उनके लिए...आप उनके हितू रहे हैं ? मैंने उन्हें कभी भी प्रेम नहीं किया। कम से कम आप इस भ्रम में तो न रहें।

राघवशरण : और मैं बुरा कैसे रहा ?

मायावती : जी ! आप यहाँ आने क्यों लगे ? किसने आप को निमंत्रित किया ? अगर भलाई करनी थी तो संसार के उन अभागों में जा पहुँचते, जो पेट की ज्वाला में झुलस रहे हैं। आप यहाँ आए...एक बार नहीं, बार-बार मैंने आपकी मनुष्यता के भरोसे आपको छोड़ दिया था। मुझे आशा थी कि आप कभी-न-कभी होश में आएँगे और अपना रास्ता बदल देंगे। दूसरों के इतिहास में आप व्यर्थ पड़े रहे। अपना इतिहास ही आपके लिए काफी नहीं था क्या ?

राघवशरण : माया !

मायावती : जी !

राघवशरण : तुमने...?

मायावती : मेरा सब से बड़ा अपकार आपने किया।

राघवशरण : किस तरह जी...

मायावती : मेरे लिए कभी भी दया का भाव आपके मन में नहीं पैदा हुआ। आप सदैव मेरा शिकार करते रहे। आज पूछते हैं किस तरह ? आप उन लोगों में हैं, जो खुल कर तो कभी कुछ कहते नहीं...लेकिन जिन के मौन के भीतर ज्वालामुखी छिपा रहता है। आप से...केवल आपसे बचने के लिए मैं उनको यहाँ लिवा लाई थी। और इस तरह मैं बच गई। नहीं तो यह कुछ न हुआ होता।

राघवशरण : हूँ...

मायावती : समय है, अभी समय है, निकल भागो। इस प्रलय के भीतर तुम अनीप्सित आ पहुँचे हो। रही उनकी भलाई। इस मिथ्याचार में न पड़े रहो। तुम जो स्वयं किसी इच्छा, किसी.लालसा में, जाल बिछा रहे हो, दूसरे का बन्धन नहीं काट सकते। अगर मुझे बदला लेना होता तो मैंने तुम्हारा सारा आदर्श और पाखण्ड एक ही आघात में चूर-चूर कर दिया होता।

राघवशरण : लेकिन मैं इतना कमजोर तो...!

मायावती : ओह! तुम इस युग के, इस लंका के राजा हो...रावण, तुम्हें कमजोर नहीं कहती...लेकिन तुम्हारा बल-अगर है भी तो कितना पैशाचिक!

राघवशरण : मैं समझता हूँ, तुमसे कहना कुछ...भी व्यर्थ है।

मायावती : बिल्कुल व्यर्थ है। इस आशा में, उँह, लेकिन आज तो यह नाटक समाप्त हो रहा है। {इधर-उधर घूमती हुई} देखिए मनुष्य को कभी न कभी अपनी...

राघवशरण : क्या?

मायावती : अपनी मनुष्यता के साथ...{आकाश की ओर देखने लगती है}।

राघवशरण : हाँ

मायावती : कुछ नहीं, आप जाइए और मनुष्य बनिए। तर्क और विवाद से कभी किसी का भला नहीं हुआ। जिनकी यह सृष्टि है, वे इसके साथ जो चाहें करें, हमारा कोई विरोध नहीं हो सकता।

राघवशरण : तो अब क्या होगा?

मायावती : (रूखे स्वर में) कैसा?

राघवशरण : यही कि यह सब ऐसे ही चलेगा या?

मायावती : {सिर हिलाती हुई} मेरी तो आप से यही प्रार्थना थी कि आप स्वयं बच निकलते। अगर आप क्षमा करें, आपको विशेष दुःख न हो, तो मैं कहूँ (कुछ सोचती हुई) आप और आप ही की तरह के ऐसे बहुत से लोग हैं जो न तो सुधारक हैं, न उपदेशक और न सेवक। मनुष्यता की जोंकें मनुष्यता के हृदय का रक्त चूस रही हैं। ऐसे ही चले या किसी तरह न चले। संसार का चलाने वाला मनुष्य नहीं ईश्वर है। आप अपने को बचाइए, अपने को। मैं तो यही कहूँगी। रही हम लोगों की चिन्ता, सो, उसे ईश्वर को सौंप दीजिए। जैसा उचित होगा, हम लोग जिसके योग्य होंगे, पा जायेंगे। अपने घर में जिन्हें जगह नहीं होती, वे ही दूसरों के प्रबंधक होते हैं।

राघवशरण : (कड़े शब्दों में) माया देवी...

मायावती : (हँसती हुई) जी...

राघवशरण : तुम तो मेरा अपमान...

मायावती : (हँसती हुई) लेकिन बुरा क्या हुआ?

राघवशरण : कह तो रहा हूँ...मेरा अपमान...

मायावती : (व्यंग से) मैं भी तो कह रही हूँ, बुराई क्या है। आप किस बात की आशा रखते थे ? आप जो संसार का रस्य अपनी मुट्ठी में ले कर चलते थे, ऐसे भ्रम में, इस धोखे में क्यों पड़े ?

राघवशरण : नारी मोह ! विश्वामित्र का पतन कैसे हुआ ?

मायावती : छीः, पाप करना नहीं, पाप की वकालत करना बुरा है। आप का पाप क्षम्य हो सकता था...लेकिन यह वकालत हुँ...हुँ...धीरे-धीरे आप कितने नीचे पहुँच गए। अपने तई, अपने तई देखिए महोदय ! दूसरों के लिए आशा हो सकती है, लेकिन इस लहर के लौट जाने पर आप कहाँ रहेंगे ? है कुछ पता ?

राघवशरण : कहती चलो।

मायावती : बाढ़ आई है, आज नहीं तो कल लौट जाएगी और फिर यहाँ छोड़ जाएगी कीचड़ और दलदल। इसका वह वीभत्स रूप आप क्यों देखेंगे ? आपके लिए तो यह सब गुनाह बेलज्जत हुआ न ?

राघवशरण : कुछ मुझे भी कहने दोगी या नहीं !

मायावती : अवश्य...हाँ कहिए।

राघवशरण : तुमने समझा नहीं। मेरा यहाँ आना और रहना तुम्हारे लिए नहीं, प्रकाश के लिए था...उसके लिए, उसकी रक्षा के लिए।

मायावती : अगर ऐसा होता तो...लेकिन ऐसा नहीं रहा। इस युग में शपथ का कोई महत्व नहीं है...लेकिन तब भी आपसे, आपके भीतर जो ईश्वर है, उससे पूछ रही हूँ, ऐसा ही था ? इसका निर्णय अब केवल आप पर, आपकी आत्मा पर है, कहिए तो...

{राघवशरण चुप रहता है} कहिए ?

राघवशरण : ऊँह, छोड़ो यह तर्क {राघवशरण का प्रस्थान। मायावती थोड़ी देर तक वहीं इधर-उधर टहलती रहती है। प्रकाशचन्द्र सपना देख रहा है, उसके मुँह से कभी-कभी अस्पष्ट आवाज निकलती है। मायावती तेजी से कमरे में प्रवेश करती है और प्रकाशचन्द्र के समीप बैठ कर कुछ रुक-रुककर ज्यों-ज्यों प्रकाशचन्द्र के शब्द निकलते हैं, लिखती है।}

प्रकाशचन्द्र : (स्वप्न की दशा में) नहीं...माया ! छोड़ दो...नहीं छोड़ोगी ? तुम्हारे साथ रहना पाप है। धर्म और संस्कार...के...प्रतिकूल है। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे तुमने मुझे...तुम्हारे नंदन वन में इस दिगंतव्यापी लू को छोड़कर मुझे और क्या मिला ? वसंत और कोकिल, फूल और चाँदनी के दर्शन तो कभी न हुए। तुमने...तुंमने...क्यों तुमने मुझे इस तरह...मेरा जीवन नीरस हो गया। किस लिए, मेरा अपराध क्या था, माया ?

{प्रकाशचन्द्र चुप हो जाता है। यों तो उसके मुँह से शब्द कभी-कभी निकल जाते हैं, लेकिन कुछ स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ता। माया का लिखना उसी तरह चल रहा है। थोड़ी देर के बाद माया उठती है, झुककर प्रकाशचन्द्र के मुँह की ओर देखती है। कागज मोड़कर चौकी पर रख देती है। दरवाजे के पास जाकर खड़ी होती है। क्षण भर बाद बाहर निकल जाती है। थोड़ी देर तक सन्नाटा

रहता है। सामने पेड़ की डालें हिलने लगती हैं और उसी पर पपीहा बोल उठता है-- 'पी कहाँ, पी कहाँ।' प्रकाशचन्द्र चौंक कर उठ बैठता है। दीपक की लौ तेज कर कमरे के बाहर निकल आता है। पपीहा उसी तरह बोलता रहता है। प्रकाशचन्द्र तन्मय होकर सुनने लगता है। }

दूर पर बाँसुरी का स्वर सुन पड़ता है। प्रकाशचन्द्र कमरे में प्रवेश कर मसनद के सहारे लेट कर धीरे-धीरे गुन-गुनाने लगता है।]

विश्व की आशाओं में बन्द,
आँसुओं का आकुल संसार।
सजाता क्या गति-लय-मृदुछन्द,
विश्व-कवि की वीणा के तार!

+++

निराशा में आशा का उदय,
विपुल यह रुदन, रुदन का हर्ष।
करेगा कब तक नित संचय,
वर्ष के दिवस, दिवस के वर्ष?

{प्रकाशचन्द्र देर तक एक-एक पंक्ति को कई बार दुहरा-दुहरा कर गाता रहता है, पपीहा उसी तरह बोल रहा है। बाँसुरी का स्वर क्रमशः नजदीक होता आ रहा है। हाथ में बाँसुरी लिये राधाचरण का प्रवेश। }

राधाचरण : (प्रसन्नता के स्वर में) ठीक है। सरस्वती की उपासना का सबसे सुन्दर समय यही है। अब रात रुठी जा रही है। स्वर्ग का द्वार खुल गया है। संसार का संदेश लेकर तारे एक एक कर भगवान के दरबार में जाने लगे हैं। ऊषा अपने दीप्तिमान स्वर्ण-रथ पर बैठ कर संसार में नवीन जीवन और नवीन प्रेम की विभूति बिखेरती हुई चली आ रही है। साधक तुम्हारी साधना सफल हो।

{प्रकाशचन्द्र के पास बैठकर उसके सिर पर हाथ रख देता है। प्रकाशचन्द्र का शरीर काँप उठता है। } वाह, तुम्हारा स्वभाव तो जैसे... तुम काँप क्यों उठे? यह कारण है कि...

प्रकाशचन्द्र : (गंभीर होकर) क्या?

राधाचरण : अभी जो कविता तुम गा रहे थे इसकी कोमलता।

प्रकाशचन्द्र : जी...

राधाचरण : केवल दो या तीन पंक्ति सुन सका... उसी से... लेकिन इच्छा हो रही है जैसे और सुनता। {प्रकाशचन्द्र की ओर देखता है}

प्रकाशचन्द्र : कभी-कभी लिख तो लेता हूँ लेकिन सुनाने में तो बड़ा असमंजस मालूम होता है सच कहता हूँ मेरे लिए तो यह बड़ा...

राधाचरण : कहाँ है वह?

प्रकाशचन्द्र : पता नहीं कदाचित् भीतर...

राधाचरण : तुम्हारा चित्त चाहता है उसके साथ... {प्रकाशचन्द्र रूखी दृष्टि से उसकी ओर देखता है} देखो मैं उस भाव से नहीं पूछ रहा हूँ, जिस भाव से तुम्हारे मित्र राघवशरण पूछते हैं। मैं तुम्हारी समस्या को तुम्हारी प्रवृत्ति के अनुकूल... (उत्साह के स्वर में) मैं चाहता हूँ, तुम्हें सुखी और प्रसन्न देखना।

प्रकाशचन्द्र : लेकिन तो...

राधाचरण : सुनो। मैं चाहता हूँ, हमारा एक परिवार बन जाय। हम सब प्रायः एक ही कोटि के हैं। सामाजिक व्यवस्था और विधान में मेरे लिए, उसके लिए कोई भी जगह नहीं है, और यही बात तुम्हारे लिए भी है। समाज की चहल-पहल, दौड़-धूप में तुम्हारे लिए भी कहीं जगह नहीं है। जितने बुरे हम लोग हैं (हँसता हुआ) तुम भी प्रायः वही हो...कम से कम समाज की तो ऐसी ही धारणा है। सिवा इसके कि समाज के कुछ इने गिने व्यक्तियों का मनोरंजन तुम से हो जाय, तुम्हारे जीवन से, तुम्हारे सुख, दुःख से किसे सहानुभूति है। तुम्हारी स्वाभाविक जगह तो यहाँ है, हम लोगों के साथ, उस परिवार में जिसके हम सभी सदस्य हों, जिन्होंने अपने जीवन और जगत् के साथ बड़ा से बड़ा प्रयोग किया हो।

प्रकाशचन्द्र : (मुसकरा कर) अच्छा तो इस परिवार के सदस्य कौन कौन रहेंगे और उसमें किसको-किसको कौन-कौन-सी जगह मिलेगी।

राधाचरण : {गंभीर मुद्रा में कुछ सोचता हुआ} तुम, वह, मैं और... {वहीं से पेड़ की ओर हाथ उठाकर संकेत करता है} बस यही चार!

प्रकाशचन्द्र : और राघवशरण?

राधाचरण : इधर कई दिनों से बराबर दिन और रात अधिक देर तक वे मेरे साथ रहे हैं।

प्रकाशचन्द्र : हूँ...!

राधाचरण : उनके यहाँ रहने का विशेष अभीष्ट दिल बदलाव था। उनका स्थान तो समाज के ठीक केन्द्र में है। वे जानते सब कुछ हैं, समझते भी सब कुछ हैं और सभी जगह उनकी वही दुनियाबी सरगर्मी रहती है। शायद तुम नहीं जानते वे भी माया से प्रेम करते हैं।

प्रकाशचन्द्र : --ऐं...

राधाचरण : डोरी जब टूट जाती है, पतंग को हवा के रुख के साथ नीचे गिरना पड़ता है। और यह दोष तो मनुष्य की प्रकृति का है। मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता - का इतिहास इसी प्रकार प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का इतिहास है, लेकिन अब तो हवा उलटी बह पड़ी है। इस युग में तो स्वतंत्रता की नई नई समस्याएँ मनुष्य के पुराने विश्वासों को हिलाकर उसे औंधे-मुँह प्रकृति की सड़क पर पटक देना चाहती हैं। और इसीलिए मैं तो राघवशरण को दोष नहीं दे सकता, केवल इतना ही कह सकता हूँ कि उन्होंने जो कुछ भी किया केवल पुरुष के रूप में किया नहीं, जैसा उचित होता...महापुरुष के रूप में किया और यही बुराई हुई। पुरुष अगर सावधान न रह सके, गलती कर बैठे... (कुछ

सोचकर) लेकिन महापुरुष जिसके तर्क और सिद्धांत का जवाब नहीं, अगर वह...!

प्रकाशचन्द्र : और उन्होंने...

राघवशरण : इसका पता तो शायद तुम्हें अधिक होना चाहिए। लेकिन तुम्हें नहीं है वह साधारण स्त्री नहीं रही। हालांकि अब तक जो कुछ भी हुआ है। उसके प्रतिकूल हुआ है। लेकिन इसमें उसका कोई अपना दोष नहीं था। तुम्हारे साथ विवाह भी उसने किया था केवल अपनी रक्षा के लिए और इसमें भी संदेह नहीं कि उसकी रक्षा हो गई...औरों से ही नहीं तुमसे भी उसने अपनी रक्षा कर ली और इसी में उसके नारीत्व का चरम विकास और चिरंतन लक्ष्य रहा।

{अकस्मात् पेड़ की डालें हिलने लगती हैं। राधाचरण उठकर तेजी से पेड़ के पास पहुँचता है। }

राधाचरण : क्या ? कब ? तो वह डूब गई ? और तुमने उसे नहीं रोका ? उफ, तुम हँस रहे हो ? तो तुम इसे अपनी वीरता समझ रहे हो ? हूँ...तो इसमें तुम्हारी कोई प्रेरणा नहीं थी, उसने स्वयं...अच्छा तो तुम्हारे लिए वह सदैव अजेय रही। (उद्वेग के स्वर में) लेकिन तुम बाधा तो डाल सकते थे। उसका संकल्प इतना दृढ़ था...! तुम्हारी इतनी बाधाओं पर भी...वह डूब गई। प्रकाशचन्द्र का रूप धरकर तुमने रोका, तब भी...क्या कहा। अब उस जन्म में। उस जन्म में और इस जन्म का अंत कर इस तरह ? अभागिनी स्त्री!

{राधाचरण वहीं धरती पर बैठ जाता है। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहता है। प्रकाशचन्द्र दीपक की लौ तेजकर चौकी पर झुककर लिखे हुए पन्ने बटोरकर रख रहा है। चौकी पर कोई मुड़ा हुआ कागज उठाकर खोलता है। झुककर पढ़ने लगता है। फिर तेजी से उठकर भीतर निकलजाता है।}

राधाचरण : (उठकर) तब ? ईश्वर का न्याय। ईश्वर का न्याय यह ? अच्छा तो अब तो शायद तुम किसी की जरूरत नहीं समझते। क्या (उद्विग्न होकर) दोनों की व्यवस्था मुझे...हूँ...ऐसा ही विधान है ? हर्गिज नहीं, मैं यह नहीं मान सकता। अगर मैं नहीं तो फिर प्रकाश को...मेरा मर्मस्थल तुम्हें मालूम है।

{ प्रकाशचन्द्र कमरे के बाहर निकल कर दौड़ता हुआ पेड़ तक पहुँच जाता है। }

प्रकाशचन्द्र : अनर्थ हो गया ?

राधाचरण : हाँ, हो तो गया ?

प्रकाशचन्द्र : आप नहीं जानते ?

राधाचरण : जानता हूँ जी, वह डूब मरी यही न ?

प्रकाशचन्द्र : {भर्राई हुई आवाज में} तो अब ?

राधाचरण : शांत...और अब हो ही क्या सकता है ? उसके जीवन का जो निर्दिष्ट पथ था, उसकी नियति तो नहीं बदली जा सकी और यह संभव है भी नहीं। लेकिन तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?

प्रकाशचन्द्र : (हाथ आगे बढ़ाते हुए) यह पत्र रख गई थी।

राधाचरण : (विषाद की हँसी में) इस समय भी उसे पत्र लिखने की सूझी ? प्रकाश...

प्रकाशचन्द्र : जी...

राधाचरण : उसने हम लोगों को और भी धनी बना दिया जी। अब...अब तो उस धन की रक्षा करनी होगी। {उसकी ओर ध्यान से देखकर} बोलो...

प्रकाशचन्द्र : तो शायद मैं छूट गया और अब...

राधाचरण : (हँसते हुए) किस तरह जी ?

प्रकाशचन्द्र : इस आत्मा-हत्या...

राधाचरण : इसीलिए तो नहीं...

प्रकाशचन्द्र : तो भला मैं...

राधाचरण : इसका फल कौन भोगेगा !

प्रकाशचन्द्र : लेकिन मैं तो...

राधाचरण : तुम्हारा उससे विवाह जो हुआ था।

{राघवशरण का प्रवेश}

राधाचरण : आइए, महोदय ! आप की प्रेमिका ने आत्म-हत्या कर ली।

राघवशरण : आत्म-हत्या कर ली...किसने, किस प्रेमिका ने मेरी...

राधाचरण : माया...माया डूब मरी...

राघवशरण : किस दिन, कब वह मेरी प्रेमिका बनी !

राधाचरण : तो कदाचित् इस विषय में भी आप से तर्क करना पड़ेगा।

राघवशरण : अच्छा तो यह लांछन मैं यों ही मान लूँ ?

राधाचरण : राघव बाबू ! इस संसार में अधिकांश प्रेमी आप ही की तरह हैं, जो साहस के साथ अपना पाप भी नहीं सम्हाल सकते...उसे भी अस्वीकार कर देते हैं। {राघवशरण प्रकाशचन्द्र , पेड़ और अपनी ओर हाथ उठाकर} जिस स्त्री के जीवन में एक, दो, तीन, चार, इतने प्रेमी हो उठें...सिवा आत्म-हत्या के वह और कर ही क्या सकेगी ? मनुष्यता का यह विडंबना मिटेगी कब ?

{राघवशरण धरती की ओर देखने लगता है।}

प्रकाशचन्द्र : {अस्वाभाविक उद्वेग और उत्साह के स्वर में} इसी से तो मनुष्यता मनुष्यता है, नहीं तो फिर उस में रस... (कुछ रुक कर) वह कितनी नीरस होती ? जहाँ तक मेरी बात मुझे स्वीकार है, मेरा उससे विवाह हुआ था...उसका सुख तो मुझे नहीं मिला।लेकिन उसके दु:खसे मैंनहीं भागसकता।कदाचित् विधाता का यही विधान था।

{प्रकाशचन्द्र आगे-पीछे टहलता रहता है, फिर तेजी से आगे बढ़कर कमरे में प्रवेश करता है और चौकी पर से लिखे हुए कागज उठा कर कमरे के बाहर फेंकने लगता है। फिर दाएँ हाथ से दीपक उठाकर कमरे के बाहर आता है और उन कागजों को उठा उठाकर जलाने लगता है। राधाचरण दौड़कर उसका हाथ पकड़ लेता है। प्रकाशचन्द्र उसके मुँह की ओर देखने लगता है। राघवशरण भी तेजी से चलकर वहाँ पहुँच जाता है। }

राधाचरण : क्या कर रहे हो ?

प्रकाशचन्द्र : {मुस्कराकर राघवशरण की ओर संकेत करता है} यह कहा करते थे 'तुम्हारी सृष्टि मिथ्या है। तुम अपने मरण और नरक को अमरत्व और स्वर्ग समझते हो।' उनका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, लेकिन इतना तो सच है, मैं अनुभव कर रहा हूँ, मैंने जो कुछ भी अब तक लिखा है मिथ्या रहा है, उस मिथ्या को जल जाने दीजिए। उस मिथ्या के सहारे तो मैं अब नहीं खड़ा हो सकता और आपके परिवार में रहना भी मुझे अब स्वीकार है। और राघवबाबू, अब तो मेरे पास कोई मिथ्या नहीं है न ? {राघवशरण की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता है। } आप महापुरुष हैं। मेरे जैसे साधारण जन के निकट अब आप कभी न आयें।

राघवशरण : मुझे आदेश तुम दोगे ? (क्रोध में)

प्रकाशचन्द्र : तुम्हें घृणा करूँगा। तुम मेरी पत्नी के प्रेमी बने रहे। उसने मर कर मेरे स्वाभिमान को बचा लिया। भागो नहीं तो मैं तुम्हारी आँखें फोड़ूँगा जिन में वासना लेकर तुम उसे देखते रहे। {झपट कर राघवशरण के मुँह पर थप्पड़ मार कर }मैं अब अपनी पत्नी का पुरुष हूँ पापी! मेरा पौरुष अब जगा है।

{ राधाचरण उसे पकड़ता है राघवशरण जाता है }

राघवचरण : तुम सनक गये हो

प्रकाशचन्द्र : पत्नी की मर्यादा मेरे थप्पड़ से बच गई उस लोक में मेरे इस पौरुष से वह सुखी होगी जिसकी आधी रात सदा दुःख में बीती।

{पर्दा गिरता है}

समाप्त

परिशिष्ट

अपने आलोचक मित्र से

तुमने सन्देह किया है कि कदाचित् मैंने अपने नाटक में बरनर्डशा के अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। इसका कारण जहाँ तक मैं समझ सका हूँ– यही है, कि इसमें मैंने सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है; और यही काम किया है बरनर्डशा ने। मैं तुमसे स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि वरनर्ड शा का अनुकरण भारत में सम्भव नहीं। बरनर्डशा की सूखी विवेक और तर्क की प्रणाली आध्यात्मिक अनुभूति के समझने में सफल नहीं हो सकी। पश्चिम और पूर्व के जीवन में अन्तर है। उनका विरोध जीवन की उन बनावटी बातों से है जिनके कारण पश्चिम आज अशान्त है, किन्तु टाल्सटाय अथवा रोम्याँरोलां की तरह उन्होंने शान्ति के किसी नये रास्ते का पता नहीं लगाया। उनका काम उपहास करना है सुधार करना नहीं। जिन विभूतियों के कारण हमारी सभ्यता इतने दिनों की गुलामी के बाद भी अभी अपना सिर ऊँचा किये खड़ी है उनकी भी दिलगी उड़ाने में वे बाज नहीं आते, गोकि उनके समझने का भी कभी उन्होंने कष्ट नहीं किया। संसार में ''नारी समस्या'' बड़ी जटिल है। इसे हम भी मानते हैं, वे भी मानते हैं, लेकिन हमारे और उनके समझने में अन्तर है। 'मैंन ऐण्ड सुपरमैन' में उन्होंने स्वर्ग और नरक के जीवों का सम्मेलन कराया है, इसी ''नारी समस्या'' को सुलझाने के लिये। इतनी बड़ी तैयारी और इसका फल ? और भी जटिल। स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध का आधार जहाँ तक वे समझ सके हैं– वासना की क्षुद्र प्रवृत्तियां हैं। स्वर्ग और नरक के जीवों का सम्मेलन (और वह भी दुनिया की किसी साधारण बात के लिये) हमारे सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। संसार की और सभी समस्याओं की तरह, ''नारी समस्या'' भी इसी भौतिक शरीर के साथ समाप्त हो जाती है। जितना ही अधिक उन्होंने ''नारी–उपासना'' का विरोध किया है उतना ही अधिक वे ''नारी-आकर्षण'' पैदा करते गये हैं। जहाँ कहीं भी द्वन्द चलता है, जीत हुई है इसी नारी-मोह की, रोम्याँरोलां के चिरन्तन नारीत्व......... की नहीं, वरनर्डशा की पिशाचिनी नारी की, जो पुरुष की ओर हाथ बढ़ाती है किसी स्थायी और आध्यात्मिक सम्बन्ध के लिये नहीं; क्षणिक और शारीरिक सम्बन्ध के लिये। तुम जानते हो मैं यह सब स्वीकार नहीं कर सकता।

शा महाशय की एक बात मुझे पसन्द है। उनके नाटक सामाजिक मशीन का काम करते हैं। यही होना भी चाहिये। इतिहास की गई बीती बातों को लेकर आँधी और तूफान पैदा करने वाले लेखक बहुत हैं। उनका काम भी बहुत आसान है। लेकिन जिसे जीवन की कल्पना करनी है– जीवन का निर्माण करना है– जीवन की अभिव्यक्ति करनी है, वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ता। व्यक्ति के जीवन पर देश और काल की समस्याओं का प्रभाव पड़ता है। जिन सामाजिक और राजनैतिक बन्धनों के भीतर हमारी आत्मा आज छटपटा रही है, यदि हम चाहें तो भी उनका समावेश इतिहास के महान चरित्रों में नहीं करा सकते। इस कारण हार कर हमें सामाजिक चरित्रों की कल्पना करनी पड़ेगी। मैंने यही किया है। चन्द्रगुप्त और अशोक, बोनापार्ट और कैसर के दिन चले गये। अब उस रोशनी की जरूरत नहीं, जो आँखों में चकाचौंध पैदाकर किसी ओर देखने नहीं देती। जरूरत है उस रोशनी की, जिसका कि सहारा लेकर हम कुछ दूर आगे बढ़ सकें। उन चरित्रों की जिनके हृदय की धड़कन हमारे हृदय की धड़कन में मिल सके। जिनके सुख, दुख, शोक और हर्ष में– हमें वही मिले जो हमे चाहते हैं या हम जिसे खोजते हैं और कहीं नहीं पाते। यह युग कलाकार का नहीं– तत्वदर्शी कलाकार का है जिसे तुम्हारे शा महोदय ने फ़िलासफर आर्टिस्ट कहा है। युग की समस्याओं का प्रभाव सबसे पहले कवि की, नाटककार की, उपन्यासकार की या एक शब्द में रचयिता की आत्मा पर पड़ता है। वह जो अनुभव करता है अच्छा या बुरा, ईमानदारी के

साथ तुम्हारे सामने रखता है, तुम्हारी आँखें खोलना चाहता है। उसके जीवन की अनुभूति तुम्हारे जीवन में प्रवेश करती है। तुम भीतर ही भीतर बदल जाते हो। तुम्हें पता नहीं चलता। अब तुम जगत पर दृष्टि डालते हो, देखते हो वह बदल गया, तुम भी बदल गये। जो कुछ था, सब बदल गया। यह क्यों ? सब कुछ नया ? यह काम कलाकार का नहीं, तत्वदर्शी कलाकार का है। मैं स्वयं ऐसे कई कलाकारों को जानता हूँ जिन्हें न तो कुछ कहना हैं और न कुछ लिखना, किन्तु वे व्याख्यान और साहित्य की भूलभुलैया में इस तरह पड़ गये हैं कि वे वह सब, जो बार-बार कहा और लिखा जा चुका है, उसी को दुहरा रहे हैं, थकते नहीं। यही सबसे बड़ी बुराई है।

''कला का निर्माण कला के लिए'', इसके लिए तो मैं कदाचित् एक पंक्ति भी नहीं लिख सकूँगा। जिसे कुछ कहना नहीं है, कुछ निश्चित नहीं करना है, वह चुप रहे, लेखनी को आराम करने दे। इसी में उसका भी भला है और समाज का भी। जो समझ नहीं सकता, लिख भी नहीं सकता। वह क्या लिखेगा ? वह अपनी सीमा के भीतर इस तरह घिरा हुआ है कि अपने से आगे, उसे कुछ नहीं सूझता। 'त्यागभूमि' में इस सिद्धान्त के विषय में मैंने मोशिये रोलां का विचार व्यक्त किया था। मेरे कुछ घनिष्ट मित्रों ने समझा कि मैंने उनकी रचनाओं पर इस रूप में आक्रमण किया है। मैंने उन्हें समझाया था। अब भी समझा रहा हूँ। यदि उन पर यह लागू हो सकता है तो उन्हें सोचना चाहिये कि कहाँ तक मैंने सच कहा था। यदि सच कहा था तो अभी बहुत दिन नहीं बीते। वे सुधर सकते हैं। हाँ, यदि वे चाहें, कुछ सोचें और समझें। मुझे याद पड़ रहा है, रोम्याँ रोलाँ ने कहीं कहा है-- ''प्रेम और कला के विषय में दूसरों ने क्या कहा है, यह पढ़ना व्यर्थ है। हम वही कह सकते हैं जो हम अनुभव करें और वे जब तक, उन्हें कुछ कहना नहीं होता और कहने में जल्दी कर बैठते हैं, कुछ कह भी नहीं पाते।'' कलाकार और तत्वदर्शी कलाकार में यही अन्तर है। जो कला रचयिता के व्यक्तिगत घेरे के भीतर रह जाती है और शेष समाज के साथ कोई सम्बन्ध पैदा नहीं करती, वह सफल नहीं होती। इस युग में कोरी कला सब कुछ नहीं है। इसी आधार पर कलाकार अपने समय में प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता और न तो वह अपने काल के प्रवाह के ऊपर अपना सिर उठा सकता है। सब कुछ देखना, सब कुछ समझना, सब कुछ अनुभव करना, एक शब्द में सत्य, जीवन और समय के सत्य की अभिव्यक्ति करना कलाकार का धर्म है।

जब तक यही नहीं होता और सब होकर ही क्या होगा ? प्रतिभा यदि वास्तव में कहीं है, तो वह उसी पुराने रास्ते में धूल के भीतर घसीटी नहीं जा सकती। उसकी इच्छा कानून है। वह जिधर नजर डालती है, नियम बनते जाते हैं। कलाकार वह कम्पास है जो तूफान में ठीक उत्तर की ओर संकेत करता है। तुम्हारा 'नहीं' कह देना बहुत सरल है। मैं इसे समझता हूँ। यह संसार की आकर्षण शक्ति का प्रत्यक्ष फल है। ऊपर की अपेक्षा नीचे की ओर पत्थर फेंकना बहुत आसान है, किन्तु यह चाहिये या नहीं, स्वयं सोच लो। सत्य न तो तुम्हारी मुट्ठी में है न मेरी। इसलिए मैं समझने के लिए तैयार हूँ, तुम भी तैयार रहो। तत्वदर्शी कलाकार जब लेखनी उठाता है, वह समझ लेता है कि वह अथाह जल में है, किनारे के लोग धूल फेक कर भी उसे डुबा सकते हैं।

रोम्याँरोलाँ के ल्यानार की तरह तुम क्या, तुम्हारे ऐसे बहुत से लोग हैं जो किसी भी नई चीज को पसन्द नहीं करते। वे मोत्सार्त और बीथोवेन, गेते और शाताब्रियां को भी पसन्द नहीं करते यदि वे आज जीते रहते और इन गन्दे लेखकों को बहुत पसन्द करते यदि वे मर गये होते। बात सीधी है। विरोध करने के पहले तुम्हारे ऐसे लोग समझने का प्रयत्न नहीं करते। ''उँह, इनमें क्या हो सकता है'', बस, यह मिथ्या विश्वास तुम्हें बहुत दूर बहका ले जाता है। रचयिता जब तक जीता रहता है, तुम उसकी ओर देखना नहीं चाहते, यह तुम्हारे स्वभाव का दोष है। यदि तुम समझ कर विरोध करते हो तो निस्सन्देह तुम समाज और साहित्य की बड़ी सेवा कर रहे हो, किन्तु समझकर, यह याद रहे।

मैंने अपना नाटक जैसा कि तुम्हें भ्रम हैऽ सामाजिक-क्रान्ति या राजनैतिक उलट-फेर के लिए नहीं लिखा। मैं अपने को उस योग्य नहीं समझता। यह बहुत बड़े दायित्व का काम होगा। इसका मतलब यह नहीं कि मैं चाहता नहीं। मैं कर'नहीं सकता। यदि तुम में से कोई यह करे तो मुझे संतोष होगा--यथाशक्ति मैं इसमें सहायता भी करूँगा। मैं जिस वातावरण में हूँ, वह मेरे हृदय और मेरी आत्मा के अनुकूल नहीं है। मैंने जो अनुभव किया है, देखा है, उसे इस नाटक के रूप में तुम्हारे सामने रख देता हूँ। यथार्थ--ज्यों का त्यों--ईमानदारी के साथ। इस वातावरण में सब से बड़ा दुःख या सब से बड़ी बुराई जो मुझे देख पड़ी है, वह यह नहीं कि आजकल शिक्षा से संस्कार नहीं बनता या चरित्र-बल नहीं आता या यह कि हमारी जाति विदेशी शासन के कीचड़ में फँसी है, बल्कि यह कि हम यह सब जानते हैं, समझते हैं, किन्तु इधर ध्यान नहीं देते। इसके प्रतिकार के लिए चल नहीं पड़ते। जिसे हम समझते हैं कि यह बुरा है, उसी में और योग देते हैं, यही दुःख है, यही दासता है, यही पृथ्वी पर नरक है। इसके प्रति विद्रोह की भावना बेचारे रचयिता की आत्मा को हिला देती है। वह कलम लेकर बैठ जाता है और तुम्हारे समाज के धनी-मानी प्राणी, जिन्हें न तो कुछ सोचना है न कुछ समझना है, जो यदि स्वयं सुखी हैं तो सारी दुनिया सुखी है, उसे देखकर हँसते हैं या उसे अपने विनोद का साधन बनाते हैं। जिस हालत में हमें सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, उसी में हम सन्तुष्ट हैं। यह आत्म-विस्मृति नहीं, आत्म-हत्या है। हाँ, तो इस वातावरण में मैंने जो अनुभव किया है, वही इस नाटक में दिखलाया है; न तो अपनी ओर से कुछ घटाया है और न बढ़ाया। जीवन के यथार्थत्व में जितना नाटकत्व है, उतना कल्पना की असंभवता में नहीं। कल्पना की असंभवता भ्रम पैदा करती है। तुम सोचने लगते हो ''यह सम्भव है ?'' ''ऐसा हो सकता है''? या ''ऐसा होना चाहिये''? सच तो यह है कि जिसे जीवन में नाटकत्व या साहित्य की सामग्री नहीं मिलती, वही कल्पना की झूठी दुनिया में तुम्हें ले जाता है, जहाँ न तो यह आकाश होता है और न यह पृथ्वी, न यह सूर्य, न चन्द्रमा, न तारे--कहीं कुछ नहीं, भ्रम, सब ओर भ्रम। असत्य, और कुछ नहीं। वहाँ तुम देखते हो, कहीं तो कोई बारह वर्ष की लड़की प्रेम के आध्यात्मिक रूप की व्याख्या करती है। अपनी माँ को इसलिये फटकारती है कि वह किसी दूसरे पुरुष को प्रेम करने लगी है और कहती है--''ज़ब वह पापी तुम्हारा चुम्बन लेता है, तुम्हें प्रियतमे कहता है''...इत्यादि जैसे द्विजेन्द्रकी लैलाऽ तो कहीं कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका से हताश होकर आत्म-हत्या करता है। इस तरह की सभी बातें जीवन के साथ विद्रोह करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस तरह के लेखक अपने उन्माद में तुम्हें इस तरह फँसा लेते हैं कि तुम्हें कभी शान्त होकर विचार करने का अवसर नहीं मिलता। तुम भी मनोवेगों में, सुन्दर शब्दों में जिनका वास्तव में कुछ मतलब नहीं होताऽ लच्छेदार वाक्यों में बह उठते हो। नाटक समास होता है। उपन्यास समास होता है। तुम्हें मिलता क्या है ? थोड़े से बिजली के धक्के। लेखक क्या चाहता है, तुम नहीं समझ पाते। तुम्हें करना क्या चाहिये ? यह भी तुम्हें नहीं सूझता। तुम्हारे हृदय में हलचल मच जाती है। तुम्हारी आँखों में नशा का भाव आज जाता है थोड़ी देर के लिए। फिर धीरे-धीरे तुम सब भूल जाते हो। पढ़ना और न पढ़ना, देखना और न देखना, सब बराबर हो जाता है। मैंने ऐसी पुस्तकों में आत्म-हत्या की तैयारी भी बहुत देखी और आत्म-हत्या भी। किन्तु सभी जगह यह झूठी मालूम हुई, घृणा हुई। घृणा हुई। आत्मा-हत्या की तैयारी जो--मुझे सच्ची मालूम हुई और जिसने मुझे वास्तव में बहुत कुछ समझाया और सिखलाया वह ज्यांक्रिस्तोफ़ की आत्म-हत्या की तैयारी थी। मैंने उसे देखा। मालूम हुआ सच है। जीवन विराट हो उठा। वर्षों बीत चुके, किन्तु वह दृश्य अब भी आँखों के सामने है जब चाहता हूँ देख लेता हूँ। जीने की इच्छा होती है। विपत्तियों की छाती पर पैर रखकर चलने को दिल चाहता है। मुक्ति सब की होगी--यह निश्चित है--ज्यांक्रिस्तोफ की आत्म-हत्या की तैयारी यह सन्देश देती है।

समझे ? मैंने अपने चरित्रों को यथाशक्ति जीवन के अनुकूल बनाया है। उनके हँसने में और उनके रोने में तुम्हें अपने जीवन की बातें मिलेंगी। यदि तुम्हारी रुचि अभी बिगड़ी नहीं है--यदि तुम असंभव के फेर में पड़कर यथार्थ से ऊब नहीं चुके हो, तो मुझे विश्वास है, तुम मुझसे सहमत होगे। मैंने जान बूझकर मनोरंजन करने लिए या धोखा देने के लिए किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है। मैंने अपने चरित्रों को जिन्दगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए, आगे बढ़ते गये हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ। मैंने उन्हें देखा है और समझा है--उनकी सभी बातों को,.उनकी सारी जिन्दगी को। मैं किसी के भीतर नहीं हूँ और सबके भीतर हूँ। उनमें न कोई मुझे प्रिय है न अप्रिय। वे सभी मेरे हैं--उन सबका मैं हूँ। मैं उनका विधाता हूँ। उनके प्रति मेरा क्या कर्तव्य है, मुझे मालूम है। वे क्रान्ति लेकर पैदा नहीं हुए। प्रेमचन्द्रजी के चरित्रों की तरह उनके मूल में ही क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति है उनके अन्त में। यह सच है कि उन्होंने भी क्रान्ति की है, सामाजिक या राजनैतिक नियमों की अवहेलना की है। किन्तु अब? विरोधी उपकरण जब जिन्दगी की राह रोक कर खड़े हो जाते हैं। यही स्वाभाविक है। किन्तु उनकी क्रान्ति असफल नहीं होती--वे जब एक बार चल पड़ते हैं, चल पड़ते हैं, फिर नहीं लौटते। इनका निर्माण मैंने आने वाली पीढ़ी की स्वतन्त्रता के लिए किया है। अपने मनोवेगों की तृप्ति के लिए नहीं। हमारा, तुम्हारा यह सब किसी का सत्य इसमें नहीं है कि हम सब क्या थे क्या हैं? बल्कि इसमें है कि हम सब क्या होंगे ? हमारा सत्य हमारे भविष्य में है। उसी भविष्य का ध्यान रखकर मैंने इस नाटक की रचना की है और इस तरह के कई और नाटकों की रचना करूँगा।

आने वाली पीढ़ी के लिए। अपनी रक्षा तो अब हम नहीं कर सकते। हमारा खेल तो यहीं, इसी में इसी वातावरण में जो हमारी आत्मा और हमारे हृदय के प्रतिकूल है समाप्त होगा। किन्तु इसीसे क्या हमें चुप रहना चाहिये ? जीवन से भाग कर हम जायेंगे कहाँ ? फिर तो यहीं आना पड़ेगा ? यह ऐसी बात नहीं जो तुम्हें उस व्यक्ति को, जिनका जन्म भारत में हुआ है, समझानी पड़े। मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है, जानते हो न ? वहीं, उसी क्षण दूसरा जीवन प्रारम्भ होता है। तो फिर देर क्यों? इसीलिये मैं कहता हूँ, आने वाली पीढ़ी के लिए। हमारे ही रक्त मांस से, हमारी ही आत्मा से उस पीढ़ी का निर्माण होगा, हम वहाँ भी रहेंगे दूसरे रूप में। जहाँ मुझे विश्वास नहीं हो सका, वहाँ मैंने अपना अविश्वास प्रकट किया। तुम मानो या न मानो, किन्तु वे जो आयेंगे, जिनका कभी अवतार नहीं हुआ, मुझे ऐसा लग रहा है जरूर मानेंगे। क्यों? इसीलिये कि मैंने विद्रोह करने के लिए विद्रोह नहीं किया है, अविश्वास करने के लिए अविश्वास नहीं किया है। मैंने जो कुछ किया है समझ कर, बाध्य होकर अन्त में, जानते हुए कि यह बुरा है, वर्षों तक मैं उसे उपयोगी मानता गया हूँ, किन्तु जब मेरी आत्मा संकुचित होने लगी है, मेरा हृदय डूबने लगा है, मेरा मस्तिष्क थक कर बैठ गया है, तब मैंने माना है कि यह बुरा है, सदैव के लिए बुरा है। तुम्हारा सारा तर्क और तुम्हारा सारा उपयोगितावाद, उस श्रेणी के स्वार्थ अथवा विनोद के लिए है जिसके हाथ में शिक्षा है, जिसके हाथ में शासन है, जिसके हाथ में सदाचार है, एक शब्द में जिसके हाथ में सब कुछ है और जो कुछ समझती नहीं। जिसका सारा विवेक है ''कल जो हुआ था, आज होना चाहिये'' यही कानून है, यह नियम है, यह विधान है। तुम भी यदि उस श्रेणी में चले जाते तो तुम्हारी आँखें भी इसी तरह बन्द रहतीं।

मेरे नाटक का पहला पृष्ठ पढ़कर तुमने कहा था-- 'इस नाटक में आधुनिक शिक्षा का विरोध हुआ है।' विरोध किसे कहते हैं यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु हाँ, शिक्षा की इस रीति को मैं पसन्द नहीं करता। यह व्यक्तित्व का नाश कर मनुष्य को मशीन बना देती है। मनुष्य कुछ स्वयं न सोच

कर, न समझ कर, दूसरों ने क्या सोचा है और क्या समझा है, बार-बार दुहराया करता है। अपनी आँखों से तब तक नहीं सूझता जब तक कि दूसरे का चश्मा न लगे। शिक्षा की इस प्रणाली में अच्छे और बुरे मस्तिष्क वाले सभी एक साथ जोत दिये जाते हैं। फल अच्छा नहीं होता। संस्कार और चरित्र-बल किसे कहते हैं, इसका पता इस शिक्षा में नहीं चलता। शेक्सपियर के पढ़ लेने के बाद मैकबेथ बन जाना आसान हो उठता है। पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी आदर्श, पश्चिमी जीवन हमारे रक्त में विषैले कीटाणु की तरह प्रवेश कर हमें अशान्त बना रहे हैं, हम सझमते हैं कि विकास हो रहा है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न शक्तियों के विकास का अवसर यहाँ नहीं। सबको एक ही ओर चलना पड़ेगा। कुछ तो अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरोध में सफल न होकर बीच में ही थक कर बैठ जाते हैं, किन्तु वे जो किसी तरह गिरते-पड़ते रास्ता तै भी करते हैं, यदि भाग्य या दुर्भाग्य से उसी या किसी दूसरी मशीन के पुर्जे नहीं बने, तो फिर उन्हें यह सारी यात्रा निष्फल मालूम होती है। वे सोचते हैं--''क्या मिला''? उत्तर मिलता है ''कुछ नहीं''। ज्यों के त्यों जो पहले थे वही, अब शायद उससे भी बुरे। पारसाल मेरे एक मित्र ने, जो सारी शिक्षा समाप्त कर वकालत करने लगे थे--एक बहुत बुरे--नीची कोटि के मनोविकार के कारण, आत्म-हत्या कर ली। पहले उन्होंने संखिया ली; फिर जब देखा कि डाक्टर के आने पर प्राण बच जायेंगे तो गले में रस्सी बाँध कर कूएँ में लटक गये। ऐसा क्यों हुआ ? इतनी शिक्षा और यह फल ? शिक्षा ने उन्हें संस्कृत नहीं किया था। उनके शब्दों, वाक्यों और पुस्तकों के ज्ञान ने उनके मनोविकारों को और भी जगा दिया था। रोमान्टिक लेखकों के प्रेम, शोक और आत्म-हत्या के झूझे सपने वे बराबर देखा करते थे। आजकल जब देश में स्वतन्त्रता की लड़ाई जारी है, जिसे जीवन का मोह न हो इधर आये, देश और जाति के लिए कुछ करे, मरना ही है तो अक्षय कीर्ति और यश लेकर मरे।

इस शिक्षा में जो सब से बढ़ कर बुराई है, वह अब आई है। और वह है लड़के और लड़कियों का साथ पढ़ना। यह रीति पश्चिम से आई है, किन्तु अपने साथ वह सहिष्णुता नहीं ला सकी जो पश्चिम में इसका मूल तत्व है। यह हो, अच्छा है; किन्तु उसके साथ वह सहिष्णुता भी रहनी चाहिये। जवान लड़के और लड़कियाँ जहाँ दो-चार नहीं, दस-बीस नहीं, सौ-पचास साथ रहे हैं, बहुत सम्भव है कि कोई किसी की ओर देख ले, भूल कर पत्र लिख दे। यह प्रकृति है, यह स्वभाव है। इसका प्रतिकार दो वर्ष के रेस्टिकेशन या किसी अभागे विद्यार्थी का जीवन नष्ट करने से नहीं हो सकता है। पुलिस और जेलखाने सदाचार बढ़ाने में सफल नहीं हुए और न कभी होंगे। शिक्षालयों का नियमन मार्शल ला से नहीं, स्पिरिचुअल अथवा कल्चरल ला से होना चाहिये। यही उपयोगी होगा।

शिक्षकों के बारे में भी दो शब्द। प्रथम श्रेणी का एम० ए०, प्रोफेसर होने की योग्यता है। चरित्र का संस्कार कुछ हो या नहीं। इसी नाटक में एक प्रोफेसर साहब, जो अभी नयी उमर के हैं, एक लड़की से प्रेम करने लगते हैं, उनकी शिक्षा, उनके भीतर जो प्रकृति है, उसे दबा नहीं सकी। दूसरी ओर एक दूसरे महाशय, जिनकी अवस्था पचास से भी अधिक है और जिनका सारा जीवन साहित्य की शिक्षा देने में बीता है, जवान लड़की से विवाह करते हैं। उसकी तृप्ति उनसे नहीं होती। इस प्रकार जीवन जटिल और विषमय हुआ है। नाटकत्व की सामग्री इकट्ठा हुई है। मनुष्य को जिस चीज की वास्तव में जरूरत है, वह शिक्षा नहीं, संस्कार है। इसी से जीवन जीवन है। इसके लिए मेरे पास दूसरे शब्द नहीं। यह काम उनका है जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं। उन्हें इस ओर ध्यान देना चाहिये। स्वाभाविक विवेक बुद्धि का विकास होना चाहिये, जानकारी स्वतः होती रहेगी।

इस युग में साहित्य राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। राजनीति को जितनी जगह हमारे जीवन में मिली है, उतनी जगह उसे साहित्य में मिलेगी। ''कलाकार को अपने युग का

जीवन बिताना है'', रोम्याँ रोलाँ ने बहुत समझ कर कहा है। साहित्यकार भी नागरिक है--विदेशी शासन की बुराइयों का फल उसे भी भोगना पड़ रहा है। इस नाटक में मैंने एशियाई संघ की कल्पना की है; उसे तुम दूर की राजनीति कह सकते हो, लेकिन मैं तो इसे पास की राजनीति समझता हूँ। जातियों अथवा राष्ट्रों का युद्ध अब प्राय: समाप्त सा हो रहा है-- अब रंगों का युद्ध छिड़ेगा। गोरी जातियाँ एक होकर अपने स्वार्थ के लिए हम रंगीनों (कालों, भूरों, पीलों) को दबाना चाहेंगी। विचारों में तो युद्ध प्रारम्भ हो चुका है। यूरप और अमेरिका के अनेक लेखक गोरी जातियों को सम्मिलित होकर रंगीन जातियों पर अधिकार जमाने का उपदेश दे रहे हैं। स्टेफेन किंगहाल लाथास्तोदार, पुटनम्बील, हिडंमन ब्लाण्ड और प्रसिद्ध कैथोराइन मेयो--सरीखे लेखक भिन्न-भिन्न रास्तों से यह प्रोपैगैण्डा कर रहे हैं। ये कहते हैं कि संसार की सभ्यता की रक्षा गोरी जातियाँ ही कर सकती हैं? कुमारी मेयो की ''मदर-इण्डिया'' क्या इसी पृथ्वी पर नरक नहीं है। इनके विचारों में रंगीन जातियाँ जन्म और रक्त से ही गोरी जातियों से हीन हैं--न तो वे किसी सभ्यता का निर्माण कर सकती हैं न उसकी रक्षा। गोरी जातियों को संसार के हित के लिए इनका नियन्त्रण करना चाहिये। इनके अनुसार हम कुली हैं, जंगली हैं, असभ्य हैं। हाँ, यदि हम इनके बतलाये हुए रास्ते से धीरे धीरे बढ़ें तो किसी समय (कम से कम एक हजार वर्ष में) इनकी योग्यता के होंगे। हम तब तक चुपचाप बैठे रहेंगे ? नहीं। हमें एशियाई संघ की स्थापना अवश्य करनी पड़ेगी। अपनी रक्षा करने के लिए और एक नई सभ्यता के निर्माण के लिए, जिसका आधार संस्कार सेवा होगा--रंगों की विषमता और घृणा नहीं।

काशी, चैत्रशुक्ल ३,
सं० १९८६

विक्रमलक्ष्मीनारायण मिश्र

मेरा दृष्टिकोण

कला का अन्त स्वप्न की फुलवारी में नहीं होता। उसका अन्त होता है जीवन समुद्र के किनारे जहाँ आँधी है और वज्र है, बिजली और उल्कापात है, जहाँ मानव जीवन की विषमतायें एक के बाद दूसरी भयंकर लहरों के रूप में उठतीं और बैठती हैं, जहाँ मनुष्य का सारा ज्ञान और आदर्श, सुख, दु:ख, शोक, प्रेम और घृणा कैदी की जंजीर की तरह टूट कर मनुष्य को सदैव के लिए स्वतन्त्र कर देती हैं, जहाँ मनुष्य प्रवृत्तियों और मानसिक दुर्बलताओं का गुलाम न होकर अपना राजा बन बैठता है, जहाँ उसके जीवन का सत्य ब्रह्माण्ड के सामञ्जस्य में मिल कर एक हो जाता है। सम्भव है कल के पारदर्शी इस सिद्धांत के क़ायल न हों, लेकिन मेरा तो यही सम्बल है। जिन्दगी की चहारदीवारी के चारों ओर घूम आना, यह तो शायद कला नहीं है, उसे कहीं न कहीं से तोड़ कर (क्योंकि उसके भीतर घुसने का कोई स्वाभाविक रास्ता नहीं है) उसके भीतर घुसना होता है, उसके भीतर घुस जाने पर... अरे कितना भ्रम और कितना आडम्बर! कितना भुलावा और कितनी आत्मवञ्चना! सचाई को छिपा लेने के लिए सभ्यता, संस्कार, शिक्षा, नियम और, कानून, एक के बाद दूसरे इस तरह अनेक पर्दे।

यह सब किसलिए? जीवन के विकारों को सजाकर, उसे और सुन्दर बना देने के लिए, अपनी जंजीरों के ऊपर पालिश कर उन्हें और मजबूत और आकर्षक बना देने के लिये। सचाई कहीं खुल न जाय अन्यथा जिन्दगी में फिर कोई रस नहीं रहेगा। इस युग के संदेहवाद और बुद्धिवाद के मूल में यही रहस्य है। मनुष्य जिन्दगी की सर्दी-गर्मी में इस तरह... बेतरह फँस गया है कि उसके आगे उसे कुछ नहीं सूझता... उसका जीना और मरना सब मजबूरी पर निर्भर है। वह जीता है मजबूर होकर और मरता भी है मजबूर होकर। वीरता (इस शब्द का प्रयोग मैं इसके आध्यात्मिक और मानसिक दोनों अभिप्रायों में कर रहा हूँ) का जमाना, जिसमें मनुष्य जिन्दगी और मौत को खिलवाड़ समझता था, जब फोड़े के दर्द में कराहना शरीर की ही नहीं, मन की भी कमजोरी समझी जाती थी, शायद हमेशा के लिये चला गया। अब तो रोने और हँसने में देर नहीं लगती। हमारी कमजोरियाँ हमें जिधर चाहती हैं घुमा देती हैं, हम साहस के साथ खड़े नहीं होते... पग-पग पर हमें भय का, सन्देह का, सुख-दु:ख का दुर्लंध्य पर्वत देख पड़ता है, हम घबड़ा कर खड़े हो जाते हैं--आगे बढ़ने का साहस हममें नहीं। जहाँ पैदा होते हैं-वहीं उसी स्थिति में, अपने पीछे हम कोई लपट नहीं छोड़ जाते।

क्यों? इसलिये कि हमने जीवन के साथ विद्रोह किया है। जिन्दगी क्या है? क्यों? कैसे है? जीवन के रहस्य क्या हैं? इनके समझने के लिये हमने जीवन के उपकरणों का विश्लेषण नहीं किया। हम अपने मांस और रक्त की चिन्ता में, उसकी सीमा के आगे नहीं बढ़ सके। बातें तो की हमने आदर्शवाद की, लेकिन अपने भीतर नहीं देखा वहाँ कितना प्रकाश और कितना अन्धकार था। हमारे भीतर जो राक्षस है, उसको भोजन तो हमने खूब दिया, पर वह जो देव था--वह तो भूखों मर गया।

पर वह जो देव है कभी मरता नहीं। भोजन और जल न मिलने पर वह दुर्बल हो जाता है मालूम होता है कि वह मर गया, क्योंकि उसकी ध्वनि तब नहीं सुनायी पड़ती जब कि वह निर्बल और साहसहीन हो जाता है। लेकिन ज्यों ही वातावरण में परिवर्तन होता है, उसे भोजन और जल मिलने लगता है, वह जाग उठता है, सबल होकर मनुष्य की जिन्दगी की बागडोर हाथ में सम्हालता है। उसका भोजन और जल क्या है? ऊँची कला इसी रहस्य का उद्घाटन करती है। यही कला की चरम और चिरन्तन सेवा है। अनातोले फ्रान्स ने कहा है-- ''जीवन की सद्भावना

और सुन्दरता अपने रहस्यों को खोलना नहीं चाहती।'' कला...उन्हीं रहस्यों को खोल कर, जिन्दगी के कोने-कोने को प्रकाशित कर मनुष्य के भीतर जो देव है, उसे भोजन और जल देती है। उसे इस योग्य बनाती है कि मनुष्य में जो कमी है, जिसकी खोज में मनुष्य इधर-उधर अन्धकार में टटोल रहा है और जिस सत्य को खोजता है, नहीं पाता, वह उसे उस सत्य का पता बता दे या उसे उसके सामने प्रत्यक्ष कर सके।

आज दिन हम जिसे आधुनिक सभ्यता कहते हैं, जिसमें मशीन के पुर्जो की तरह मनुष्य का संचालन हो रहा है, जिसमें मनुष्य अपने ऊपरी आवरण को सजाने में अपने भीतरी उपकरणों की अवहेलना कर रहा है, जिसमें मनुष्य की जिन्दगी दुनियावादी चहल-पहल और धक्कम-धक्का के आगे नहीं बढ़ती; हमारे सुख और संतोष का अन्त यहीं तक है या हमें और आगे बढ़ कर, जिन्दगी के भीतर जो गंभीर तत्व या रहस्य हैं, उन्हें समझ कर इसी समय और सीमा के निर्धारित जगत् को मनुष्य का स्वर्ग बना देना है ? बात तो कुछ असम्भव या अस्वाभाविक भी मालूम होगी क्योंकि अभिरुचि का प्रवाह बिल्कुल इस के प्रतिकूल है। थोड़ी देर रुक कर विचार करने का भी अवसर नहीं है अन्यथा लहर निकल जायेगी और ठहरने वाले पीछे पड़ जायेंगे। पर मुझे तो अपनी निर्बल वाणी में कहना है--''ठहरो। ठहरो! गलत रास्ते पर जा रहे हो, ठहरो। हजारों वर्ष पहले उपनिषद् काल में मनुष्य जाति ने जो अनुभव किया था, वह सन्देश तो सुनते जाओ।'' उपनिषद् जीवन के सार तत्व और विकास की सीमा हैं। जीवन की लीला, मानसिक तृप्ति, शान्ति की व्यापकता, वेगशाली और अनन्त गति यही जीवन के सन्निहित तत्व हैं; यही चिरन्तन विभूतियाँ हैं।

लेकिन यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम जिन्दगी को सब ओर से, भीतर और बाहर से, प्रवृत्तियों के चढ़ाव और उतार को दैवी और राक्षसी द्वन्द्व को, आशा और निराशा के सम्मिलन को, लालसाओं और इच्छाओं के मरुस्थल को, होनी और अनहोनी की रंगशाला को देख न लें, समझ न लें, जिन्दगी की भलाई-बुराई को...सारी जिन्दगी को लेकर सुमेरु पर न पहुँच जायँ। संन्यासी की भूमिका में मैंने लिखा था--''इसकी रचना मैंने आने वाली पीढ़ी की स्वतंत्रता के लिये की है और इस तरह के कई और नाटकों का निर्माण करूँगा। लेकिन यह स्वतंत्रता है क्या ? इसकी परिसमाप्ति कहाँ और कब होगी ? इस अवसर पर बतला देना चाहता हूँ। स्वतंत्रता की ओर हम तेजी से बढ़ते चले जा रहे हैं, हमारा देश उस भयंकर भँवर को पार कर रहा है जिसके बाद ही स्वतंत्र-राष्ट्र की जन्मभूमि है। आज दिन जो शासन और रजानीति की मशीन है, उसे बदल कर हम ऐसी स्थिति लाना चाहते हैं जिसके मूल में आत्मनिर्भरता अथवा स्वतन्त्रता के सार का रहस्य है। लेकिन इस स्वतंत्रता का आधार क्या होगा? केवल शासन की बागडोर? देश के धन और जन पर अबाध अधिकार? अथवा राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन का संचालन। जब तक यह अन्तिम बात न होगी, स्वतंत्रता की सारी विभूति का सुख और आनन्द हम उठा सकेंगे? लेकिन यह बात होगी कैसे? जिन्दगी की बात जिन्दगी से पूछी जानी चाहिये। यूरोप अमेरिका में विचारकों की आवाज प्रजातन्त्र के विरुद्ध उठ रही है। प्रजातन्त्र अपने उद्देश्य को नहीं पहुँच सका। क्यों ? उनका कहना है कि सर्वसाधारण के हाथ में शक्ति तो आ गई, लेकिन साथ ही साथ सर्वसाधारण की विचारहीनता, संकीर्णता और नीची कोटि के स्वार्थों के लिये सिद्धान्तों और अदर्शों की हत्या-असहिष्णुता की प्रवृत्ति का भी प्रचार हुआ। सर्वसाधारण के लिये समझदारी और जिन्दगी की भलाई-बुराई का अन्दाज लगाने के लिये जब तक सही पैमाने नहीं बनाये जाते, यह खतरा कहीं भी रहेगा और यह काम व्याख्यानों या प्रस्तावों से नहीं होगा। इसके लिए तो मनुष्य की सारी जिन्दगी को प्रकाशित करना पड़ेगा भविष्य की कला और साहित्य का यही उद्देश्य होगा। प्रायः इसी अभिप्राय से मैंने 'संन्यासी' लिखा था, इस नाटक 'राक्षस का मन्दिर' की रचना की है और मेरे आने वाले नाटक भी इन्हीं विचारों पर अवलम्बित रहेंगे।

इस नाटक 'राक्षस का मन्दिर' में मैंने अपना लैन्सेट निर्दयता के साथ उठाया है। मुझे सन्देह हो रहा है मेरे थोड़े या अधिक पाठक मुझ पर क्षुब्ध हो उठेंगे। मुमकिन है वे यह भी कहें कि मेरी यह रचना अश्लील या संहारक हो गयी। उनका यह सब कहना किसी अंश तक ठीक भी होगा। पर इसका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं, मुनीश्वर और रामलाल पर है--अश्करी और ललिता पर है। अथवा समाज के उसी अधिकांश भाग पर है जिसके मुख्य उपकरण मेरे नाटक के ये चरित्र हैं। मुनीश्वर उस समय समुदाय अथवा प्रवृत्ति की उस आधुनिक लहर का प्रतिनिधि है, जिसमें बुद्धि और तर्क के आगे और किसी भी वस्तु का स्थान नहीं। यदि मुनीश्वर का जीवन समाज अथवा संसार के बाहर नहीं, तो मेरी कला किसी पहलू से भी दूषित नहीं कही जा सकती। मुनीश्वर के भीतर विवेक और प्रवृत्ति का जो द्वन्द्व मुझे देख पड़ता है, आज दिन शिक्षित समुदाय की वही सबसे बड़ी समस्या है--'रहें या न रहें' अभी समाप्त नहीं हुआ। कभी समाप्त भी होगा या नहीं, इसमें भी सन्देह है। मुनीश्वर के भीतर तो इसकी समाप्ति नहीं हुई। आगे का संसार भी इस चक्र से कदाचित् न निकले। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ उसे एक ओर ले जाना चाहेंगी--कदाचित् उसका विवेक दूसरी ओर, उसका दैवी राक्षसी द्वन्द्व किसी न किसी रूप में, सदैव चलता रहेगा।

तब कुछ नहीं। जो है रहेगा। रहना भी चाहिए। जरूरत है समझ जाने की। जिन चीजों को हम बुराई, भलाई, सुख, दुःख, पाप, पुण्य, नरक स्वर्ग कहते हैं उनमें सामञ्जस्य पैदा करने की--अपने बनावटी पर्दों को (जिनका काम है हमारे 'निन्दनीय' को छिपाये रखना) उठा देने की, अपने हृदय और अपनी आत्मा को आकाश की तरह विस्तीर्ण, स्पष्ट कर देने की। उसमें हमारे भीतर जो कुछ है, नक्षत्रों की तरह सब किसी को देख पड़े। इसी में हमारा कल्याण है 'प्राइवेसी इज सिन' टाल्स्टाय ने शायद इसी मतलब में कहा था।

क्षुब्ध होने की कोई बात नहीं। अगर हो, तो भी मेरी लेखनी से क्षुब्ध न होकर, अपनी जिन्दगी से क्षुब्ध होना अच्छा होगा। उपभोग और आनन्द में अन्तर है, जिन अभागों ने उपभोग को आनन्द समझ रखा है, जिनके सदाचार का स्वरूप सड़क पर दूसरे तरह का है और कमरे में दूसरे तरह का--यह नाटक मैंने उन्हीं के लिये, उन्हीं की मुक्ति के लिखा है। अभी तो वे इस बात के कायल नहीं होंगे, लेकिन मेरी आशा तो भविष्य में है, मुझे इसकी चिन्ता नहीं। कला की सफलता इन्द्रियों को सुला देने में नहीं, मनुष्य के भीतर उन्हें सजग करने में है। मेरा यह नाटक किसी भी व्यक्ति के भीतर सजग वृत्ति पैदा कर सकेगा तो मैं समझूँगा कि मेरा उद्देश्य पूरा हो गया और यह अवश्य होगा।

''कहीं भी ऐसी जिन्दगी नहीं जिसमें कोई न कोई बुराई न हो। हम लोग जी रहे हैं केवल जिन्दगी को निगल कर, और विचार जो कि स्वतः एक कार्य विधि है, उस निर्दयता या असहिष्णुता से छुटकारा नहीं पा सकता, जिसका मेल सभी तरह की कार्यविधि में देख पड़ता है। विचार ऐसा नहीं हो सकता, जिसमें कोई न कोई खतरा न हो। कोई भी विचारधारा जिसका प्रवाह रोका नहीं जा सकता--निन्दा, आघात अथवा अपवाद से छुट्टी नहीं पा सकती। भविष्य का सदाचार प्रारम्भ में सबसे बड़ा दुराचार समझा जाता है। भविष्य के सम्बन्ध में न्याय करने का अधिकार हमको नहीं है।'' अन्त में अनातोले फ्रांस के इन शब्दों में अपनी भूमिका समाप्त कर आशा करता हूँ कि पढ़ने वाले मेरी इस रचना को सहानुभूति के साथ देखेंगे। सहानुभूति के साथ इसलिए कि इस तरह उन्हें समझने में आसानी होगी, वे मनुष्य की सीमा को अच्छी तरह देख सकेंगे।

प्रयाग

आश्विन कृष्ण १०

१९८९ विक्रम

लक्ष्मीनारायण मिश्र

अड़तालीस वर्ष बाद

सन् १९३१, ३२ में प्रयाग की प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्था साहित्य भवन लिमिटेड से मेरे नये नाटक संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य प्रकाशित हुए थे। उस संस्था के संस्थापकों में राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन और प्रसिद्ध उपकारी रईस लाला मनमोहन दास टंडन 'बच्चा जी' जैसे अनेक सम्मानित नररत्न थे। संस्था का उद्देश्य था सत् साहित्य का प्रकाशन और बिना हानि लाभ के लेखा जोखा के हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन। हिन्दी ग्रन्थों को राष्ट्रभाषा के प्रचार के रूप में उत्तर भारत की जनता ने स्वीकार कर लिया था। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण के अन्य राज्यों में भी महात्मा गाँधी के प्रभाव में हिन्दी का प्रचार हो रहा था। ऋषिकल्प बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय और उनके पूर्व राजा राममोहन राय जैसे अनेक महापुरुष हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर चुके थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती का 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में प्रकाशित हो चुका था। स्वतंत्रता के आन्दोलन के साथ ही साथ हिन्दी प्रचार भी उसका एक अंग बन चुका था। साहित्य भवन लिमिटेड ने भी उस राष्ट्रीय जागरण में अपना भरपूर योग निभाया। उस प्रकाशन संस्था के गौरव से प्रभावित होकर हिन्दी नाटक में नई विधा के प्रवर्तक इन तीन नाटकों को जहाँ तक स्मरण हैं मैंने एक ही साथ दिया था। और प्राय: एक ही साथ तीनों नाटक प्रकाशित भी हो गये। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अनेक विषयों के आचार्यों ने इन नाटकों को पढ़ा और हिन्दी नाटक में नये युग के प्रवर्तक के रूप में इन्हें स्वीकार किया। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इन नाटकों के आकर्षण में कृपा पूर्वक मुझसे सम्पर्क किया और इच्छा प्रकट की कि नाटक तो सभी चमत्कृत करने वाले हैं सभी सशक्त हैं स्वाभाविक हैं युगबोध इन नाटकों में सार्थक रूप में व्यक्त हुआ है। इतने सुन्दर नाटक लिखकर भी मैं इनकी भूमिकाओं के कारण हिन्दी जगत् में विरोध और प्रतिरोध का वातावरण भी उत्पन्न कर चुका हूँ अत: भविष्य में मैं जो नाटक लिखूँ उनकी भूमिका लिखने और लिखाने का अधिकार मैं उन्हें दे दूँ। साहित्य भवन से प्रकाशित इन तीन नाटकों को देखकर प्रसिद्ध कलाविद् श्री रायकृष्णदास जी ने अपनी प्रकाशन संस्था भारती भण्डार के लिए कुछ नाटक लिखने की प्रेरणा मुझे दी। सन् १९३२ के कुल ६ दिनों में मैंने उन्हें 'राजयोग' और 'सिन्दूर की होली' दो नाटक लिखकर दे दिया। तीन दिनों में 'राजयोग' के तीन अंक और फिर बाद के तीन दिनों में 'सिन्दूर की होली' के तीन अंक लिखे गये। इन दोनों नाटकों का मुद्रण भी एक ही साथ सन् १९३२ के अन्त में हो गया। छपे फर्मे डा० रामप्रसाद त्रिपाठी को भूमिका लिखने को मैं दे आया। दोनों के छपे फर्मे उन्होंने डा० अमरनाथ झा को दे दिया। डा० झा को 'राजयोग' अधिक रुचा और उन्होंने उसकी भूमिका लिखी डा० रामप्रसाद त्रिपाठी 'सिन्दूर की होली' की भूमिका के लेखक बने। दोनों विद्वानों की रुचि यहाँ भिन्न हो गई और उस रुचि भिन्नता ने कालिदास की इस युक्ति को सार्थक किया।

''नासौ न काव्यो न च वेदसम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि: लोक:''

मेरे नाटकों के प्रसंग में भिन्न रुचि के संदर्भ का अन्त यहीं नहीं हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालय के आचार्य श्री धूर्जटि प्रसाद मुकर्जी ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'मार्डन इण्डियन आर्ट' में 'मुक्ति का रहस्य' को हिन्दी की प्रथम प्रगतिशील रचना स्वीकार किया। यही स्थिति स्वामी विवेकानन्द के अनुज डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने अपनी बंगला पुस्तक ''साहित्येर कथा'' में भी स्वीकार की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यक्ष प्रोफेसर देव मेरे इन पाँचों नाटकों को पढ़ कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि इन सबमें सर्वश्रेष्ठ और समर्थ नाटक 'राक्षस का मन्दिर' है। प्रयाग विश्वविद्यालय के अँग्रेजी विभाग के कई प्राध्यापक उनके इस मत को स्वीकार कर चुके थे। प्रोफेसर

देव की प्रेरणा से मेरे नाटकों का मंचन विश्वविद्यालय के छात्रावासों में कई बार हुआ सबसे अधिक अभिनय इसी नाटक 'राक्षस का मन्दिर'' का हुआ था। प्रोफेसर देव ने भी मुझसे सम्पर्क किया और मिलने पर इस नाटक की मनोरम समीक्षा मुझे सुनाई जितना मुझे स्वयं नहीं सूझा था। सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का चित्रण पात्रों और परिस्थितियों की मनोवैज्ञानिक संरचना पर आचार्य देव बहुत कुछ कह गये थे।

उनके मत में यह नाटक उस नवीन पद्धति में मेरे पाँचों नाटकों में सबसे श्रेष्ठ या जिसका प्रभाव उनके मन पर सबसे अधिक पड़ा था।

मेरी कई रचनायें इस समय प्रायः अनुपलब्ध हो चुकी हैं। प्रकाशकों ने उनका नया संस्करण नहीं निकाला और पी-एच०डी० और इसकी समकक्ष उपाधियों के लिए शोध प्रबन्ध लिखने वाले इन रचनाओं के लिए मुझे उलाहना देने लगे। मैं केवल लेखक था। प्रकाशक नहीं था। मुझे इस कठिनाई से उबारने के लिए डा० शिवनाथ पाण्डेय ने वाराणसी के संजय प्रकाशन को प्रेरित किया और इस प्रकाशन के संचालकों ने मुझसे सम्पर्क किया और विश्वास दिलाया कि मेरी अनुपलब्ध सभी रचनाओं को वे प्रकाशित करेंगें जिनमें मेरे एकांकी संग्रह भी होंगे। मैं डा० शिवनाथ पाण्डेय का कृतज्ञ हूँ। यों मेरे लिए वे पुत्र तुल्य हैं, ''भारतीय भावबोध और लक्ष्मीनारायण मिश्र'' शीर्षक पी एच० डी० का शोध प्रबन्ध भी उनका काशी विद्यापीठ से स्वीकृत हो चुका है। संजय प्रकाशन के संचालकों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ।

शारदापीठ, गुरुधाम
वाराणसी-१ **लक्ष्मीनारायण मिश्र**
ज्येष्ठ पूर्णिमा सं० २०३५

मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?

'राक्षस का मन्दिर' लिखने के बाद मुझे यह नाटक 'मुक्ति का रहस्य' लिखना अनिवार्य हो उठा। कुछ तो इसलिए कि उस नाटक में जीवन के जिस पहलू पर मैंने प्रकाश डाला था--सदाचार और परंपरा निर्वाह की जिन रूढ़ियों की ओर मैंने संकेत किया था--सब ओर से सही होने पर भी उनमें इतना विष और इतना अनुताप था कि कुछ लोग उसे आसानी के साथ पचा नहीं सके। जिन बातों के लोग अभ्यस्त नहीं थे, जिन समस्याओं की ओर से आँखें बन्द रखना ही लोग पसन्द करते थे, वे अब एक झटके में ही उनके सामने आ गईं। 'राक्षस का मन्दिर' को पढ़कर कुछ मित्रों ने समझा कि मैं सदाचार या दुराचार, ईश्वरवाद या अनीश्वरवाद अथवा दूसरे शब्दों में जीवन और जगत् की भी बातों को बुद्धिवाद और तर्क की सूखी कसौटी पर रखकर अपनी लेखनी से समाज की भयंकर हानि करना चाहता हूँ।

इस सम्बन्ध में मैं कुछ विशेष नहीं कहना चाहता। मेरा यह निश्चित विचार है कि सदाचार या दुराचार, ईश्वरवाद या अनिश्वरवाद के सिद्धांत, विवेक और इतिहास की कसौटी पर सदैव एक नहीं अनेक रूप में दीख पड़े हैं। विभिन्न काल और भिन्न-भिन्न देशों में इन चीजों का कोई एक निश्चित रूप नहीं रहा। आज दिन समाचार का जो रूप है, बीते युग में वह सबसे बड़ा दुराचार था और भविष्य में सदाचार का जो रूप होगा आज दिन उसकी कल्पना भी पंकिल समझी जा सकती है। आँख मूँद कर स्वीकार कर लेने से तो श्रेयस्कर है आँख खोलकर अस्वीकार कर देना। आज दिन जिसे हम बुद्धिवाद या बौद्धिक मीमांसा कहते हैं उसके मूल में यही धारणा काम कर रही है। स्वीकार अथवा अस्वीकार कर देने में ही किसी समस्या का अंत नहीं होता। जो है अवश्य रहेगा, हम मानें या न मानें। हमारे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का आधार अंधविश्वास या परम्परागत रूढ़ियों का निर्वाह न होकर हमारी आत्मा की, हमारी अनुभूति की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। हमारा विवेक इतना जागरूक होना चाहिये कि हम जीवन की ऊपरी सतह को उठाकर देखें वहाँ चिरंतन क्या है ? चिरंतन--सब कुछ चिरंतन। स्त्री और पुरुष का चिरंतन सदाचार और धर्म का चिरंतन जीवन और मृत्यु का चिरंतन--चिरंतन विश्व का चिरंतन विधान। ईश्वर के विषय में 'हाँ या नहीं' पर्याप्त नहीं हो सकता। उसका होना या न होना--हमारे जीवन या व्यक्तित्व में क्या उलटफेर करता है ? वह भावगम्य है या बुद्धिगम्य ? शाब्दिक प्रार्थना या विधिवत पूजा का मतलब क्या है ? क्या हमसे अलग उसकी कोई पृथक् सत्ता है। यदि हम उसकी प्रार्थना या पूजा न करें तो क्या वह हमसे रुष्ट हो जायेगा ? हमको दण्ड देने की व्यवस्था न करेगा ? ''यदि हाँ'' तो क्या उसके उपकरण भी वही हैं जो मनुष्य के हैं ? मानवी विकारों की सर्दी-गर्मी से उसे भी छुट्टी नहीं ? वह भय करने की वस्तु है या प्रेम करने की? बुद्धिवाद ईश्वर सम्बन्धी इन समस्याओं की मीमांसा करना चाहता है। इसलिए साधारण समझ के जीव उसमें अविश्वास या नास्तिकता की झलक देख पाते हैं। मेरा अपना विश्वास तो यह है कि बुद्धिवाद स्वत: अनन्त विश्वास है। उसमें भ्रम और मिथ्या को स्थान नहीं। बुद्धिवादी ईश्वर की सत्ता में अपनी और अपनी सत्ता में ईश्वर की सत्ता देखता है, वह उसे अपने से कोई पृथक् तथ्य नहीं मानता है। वह उसकी उपासना इसलिए नहीं करता कि उसकी प्रार्थना या पूजा से नरक की यातनाओं से छुट्टी मिल जायेगी। बुद्धिवादी व्यक्तिवादी भी हो सकता है। उसका स्वतन्त्र और पूर्ण विकसित व्यक्तित्व, नरक और स्वर्ग की कहानी सुनता भी है और नहीं भी सुनता--किसी भी दशा में उसे निर्लिप्त या निर्बन्ध रहना

है--जीवन और जगत् के केवल बाहरी विधि-विधान उस पर शासन नहीं कर सकते। जिस तरह पौधे सूर्य से पोषण पाने के लिये प्रार्थना नहीं करते, उसी तरह दीर्घ जीवन या सुख से उपयोग के लिये बुद्धिवादी ईश्वर से प्रार्थना नहीं करता ? उसकी पूजा या उपासना घण्टे दो घण्टे साँझ या सबेरे नहीं होती, उसकी प्रक्रिया उसके हृदय में प्रतिक्षण और प्रतिमुहूर्त चलती रहती है। इसलिये कि उसका जीवन तो विवेक और प्रकाश का है, अन्धविश्वास या परंपरा निर्वाह का नहीं। उसे अपने मार्ग का पता है इसलिये वह चलता रहता है, अंधकार में टटोलना या इधर से उधर हो जाना उसके लिये संभव नहीं। ईश्वर उसके लिये प्रेम का आधार है, भय का भूत नहीं। इसीलिये ईश्वर सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं के साथ वह कभी-कभी ठिठोली कर बैठता है। लोग कहते हैं, वह नास्तिक है।

व्यक्तिगत सदाचार या सामाजिक नीति-निर्वाह के सम्बन्ध में भी बुद्धिवादी कुछ इसी तरह की स्वतन्त्रता से काम लेता है। सचाई जो है, जिस रूप में है, उसे तो वह स्वीकार कर लेता है, लेकिन उन पर कितने बेठन चढ़ते हैं, उसे कितने कपड़े और गहने पहनाये गये हैं, वह कितनी जंजीरों से बाँधी गयी है, इन बातों को वह स्वीकार नहीं करता। स्त्री और पुरुष इस विश्व के दो पहलू हैं, वे एक होते हैं, प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार, प्रकृति की निश्चित प्रणाली की रक्षा और प्रचार के लिये। उसे हम सन्तानोत्पत्ति, प्रजनन या 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' जो मन में आए कह लें। स्त्री और पुरुष के सम्मिलन में 'नूतन सृष्टि' प्रकृति की यही शक्ति या समस्या, प्रधान काम करती है। इस सम्बन्ध का सबसे बड़ा आकर्षण तब उत्पन्न होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों प्रजनन की शक्तियों से भरपूर होते हैं, उस समय वे दोनों साथ-साथ या समीप रहना चाहते हैं--प्रकृति के खिलौने प्रकृति की सर्वव्यापिनी इच्छाशक्ति में अपने को भूल जाते हैं, इस भूल जाने की क्रिया को एक सुन्दर नाम प्रेम या प्रणय दे दिया गया है। इस प्रेम या प्रणय के लिये बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं, विवाह के भिन्न-भिन्न रूप, बन्धन और कर्त्तव्य की भावनाओं के साथ आत्महत्या-सा एकांगी स्वार्थ भी। प्रकृति के गर्भ से प्रेम की बाढ़ आती है, और चली जाती है, लेकिन अपने पीछे जो कीचड़ और दलदल छोड़ जाती है, मनुष्य की सारी जिन्दगी उसी में फैली रहती है। स्त्री और पुरुष के आकर्षण और सम्मिलन में जहाँ तक प्रकृति का चिरंतन तथ्य है वहाँ तक तो बुद्धिवादी कोई विरोध नहीं करता लेकिन जहाँ तक ऊपरी आडम्बर और ढकोसले हैं, प्रियतम और प्रेयसी की रंगीन दुनियाँ और रंगीन स्वर्ग के सपने हैं, थोड़ी देर वियोग या मान में मरने-जीने की जो परिपाटी है, बुद्धिवादी इन बातों पर हँस पड़ता है। अब उसके हँसने का यह मतलब लगाया जाता है कि वह सदाचार का कायल नहीं।

यह सब मैंने इसलिये लिख दिया है कि 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' लिख चुकने के बाद मैं इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि मेरी प्रकृति बुद्धिवाद की ओर हो चली है। बुद्धिवाद किसी तरह का हो, किसी कोटि का हो, समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता। बुद्धिवाद में 'शूगर कोटेड' कुनैन की व्यवस्था है ही नहीं। वह तो तीक्ष्ण सत्य है। उसका घाव गहरा तो होता है लेकिन अंग-भंग करने के लिये नहीं, मवाद निकालने के लिये। हमारी प्रसुप्त चेतना को जगाकर हमारे भीतर नवीन जीवन और नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिये। योगियों का मत है कि विचार की शृंखला अनन्त आकाश में क्षोभ और कम्पन पैदा करती है, बुद्धिवाद स्वतन्त्र विचार की स्वतन्त्र धारा है। यह जीवन का अनन्त वेग और अनन्त प्रकाश है। अगर संयोग से कला के मूल में बुद्धिवाद की धारणा हुई तो कला को एक प्रकार का अक्षय आधार मिल जाता है, एक प्रकार का ऐसा आधार जिसमें मनुष्य और उसके अनन्त वातावरण को हिला देने की शक्ति है। हाँ, हिला देने की--और इस हिलने में केवल मनुष्य के मनोवेग या अस्थायी लालसाएँ ही नहीं मिलतीं बल्कि उसमें वह सब जो उसका आधार है--एक साथ ही हिल उठता है, उसकी चेतना क्षुब्ध

होकर उसके चारों ओर फैल जाती है-जीवन का कारागार खुल जाता है--वह अपनी सीमा अतिक्रमण कर अपने से बहुत ऊँचे पहुँच जाता है। यही बुद्धिवाद है। यही कला है।

इन दिनों हमारे समालोचक साहित्य या कला के भीतर सबसे पहले यह खोजने लगते हैं कि इन चीजों में लोकहित का उपदेश या सदाचार की व्याख्या कहाँ और किस रूप में हुई है। सदाचार का नाम लेकर कला के विषय में इस तरह के लोग बहुत-कुछ कह जाते हैं, हालाँकि सदाचार का नाम भी ये इसीलिए लेते हैं कि इन्हें कला के विषय में कहना तो आता नहीं। अब कुछ न कुछ तो कहना होगा ही। इसीलिए सदाचार की बात चलती है। सत्य बोलो, चोरी न करो, ईश्वर की पूजा करो, इसी तरह की बातें कुछ इधर-उधर कर लम्बे शब्दों और लम्बे वाक्यों में कही जाती हैं। लेकिन इन बातों से कला का सम्बन्ध? कलाकार इस तरह का उपदेशक तो नहीं है ? वह जो कुछ भी कहता है या कहना चाहता है, उसके निजी प्रयोग और अनुभव की बातें होती हैं। क्यो होना चाहिए या क्या नहीं होना चाहिए ? इन बातों का सवाल तो यहाँ नहीं उठता। यहाँ तो जो है, है। कला अपने शुद्ध रूप में इस तरह के नियमों से परे है। वह तो अनन्त के इस पार से उस पार होने वाले धूमकेतु की तरह है। सम्भव है उसका वेग उपयोगी हो, यह भी सम्भव है कि उसमें किसी तरह की प्रत्यक्ष उपयोगिता न हो--यहाँ तक कि विश्व का प्रचलित परिपाटियों में वह हानिकर भी हो उठे। लेकिन यह वेग है, प्रवाह और अग्नि है। यह स्वर्ग से उतरता हुआ प्रकाश है और इसीलिए पवित्र है, इसीलिए उपयोगी है। यह उस सूर्य की तरह है, जो न सदाचारी है और न दुराचारी, न नास्तिक है और न आस्तिक। यह वह है, जो है। इसका काम है विस्तार के अन्धकार को प्रकाशित कर देना और यही काम कला का है। जीवन का भग्नावशेष कला के पर्दे में छिपा रहता है। इसीलिए यह अनन्त सहानुभूति है जिसकी एक-एक दृष्टि में कल्याण की दुनिया बसती चलती है, लेकिन तब जब उस कला का आधार बौद्धिक विवेक और जागरण होता है, व्यक्तिगत मनोवेगों का रुदन, ज्वर और सन्निपात नहीं। जब सारे संसार का दुःख, कलाकार का दुःख, और सारे संसार का सुख कलाकार का सुख होता है--जब जीवन की नदी उसके रक्त से लाल हो उठती है--जब उसकी अपनी आत्मा विश्व की आत्मा से मिलकर लय हो जाती है।

आज के अधिकांश कलाकार जब अपने काँपते हुए हाथ और लालसा से जर्जर आत्मा के सहारे कला का निर्माण करने चलते हैं-- तब अपने व्यक्ति के हँसने में और रोने में, जीने में और मरने में, और जागने में सुन्दर शब्द और सुन्दर वाक्य समाप्त कर डालते हैं और कला के मन्दिर के नाम पर जिस भवन का निर्माण करते हैं, उसमें अतृप्त वासनाओं और नग्न मनोवेगों की शराब चलती रहती है--फल यह होता है कि चेतना यदि सदैव के लिए नहीं तो बहुत दिनों के लिए सो जाती है। विचारों की कमी के कारण इन्हें रोना खूब आता है और रोते ही रोते लोगों में ये उन बीमारियों को पैदा कर देते हैं, जिन्हें हम कह सकते है--प्रयत्न की ओर से भय, उपभोग की ओर आँख मूँदकर दौड़ना, वासनामय हृदय और विचार, उनकी संकीर्ण मनुष्यता-वह सब जो उनके जीवन बल को पीछे खींचता है, जो उनकी कर्तृत्व शक्ति को मार डालता है। अफीम के नशे में उनके मस्तिष्क को अधमरा कर देता है, फिर तो उनको मालूम रहता है कि उसके बाद ही मृत्यु है, वहाँ कला नहीं। कला तो जीवन का वसन्त है। सत्य की ओर से आँखें मूँदकर उपभोग की ओर दौड़ना आनन्द को और दूर कर देता है। लेकिन यहाँ तो सत्य और आनन्द दोनों को छोड़कर, दुनिया उपभोग की ओर बढ़ रही है--और इसका सबसे बड़ा साधन हो रहा है कला का व्यापार। यह चाहे और जो कुछ हो लेकिन कला तो नहीं है। केवल कला या साहित्य के ही क्षेत्र में नहीं, उपभोग की यह भावना समाज-सेवा या सुधार के क्षेत्र में भी काम कर रही है। आज के सुधारक या समाज-सेवक विचित्र प्रकार के विनोदी प्राणी हैं--वह जो कुछ भी कहते हैं, बस तबीयत खुश करने के लिए, अपनी क्षमता के प्रदर्शन के लिए। जीवन की गहरी तह तक पहुँचने का प्रयत्न तो दूसरी बात है, तो एक

बार आँख खोल कर ईमानदारी के साथ उसकी ओर देखते भी नहीं। सदाचार के नाम पर जितना शोर ये मचाया करते हैं, किसी तरह भी उस सदाचार से भिन्न नहीं होता जिसकी शिक्षा छोटे दर्जे के विद्यार्थियों को विद्यालयों में दी जाती है। कला और साहित्य में भी उस तरह के व्यक्ति वही सदाचार खोजते हैं, विस्तृत दृष्टिकोण और संक्षोभ्य हृदय से विचार करने का अवसर तो उन्हें मिलता नहीं इसलिए कला और साहित्य में जहाँ कहीं जीवन की भीतरी विभूतियों का उद्‌घाटन होता है या विराट् जीवन का निर्माण होता है, ये घबरा उठते हैं। उसकी धारण भी इन्हें असह्य हो उठती है। इब्सन ने कहा था-- ''जिसे अपनी कला में जीवित रहना है, उसके भीतर कुछ और होना चाहिए उसकी साधारण प्रतिभा से कुछ विशेष व्यापक भावनाएँ और व्यापक शोक, जो कि उसके जीवन को भरकर एक ओर घुमा दें, अन्यथा वह सृष्टि तो नहीं कर सकता-हाँ पुस्तकें लिखता रहेगा।'' कला के मूल में जब तक जीवन की व्यापक भावना नहीं रहती, वह पूरी भी नहीं हो पाती। कला की सफलता जीवन को पकड़ लेने में, उसमें मिल जाने में है, उससे विद्रोह करने में नहीं।

मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ? इस सम्बन्ध में कहा तो बहुत कुछ जा सकता है, लेकिन मैं उतना ही कहूँगा जितने में कि प्रस्तुत नाटक की भूमिका का काम भी चल जाय और मेरे सम्बन्ध में पाठकों के हृदय में मिथ्या धारणाएँ भी न उत्पन्न हों। मिथ्या धारणाओं की बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि 'संन्यासी' और 'राक्षस का मंदिर' की आलोचना करते समय एक आलोचक ने लिख दिया था 'पर यदि मिश्रजी भी अनीश्वरवाद की ओर बढ़ रहे हों तो दूसरी बात है' इन्हीं की देखा-देखी कुछ और सज्ञनों ने भी ऐसी ही बातें कुछ हेरफेर के साथ कह दी थीं। ईश्वर सम्बन्धी मेरे जो विचार हैं, उन्हें मैं अपने ही तक रखना चाहता हूँ, इसलिए कि उन विचारों का सम्बन्ध केवल मेरे व्यक्तित्व और मेरी आत्मा से है, उनके भीतर मेरा निजत्व इस हद तक व्याप्त हो चुका है कि उनका अलग करना भी मेरे लिए कठिन काम होगा। इसके अतिरिक्त ईश्वर के सम्बन्ध में बहस या तर्क करना भी मेरी समझ में नास्तिकता या उससे कहीं बुरी संस्कारहीनता है। मैं नास्तिक हूँ या आस्तिक; मेरे कहने से नहीं बनेगा। इस सम्बन्ध में अपने 'अन्तर्जगत्' से कुछ पंक्तियाँ उद्‌धृत कर देता हूँ, इस आशा में कि संभव है इन पंक्तियों से मेरी उस मित्र मण्डली को मेरी धार्मिक धारणा का पता चल सके--जिसने कि हँसते-हँसते नास्तिक बनाकर मुझे एकदम जीवन-मुक्त कर देना चाहा था--

वह उपासना कभी न बाहर होवे अंतस्तल की,
नहीं समायेगी अन्तिम सीमा में भी इस थल की।
जो कुछ आकर स्वर्ग बना है इस जगती में मेरा,
इस उपासना ने ही उसको है चिर दिन से घेरा।।

और

जिसकी पूजा में ये मेरे बीत चुके दिन इतने,
आज अयाचित वर देने आया वह मुझको कितने।
नहीं चाहता मैं वर लेकर तजना अपने मन से,
उस अनादि पूजा को उलझी रहे सतत जीवन से।।

कुछ और आगे बढ़कर-

जीवन सागर के उस तट पर अपने सुन्दर जग की,

सृष्टि अनोखी की है तूने जहाँ न रेखा मग की।
नीचे सिन्धु भर रहा आहें हँसते नखत गगन में,
सबसे दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य-भवन में।।
अथवा मेरे तपोवन से-ऍं
विश्व-विभव, अंतर्विभूति, उत्सर्ग-मिलन को मेरे,
कब तक चलते और रहेंगे जग के सपने घेरे ?
उतर न आओ तुम किरनों से होकर जग के स्वामी !
मैं चल पड़ूँ सुला जीवन की ममता अंतर्यामी !

मेरे कृपालु मित्रों को मेरे जीवन की गतिविधि से या मेरे हृदय के संगीत से (जिसका थोड़ा-बहुत आभास इन ऊपर की पंक्तियों से मिल सकता है) इस बात का पता लगा लेना चाहिए कि मैं नास्तिक हूँ या आस्तिक। सच बात तो यह है कि उन्हें इसके पता लगाने की भी कोई जरूरत नहीं है। उसका पता लगाना या पता लगाने की कोशिश करना भी एक प्रकार का अपराध होगा। इसलिए वह सत्य तो मन और वचन से परे की वस्तु है, उसकी पहचान तो होती है आत्मानन्द या अनुभूति से--

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दो वृत्यन्ते विद्वान् न विभर्ति कदाचन।

और उसके बाद मनुष्य भय और संशय से निवृत्त हो जाता है। धार्मिक विश्वास का मूल जैसा कि लोगों को भ्रम है, बाहरी व्यवस्था में नहीं है और न तो इस बात में है कि हमारे आसपास लोग किस देवी-देव की पूजा करते हैं--कौन-कौन व्रत रखते हैं या किस विधि से दान करते हैं। मेरे मस्तिष्क और मन में शायद कोई ऐसी बात है जो कि मुझे धर्म की प्रदर्शनी के भीतर पैर भी नहीं रखने देती। भिन्न-भिन्न धर्मों में उपासना की जो प्रचलित प्रणालियाँ हैं-उन्हें मैं केवल नियमन कह सकता हूँ, साधारण लोगों की दुनियादारी में इन बातों से लाभ हो सकता है--लेकिन जहाँ बुद्धिवाद का यह अटल सिद्धान्त आ पड़ता है 'मैं स्वयं अपनी कोटि का हूँ' वहाँ धर्म और ईश्वर की भावना भी व्यक्ति की जिम्मेदारी पर ही छोड़ देनी चाहिए। धर्म का निर्णय किसी विशेष मत की मौन स्वीकृति या जन्म और जाति की मर्यादा में नहीं हो सकता। ऐसा कहना तो जान-बूझ कर आध्यात्मिक कारागार बनाना होगा। धार्मिक संस्कृति का सामूहिक रूप सदैव उनके लिए होता है जिनकी कल्पना स्वतंत्र व्यक्तित्व या स्वतंत्र चिंतन की ओर नहीं पहुँचती, जिनका अपना कोई रास्ता नहीं होता, जिनके विवेक का अंत इसी में है 'जिधर सब चलेंगे उधर हम भी।' सच्चा धर्म और सच्चा प्रकाश तो वह दशा है जहाँ पहुँच जाने पर, अधर्म या अंधकार से फिर भेंट न हो। आत्मानुभूति की वह दशा जहाँ सुख, दुःख, प्रेम, घृणा, प्रकाश, अंधकार या जीवन और मृत्यु का भेद मिट जाता है, मनुष्य द्वैत की माया से निकल जाता है। कहीं पढ़ने में आया था, हमारी जातीय संस्कृति का शायद सुनहरा सबेरा था। कोई ब्राह्मण अपनी तपस्या में बहुत दिनों से लीन था, भूख, प्यास, इच्छाएँ, वासनाएँ एक-एक कर सब छूट चुकी थीं। जिस किसी ने देखा, ब्राह्मण देख पड़ा, जैसे तपस्या का साकार स्वरूप। देवता विस्मित हो उठे, साधक सिहर उठे। अप्सराओं का शृगांर फीका पड़ गया। माया के फंदे शायद टूट गये लेकिन ब्राह्मण चाहता क्या था ? मुक्ति ? नहीं। तब ? द्विग्विजय। ब्राह्मण का अहंकार जाग उठा। उसने सोचा त्रिलोक में उससे बड़ा तपस्वी कोई नहीं। उसने असाध्य साध्य किया। उसके आगे किसी की गति नहीं? ब्राह्मण का अहंकार उग्र होता गया। उसे देख पड़ा जैसे उसके तप के तेज से सूर्य का प्रकाश मंद पड़ रहा है, वायु की गति मन्द

हो रही है, सृष्टि थरथरा रही है। यह अहंकार, पतन का तूफान था। आकाशवाणी हुई- 'ब्राह्मण तेरा गर्व मिथ्या है-किस बात पर तेरा अहंकार इस तरह क्षुब्ध हो उठा? तुझसे बड़ा तपस्वी मिथिला का राजा जनक है। जा उसके यहाँ और उसके उपदेश ग्रहण कर। ब्राह्मण बाध्य था। आकाशवाणी हुई थी-उसे जाना पड़ा। भाँति-भाँति के संकल्प और विकल्प, संदेह और शंका उसके भीतर उठती रहीं। राजभवन के फाटक पर पहुँचते ही बुलाहट हुई-महाराज भीतर बुला रहे हैं। ब्राह्मण ने सोचा यह राजा क्षत्रिय होकर द्वार पर आये हुए ब्राह्मण का स्वागत स्वयं नहीं करता। और यह तपस्वी-ब्राह्मण से श्रेष्ठ तपस्वी? आकाशवाणी की सचाई में भी सन्देह होने लगा। अंतःपुर में पहुँच कर ब्राह्मण ने देखा-राजा पलंग पर अपनी स्त्री के साथ बैठा है, वासना और विनोद की सामग्री...यह क्या ? राजा ने तो ब्राह्मण के सामने स्त्री का चुम्बन कर लिया--मर्यादा की इतनी महान अवहेलना ? क्षण भर के लिये ब्राह्मण की आँखें शायद घृणा और क्षोभ से बन्द हो गईं। दूसरे ही क्षण जो कुछ देखा अपूर्व था-- ब्राह्मण सिहर उठा। शायद उसके पैरों के नीचे से पृथ्वी खिसकने लगी। राजा जनक का एक हाथ स्त्री के गले में था और दूसरा था धधकती हुई अँगीठी पर। हाथ जल रहा था, चर्बी फूट रही थी, हड्डीयाँ तड़तड़ा रही थीं। शरीर से जितनी साधना और तपस्या हो सकती थी सब ब्राह्मण ने समाप्त कर दी थी ! इस तरह की तपस्या तो उसने नहीं की। लेकिन यह शरीर की नहीं आत्मा की तपस्या थी। राजा जनक ने कहा, 'ब्राह्मण यही मेरी तपस्या है। न तो स्त्री के चुम्बन या सहवास का मेरी आत्मा को कोई सुख है और न इस अंगीठी पर जलने का दुःख। मेरी आत्मा तो सुख, दुःख से परे है। तुम ब्राह्मण हो और मैं क्षत्री हूँ या मैं राजा हूँ और तुम तपस्वी हो, इस तरह के सांसारिक भेद आत्मानुभूति के रास्ते में रुकावट पैदा करते हैं।''

यही महान धर्म है। यह महान सदाचार है। यह स्वतंत्र आत्मा का स्वतंत्र प्रकाश है। यहाँ भ्रम नहीं है, भुलावा नहीं। आत्मानुभूति और आत्मप्रकाश, इसी में सब कुछ है, ईश्वर भी, सदाचार भी जीवन की अपूर्णता मिट जाती है, पूर्ण जीवन और अनन्त जीवन दार्शनिक रहस्य न रहकर प्रत्यक्ष सत्य हो जाते हैं, यह आध्यात्मिक समन्वय या सामञ्जस्य बुद्धिवाद का महान् धर्म है। यह आवश्यक नहीं कि बुद्धिवाद सदैव तर्क के सहारे खड़ा रहे। जो लोग बुद्धिवाद को पश्चिम से आई हुई कोई भयंकर बीमारी समझते हैं, वे भूल करते हैं। सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य और वेदांत मीमांसा इसी बुद्धिवाद पर अवलंबित हैं। उपनिषदों में जिस व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आध्यात्मिक सहिष्णुता या व्यापकता पर बल दिया गया है, वह यदि बुद्धिवाद नहीं तो है क्या ? इसी मतलब में मैं अपने को बुद्धिवादी कहता हूँ। धर्म में, साहित्य में, कला में और सदाचार में मैं उन्हीं बंधनों को मान सकता हूँ, जो सदैव से हैं, जो हमारे ही रक्त और हमारी ही प्रकृति में पैदा होते हैं, जो चिरंतन हैं इसलिए उपयोगी हैं। हमारा विवेक जिनके साथ समझौता कर लेता है, हमारे व्यक्तित्व के विकास में जो किसी तरह की रुकावट नहीं पैदा करते।

मेरा धर्म और सदाचार तो रचयिता का धर्म और सदाचार है। मैं तो समझता हूँ कि जब तक साहित्यकार अपनी सीमा को पार कर, अपने सुख-दुःख से ऊँचे उठकर संसार में जो कुछ है पाप, पुण्य, सदाचार, दुराचार, धर्म, अधर्म, विष और अमृत, सबको समझ नहीं लेता, सबका अनुभव नहीं कर लेता--तब तक उसे व्यापक और सनातन आधार नहीं मिल सकता। वे विधान जो अक्षय और अनन्त हैं सामने नहीं आ सकते। इसलिये जीवन की कोई भी संकीर्ण परिपाटी, धर्म या सदाचार की कोई भी निश्चित कसौटी, साहित्य और कला की कोई भी प्रभावशालिनी व्यवस्था आँख मूँदकर स्वीकार कर लेना यही नहीं कि व्यक्तिगत विकास में बाधा डालेगी, एक प्रकार से घातक भी होगी। घातक इसलिये होगी कि रचना के नए उपकरणों के साथ उसका मेल नहीं हो सकेगा। यह बात मैं परिवर्तन की आन्तरिक एकता में विश्वास रखता हुआ लिख रहा हूँ, कोई यह न समझ ले कि मैं जीवन को केवल परिवर्तन समझ रहा हूँ। परिवर्तन के आंतरिक एकता सत्य-भेद

नहीं होने देती (लेकिन यह तो कभी होता भी नहीं) इसका काम है रूप-भेद करना और इसीलिए मैं लिख रहा हूँ कि 'रचना के नए उपकरणों के साथ उसका मेल नहीं हो सकेगा।' बुद्धिवाद को यह तो मालूम है कि जो सत्य है सदैव आधुनिक है, लेकिन उसे व्यक्त करने के सभी तरीके आधुनिक नहीं हैं। इसलिए बुद्धिवाद को जब किसी सत्य की अभिव्यक्ति करनी हो तो वातावरण और परिस्थिति का ध्यान रखते हुए सत्य की अभिव्यक्ति करता है।

जो लोग यह समझते हैं कि बुद्धिवादी केवल संहार कर सकता है, निर्माण करना उसका काम नहीं, वे जगत् और सृष्टि के मूल में ही मिथ्यावाद और भ्रम का आरोप करते हैं। सृष्टि का मेरुदण्ड शायद उनकी समझ में चेतना और प्रकाश का नहीं बना है। उनकी दृष्टि अज्ञात और अन्धकार के आगे नहीं बढ़ सकती। मनुष्य की सृष्टि यदि इस अनादि सृष्टि की छाया से ही निर्मित होती है तो उसके मूल में चेतन हैं अचेतन नहीं। इसके चेतन को हम बुद्धिवाद कहते हैं। इस समय और सीमा के निर्धारित जगत् में हम जो कुछ देखते हैं-जो कुछ सुनते हैं, जो कुछ अनुभव करते हैं, उसे हम सिर झुकाकर स्वीकार कर लेते हैं। यह साधारण बात है। लेकिन जब हम उसकी तात्विक विवेचना करते हैं; उसे हर पहलू से उलट-पलट कर देखना चाहते हैं तब हमें भावना के जगत् से निकल कर विवेक के जगत् में जाना पड़ता है। तब हमारी जंजीरें उतनी कड़ी रहतीं, कभी-कभी तो टूट जाती हैं। हमारा दृष्टिकोण विस्तृत हो उठता है, संसार जैसे विवेक और सहानुभूति से भर उठता है। मनुष्य अपने सुख-दुःख का उत्तरदायी स्वयं है। यदि वह विचार करे तो उसकी कठिनाइयाँ बहुत कुछ कम हो सकती हैं। बुद्धिवाद इस रहस्य को स्पष्ट कर देता है। सभ्यता की जटिलता के साथ ही साथ मनुष्य का जीवन भी जटिल होता जा रहा है। समाज और साहित्य में, धर्म और सदाचार में, उखाड़ने और बैठाने की क्रिया चल रही है। मनुष्य रूढ़ियों के अन्धकार से निकल कर विवेक के प्रकाश में आ रहा है। लोग समझ रहे हैं कि बीते जमाने में धर्म और सदाचार के नाम पर भयंकर अधर्म और भयंकर दुराचार हो गए थे। इसलिए यह युग बुद्धिवाद की वकालत कर रहा है। हममें जो सबसे साधारण है उसकी आत्मा में भी असीम बन्द हैं। तब? उदारता और सहिष्णुता! चेस्टर्टन ने कहा है- 'साहित्य का उद्देश्य जीवन का प्रतिरूपःखड़ा करना नहीं, उसमें सहानुभूति भरना है।' टाल्सटाय और रोम्यांरोलां, अनातोले फ्रांस और बर्नर्डशा इसीलिए सफल हो सके हैं। उनके चरित्रों में, उन चरित्रों की भलाई, बुराई में धर्म और अधर्म में मानव-हृदय की सहानुभूति स्पष्ट दीख पड़ती है। इसलिए बुराई करने वाला हमारे हृदय को जितना अभिभूत करता है उतना ही अभिभूत करता है भलाई करने वाला भी! बुराई और भलाई के मेल से ही तो जिन्दगी बनी है। बुद्धिवाद में बुराई और भलाई की परिभाषा ही भिन्न है। जीवन की व्याख्या में बुराई और भलाई रात और दिन की तरह मिली है-और यही सत्य है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ--बुद्धिवाद हमारे यहाँ कोई नई चीज नहीं है। हमारे संस्कार का आधार भी बुद्धिवाद या विवेक-जनित प्रवृत्ति है। यूरोप में यह प्रणाली जरूर नयी है। रोमांटिक लेखकों ने यूरोप में शब्दों में अपने जीवन की सचाई की ओर से आँखें बंदकर भावनामय भ्रमवाद या मिथ्यावाद का प्रचार किया था। साहित्य और कला के नाम पर संभव और असंभव सब कुछ एक कर डाला था। इसके प्रति विद्रोह की धारणा उठी। इब्सन ने नाटकों में सबसे पहले जिन्दगी की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या शुरू हुई और उसके बाद बुद्धिवादी लेखकों की नामावली बढ़ने लगी-बाहरी उपकरणों का उपहास कर भीतरी प्रवृत्तियों की चर्चा चली। साहित्य और जीवन के बीच में जो खाईं थी उसे भरकर 'जीवन के स्वर में' साहित्य का निर्माण होने लगा। कुछ लोगों का मत है कि पाश्चात्य सम्पदा के नाश के दो महान कारण रहे हैं, पहला बर्नर्डशा और दूसरा विगत महायुद्ध। विगत महायुद्ध ने यूरोप की सैनिक क्षमता और भौतिक शक्ति का नाश कर दिया। बर्नर्डशा ने यूरोप के मानसिक और सामाजिक सन्तुलन का नाश कर दिया। बात यह है कि यूरोप

में मनुष्य का जीवन इतना कृत्रिम और भावनाप्रधान हो गया था कि बर्नर्डशा के व्यंग्य उसे खोखला कर बैठे। यह काम यूरोप में बर्नर्डशा की बौद्धिक कला ने किया। यूरोप का दुराचारमय गन्दा जीवन, लेकिन साथ ही साथ नैतिक ढोंग बर्नर्डशा के लिये असह्य हो उठा। उन्होंने जो कुछ था, जैसा था साफ कह दिया। पश्चात्य सभ्यता के आकर्षक पर्दे के भीतर कितनी बुराइयाँ थीं, कितना खोखलापन था, बर्नर्डशा ने खोलकर दिखला दिया। आज यूरोप में एक ओर तो वह महर्षि है, दूसरी ओर भयंकर प्रवृत्तिवादी, सदाचार और धर्म की जड़ काटने वाले, स्वर्ग और नरक की मिथ्या भावना मिटाने वाले। खैर यही तो जगत् है। यही जीवन है। हमारा मतलब वहाँ बर्नर्डशा से नहीं, उस बुद्धिवाद से है जो हमारे साहित्य के उन समालोचकों की नजर में बदनाम हो रहा है, जिनकी भावुकता भयंकर है लेकिन विवेक दयनीय!

हमारे साहित्य में निर्माण होने लगा है। लक्षण तो शुभ है लेकिन अभी समझदारों की जरूरत है। ग्येते ने कहा था 'रचयिता के लिए सबसे पहली बात है स्वस्थ होना, अगर वह बीमार है तो उसे स्वस्थ होकर कलम उठाना चाहिए और स्त्रियाँ साहित्य और कला के साथ जो चाहे कर लें लेकिन पुरुषों को तो संसार के साथ काम लेना ही होगा।' हमारे लेखकों को ग्येते का यह कहना समझ लेना चाहिए कि अच्छा नहीं है। जिस कमी को हम अपने जीवन में अनुभव कर रहे हैं, वह साहित्य का विषय नहीं है। उसे मार डालना होगा! कोई रोचक कथा गढ़ कर उसे नीचे ऊपर तक जला देना, फूँक देना बुरा है। हमारे साहित्य में अधिकांश यही हो रहा है। हमारे लेखक तानसेन की रचना करते चलते हैं, लेकिन भावावेश में रास्ता भूल जाते हैं और नूरजहाँ का निर्माण कर बैठते हैं। प्रतिभा की सफलता जीवन बल के अनुसार नापी जाती है। कला के अपूर्व यन्त्र से जीवन को जगा देना ही कला है। जीवन के सत्य जो हैं, सामने लाये जायँ, शेष छोड़ देना चाहिए। अपने भीतरी विकारों और वासनाओं को सजाकर साहित्य का स्वर्ग बना देना गंदा है। नैतिक महत्व अनुभव करने में और संयम करने में है। प्रेम के नाम पर साहित्य में जो देखने को मिल रहा है वह प्रेम की हत्या और वासना का नृत्य है। हमारे लेखक प्रेमी और प्रेमिका को पकड़ कर साहित्य की सड़क पर नंगा छोड़ देते हैं। प्रेम के लम्बे-लम्बे व्याख्यान झाड़े जाते हैं, हँसना-रोना बहुत होता है, असंगत और असंभव का विचार नहीं रहता। सब कुछ होता है, लेकिन वह नहीं होता--जिसे जीवन कहते हैं। स्वाभाविक जीवन की स्वाभाविक धारणा न होने की वजह से कल्पित जीवन की कल्पित पहेली हमारे विवेक को मंद कर देती है। यहाँ मुझे वीथोफेन का एक वाक्य याद पड़ रहा है- 'यदि हम जीवन के प्रवाह को जीवन की मर्जी पर छोड़ दें तब तो फिर सर्वोच्च के लिए क्या शेष रहेगा।' लेकिन यहाँ जीवन की मर्जी समझने की कोशिश नहीं हो रही है-सर्वोच्च तो अभी बहुत दूर की चीज है।

मेरा अपना अनुभव जहाँ तक है, लेखक की सबसे बड़ी जीच उसकी भावुकता नहीं--उसकी ईमानदारी है-वह साधक है, दलाल नहीं। जीवन की प्रयोगशाला (जैसा कि मैंने 'राक्षस का मन्दिर' की भूमिका में भी लिखा था) के बाहर साहित्य या कला की विभूतियाँ नहीं मिल सकतीं। 'कला की चरम सीमा' जैसा कि मोशिये रोलाँ ने अपने प्रसिद्ध नाटक ''चौदहवीं जुलाई'' की भूमिका में लिखा था--'कल्पना के साथ नहीं--जीवन के साथ है।' हमारे अधिकांश लेखक जिन्दगी की ओर से आँखें बंद कर कल्पना और भावुकता का मोह पैदा कर जिस नये जगत् का निर्माण कर रहे हैं। उसमें जिन्दगी की धड़कन नहीं है। मनुष्य की आत्मा की बात कौन कहे-वहाँ तो मनुष्य का रक्त-मांस भी नहीं मिलता! शायद मोम के रंगे पुतलों से लेखक जो चाहता है करता है, लेखक जब चाहता है पुतला हँस देता है, रो देता है, व्याख्यान देने लगता है। या प्रेम करने लगता है--उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। कल्पना का जीव कल्पना के आगे नहीं बढ़ता। वास्तविक जगत् के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, लेकिन वास्तविक जगत् की धारणा

साधारण चीज नहीं कि हर कोई कलम पकड़नेवाला उसे सम्हाल सके। यह काम तो उसका है, जो महादेव की तरह विष-पान कर मृत्युञ्जय हो सके। यह काम है इस युग के कलाकार का या जैसा कि मैंने 'संन्यासी' की भूमिका में लिखा था तत्त्वदर्शी कलाकार का। ऐसे समय में जबकि साहित्य में झूठी भावुकता और गंदे मनोवेगों का तूफान चल रहा है, साहित्य और कला के नाम पर विकारों की सजावट हो रही है, 'तत्त्वदर्शी कलाकार' यह मैं क्या कह रहा हूँ ? आज नहीं, इसका पता कल चलेगा मैं क्या कह रहा हूँ। जीवन वह सत्ता नहीं, जिसकी छुरी हमारे कलेजे के पार न हो जाय। किसी-न-किसी दिन यह जरूर होगा। जिन्दगी की व्यवस्था में क्षमा तो किसी को मिलती ही नहीं। इसके साथ जो जितनी ही ईमानदारी के साथ पेश आता है, उसकी यातनाएँ उतनी ही कम होती हैं। रचयिता का उत्तरदायित्व ईश्वर का उत्तरदायित्व है--अपनी एकांत साधना में अपनी ही आत्मा का अनुसरण करना लेखक के लिए विशेष उपयोगी होता है। संसार की कैसी छाप उसकी आत्मा पर पड़ रही है, सचाई के साथ उसे यही दिखला देना है, इसके आगे तो बहुत कुछ कर भी नहीं सकता, लेकिन इतना कर देने पर उसके लिए फिर कुछ शेष नहीं रह जाता।

साहित्य या कला व्यसन नहीं, आवश्यकता है--मनुष्य के हृदय की मस्तिष्क की और आत्मा की। जीवन का विकास ज्यों-ज्यों होता है, कला की आवश्यकता भी उसी परिणाम में बढ़ती जाती है। यह आवश्यकता ऐसी नहीं है, जो हटाई जा सके या जिसके बिना भी काम चल सके। अपनी अपूर्णता मिटाने के लिए मनुष्य जिस रास्ते की खोज सदैव से करता आया है, वह रास्ता इसी कला के भीतर से होकर गया है। इस रास्ते में दुर्लंघ्य पर्वत हैं, भयंकर नदियाँ हैं, अगाध समुद्र हैं, सुन्दर झरने हैं, बसन्त के फूले हुए वन हैं, शरत् के तालाब हैं, हरे-भरे मैदान हैं और धू-धू करते हुए मरुस्थल भी हैं। कलाकार को यह सारा रास्ता तय करना है। उसकी सफलता कहीं पहुँच जाने में नहीं, सब कुछ पार कर जाने में है। हाँ, सब कुछ पार कर जाने में, और तभी उसकी कला समय और सीमा का अतिक्रमण कर शाश्वत और सनातन हो सकेगी। इसलिए मैंने इस बात पर जोर दिया है कि कलाकार की सबसे बड़ी विभूति उसकी ईमानदारी है। जो है नहीं, उसकी कल्पना करना या जैसा है नहीं, वैसा दिखला देना रोजगार या सभ्यता की नजर से उपयोगी चीज हो सकती है; लेकिन जीवन और सचाई की नजर में तो वह केवल हानिकारक नहीं, संहारक भी है। संहारक इसलिए कि उसमें जिन्दगी को समझाने की कोई बात नहीं होती। उसमें कोई ऐसी बात नहीं होती जिसे पकड़ कर हम कह सकें 'पा गये, पा गये, जिसकी खोज में पड़े थे, पा गये।'

कला की कोई भी चीज मनुष्य के हृदय में अपने लिए कितनी जगह बना लेती है, उसका कितना अंश मनुष्य का अपना अंश हो उठता है--मनुष्य के रक्त और मांस में मिल जाता है, इसी को असल की ईमानदारी कह रहा हूँ। यह ईमानदारी भावावेश या रोमेंश में नहीं मिल सकती, क्योंकि वहाँ तो जीवन की व्याख्या नहीं, मिथ्या सजावट है। जो दिल और दिमाग के कमजोर हैं, बच्चे की तरह जो सब कुछ पकड़ना जानते हैं, लेकिन छोड़ना कुछ भी नहीं--उन्हें फुसलाने की बातें है। कलाकार की बौद्धिक अभिव्यक्ति अथवा दूसरे शब्दों में तात्विक मीमांसा-समस्याओं और सिद्धान्तों, जीवन और जगत् की भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यक्तिगत अनुभूति और प्रवृत्ति के आधार पर निराकरण सुविधा और शासन के नाम पर अन्धिविश्व ास और मिथ्या परंपरा की ये बातें जो हैं नहीं या होती नहीं या जिनकी वजह से मनुष्य का स्थायी कल्याण होना असम्भव है, उनका पर्दा उठाकर उनकी असलियत खोल देना--मेरी समझ में ईमानदारी है। वह जो कुछ देखता है अपनी आँखों से देखता है, उसका अपना मन उसे किस रूप में ग्रहण कर रहा है, उसकी आत्मा पर उसका कैसा प्रभाव पड़ रहा है, उसे कह देना है। संभव है संसार का फैसला उसके प्रतिकूल हो, यह भी

सम्भव है, लोग उस पर दोषारोपण करें, उसके सम्बन्ध में सन्देह और शंकाएँ की जाएँ--लेकिन उसे तो अपनी जगह से विचलित नहीं होना है, उसका आधार हिलाया नहीं जा सकता।

यहाँ तक तो रचना के सिद्धान्तों की बात रही है। जहाँ तक मेरा अपना अनुभव और विश्वास है, मैंने कम-से-कम शब्दों में व्यक्त किया है। लेकिन मैं अपने नाटक की भूमिका लिख रहा हूँ, और इस सम्बन्ध में अभी कुछ विशेष नहीं कहा गया। 'राक्षस का मन्दिर' और 'संन्यासी' में पुरानी परिपाटी को छोड़ने का प्रयत्न मैंने किया था। पुरानी परिपाटी से मेरा मतलब द्विजेन्द्रलाल राय की नाट्य परिपाटी से है--जिसका प्रभाव हमारे नाटकों पर बहुत बुरा पड़ा है। जो कुछ इने-गिने हमारे नाटक इधर प्रकाशित हुए हैं सब में दुर्भाग्यवश द्विजेन्द्रलाल राय को आदर्श मानकर लेखकों ने कागज रंगा है। द्विजेन्द्रलाल राय ने नाटकों में बंगाल का शेक्सपियर बनना चाहा था और बंगाली आलोचकों की भयंकर भावुकता और दयनीय विचारहीनता के कारण उन्हें कुछ समय के लिए वह पद मिल भी गया। जिस युग में यूरोप के नाटककार शेक्सपियर के नाटकों को मनोविज्ञान और यथार्थ के प्रतिकूल कहकर एक नया रास्ता निकाल रहे थे, बौद्धिक अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञिक मीमांसा का वह रास्ता जिस पर इब्सन से लेकर इस युग के श्रेष्ठ नाटककार चलते रहे हैं और चलते ही रहेंगे--इसी युग में शेक्सपियर के अनुकरण पर हमारे देश में भावुकता की एक गन्दी प्रवृत्ति फैल गयी और उस गन्दी प्रवृत्ति के सबसे बड़े प्रतिनिधि द्विजेन्द्रलाल राय हुए। कॉलेज के दिनों में जब मैं शेक्सपियर को पढ़ता था, मुझे ऐसा कई बार बोध हुआ कि द्विजेन्द्रलाल राय के अनुकरण के आधार पर ही भारत के आधुनिक नाट्य-साहित्य ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। वह अनुकरण कहाँ तक श्रेयस्कर हुआ यह बात विचारणीय है। यों तो, द्विजेन्द्र की नाट्यकला में साधारण समझ वाले के लिए सब कुछ है--प्रेम, हत्या, घृणा, सुख, दुःख, त्याग, वीरता और कायरता जिस हद तक द्विजेन्द्र ने दिखलाया है--इस युग का कोई भी नाटककार नहीं दिखला सका। लेकिन यह सब होते हुए भी द्विजेन्द्र की सारी सृष्टि मिथ्या और असम्भव के आधार पर हुई है। मनुष्य-चरित्र में या तो उन्हें केवल दैवी दीख पड़ा या केवल राक्षसी-या तो केवल प्रकाश दीख पड़ा या केवल अन्धकार! विरोधी उपकरणों का द्वन्द्व या सामञ्जस्य दिखलाना उनकी शक्ति के परे की चीज है। उनका सम्पूर्ण साहित्य शब्दों और वाक्यों का साहित्य है, वह जीवन के साथ कहीं भी मेल नहीं खाता। चरित्रों के निर्माण में द्विजेन्द्र के लिए भले और बुरे दो ही रास्ते हैं-जो चरित्र भला है अन्त तक भला है, उसका तेज कभी मन्द नहीं पड़ता और जो चरित्र बुरा है अन्त तक बुरा है। भलाई कभी भूलकर भी उसके पास नहीं फटकती। लेकिन यह मिथ्या है। जीवन और जगत् के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। द्विजेन्द्रलाल राय से बढ़कर अंतःकरण का अन्धा साहित्यकार मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं आया। द्विजेन्द्र के 'दुर्गादास' में गुलनार दुर्गादास से कहती है--

गुलनार--क्या मुझसे नफरत करते हो ? मेरा कहना तुमको मंजूर नहीं ? दुर्गादास! मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि गुलनार घुटने टेककर भीख की तरह किसी से प्यार नहीं माँगती, वह दुआ की तरह अपना प्यार बाँटती है। पसन्द कर लो, बेगम गुलनार का प्यार या मौत ?

दुर्गादास--पसन्द कर लिया, मैं मौत चाहता हूँ ?

गुलनार--मौत ? अच्छा यही सही। मैं अपने हाथ से तुम्हारी जान लूँगी। गुलनार से एक चीज पाओगे मोहब्बत या मौत। अगर मोहब्बत नहीं चाहते हो तो मरने के लिए तैयार हो जाओ। कम्बख्त !

[गुलनार के पुत्र कामबख्श का प्रवेश]

गुलनार--कामबख्श मारो ! इसे मारो ! इसी दम मार डालो, देख क्या रहे हो ! मारो !

कामबख्श--क्यों अम्मीजान ? बादहाह के हुक्म के...

गुलमार--बादशाह का हुक्म ? मेरा हुक्म पर बादशाह का हुक्म ? इसी दम मारो। क्या मेरा कहना न मनोगे ? (चिल्लाकार) मारो--मारो-मारो !

इस कथोपकथन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या कर अपना समय नष्ट करना मैं नहीं चाहता। विवेकशील पाठक समझते होंगे कि प्रेम के सम्बन्ध में कहना या व्याख्या देना कितना असंभव है। उसके प्रेम के नाम पर द्विजेन्द्र ने कितनी असत्य बातें गुलनार के मुँह से कहला दीं। यह सब कितना असत्य और कितना असंभव है। गुलनार दुर्गादास को या तो अपना प्रेम दे सकती है या मौत। वाह ! धन्य गुलनार और धन्य द्विजेन्द्रलाल राय। लेकिन मैं तो ऊपर कह आया हूँ कि द्विजेन्द्रलाल का साहित्य शब्दों का साहित्य है, उसमें असलियत का नाम भी नहीं और जहाँ असलियत नहीं, वहाँ आदर्श हो भी नहीं सकता। द्विजेन्द्र के प्रत्येक नाटक में, प्रत्येक पृष्ठ में, इस तरह की असम्भव और असंगत बातें भरी पड़ी हैं। द्विजेन्द्र की कला को वास्तविक जगत या वास्तविक जीवन से कोई मतलब नहीं। इस अंधे और विवेकहीन नाटककार के कारण हमारे देश का आधुनिक नाट्यसाहित्य कितना कलुषित हुआ है, कितना कागज और कितनी रोशनाई व्यर्थ फेंकी गई है, कितनों का रास्ता भूल गया है, कहा नहीं जा सकता है। द्विजेन्द्र के अनुवाद जबसे हिन्दी में प्रकाशित हुए, स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों को बच्चों का खिलवाड़ कहकर हमारे साहित्यकारों ने दूर फेंक दिया। द्विजेन्द्र का शब्दों और वाक्यों का तूफान नाट्य-कला का आदर्श बन बैठा और जहाँ देखिए हिन्दी के सब नाटकों में वही द्विजेन्द्रवाली बनावटी भाषा और बनावटी भावुकता, सुख, दुःख, प्रेम, घृणा, जय और पराजय के झूठे चित्र बनने लगे। कुछ लोगों को इस बात का खेद है कि हिन्दी में द्विजेन्द्र की कोटि का नाटककार अभी पैदा नहीं हुआ-मेरा कहना यह है कि द्विजेन्द्र की कोटि तो शेक्सपियर की कोटि थी। इस बंगाली नाटककार की आत्मा के ऊपर शेक्सपियर का भूत आसन जमाये बैठा था। जमाना बदल गया। द्विजेन्द्र की मिथ्या भावुकता और रोमेंस की गंदगी की ओर से आँखें फेरकर हमें स्वतन्त्र और व्यक्तिगत साधना की ओर झुकना चाहिए, अगर हमें निर्माण करना है तो; और यदि केवल पुस्तकें लिखनी हों, तब तो द्विजेन्द्र से अच्छा होगा शेक्सपियर का अनुकरण करना। हिन्दी नाटकों पर से जब तक द्विजेन्द्र का प्रभाव बिलकुल नष्ट नहीं हो जायेगा, तब तक हमारे साहित्य में अच्छे नाटकों का निर्माण ही संभव नहीं।

'संन्यासी' और 'राक्षस का मंदिर' लिखते समय मैंने जो प्रयोग प्रारंभ किया था- वह इस नाटक 'मुक्ति का रहस्य' में आकर पूरा हुआ है। इसमें जैसा कि पढ़ने पर मालूम होगा-कुल तीन दृश्य और तीन अंक हैं। एक अंग में केवल एक दृश्य है। बार-बार पर्दा गिरना और उठना रंगमंच को अस्वाभाविक बना देता है। रंगमंच का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को ऐसा न मालूम हो कि हम लोग किसी अजनवी जगह में या किसी जादू घर में आ गए हैं। जिस स्वाभाविकता के साथ हम अपने घर में रहते हैं, उसी स्वाभाविकता के साथ हमें रंगमंच पर भी रहना है; अथवा दूसरे शब्दों में--रंगमंच और हमारे स्वाभाविक निवास में कोई बहुत विशेष अंतर नहीं व्यक्त होना चाहिए। कला का काम है जीवन को जगा देना। इस कारण इस युग में रंगमंच की स्वाभाविकता पर बहुत ध्यान दिया जाने लगा है।

इस नाटक में गीत एक भी नहीं है। सम्भवतः कुछ लोग सोचेंगे कि नाटक बिना गीत के कैसे होगा ? मेरी राय में नाटक में गीत रखना कोई बहुत जरूरी नहीं है। कभी-कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं। इस युग में नाटक का उद्देश्य मनोरंजन की बेहूदी धारणा से आगे बढ़ गया है। जीवन की जटिलता और गूढ़ रहस्यों को खोलकर दिखलाने का काम आज दिन नाटकों द्वारा जितनी सुगमता से हो सकता है, साहित्य के किसी भी अन्य विधा से उस सुगमता के साथ नहीं हो सकता। रंगमंच के ऊपर कृष्ण भी गा रहे हैं--शिव भी गा रहे हैं, दुर्गा भी गा रही हैं, गणेश भी गा रहे हैं--यह अच्छा नहीं है। नाटकों में गीत का पक्षपाती मैं वहीं तक हूँ, जहाँ तक इसे जीवन

में देख पाता हूँ। जिस किसी चरित्र का स्वाभाविक झुकाव मैं संगीत की ओर देखूँगा, उसके द्वारा दो-चार गीत गवा देना मैं ठीक समझूँगा। 'संन्यासी' में किरणमरी की अभिरुचि संगीत की ओर है... वह अपनी आंतरिक विभीषिका को संगीत के पर्दे में ढँककर रखना चाहती है; इसीलिए उसे कभी-कभी मौके-बे-मौके गाने का जैसे रोग हो जाता है, लेकिन 'राक्षस का मन्दिर' और 'मुक्ति का रहस्य' में मुझे कोई चरित्र ऐसा नहीं मिला, जो गाना चाहता हो... इस कारण इन दोनों नाटकों में एक गीत भी नहीं आ सके।

अभिनय के संबंध में भी मैं स्वाभाविकता पर बल देना चाहूँगा। तोते की तरह रटे हुए शब्दों को रंगमंच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता। मुँह से जो शब्द निकले, उनके साथ ही साथ शरीर के अंगों का संचालन भी ऐसा होना चाहिए कि जो आपस में सामंजस्य स्थापित कर रंगमंच पर मनुष्य की स्वाभाविक जिन्दगी दिखला दें अथवा हमारा नित्य का जीवन जैसा है, रंचमंच का जीवन इसके साथ मेल खा सके। इसी कारण मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझ कर छोड़ दिया है। पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है--उतना स्वगत नहीं। मनुष्य के भीतरी भाव एकांत में भी उसकी भावभंगिमा, चेहरे की आकृति या कभी-कभी किसी तरह का काम कर देने में व्यक्त होते हैं, चुपचाप कुर्सी पर बैठकर, चारपाई पर लेटकर या जमीन पर खड़ा होकर व्याख्यान देने में नहीं। मनुष्य ऐसा कभी करता ही नहीं। दो हिस्सा स्वागत और एक हिस्सा वास्तविक कथोपकथन करा देने में नाटक का लिखना तो सरल हो उठता है, लेकिन नाटकत्व बिगड़ जाता है, अभिनय की जरूरत नहीं रहती। कोई पात्र किसी दूसरे पात्र को प्रेम करता है, प्रेमी अपने कमरे की दीवाल से या अपनी संदूक से प्रेमिका का चित्र निकाल कर उसे चुपचाप ध्यान से देखता है, उसे छाती से लगा लेता है-या उससे चूम लेता है --यह हुई मूक अभिनय की बात। दूसरी ओर वह दर्शकों के सामने खड़ा होकर कहने लगता है-- 'तुम्हें पता नहीं मैं' तुम्हें हृदय के एक-एक बूँद रक्त से प्रेम करता हूँ, लोक परलोक से प्रेम करता हूँ, जीवन और मरण से प्रेम करता हूँ, मेरे जीवन की अनंत ज्योति! मेरे हृदय की पवित्र मूर्ति इत्यादि।' स्वगत की इस प्रकार की शब्दावली जीवन के साथ मेल नहीं खाती। जहाँ कहीं स्वगत-लसी वस्तु की जरूरत पड़ी है, मैंने मूक अभिनय से काम लिया है; इसीलिए कि ऐसी वस्तु जीवन में प्राय: मिला करती है, लेकिन स्वगत ऐसी वस्तु तो नितांत अस्वाभाविक है। सचाई कहने की नहीं, करने की वस्तु है।

प्रयाग, चैत्र शुक्ल ७
सं० १९८९ विक्रम

-लक्ष्मी नारायण मिश्र

उन्नीस वर्ष बाद

यह नाटक 'मुक्ति का रहस्य' प्रायः उन्नीस वर्ष बाद, इस संस्करण के लिए मुझे फिर पढ़ना है। इन उन्नीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के सभी अंक पुष्ट हुए हैं। नाटक में भी यह विकास स्पष्ट है। जिस समय यह नाटक लिखा गया था, द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का प्रभाव हिन्दी नाटकों पर बहुत अधिक पड़ चुका था। 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में द्विजेन्द्र का अनुकरण किया। उसके कथानक भारतीय इतिहास के अतीत के गौरव पर आधारित हैं, पर अपने चरित्रों के निर्माण में सब कहीं इस देश का जीवन-दर्शन वे बराबर छोड़ते गये हैं। कवि कालिदास को अपने नाटक 'स्कन्दगुप्त' में उन्होंने एक चरित्र बनाया है। पर उनसे यह भी सोचते न बना कि कालिदास के युग के चित्रण में कालिदास के साहित्य का भी ध्यान रखें। इस नाटक की भूमिका ''मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ'' में, उस समय जो कुछ लिखा गया, मैं अब स्वीकार करता हूँ वह मेरा बुद्धिवाद नहीं था। कहना मुझे यह था कि साहित्य और कला में पश्चिम का अनुकरण न कर हमें अपने भावलोक का अनुसरण करना है। अतिरंजित और काल्पनिक साहित्य न लिखकर जीवन के स्वर में साहित्य का निर्माण करना है। यही बात यदि इस तरह कही गयी होती कि पुराने संस्कृत साहित्य की मान्यताओं से छूटकर हम अपने पूर्वजों से छूट रहे हैं, तो अधिक अच्छा होता, पर अब जो हो गया मेरे मिटाये न मिटेगा।

उस भूमिका के शीर्षक से स्वर्गीय आचार्य शुक्लजी भी चौंके और तभी तो अपने इतिहास में इन्होंने लिख दिया-- 'नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायणजी योरोप से ले आये हैं, कितना सत्य है यही देखना है।' यूरोप के संसर्ग के कारण हमारी ऊपरी वेशभूषा में जिस प्रकार कुछ परिवर्तन आया है या जिस प्रकार स्वयं शुक्लजी अंग्रेजी कोट पहनकर काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते थे, उतना ही ऊपरी प्रभाव मेरे नाटकों पर पश्चिम का पड़ा है। ऊपरी आकार प्रकार, भाषा संवाद, व्यंग आदि पर अवश्य ही थोड़ा प्रभाव इब्सन और उसके बाद के नाटककारों का मेरे नाटकों पर पड़ा है, पर भीतरी भावलोक उनका भारतीय है, कालिदास और भास की परम्परा में है। इब्सन ने पश्चिम के नाटक-साहित्य में जो कई बातें पैदा की थीं और जिस पर सभी पश्चिमी नाटककार अब तक चलते आ रहे हैं, वह यूरोप के लिए नयी थी, पर भास के नाटकचक्र का पता जिन्हें हैं, वे जानते हैं कि इस देश के साहित्य में भरतमुनि ने लोकवृत्ति के अनुसरण का जो सिद्धान्त अपने नाट्यशास्त्र में रखा था, उसी पर यहाँ के कवि और नाटककार चलते रहे। लोकवृत्ति कल्पना से नहीं बनायी जाती। यह काम तो यूनानी शोकान्तिकाओं में किया गया, शेक्सपियर के नाटकों में कल्पना से लोकवृत्ति गढ़ी गयी है, द्विजेन्द्र और 'प्रसाद' ने शेक्सपियर के अनुकरण पर यही काम किया। लोकवृत्ति अनुभव साध्य है और सारे संस्कृत साहित्य में यह सत्य कहीं भी नहीं छूटा है।

यूरोप से वस्त्र ले आने का अभियोग मुझ पर लगाया जा सकता है, पर आचार्य शुक्ल ने यह नहीं देखा कि वस्त्र का अनुकरण उतना बड़ा अपराध नहीं है, जितना बड़ा अपराध है आत्मा का अनुकरण। भारतीय संस्कृति के 'उन्नायक' 'प्रसाद' शेक्सपियर के उत्तराधिकारी हैं कि कालिदास के?-उन्हें देखना यह था। शेक्सपियर के नाटकों के साथ जब प्रसाद के नाटक रखे जायेंगे, तब स्वगत की वही अतिरंजना, वही संवादों की काव्यमयी कृत्रिमता, मनोविज्ञान या लोकवृत्ति के अनुभव का वही अभाव, संघर्ष और द्वन्द्व की वही आँधी ! प्रेम के नाम पर वासना और कर्म की जगह पर आत्महत्या वाला पलायन दिखाई पड़ेगा। जो व्यापार संस्कृत नाटकों में कहीं भी न दीख पड़े, वे सभी 'प्रसाद' के नाटकों में कहाँ से आ गये ? भास और कालिदास की परंपरा से आत्महत्या को जगह नहीं मिली है। इस देश के जीवन दर्शन में मृत्यु अन्त नहीं, नया आरम्भ माना गया था और शुभाशुभ कर्मो के अनुसार ही यहाँ पूर्वजन्म की धारणा थी। जीवन के संयोग में दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियों को मानकर आसुरी प्रवृत्ति के निग्रह की बात कही गयी थी।

कला का प्रधान धर्म जहाँ मृत्यु से रक्षा है और जीव जहाँ ब्रह्म का अंश है, वहाँ सृष्टि के मूल में ही आनन्द और कल्याण अभिप्रेत है। हमारी संस्कृति में जीवन का लक्ष्य, प्रयोजन और आधार आनन्द है। दूसरी ओर यही सब यूरोप में विषाद, अतृप्ति और निराशा है। आचार्य शुक्ल ने मेरे उन नाटकों में यूरोप का अनुकरण देखा, जिनमें इस देश के जीवन-दर्शन की मान्यताएँ नहीं बिगड़ीं और 'प्रसाद' को वे नाटकों में उन सारे व्यापारों की छूट दे गये, जो सब ओर से विदेशी हैं। कला और साहित्य के माध्यम से जो जीवन की जय न बोलकर मृत्यु की जय बोलता रहा, जिसके नाटक दुखान्त और मानसिक विकारों से ग्रस्त हैं-आचार्य शुक्ल की दृष्टि उस पर न पड़ी, यही विस्मय है।

हमारे संस्कृत कवि और नाटककार व्यक्ति न होकर विधाता बन गये थे। महर्षियों ने जीवन का जो अनुभव किया, उसे ही वे लोक में साहित्य के रूप में देते रहे। इसीलिए हमारे पुराने साहित्य में साहित्यकार अपनी निजी लालसाओं, वासनाओं और अभाव की अग्नि में नहीं जलता। इस सृष्टि के रचयिता की तरह वह भी अपनी सृष्टि में अनासक्त है। प्रसाद के नाटकों में जितनी आत्महत्याएँ करायी गयी हैं, उन सबका कारण यही है कि 'प्रसाद' को अनासक्त कवि-कर्म का पता नहीं था। अश्रुपूजन और संचित कर्मों से भाग निकलने वाले चरित्रों को उन्होंने आदर्श बनाकर आत्महत्याओं की लड़ी पिरो दी। ईशावास्य की वाणी उनके कानों में भी कभी नहीं पड़ी थी ?

आसुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृत्ताः।
तत्र प्रत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनः।।

भारतीय जीवन-दर्शन का सबसे बड़ा पाप-कर्म के फल-भोग से भाग निकलनेवाली कायरता-आत्महत्या को आदर्श बनाकर 'प्रसाद' ने भारतीय संस्कृति का उन्नयन किया ? सम्भव है हमारे वे आलोचक जो 'प्रसाद' को भारतीय संस्कृति का उद्धारक समझते रहे हैं, अपने विचारों को बदलें और अपने अतीत-साहित्य के उस स्वस्थ और प्रसन्न मुख को देखें, जिनमें व्यक्ति की वासना और एकांगी स्वार्थ में आत्मघात जैसी जघन्य भावना की एक रेख नहीं।

नाटक के सिद्धान्त पर पहले संस्करण की भूमिका में मैंने जो कुछ लिखा था उनसे मैं आज भी सहमत हूँ। मुझे संतोष है, श्री धूर्जटिप्रसाद मुकर्जी ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'मार्डन इण्डियन आर्ट' में इस नाटक का उल्लेख कर इसे प्रगतिशील साहित्य में स्थान दिया है। साहित्य और कला के सारे निर्माण अपने युग-विशेष में सदैव प्रगतिशील रहे हैं। कालिदास के ग्रन्थ उस युग में प्रगतिशील थे; इसी बल पर महाकवि ने कहा 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' और 'रामचरित मानस' भी अपने युग में प्रगतिशील रहा। इस नाटक के बाद हिन्दी में जितने नाटक लिखे गये, उन सब में भाषा, संवाद, व्यापार और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति की स्वाभाविकता पर ही ध्यान दिया गया है। 'प्रसाद' की पद्धति हिन्दी नाटक के क्षेत्र में अब मर चुकी है। इतना अवश्य है कि नाटकों में माँ के लिए ममी और बाप के लिए पापा भी लिखा जाने लगा है। अमेरिका के 'क्राइम ड्रामा' का भी प्रभाव हिन्दी नाटकों पर पड़ने लगा है। इसका कारण केवल पश्चिम का प्रभाव नहीं, संस्कृत साहित्य से परिचित न होना भी है। नये वस्त्रों में, कोट, पैण्ट और टाई में भी जिस प्रकार अभी हम भारतीय हैं, उसी प्रकार साहित्य के नये रूपों में भी अच्छा होगा कि हम भारतीय बने रहें। साहित्य में व्यक्तिवादी या अस्तित्ववादी बनकर उन मनोवेगों को न धरें जिनसे प्रभावित होकर हमारे किशोर स्वप्न के पंखों पर उड़ते रहते हैं, जिनको दबा देने में हमारा संयम हैं, पर जिनमें बह जाना ही हमारा और हमारी कला का पतन भी है।

कीचड़ के कमल की तरह काम-भावना में ही कला का जन्म होता है। काम की कलियों में ही कला के फूल आते हैं। कला और रति-कामना एक ही साथ व्यक्ति के किशोरावस्था में पैदा होती हैं। इसकी जानकारी हमारे पुराने कवियों को थी। इसलिए वे साहित्य में व्यक्तिवादी नहीं रहे। इसीलिए वे साहित्य और कला के क्षेत्र में अनासक्त रहे। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास के साहित्य में उनके व्यक्ति की आसक्ति नहीं है; पर, 'प्रसाद' और इस युग के बड़े-से-बड़े साहित्यकार के साहित्य में--यही पश्चिम का प्रभाव है और इसी से अब हमें बचना है।

प्रयाग, ज्येष्ठ शुक्ल ५
सं० २००७ विक्रम

-लक्ष्मीनारायण मिश्र

प्रक्कथन

राजयोग

नाट्य-कला संस्कृत में सैकड़ों वर्ष से प्रचलित है। केवल ग्रीस में कुछ इने-गिने नाट्यकार उस समय में वर्तमान थे। शोकान्त नाटक लिखने में ईस्किलस, सोफौक्लीज, और यूरिपिडीज प्रधान थे और सुखान्त नाटक और प्रहसन के लिखने में ऐरिस्टौफेनीज सिद्धहस्त थे। इन्हीं चार-पाँच कवियों की रचनाओं के सहारे अरिस्तू ने नाटक के सिद्धान्तों का निर्णय ऐसे सुचारु रूप से किया कि यूरप में अब भी उनका बड़ा सम्मान है। उनके बताये हुए नियमों का पालन करना कवियों का कर्त्तव्य-सा हो गया है। वर्षों तक समालोचक 'नाटक अच्छा है कि नहीं' इस प्रश्न के उत्तर में यही देखा करते थे कि इसमें अरिस्तू के नियमों का पालन हुआ है अथवा नहीं। उनके कुछ नियम तो सर्वथा आदरणीय रहेंगे, क्योंकि उनका सम्बन्ध काव्य के मूल अंगों से है, परन्तु कुछ ऐसे भी नियम हैं, काल के परिवर्तन से अब जिनका पालन हानिकारक और निरर्थक है। वर्तमान समय में यूरप में नाट्यकार यदि उच्छृङ्खल नहीं तो स्वतंत्र अवश्य हो गये हैं। नियमों का परिपालन उनके लिए दुष्कर हो गया है। स्वाभिरुचि एकमात्र पथप्रदर्शक का काम करती है। इसका फल यह है कि जो लेखक के चित्त की प्रवृत्ति है, उसी का, अविकल रूप में, प्रतिबिम्ब नाटक में मिलता है। अरिस्तू के पहले भी यही दशा थी। ईस्किलस के नाटक में हम उसकी आस्तिकता की झलक पाते हैं; सोफौक्लीज कभी-कभी घबड़ा जाता है, परन्तु देवता में उसकी श्रद्धा बनी रहती है; यूरिपिडीज तो देवताओं को भी मनुष्य के समान निर्बल और निस्सहाय समझता है। अपने मत को, अपनी प्रकृति को, अपने विश्वासों, आकांक्षाओं, स्वप्नों को, किसी-न-किसी रूप से ये सभी अपनी कला में स्थान देते थे। भेद केवल इतना है कि ये महाकवि थे और आजकल के स्वेच्छाचारी लेखकों में थोड़े ही कवि की पदवी के योग्य हैं।

संस्कृत का नाट्य-साहित्य किसी और भाषा से कम नहीं है--संख्या में अथवा गुणों में। लेकिन जिस समय में इसका विकास हुआ, उस समय मनुष्य की सबसे प्रधान चिन्ता ईश्वराराधना थी। देवताओं की कृपा अथवा उनका क्रोध; फिर राजा-महाराजाओं की क्रियाएँ; तर्क--धार्मिक और दार्शनिक मतमतान्तर, बस इन्हीं विषयों का समावेश बहुधा संस्कृत-नाट्यकारों ने किया। भरतमुनि का वाक्य था--

देवानामसुराणां च राजलोकस्य चैव हि।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्।

शोकान्त नाटक का निषेध संस्कृत में अवश्य है, परन्तु शोक पूर्णरूप से विद्यमान था। गोवर्धन ने 'आर्यासप्तशती' में जो भवभूति की प्रशंसा की है, वह उल्लेखनीय है--'एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।' संस्कृत के शास्त्रकारों ने नाटक के दश प्रकार बताये हैं। 'दशरूप' में धनंजय का श्लोक है--

नाटकं सप्रकरणं भाण: प्रहसनं डिम:।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृग इति।

परन्तु प्राय: सभी प्रकार में किसी-न-किसी रूप में दैवी सम्बन्ध है। हमारे पूर्वजों का मत था कि परलोक का ध्यान लुप्त नहीं होना चाहिए, आनन्द-प्रमोद के अवसर पर भी ईश्वर की अनुकम्पा का, ईश्वर की महिमा का, ज्ञान रहना चाहिए। यहाँ तक कि पापाचारी भी ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। 'मृच्छकटिक' में शर्विलक कार्त्तिकेय की आराधना करता है।

यह हुई पुरानी बात। वर्तमान युग में ईश्वर का ध्यान यदि कभी आता है तो केवल विपत्ति में। अन्यथा उनके अस्तित्व और नास्तित्व का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। मनुष्य का जीवन स्वयं इतना विस्तृत हो गया है, समाज के प्रश्न इतने गूढ़ और जटिल हो गये हैं; विचार-क्षेत्र इतना निस्सीम हो गया है; शिक्षा, धर्म्म, विज्ञान, कला-सम्बन्धी समस्याएँ इतनी संख्या में और इस कठिनता से उपस्थित हो गई हैं--कि आज के कवि के लिए यह असम्भव है कि वह केवल ईश्वर-चिन्ता में मग्न रहे।

प्रस्तुत नाटक 'राजयोग' के लेखक आधुनिक विषयों का समावेश अपनी पुस्तकों में करते हैं। किसी को अधिकार नहीं है कि इसके कारण पुस्तक की अवहेलना करे। प्रत्येक युग में कुछ ऐसी समस्यायें होती हैं, जिन पर बहुधा शिक्षित-समाज सोचा करता है। नाटक यदि समाज की सेवा का उद्देश्य रखता है, तो लेखक का कर्तव्य है कि इन समस्याओं की ओर ध्यान दिलावे। एक अँगरेजी कवि का कहना है कि नाटक के मूल सिद्धान्त का निर्णय नाटक के पढ़नेवाले करते हैं। शेक्सपियर, कौंग्रीव, ड्रायडेन, मोलियर, कौल्डेरन, शेरिडन, बर्नार्डशा, गाल्सवर्दी--यदि इनके नाटकों में इनके समय का प्रतिबिम्ब मिलता है, तो क्यों न 'राजयोग' में भी हमारे देश की स्थिति दृष्टिगोचर हो ? हमें अधिकार केवल इन प्रनों के पूछने का है-कथा रुचिकर है कि नहीं ? चरित्र-चित्रण में कहाँ तक सफलता हुई है ? पात्रों का वार्तालाप मनोरंजक है कि नहीं? किसी अंश में अस्वाभाविकता तो आने नहीं पाई? नाटक पढ़ने पर अथवा देखने पर चित्त पर क्या प्रभाव होता है? मैं तो केवल अपनी ही रुचि के अनुकूल इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता हूँ। सम्भव है, औरों का विचार भिन्न हो--''नैको मुनिर्यस्य मतन्नभिन्नम्''। मैंने इस नाटक को ध्यान से पढ़ा है, और मेरे विचार में योग्य लेखक ने बहुत अंशों में सफलता प्राप्त की है। कहीं-कहीं तो दृश्य बहुत ही करुणाजनक है। चम्पा के चित्रण में मिश्रजी ने बड़ी कुशलता दिखाई है। यदि मुझे कोई दोष देख पड़ता है, तो यह कि कहीं-कहीं पात्रों के वाक्य लम्बे हो गये हैं। अन्यथा नाटक प्रशंसनीय है और आशा है कि हिन्दी-साहित्य में इसका आदर होगा।

अमरनाथ झा, एम० ए०
(अध्यक्ष, अँगरेजी-विभाग)
११-४-३४ प्रयाग-विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों की भाँति 'नाटक' का अंग भी अभी तक कमजोर और शिथिल है। हिन्दी-नाटकों का आरम्भ एक प्रकार से बाबू हरिश्चन्द्र के समय में ही हुआ। भारतेन्दुकाल के नाटककारों में लक्ष्मण सिंह प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, श्री निवासदास, बदरीनारायण चौधरी आदि हैं। उन सज्जनों ने देश की धार्मिक, नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर इतना ध्यान दिया कि जीवन के दूसरे अंगों के बारे में सोचने अथवा उन पर प्रकाश डालने का उनको अवसर ही न रहा। उनके नाटकों के विषय प्राय: ऐसे थे, जिनकी ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकर्षित करना अत्यावश्यक था। इसी ध्येय को सामने रखकर उन्होंने ऐसे नाटकों की रचना की, जिनके द्वारा हिन्दू जनता में स्वाभिमान, वीरता, धार्मिकता आदि के भाव उत्पन्न हों; अथवा मद्यपान, मांसाहार, पाखंड, छूत, वेश्यानुराग आदि दोषों की ओर से घृणा जागृत हो। जो कुछ मौलिक कृतियाँ उस समय में हुईं, वे प्राय: उपर्युक्त ध्येय के साधन अथवा केवल मनोरंजन के निमित्त हुईं। इसके अतिरिक्त अनुवादों की भी धूम-धाम रही। संस्कृत, अँगरेजी और बँगला के नाटकों का अनुवाद किया गया।

भारतेन्दु के समय से आज तक नाटक-रचना उपर्युक्त ढंग से होती रही। अँगरेजी नाटकों की छाया यद्यपि उनके समय में ही पड़ने लगी थी, किन्तु धीरे-धीरे उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। यहाँ तक कि शेक्सपियर के नाटक के आधार पर रचना करना हमारे नाटककारों का आदर्श हो गया। इस प्रवृत्ति को पारसी नाटक-कम्पनियों और द्विजेन्द्रलाल राय की कृतियों ने खूब दृढ़ और वेगवती बनाया। हाँ, कुछ लोग संस्कृत-शैली का अनुकरण करते रहे और आवश्यकतानुसार उसको काट-छाँट कर उसका प्रचार करते रहे। संस्कृत-शैली की संरक्षा करने वालों में स्वयं बाबू हरिश्चन्द्र और आजकल श्री जयशंकर प्रसाद जी प्रमुख हैं। तथापि अँगरेजी शैली की जैसी उन्नति हुई, वैसी संस्कृत की नहीं? प्रत्युत उसका ह्रास ही होता रहा।

जिस समय भारतेन्दु के नेतृत्व में हिन्दी-साहित्य में नाटक बढ़ने लगे थे और हिन्दी-संसार में शेक्सपियर की आराधना हो चली थी, उसी समय यूरोप में शेक्सपियर का युग समाप्त हो रहा था। सन् १८७५ में इब्सन ने यूरोप के नाटक-साहित्य में क्रान्ति मचानी आरम्भ कर दी। बीस वर्षतक अपने नाटकों द्वारा उसने ऐसा आन्दोलन किया और ऐसा आदर्श प्रस्तुत कर दिया कि जिसके कारण शेक्सपियर का प्रभाव क्षीण हो गया और इस नये युग का आरम्भ हुआ।

इब्सन पुरानी परिपाटी को काल्पनिक, मिथ्या और विचार शून्य मनोविकारों का कृत्रिम उद्गार समझता था। केवल मनोविनोद के लिए काल्पनिक रचनाएँ करना, जिनका जीवन से वास्तविक सम्बन्ध नाममात्र के लिए नहीं था, उसने व्यर्थ ही नहीं, किन्तु हानिकारक समझा। उसने मनोरंजन को बहुत ही गौण और प्राकृतिक जीवन की समस्याओं को प्रधान स्थान दिया। इब्सन की धारणा थी कि मनुष्य का व्यक्तित्व और वैयक्तिक जीवन और आचरण बड़े ही महत्व का विषय है। क्योंकि वैयक्तिक जीवन की सुन्दरता पर समाज और सभ्यता की उन्नति अवलम्बित है। उसकी दूसरी धारणा यह थी कि सबसे शोचनीय और संहारक प्रवृत्ति वह है जो प्रेम की अवहेलना और तिरस्कार करने वाली या दबाने वाली हो। उसके बराबर कोई दु:ख नहीं, वह तो साक्षात् आत्मघात है। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक घात और प्रतिघात में इब्सन ने अपनी सारी शक्ति व्यक्ति की रक्षा में लगा दी। उन दोनों के द्वंद्वों का चित्रण उसने बड़ी मार्मिकता, कुशलता और

प्रवीणता के साथ किया है। अपने नाटकों द्वारा उसने यूरोपीय साहित्य और समाज की निंद्रा भंग कर दी। नाटक-रचना-शैली, नाटकों के विषयों और आदर्शों का उसने रुख ही बदल दिया।

इब्सन के विचारों से प्रेरित होकर यूरोप के अन्य देशों में भी नये-नये नाटककार उठ खड़े हुए। चारों ओर आन्दोलन फैल गया। नाट्यकला की पुरानी पद्धति, जिसका आदर्श काल्पनिक चित्रण, बनावट-सजावट, और येन-केन प्रकारेण केवल मनोरंजन ही था, लोगों को अरुचिकर प्रतीत होने लगी। बनावटी बातचीत, तुकान्त वाक्यों, रचना की कृत्रिमता से लोग ऊब उठे। दिनोंदिन यह विचार बढ़ने लगा कि नाटकों का लक्ष्य सामाजिक जीवन और समस्याओं का विवेचन ही होना चाहिए। अतएव जीवन की वास्तविक समस्याओं पर प्रकाश डालने और सुलझाने के लिए ही नाटक लिखे जाने लगे। उनमें वास्तविकता, यथार्थता और सत्यता की प्रधानता बढ़ने लगी।

जिस प्रकार नाटकों का लक्ष्य बदलने लगा, उसी प्रकार नाट्यकला में भी परिवर्तन होने लगा। कृत्रिमता, तड़क-भड़क, सज-धज, चटपटापन, वागाडंबर को छोड़कर लोग स्वाभाविकता, सरलता और तत्त्वानुसन्धान की ओर बढ़ने लगे। परिणाम यह हुआ, एक नये ढंग की नाट्यशालाएँ और रंगमंच बनने लगे। यह आन्दोलन फ्रांस में आंत्वाना और रूस में स्टेनिस्लाव्स की ने जोरों के साथ किया।

इसी काल में इंगलैण्ड में बरनर्ड शा का उत्थान हुआ। उसने भी नैसर्गिक जीवन और ईश्वरीय आशय का तारतम्य समझाने एवं उनका सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसके नाटकों में भी सामयिक समस्याओं और सामूहिक और वैयक्तिक प्रश्नों पर सहानुभूतिपूर्वक प्रकाश डालने एवं पथ-प्रदर्शन का प्रयत्न पाया जाता है।

उसको भी आदि में अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। उसके नाटकों का अभिनय करने के लिए साधारण नाटक समितियाँ, जो व्यापार की दृष्टि से ही नाटक करती हैं, तैयार न थीं। कुछ नाटकों का अभिनय सरकार द्वारा मना कर दिया गया, क्योंकि वे कुरुचिपूर्ण समझे गये! उसके एक पुराने मित्र आर्चर ने तो उसे यह भी समझाने का प्रयत्न किया कि उसमें नाटक-रचना की शक्ति, क्षमता और योग्यता ही नहीं, अतएव अनधिकार चेष्टा का परित्याग करके उसे और कोई काम उठाना चाहिए। किन्तु वे अपनी टेक पर जमे रहे और धीरे-धीरे उनका सिक्का इंगलैण्ड में ही नहीं, किन्तु यूरोप और अमरीका में भी जम गया। यहाँ तक कि १९२६ में उन्हें नोबल पुरस्कार भी मिल गया। उनके नाटकों का शिक्षित समुदाय में बड़ा आदर होने लगा और उनके अभिनय करने के लिए समितियाँ और नयी नाट्यशालाएँ खुल गयीं और नाट्यशाला की परपाटी बदलने लगी।

यद्यपि गत यूरोपीय महासमर (१९१४-१९) के कारण जनता की रुचि में कुछ परिवर्तन और विकार उत्पन्न हो गया, किन्तु इस पर भी इब्सन, बरनर्ड शा आदि का प्रभाव शिक्षित समुदाय पर वैसा ही जमा रहा।

पाश्चात देशों की इस प्रवृत्ति का हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। यूरोपीय ढंग की शिक्षा, आवागमन और विचार-विनिमय की सुगमता के कारण साहित्य में आदान-प्रदान और व्यापकता बहुत बढ़ गयी है। हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग पर यूरोपीय प्रभाव पड़ रहा है, नाटक और नाट्यकला उससे बची नहीं रह सकती। नवीन शिक्षा और दीक्षा के कारण शिक्षित समुदाय सतर्क, मननशील हो रहा है। बुद्धितत्त्व का प्रधान्य होता जा रहा है। अतएव उन नाटकों का, जिनमें बुद्धितत्त्व, नैसर्गिकता, स्वतन्त्रता आदि लक्षणों का समावेश है, उत्तरोत्तर ग्राह्य और आदरणीय होना अवश्यम्भावी है। कपोल-कल्पना, कृत्रिमता, आडम्बर, पाखंड और खोखले आदर्शवाद से आधुनिक शिक्षित समुदाय की मानसिक, आध्यात्मिक और नैसर्गिक तृष्णा की शान्ति कदापि नहीं

हो सकती, चाहे वे कितने ही सुन्दर और मनोरंजक क्यों न हों। प्राकृतिक जीवन का मानसिक प्रकाश में अनुसंधान करना और जीवन का तदनुसार नियंत्रण करना ही इस युग का ध्येय हो रहा है। रूढ़ियों की जंजीरों को--चाहे वे लोहे की हों या सोने की, चाहे उन पर धर्म, समय, समाज और अतीत सभ्यता की छाप क्यों न पड़ी हो-तोड़ना और साहित्य एवं समाज की स्वतन्त्रता और नैसर्गिकता की नींव पर रचना करना ही आधुनिक शिक्षित प्रयास का लक्ष्य है। प्राकृतिक, नैसर्गिक, स्वतन्त्र और अप्रतिबद्ध जीवन की प्राप्ति ही नवीन युग का आदर्श है। यह आदर्श काल्पनिक नहीं। इसमें प्रकृति की तथ्यता, सत्यता और मानुषिक जीवन की वास्तविक अनुभूति का अपार कोष संचित है; अतएव इसका भविष्य आशामय और मंगलमय प्रतीत होता है। संभव है कि कुछ लोग इस मत को स्वीकार न करें, उसको भयावह और नाशक समझें। उन्हें इसमें अनियन्त्रित स्वतन्त्रता का ताण्डव नृत्य दिखाई पड़े। किन्तु संसार-चक्र की गति इसी ओर है। जगन्नियन्ता इसी ओर संसार को ले जा रहा है; बुद्धि उसका समर्थन कर रही है और प्रकृति उसको उत्तेजना दे रही है। भविष्य में इसका क्या परिणाम होगा, इसको कौन कह सकता है, किन्तु अभी तो उसका मार्ग प्रशस्त और उज्ज्वल दिखाई दे रहा है।

प्रस्तुत नाटक के रचयिता भी इब्सन, बरनर्ड शा आदि प्रमुख नाटककारों के विचारों और भावनाओं से प्रेरित होकर हिन्दी-नाट्य-साहित्य में नवीन धारा का प्रचार करने की चेष्टा कर रहे है। अपने पूर्व प्रकाशित नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में उन्होंने अपने विचार जोरदार शब्दों में स्पष्ट कर दिये है आप कहते हैं कि 'बुद्धिवाद किसी तरह का हो -किसी कोटि का हो -समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता।' हिन्दी के समालोचकों को करके आप लिखते है- 'इन दिनों हमारे समालोचक साहित्य या कला के भीतर सबसे पहले यह खोजने लगते हैं कि इन चीजों में लोकहित का उपदेश या सदाचार की व्याख्या कहाँ और किस रूप में हुई है; किन्तु इन बातों से कला का क्या सम्बन्ध? कलाकार इस तरह का उपदेशक नहीं है।वह जो कुछ भी कहना चाहता है -इसके 'निजी प्रयोग' की बातें होती है। क्यो होना चाहिए, क्या न होना चाहिए? इन बातों का सवाल तो यहाँ नहीं उठता। यहाँ तो जो है।... (कला) अनन्त सहानुभूति है, जिसकी एक-एक नजर में कल्याण की दुनिया बसती चलती है।' -- 'इसलिए जिन्दगी की कोई भी संकीर्ण परिपाटी, धर्म या सदाचार की कोई भी निश्चित कसौटी, साहित्य और कला की कोई भी प्रभावशालिनी व्याख्या आँख मूँद कर शिकायत कर लेना, यही नहीं व्यक्तिगत विकास में बाधा डालेगी, एक प्रकार से घातक भी होगी। तत्त्वतः ये बातें ठीक हैं, किन्तु इनको व्यवहारिक बनाने में अनेक उलझने और कठिनाइयाँ हैं। कृतिकार भी उनका अनुभव करते हैं, जैसा किउनकी उपर्युक्त भूमिका से प्रतीत होता है। इन समस्याओं को हल करना सरल काम नहीं, अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि ये भविष्य के नीहार से अक्रान्त है।

इन के नाटकों में न तो अनेक पात्र हैं, न गाने या कविता पाठ की सामग्री और न अनावश्यक दृश्यों का परिवर्तन। उनके नाटकों का पट - विस्तार भी इतना नहीं कि उसमें विभिन्न देश, काल, व्यवस्थाओं और घटनाओं की विभ्रममयी भरती हो। आधुनिक यूरोपीय शैली के अनुरूप उनमें गिने- चुने आवश्यक पात्र हैं और व्यापार भी सुसंगित और सुनियन्त्रित है। आपके कुछ शुरू के नाटकों में कहीं कुछ अनावश्यक बातों के विस्तार का दोष आ गया था, किन्तु वह अब धीरे-धीरे जा चुका है।

उपर्युक्त विशेषताएँ प्रस्तुत नाटक में भी है। इसमें रंगमंच की रचना और उनके संचालन के सम्बन्ध में भी सुगमता की ओर पहले से अधिक ध्यान दिया गया है। नाटक का समय थोड़ा है। घटना स्थल भी एक ही है-केवल थोड़ा-सा ही हेर-फेर है। इसके पात्र भी पाँच या छः है। प्रत्येक

पात्र का अपना अपना व्यक्तित्व है। प्रत्येक का विकास अपने-अपने ढंग का है। प्रत्येक की भावना और उसके व्यक्तित्व का चित्रण सहानुभूतिपूर्वक किया गया है। यहाँ तक कि मुरारीलाल का भी चित्रण सहानुभूतिशून्य नहीं। मनोरमा और चन्द्रकला दोनों शिक्षित स्त्रियाँ हैं। उनमें कोमलता, सहिष्णुता और उच्चादर्श का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। दोनों में अनुराग और त्याग का चमत्कार है। चन्द्रकला ने प्रेम का जो आदर्श रखा, वह पौराणिक चित्रों से कम नहीं। मनोरमा ने दूसरा आदर्श खड़ा करने का प्रयत्न किया, किन्तु मनोजशंकर ऐसी विक्षिप्त दशा में था कि वह उसने सहयोग न कर सका। दोनों चित्रों का सूक्ष्म भेद नाटक रचयिता ने चन्द्रकला के द्वारा कहलवा दिया- 'तुम्हारी मजबूरी पहले सामाजिक फिर मानसिक हुई, मेरी मजबूरी प्रारम्भ से ही मानसिक हो गई।' दूसरे अंक में मनोरमा और मनोजशंकर का और तीसरे अंक में चन्द्रकला और मनोरमा का वार्तालाप ओज और विचारपूर्ण है।।

इन का प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है। उनका यह प्रस्तुत नाटक कलागत प्रौढ़ता और विवेक का द्योतक है। सम्भव है विशेष छान-बीन करने पर किंचित् दोष भी देख पड़े, लेकिन इसके लिए तो-'एकोहि दोशो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्द्रो: किरणेष्विवांक:' और इसलिए उनकी रचनाएँ आदरणीय हैं। नाटक-साहित्य में वह युग-प्रवर्तन करना चाहते हैं; एतदर्थ हम उनका स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दी-संसार भी उनकी कृतियों का आदर करेगा-उनके उत्साह को बढ़ाकर उनको अपने आदर्श की प्राप्ति और हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायता देगा।

२० अप्रैल, १९३४ --रामप्रसाद त्रिपाठी

प्रयाग-विश्वविद्यालय (डी० एस-सी०)
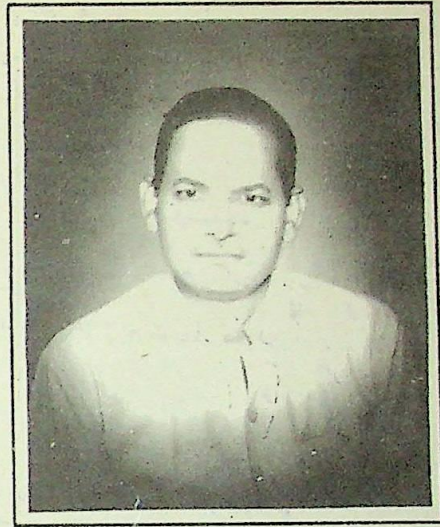
डॉ. विश्वनाथ प्रसाद

जन्म-तिथि : प्रमाणपत्रों के अनुसार ११ मार्च, १९३९

शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम. ए., पी-एच. डी.।

काव्य : रोशनी ही नदी की धारा है, आवाज, उपरान्त (खण्ड काव्य)।

निबन्ध-संग्रह : आम आदमी की लालटेन, चौरे का दीया।

समीक्षा ग्रन्थ : अष्टछाप के कवियों की सौन्दर्यानुभूति, सौन्दर्य तथा सौन्दर्यानुभूति।
धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सारिका, अवकाश, उत्तर प्रदेश, आज, दैनिक हिन्दुस्तान आदि पत्र पत्रिकाओं में एक सौ से अधिक स्फुट समीक्षात्मक तथा ललित निबन्ध प्रकाशित।

सम्पादन : पूर्वांचला (पूर्वी जनपदों के साहित्य का सर्वेक्षण), गीतायन (गीत और नवगीत का संग्रह) वृन्दावनलाल वर्मा समग्र (सात खण्ड), लक्ष्मीनारायण मिश्र रचनावली (छः खण्ड)।

सम्प्रति : अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कालेज (स्वायत्तशासी संस्था) वाराणसी।
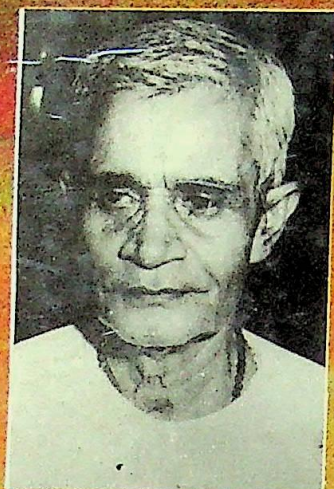
लक्ष्मीनारायण मिश्र रचनावली

भाग १ : अन्तर्जगत् (१९२४), कालजयी (९ सर्ग)।

भाग २ : संन्यासी (१९२९), राक्षस का मन्दिर (१९३२), मुक्ति का रहस्य (१९३२), राजयोग (१९३४), सिन्दूर की होली (१९३४), आधीरात (१९३४)।

भाग ३ : अशोक (१९२६), गरुड़ध्वज (१९४५), वत्सराज (१९४९), दशाश्वमेध (१९५०), वितस्ता की लहरें (१९५३), कवि भारतेन्दु (१९५५), मृत्युंजय (१९५७)।

भाग ४ : वैशाली में वसन्त (१९५३), जगद्गुरु (१९५८), धरती का हृदय (१९६१), वीरशंख (१९६९), गंगाद्वार (१९७३), सरयू की धार (१९७६), कालविजय (१९८०)।

भाग ५ : नारद की वीणा (१९४६), चक्रव्यूह (१९५४), चित्रकूट (१९६१), अपराजित (१९६५), कल्पतरु (१९६७), अश्वमेध (१९६९), प्रतिज्ञा का भोग (१९७५)।

भाग ६ : एकांकी तथा अन्य रचनायें।

संजय बुक सेन्टर, वाराणसी